यशपाल रचनावली 6

परसाई रचनावली का यह छठा और अन्तिम खण्ड है। इसके सामग्री-स्वरूप के बारे में यदि इसकी सम्पादकीय टिप्पणी से कुछ शब्द लिये जायें तो ''परसाईजी के लेखन का दायरा कितना विस्तृत और विशाल है, उसका समूचा वैविध्य इस खण्ड में संगृहीत है।'' दूसरे शब्दों में, इसमें उनके प्रारम्भिक लेख, कुछ कहानियाँ, निबन्ध और वक्तव्य शामिल हैं; काल-क्रमानुसार प्रकाशित पुस्तकों पर गयी भूमिकाएँ हैं; अत्यधिक जीवन्त सम्पादकीय आलेख और विभिन्न अवसरों पर दिये गये भाषण हैं; दो साक्षात्कार और एक महत्त्वपूर्ण उपन्यासांश है तथा एक प्रश्नोत्तरी के सहारे पाठकों से सीधे बातचीत भी है। इस प्रकार यह खण्ड हमें परसाईजी की रचनात्मकता के विविध पहलुओं से तो परिचित कराता ही है, समाज के साथ लेखक के सार्थक रिश्ते का अनुकरणीय उदाहरण भी पेश करता है।

वास्तव में परसाई अपने जीवन और लेखन, दोनों ही स्तरों पर एक आन्दोलनरत व्यक्तित्व हैं। वे स्वयं और उनका लेखन आज की सर्वहारा जिन्दगी के तमाम सरोकारों से गहरे तक जड़ा हुआ है। अपने लेखकीय जीवन के शुरू से ही उन्होंने पाठकों को अपने साथ लेकर चलना चाहा है और अपनी इस चाहना में सफल हुए हैं। इसलिए यह मात्र संयोग नहीं है कि प्रेमचन्द के बाद समकालीन हिन्दी-रचनाकारों में वे अकेले गद्यकार हैं जिनकी रचनाओं के प्रति पाठकों की गहरी उत्सुकता बनी रहती है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वे उन्हीं के बीच के आदमी हैं। विभिन्न जनान्दोलनों, छात्र-मजदूर यूनियनों और प्रगतिशील लेखक संगठनों से उनका प्रत्यक्ष और सक्रिय जुड़ाव रहा है। इससे उनके जनपक्षीय रचनाकर्म को ताकत मिली है और बदले में उन्होंने भी एक क्रान्तिकारी बदलाव के लिए सामाजिक चेतना का परिष्कार किया है। यही कारण है कि माध्यम चाहे 'अरस्तू की चिट्ठी' हो या 'कबिरा खड़ा बाजार में'; 'वसुधा' के गम्भीर सम्पादकीय आलेख हें या 'पूछिए परसाई से' जैसा प्रश्न कॉलम, वे बराबर राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक विरूपताओं को उधाड़ते हुए जन-चेतना को एक वैज्ञानिक आधार सौंपने का दायित्व निबाहते रहे हैं।

परसाई रचनावली

प्रारंभिक लेख, कहानियाँ, निबन्ध, पुस्तकों की भूमिकाएँ,
सम्पादकीय आलेख, साक्षात्कार, व्याख्यान तथा
'रिटायर्ड भगवान की कथा' (उपन्यासांश) आदि

परसाई रचनावली

6

सम्पादक मण्डल

कमलाप्रसाद

धनंजय वर्मा

श्यामसुन्दर मिश्र

मलय

श्याम कश्यप
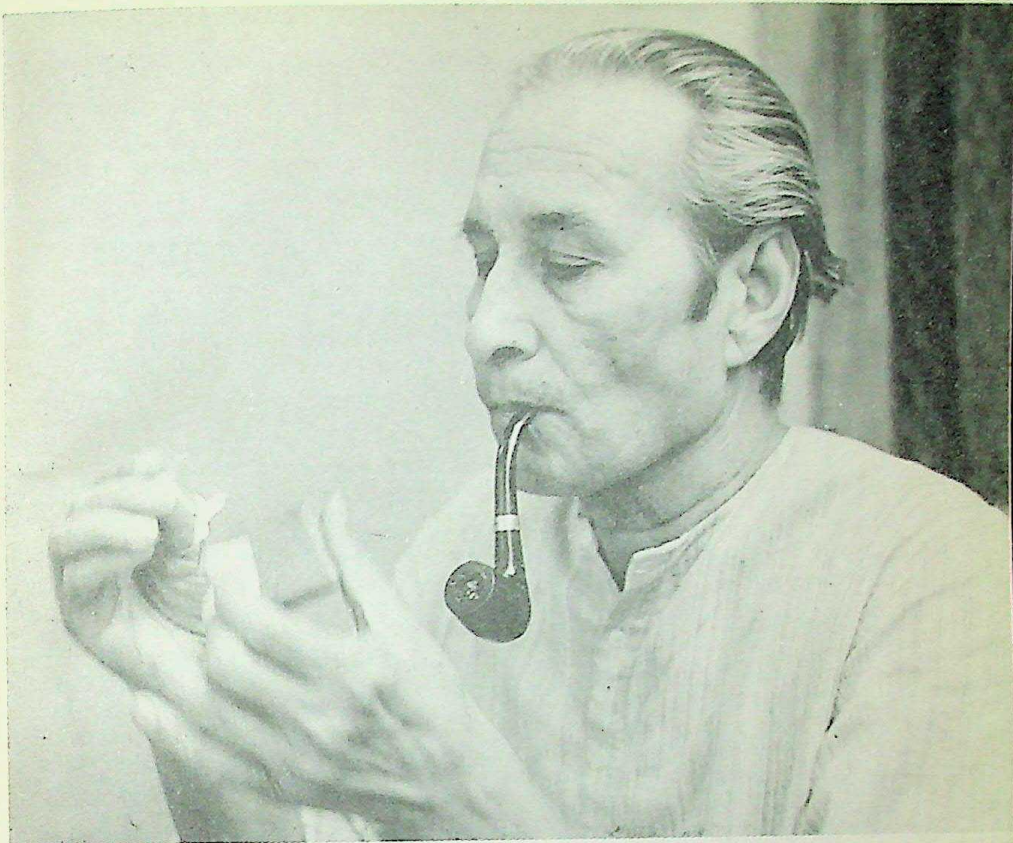
कला प्रदर्शनी का अवलोकन।
साथ में भांजा प्रकाश : 1977
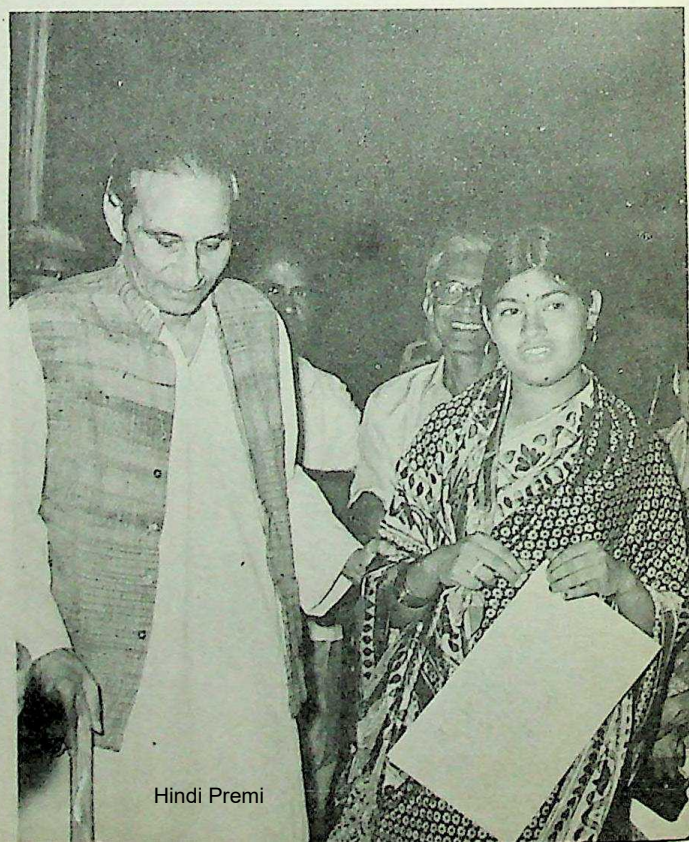
कला प्रदर्शनी के
उद्‌घाटन-अवसर पर
भांजी साधना के साथ : 1977
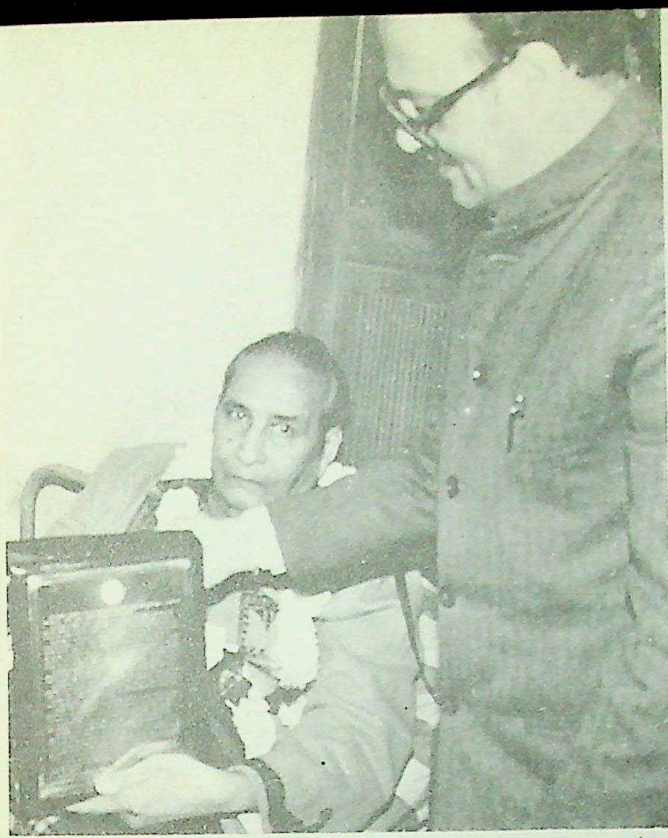
मुख्यमंत्री अर्जुनसिह से
शिखर सम्मान
ग्रहण करते हुए : 1984

कला प्रदर्शनी के उद्घाटन के बा
माल्यार्पण करते हुए संस्कृति सचि
अशोक वाजपेयी : 1976
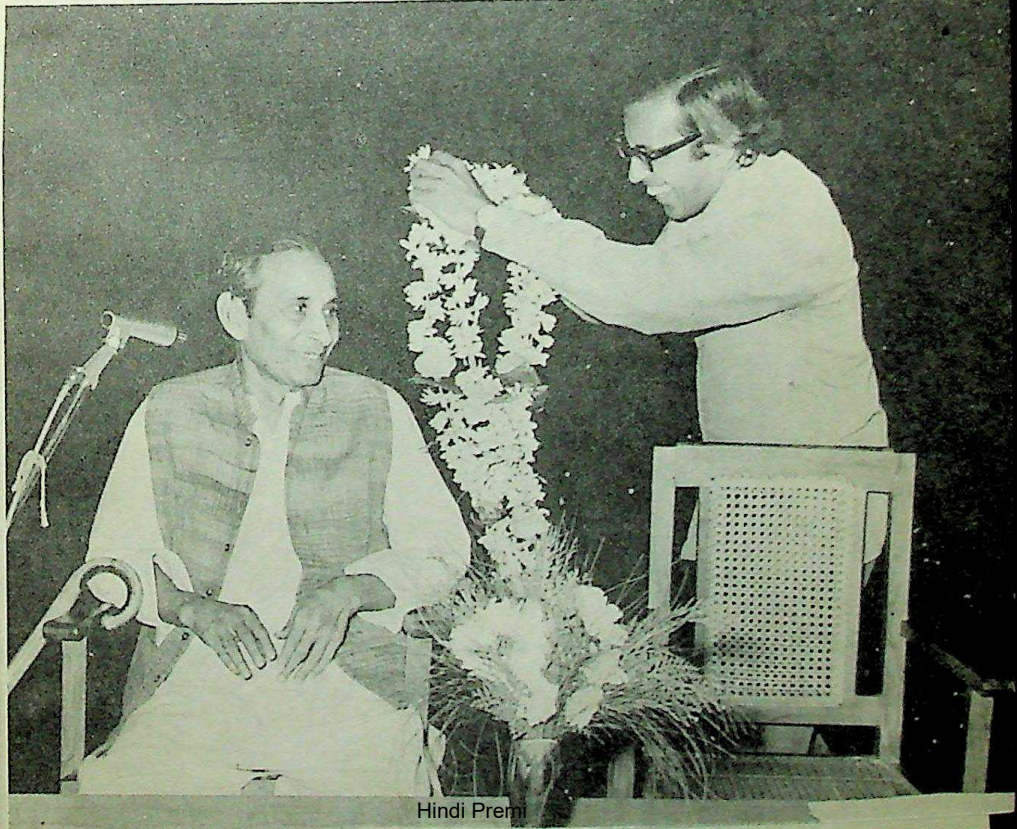
इस खण्ड के सम्बन्ध में

परसाईजी के लेखन का दायरा कितना विस्तृत और विशाल है उसका समूचा वैविध्य इस खण्ड में संग्रहीत है। उनकी लेखकीय जिन्दगी की शुरुआत की रचनाएँ जिन्हें किंचित निबन्ध भी कह सकते हैं, और जो अपनी वस्तु और विभिन्न आयामों में अपनी बौद्धिक जिम्मेदारियों के साथ दृष्टि-द्रष्टा और रचना-कौशल को हमारे सामने उजागर करती हैं। इसमें कलात्मक आवेग का वह उन्मेष और ऊष्मा भी मिलेगी जिसने परसाई की इस लम्बे और दायित्वपूर्ण रास्ते को तय करने में सहायता की, जिसने उन्हें वस्तु-समृद्धि से रचना-समृद्धि तक पहुँचाया।

'अरस्तू की चिट्ठी' अपनी शुरुआत में ही उन विरूपताओं को समझ लेती है जिसमें राजनीति की सारी व्यवस्था 'अदाकारी पर टिकी' दिख जाती है। 'वसुधा' के सम्पादकीय व 'चर्चा' हमें भारतेन्दु और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक चिन्ताओं से अपने विकसित रूप में जोड़ देते हैं और वे साहित्य की दशा-दिशा के साथ लेखक की चिन्ता और दायित्व को उजागर करते हैं। परसाई ने अपनी पुस्तकों की भूमिकाओं में अक्सर 'व्यंग्य' सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर दिये हैं और जाने-अनजाने व्यंग्य की सौन्दर्य-दृष्टि को आकार देने का प्रयत्न किया है। 'उपन्यास अंश' (रिटायर्ड भगवान की कथा) एक महत्त्वपूर्ण उपन्यासाधार की सम्भावनाओं को लेकर आगे अलग तरह की (अपनी पूर्णता में) महत्त्वपूर्ण रचना का सबूत हो सकती है।

परसाई प्रत्यक्ष रूप से जनाभिमुख रहते हैं। वे आन्दोलनों और यूनियनों तथा लेखक संगठन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़कर भी चलते हैं और उन समस्याओं का सामना करते हैं। असल में यह समझ लेना आवश्यक है कि परसाई केवल लेखक नहीं हैं, वे एक आन्दोलन भी हैं। वे जिन आन्दोलनों में काम करते रहे हैं उनमें से कुछ हैं—छात्र संगठन, श्रमिक संगठन, शिक्षक संगठन, लेखक संगठन, साम्प्रदायिक एकता आन्दोलन, विश्व शान्ति आन्दोलन, भारत-रूस-मैत्री संघ आदि। परसाई से अब तो जन-जन के बीच से नवजवान व्यक्ति या दूसरे नागरिक भी सीधे सवाल करते हैं और वे 'पूछिए परसाई से' के माध्यम से सामाजिक संस्कार और

समझ तथा साहित्यिक रुचि और संवेदना का विकास करते हैं। उन्हें बनाने और रचने में प्रवृत्त रहते हैं। दूसरी तरफ यहाँ पर उनसे लिये गये दो साक्षात्कार हैं जो तमाम जिन्दगी के राजनैतिक, सामाजिक सवालों के सार्थक उत्तरों को सामने रखते हैं। उनके उत्तर ऐतिहासिक महत्त्व के साथ प्रस्तुत हुए हैं। यह सबकुछ आपके सामने प्रस्तुत है।

—सम्पादक-मण्डल

जिन्दगी के 'अकाल' की मुख़ालफ़त में परसाई की रीति और रुतबा

मलय

आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "गहरी उदासी की छाया के बीच आशा, उत्साह और तत्परता की प्रभा जिस क्रोधाग्नि के साथ फूटती दिखायी पड़ेगी, उसके सौन्दर्य का अनुभव सारा लोक करेगा।" और मैं इसी प्रयोजन से आपका ध्यान व्यंग्यकार की रचनाओं में रूपान्तरित क्रोध की ओर ले जाना चाहता हूँ। रचित और प्रतिफलित रूप में यह क्रोध अपनी जनाभिमुख प्रहारात्मक क्षमता में, रचनामय होकर जनमानस का अंग हो जाता है। इसीलिए रचनात्मक व्यवहार में व्यंग्यकार का संहार, समाज के सीधे सृजनात्मक व्यापार से जुड़ा होता है। व्यंग्य पर बात करते या लिखते समय, प्रहार या चोट करने की बात तो अक्सर की जाती है, लेकिन इस चोट या प्रहार के पहले या बाद में, क्या-क्या बिगड़ता-बनता है, लगभग इन बारीकियों पर हमारा ध्यान कम ही ले जाया जाता है। नतीजा यह होता है कि समर्थ से समर्थ व्यंग्य-रचना, एक तरह से बाहरी जड़ता के घेरे में घिर जाती है। वैसे इस तरह की जड़ता, व्यंग्यकार की अपेक्षा, पाठक के हित और हक, दोनों का नुकसान करती है। यह नुकसान व्यंग्यकार का भी होता है, क्योंकि उसके रचनागत उद्देश्य पूरी आकांक्षा के साथ लँगड़े रह जाते हैं। यह बात तो तब की हुई, जब व्यंग्य-रचना पूरी तरह से चुस्त, और सोच और सरोकार में दुरुस्त होती है। पर क्या हम यह नहीं जानते कि रचना का 'यह होना' भी एक महत्त्वपूर्ण और लगातार प्रक्रिया का अंग होता है। इस प्रक्रिया से होकर व्यंग्यकार बरबस गुज़रता है, संघर्ष करता हुआ अपना विकास करता है, और अपनी लड़ाई की आग को आगे तक बरकरार रखकर, बढ़ाने के लिए, अपने भू-भाग पर मजबूती की चिन्ता करते हुए, अपनी पोजीशन की दशा में जरूरत और जिम्मेदारी के अनुसार परिवर्तन लाते हुए, दिशा में दाखिली से लेकर, पूरी दखलन्दाजी की तैयारी के साथ आगे आता है। वह अपनी ताकत और तौर-तरीकों को समझते हुए 'सामाजिक तबाही' की चुनौतियों को स्वीकार करता है। लेकिन रचनाकार के लिए यह एक अनिवार्य मुद्दा है कि उसके इन सभी कार्यों में पाठक उसके साथ होकर चलता है कि नहीं। दूसरी बात यह है कि पाठकों में लेखक के 'चाहने' को रचना कितना बोती है और उसे सोचने का आधार देकर पुख्ता करती है।

रचना, चेतना और समझ के विकास के लिए, मन के अन्दर रुके-लहरते

कुसंस्कारों की अन्ध लहरों और उसके चारों तरफ घिरी जड़ दीवारों को चीरती और तोड़ती है। असल बात तब बने, जब रचनाकार का चाहना बिना किसी अतिरिक्त चमत्कार के पाठकों का चाहना बन जाये। ये सारे सवाल जनमानस की गहराई के होते हुए भी, पहले-पहल रचनाकार की चुनौतियाँ ही होते हैं, जो रचना में उत्तर बनकर नहीं, बल्कि 'उथल-पुथलमय' होकर उतरते हैं। परसाई की व्यंग्य रचनाएँ (आज की सर्वहारा जिन्दगी के सरोकार से जुड़ी) बहुत बड़े फलक पर फैली हैं। परसाई के रचना-लोक से जुड़कर हम इन सब बातों को देखने-परखने को तत्पर हैं। खुले रूप में यह कार्य कठिन होते हुए भी समय की माँग के कारण अब एकदम आवश्यक हो गया है। तमाम जीवन्त मुद्दों से टकराती 'रचनागत ताकत' को समझने-समझाने का यह प्रयास, हमारे अपने विकास का और शक्ति-अर्जन का गम्भीर मसला भी है। अतः एक सिलसिले से चलकर विचार करने के लिए यह उचित ही होगा कि परसाई की रचना-यात्रा में पहले उनके प्रमुख प्रस्थान बिन्दु की चर्चा की जाये। ऐसा करने से हमें, न केवल उनके शुरुआत के रचना-मन्तव्य की जानकारी मिल सकेगी, बल्कि इस बीज से विकसित होनेवाले आगे के विशाल वटवृक्ष तक पहुँच पाने के ज़रिये याने प्रयोज्य रीति और उसके विशिष्ट तन्त्र की थोड़ी-बहुत जानकारी भी हासिल हो सकेगी।

बात यही है कि रचनाकार ने अपनी किस पहली प्रमुख पहिचान से मुखातिब होकर अपने पथ को खोला है, और फिर किस तरह आगे अनुकूल मोड़ लेने की हस्ती पाकर उसे कहाँ तक ला दिया है या अपने किन दृढ़ निश्चयों से किस कदर रचनारत मानसिक बेहाली को, हालात से टक्कर लेने के काबिल बना लिया है। परसाई के समकालीन दूसरे व्यंग्यकारों से इस तरह की अपेक्षाएँ नहीं की जा सकतीं। उनके जमाने के कुछ, कितने ही, व्यंग्यकार हैं जिन्होंने परसाई की गहराई को, बात की पोशीदगी और मूल 'तन्त्र झुकाव' (रणनीति) को या तो समझा नहीं या जान-बूझकर व्यक्ति-लाभों से जुड़ने और उनकी उलटी दिशा में खतरों से आ टकराने से दूर रहकर उसे महत्त्व ही नहीं दिया। बना तो उसकी उपेक्षा की। जबकि स्वयं परसाई ने इसे इतने गहरे तक झेला, और अपने अन्दर से झगड़ते रहकर भी खुद को विकसित किया। अपनी इस गवाही में उनकी व्यंग्य रचनाएँ स्वयं हमारे सामने खड़ी हैं।

साहित्य के सभी रूपों का चरित्र, व्यवहार और प्रभाव-विस्तार अपनी अन्तर्-वस्तु को, मानवीय सम्वेदना में घोलकर, पाठक में वांछित आचरण और निहित उद्देश्य को उभारना और उसके स्थापित को प्रदत्त में तब्दील करना तक होता है। लेकिन व्यंग्य-रचनाओं की कुछ अपनी प्रकृति और परिमाण के कारण जो बातें दूसरे साहित्यरूपों में धारदार या नुकीली, आघातपरक या वक्र नहीं रह पातीं (बल्कि अपनी रचना-प्रक्रिया के दौरान, रूप की शर्तों में एक होकर घुली-मिली अदृश्य-सी हो जाती हैं) वे व्यंग्य-रचना में, एक सीधी उठान के साथ खरखराकर काटती-कटती चलती हैं। असल में यह सब, व्यंग्य की अन्तर्वस्तु की विशिष्ट

अनिवार्यता भी है। अब बहुत ही सतह पर आकर बात की जाये तो यह कि व्यंग्य-रचना की अपनी अभिव्यक्ति में लगभग 'तर्कवत्-संवेदना' (रचने-रचाने या सीधे रूप में कहें तो उस) का आधार अपनी बौद्धिक गुरुता में बहाल रहता है और साथ होकर आक्रोशमय उत्तेजना बढ़ाने के बावजूद, वह अलग दिखती है। दूसरे साहित्य-रूपों से, व्यंग्यकार का यह रचनागत अलग-थलगपन समझना जरूरी है, बल्कि यह अलग-थलगपन उन रूपों में सुरंग लगाकर अपने अड्डे लगा-जमाकर, चुपचाप या खुले रूप से अपने महत्त्व को अपेक्षातर ऊँचा करता है। और चाहा तो सिरमौर हो जाता है। देखिए, बात व्यंग्य-रचना की शुरुआत की थी और मैं पहुँच गया उसके सिरमौर बन जाने तक। अतः पीछे लौटना जरूरी है।

व्यंग्यकार की विचारधारा, उसकी समझ और व्यवहार का तौर-तरीका रचना को काबिल बनाता है। वैसे यह काबिलियत, रचनाकार के संस्कारों, रुचि, प्रवृत्ति, स्वभाव, चेतना और उसकी रचना-मंशा से छनकर आती है। और तो और, रचनागत मामलों में व्यंग्यकार की कमी और पाखण्ड या इससे विपरीत गहराई और गति के साथ, कारण और कार्य भी संकेतित हो जाते हैं। रचनाकार एक मनुष्य होता है। दूसरों की तरह उसके परिवेशगत संस्कार-कुसंस्कार भी होते हैं। विचारधारा के आधार पर उसे उन कुसंस्कारों को काट-छाँटकर, छोड़कर और नये जगा-जोड़कर, अनुरूप ढालना होता है। यह कार्य सहज नहीं है, इसलिए उसे पहली लड़ाई इन्हीं से लड़नी होती है। इस जड़ और गतिशील संघर्ष में रचनाकार घायल होकर ठीक-ठाक होता आगे बढ़ता और उतना ही बड़ा होता चलता है, जबकि जड़ संस्कारों के दबाव में दबा हुआ, और तो और, अपनी अस्मिता को घोंघे में बदल लेता है—या जड़ता ही घोंघे का रूप लेकर प्रसन्न हो रहती है। जड़, पुराने और प्रतिगामी संस्कार जनाभिमुख करने के बजाय जन-विरोधी करके निरीह होते जाने की स्थितियों में कैद कर देते हैं। इसीलिए व्यंग्य-कार अपने रचना-व्यापार में जिरह और जंग को पचाकर, आत्मसात कर गहरे और फैले, उठे हुए, व्याप्त सामाजिक आयामों तक पहुँच पाने के लिए आत्मसंघर्ष करता है। वह अपने प्रतिगामी संसार के जड़ संस्कारों के विरुद्ध अर्जित शक्ति से पंजा लड़ाता है, पछाड़ता है और उगते-फलकते संस्कारों की सतर्क सुरक्षा पर ध्यान रखता है। असल में एक बात यह भी है कि जब व्यंग्यकार किसी भी सामाजिक विकृति की बखिया उधेड़ने की परिपक्व मंशा से रचनोन्मुख, सक्रिय होता है तो उसके अन्दर की विकृतियों के अवशेष भी उखड़ते-चीत्कार करते आ निकलते हैं। या यों कहें कि रचना में बखिया उधेड़ने की गहराई तक जाने के लिए, व्यंग्यकार तल तक उतरता है तो उस चपेट में उसके ही अन्दर दबे-छुपे प्रतिगामी संस्कार-स्वभाव भी, आ जाते हैं। और जिस तरह के एक-अनेक लोग भी इस समाज में जमे हुए हैं और कुछ कारणों से मौज कर रहे हैं, उनको भी देखिए—

"छोटा लड़का, हमें देख दरवाजे से ही चिल्लाता भीतर भागता है—
'ओ अम्मा, वह फिर आ गया।'

"हम बैठक में बैठ जाते हैं। बड़ा लड़का किताब पढ़ने लगता है। हम कल का अखबार पढ़ने लगते हैं, लड़का मुँह छिपाकर हँसता है। छोटे बच्चे दरवाजे पर आ-आकर हमें देख जाते हैं। भीतर औरतों की बातचीत सुनायी देती है—'लो, वह तो फिर आकर बैठ गया। बड़ा मट्ठर आदमी है। कह दिया कि आदमी घर नहीं है, तो जाकर अपना काम-धाम क्यों नहीं देखता ?'

"'काम-धाम कुछ हो तो देखे।'··· (सब हँसती हैं) छोटा लड़का सारे परिबार की भावना समझकर, दरवाजे पर आ-आकर कहता है—'ए, पापा बाहर गये हैं।' बड़ा लड़का इसे अनुचित समझता है। वह उसे डाँट देता है—'ए मुन्ने, भाग यहाँ से। चुप।' छोटा लड़का भाग जाता है मगर फिर आता है—'ए, पापा बाहर गये हैं।' ···मुझे अब इस खेल में मजा आने लगा है। वह दरवाजे पर आकर बार-बार कहता है—'ए, पापा बाहर गये हैं।' बड़ा लड़का उसे डाँटता है तो वह खिल-खिलाकर ताली बजाकर भीतर भाग जाता है। फिर आता है। हम उठते हैं। कहते हैं, 'पता नहीं वे कब आयेंगे। अच्छा हम चलते हैं।' बड़ा लड़का बहुत खुश होता है, जब फाटक बन्द करने के लिए हम मुड़ते हैं, तो देखते हैं कि लगभग सारा परिवार खिड़की और दरवाजे पर है, और बड़ी दिलचस्पी से हमें जाते देख रहा है···। इसी तरह के एक और दोस्त (?) हैं, जो घर खाना खाने बुला जाते हैं। जब लेखक 11 बजे दिन में पहुँचता है तो वे नदारत रहते हैं। यह पूछने पर कि क्या वे कुछ कह गये हैं, पता चलता है कि कुछ नहीं कहा और उसी दिन शाम को मालूम होता है कि वे उसी वक्त दूसरे के यहां भोजन कर रहे थे।" (समय पर न मिलने-वाले)।

यहाँ पर बिना विचार किये तपाक से हम यह कह सकते हैं कि व्यंग्यकार हीनभावना का शिकार है, जो कि एकदम गलत है। व्यंग्यकार स्वयं यह मानता है कि "ऐसे लोग ज्ञानी हैं। वे जानते हैं कि काम अनन्त है, और आत्मा अमर है··· जो काम इस जनम में पूरे नहीं हुए, अगले जनम में पूरे कर लेगा।" शायद व्यंग्य-कार पारलौकिक संस्कारों के कारण ही उनके इस चरित्र की परिणति मानता है। लेकिन मेरे विचार से यहाँ उन पतनशील संस्कारों की अभिव्यक्ति है जहाँ चालाकी, झूठ और बेशर्मी की हद्द को औकात में शामिल कर लिया गया है और मनुष्य को इतने हल्के पासंग के बराबर भी नहीं छोड़ा है, जहाँ औरतें उसे निठल्ला स्वीकारती हैं। बच्चे खेल और मनोरंजन की सामग्री समझकर उसे विदूषक मान लेते हैं। लेकिन मेरे विचार से यहाँ लेखक उन अमानवीय संस्कारों में पैठकर उनकी पहचान और कठोरता से घायल होता हुआ भी उनके उस तल तक पहुँचकर स्वयं साक्षात्कार करता है जो घर की औरतों से लेकर बच्चों तक में पनपे कुसंस्कारों को पानी दे रहे हैं। या यह भी ठीक है कि व्यंग्यकार खुद अपने उन संस्कारों की जड़ों की कुरूपता से निपटने को तैयार होता है, जो उसे ऐसे समय पर न मिलनेवालों से जुड़े होने या जुड़ जाने का एहसास सँजोये रहते हैं ? इस अमानवीय विकृति के रूप का आघात कितना गहरा है और इस सहनशीलता के

पीछे क्या उद्देश्य है, यह व्यंग्यकार के इस कथन से जाहिर हो जाता है—"बेवकूफ बनते जाने का एक अपना मज़ा है। यह तपस्या है। मैं इस तपस्या का मज़ा लेने का आदी हो गया हूँ। पर यह महँगा मज़ा है—मानसिक रूप से भी, और तरह से भी।" निश्चित है कि यह सामाजिक कुप्रवृत्तियों के बीच से ढला हुआ, लेखक की अपनी जाँच-पड़ताल और तैयारी से उभरता आत्मसंघर्ष है, जहाँ वह बाहर की पहचान के साथ भीतर के अज्ञान और अनुसन्धान से आगे की भूमि तैयार करता है। अब दूसरा रचनांश देखिए—"मन्त्री चला गया। मुझे अनाथ कर गया। कार फाटक से बाहर हुई और मैं चेहरों के लिए एकदम अजनबी हो गया। बुझे हुए चेहरे इधर-उधर चल दिये। मैं बरामदे में ऐसे खड़ा हूँ, जैसे बियाबान हो। कुछ देर पहले के विपिनजी, मन्त्री की कार स्टार्ट होते ही मर गये···वह मेरा सारा तेज लेकर फरार हो गया। पर वह उसी का दिया हुआ तो था।" (ग्राण्ट अभी तक नहीं आयी)।

यहाँ पर लेखक अपनी बात के दो, बल्कि कहना चाहिए एक साथ तीन बिन्दुओं को स्पर्श करता है। पहला तो यह कि उसने कम-से-कम अपनी समझ और तपस्या के बल पर ही सही, उस व्यंग्य-शक्ति का विकास कर लिया है या यह नहीं तो अपनी उस सामन्तीय काव्यात्मक परिणति तक पहुँच पा ली है कि मन्त्री महोदय या तो उससे भय खाते हैं और इसीलिए साथ ले लिया करते हैं या फिर उसे अपनी सामन्तीय सभ्यता का जेवर मानकर इतनी देर साथ रख लिया करते हैं। दूसरी यह कि लेखक इस सुविधावाद या अवसरवाद के प्रभाव के निकट हो रहा है, अपनी जड़ों की पहचान से कट रहा है, और तीसरा यह (जो कि विशेष महत्त्वपूर्ण है) कि वह इस झूठेपन से उबर रहा है, जिसके साथ वह 'मन्त्री' और 'चेहरों' के चरित्र के निकट होकर भी एक अपेक्षित दूरी से उन्हें पूरी तरह समझ पाने में समर्थ हो रहा है।

और यह तीसरा रचनांश—"एक प्रोफेसर साहब क्लास वन थे। वे इधर आये। विभाग के डीन मेरे घनिष्ठ मित्र हैं, यह वे नहीं जानते थे। वे मुझसे पचीसों बार मिल चुके थे। पर जब वे डीन के साथ मिले तो उन्होंने मुझे पहचाना ही नहीं। डीन ने मेरा परिचय उनसे कराया। मैंने भी ऐसा बर्ताव किया जैसे यह मेरा उनसे पहला परिचय है। डीन मेरे यार हैं, कहने लगे—'यार परसाई, चलो केन्टीन में अच्छी चाय पी जाये। अच्छा नमकीन भी मिल जाय तो मजा आ जाये।' अब क्लास वन के आफीसर साहब थोड़ा चौंके···कहने लगे—'सालों से मेरी लालसा थी कि आपके दर्शन करूँ। आज वह लालसा पूर्ण हुई।' हालाँकि वे कई बार मुझसे मिल चुके थे पर डीन सामने थे।" (एक अशुद्ध बेवकूफ)।

यहाँ पर व्यंग्यकार से खतरे की पहचान शायद 'डीन' को हो सकती है लेकिन क्लास वन आफीसर को नहीं (क्योंकि वह व्यंग्यकार है, कोई संवाददाता या पत्रकार नहीं)। इस तरह से लेखक एक सुविधावादी पकड़ के करीब भी होता है, लेकिन भाई, अपनी अन्तर्वस्तु की खोज में लेखक को कहाँ नहीं जाना होता और

फिर मन की बात पा लेने के लिए, कुछ तो करना ही पड़ता है। किसी सड़े-गले ढेर में आग लगाने के लिए उसके पास होना या जाना एकदम अनिवार्य भी होता है। इसलिए बात पर और विचार करना जरूरी है। लेकिन साहब, जब व्यंग्यकार पाठकों से सीधे, बहुत गहरी आत्मीयता से (क्लास वन को नीचे गाड़ देने के लिए) कहता है--'डीन मेरे यार हैं' वगैरा-वगैरा, तो व्यंग्यकार के इस चरित्र पर शक न करना भी एक बड़ी भूल होगी। और अजीब बात तो यह है कि उसका मजा केवल क्लास वन को पीटने की सीमा तक ही नहीं, उसकी उछाल लेखकीय टोन में, एकदम बदली हुई लगती है। हो सकता है, परसाई के लेखन की बढ़ती हुई समझ और शक्ति के बीच भी, किसी काल और संस्कार-स्वभावगत विशेष चक्र में, उनकी कोई पुरानी अनुभव-स्वच्छन्दता अपनी खुली उत्कण्ठा को उड़ती देखने में रस लेने लगी हो। तो यह चूक भी, एक गहरे आत्मसंघर्ष के बीच भी तो हो सकती है? लेकिन चूक ने उन्हें चाकर नहीं बनाया। हमेशा—आगे तक--उनकी एक-से-एक उत्कृष्ट व्यंग्य-रचनाओं से बढ़कर स्वयं खतरा उठा ले जाने का प्रमाण और किस बात का हो सकता है? असल में अपने विकृत या गैरवाजिब संस्कारों से निपटने-निपटाने की बात हो या अपनी हीन भावना को ओढ़कर वस्तुसाक्ष्य के लिए निकट पहुँच पाने की दरकार ही हो, या दो दुश्मनों के बीच के आचरण-रहस्यों को जानने के लिए, एक को दूसरे से अलग करके उपयोग करने की बात हो—तय है, इन सभी में, एक ओर तो व्यंग्यकार के आत्मसंघर्ष और उससे प्रतिफलित विकासमान रचनागति का जायजा मिल सकता है, तो दूसरी ओर निश्चित रूप से इन रचनाओं की प्रथम परिणति, पाठकों के ऊपर हास्य या ठहाके के रूप में होती है। यहाँ पर ध्यान दें—याने यह व्यंग्य रचनाओं का वह दायरा है जहाँ थोड़ा-बहुत कम या भरपूर ठहाके को स्थान मिलता है। हमें विचार करना चाहिए कि ऐसे अवसर ही होते हैं जब इस हास्य की मार केवल हास्यास्पद या शत्रु पर पड़ती है। कुछ अवसर ऐसे भी होते हैं—जैसे पहले उदाहरण में लगभग पूरी और दूसरे में कुछ कम मार, खुद व्यंग्यकार को अपने ऊपर झेलनी पड़ती है। और व्यंग्यकार का यह झेलना स्थापित कायरनुमा भलमनसाहत को, पिटने, उधड़ने और कुचलने तक के लिए, अपने को असहाय छोड़ देना कोई अकस्मात आयी हुई विपदा नहीं है, बल्कि व्यंग्यकार की सोच की दिशा में योजित एवं रचना-प्रक्रिया से सुसम्बद्ध एक कार्यशैली या रीति है जो उसकी प्रणाली का एक स्वीकृत अंग भी है। इस मामले में जहाँ तक व्यंग्यकार का अपना प्रयोजन है यह ऐसी रीति-योजना है जैसी एक सैनिक की अपनी प्रशिक्षण की स्थिति में होती है। उसकी मानसिक कमजोरियों को दूर कर आत्मविश्वास देने के लिए और उसी के समानान्तर शत्रु से निपट सकने की उसकी शारीरिक बलिष्ठता बढ़ाने के लिए उसे चट्टानों पर से ढकेल दिया जाता है या वह स्वयं अचानक चट्टान से नीचे कूद पड़ता है, जान-बूझकर अपने को किसी भारी प्रहार के हवाले कर देता है, दौड़ता है, पीटता-पिटता है और अचानक बचने की तत्परता का विकास करता

है। कुल मिलाकर यही कि जिससे वह अपनी आगे की लड़ाई में अपने को सफल और 'पूर्व अनुभवी' जैसा बना लेता है। वह इन तथाकथित शिष्ट व्यवहारों में उपयोगित कलाबाजी का काल बनने के लिए पहले स्वयं भीतर घुसकर घायल होता है और अपने को कुरेद-कुरेदकर बेवकूफ संस्कारों और जड़ताओं, नासमझियों को भीतर-बाहर से, अपनी समझ से साफ और मजबूत करता है। बल्कि यही कि पुराने 'अनुभव रोष' की चाकू की नोक से अपने ही हाथों से इन विसंगतियों को चीरता दिख जाता है। लेकिन यह भी एक कलाबाजी है उसकी (जिसके नीचे झेलती कठोरता छुपी है) कि वह पाठकों में हास्य पैदा करता है। इन सभी रचनाओं में थोड़ा-बहुत या कम हास्य पैदा होता है और कहीं तो वह ठहाका तक में बदल जाता है। पहला उदाहरण बराबर ठहाके को साथ लेकर चलता है, दूसरा थोड़ा-बहुत कम और तीसरा उससे भी कम।

अब हम इस बात पर दूसरी तरह से भी कुछ अलग हटकर विचार करें; विशेष रूप से रचना-प्रभाव में हास्य की दृष्टि से। थोड़ा सोचने से यह बात हमारी समझ में आ जाती है कि हास्य का स्वभाव, रचना की प्रतिफलित वस्तु को वितरित करना या यहाँ तक कि विच्छिन्न कर देना होता है। यही कारण है कि जब व्यंग्य-रचना का स्वभाव और परिणति, अधिक तीखी और कटीली होकर अधिक ठोस आक्रामक रुख अख्तियार करने लगती है तो चेहरे के चारों तरफ गूंजकर मँडराया हुआ हास्य, लगातार सिकुड़कर कड़वी मुस्कान में तब्दील होने लगता है। तब चेहरे का हास्यगत फुलाव उसकी मुस्काती विकृति में त्रिकोण हो उठता है। ठीक जैसे किसी ने प्रसाद में मीठी पँजीरी के बहाने नीम का सत दे डाला हो। लेकिन यहाँ से भी रचना में रोष का पदार्पण होकर अपरिचित से परिचित और धीरे-धीरे घनिष्ठता में बदलने लगता है। याने कह सकते हैं कि रचनाकार अपने दूसरे पड़ाव में प्रवेश करने लगता है। वास्तव में यहाँ आकर जिन्दगी को अपेक्षतया अधिक संजीदगी से लेने और समझने का दौर शुरू होता है। होता यह है कि व्यंग्य-रचना का डोज़, जो पाठक को दिया जाता है वह बड़े ठहाके के साथ उस डोज़ को समूचा बाहर फेंक देता है—जैसे रोगी दवा की मितली कर दे। लेकिन यह ठहाका जितना ही कम भभकीला और मन्द होता जाता है, दवा का असर उतना ही निश्चित है क्योंकि उसके शेष रह पाने के कारण वह पाठक के आचरण से जीवन-जगत तक फैलता है। यह महत्त्वपूर्ण कारण है कि एक स्थान पर आकर व्यंग्य-रचनाओं से हास्य धीरे-धीरे फिर एकदम गायब हो जाता है और आक्रोश की अपनी प्रक्रिया चल निकलती है। परसाई की कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें हास्य का बाहर दरवाजे की ओर जाना और उसी दरवाजे से आक्रोश का प्रवेश करते हुए (दोनों का) आमना-सामना हो जाना पाया जाता है। 'टेलीफोन' और 'वो ज़रा वाइफ हैं न' इन रचनाओं को उधेड़ने पर अनुकूल प्रमाण जुटा पाना शायद सहज लगता है (लेकिन यहाँ मुझे आप शायद इस बात के लिए समय नहीं देंगे)। मैं चाहता हूँ कि अब हम आक्रोश के प्रवेश की कहानी को आगे बढ़ायें।

व्यंग्य-रचनाओं की इस अवस्था का दौर और दरकार कुछ ऐसी होती है कि व्यंग्यकार समय और समझ के साथ, स्थान और सन्धान के प्रति अधिक चुस्त और दुरुस्त हो चलता है। उसमें पहले-जैसी प्रशिक्षण अवस्था की कोई कमी या कमजोरी भी नहीं होती। इसलिए यहाँ पहुँचकर उससे हमारी अपेक्षाएँ भी बढ़ जाती हैं। अर्थात् वह जनमानस की सहजता और रुखाई को किस तरह उसकी (सर्वहारा की) लड़ाई के भू-भाग से जोड़ देता है। 'एकलव्य ने अँगूठा दिखाया' इसका एक उदाहरण है। "···गुरु-शिष्य दोनों सिर झुकाये देर तक बैठे रहे। अर्जुन ने कहा—'गुरुदेव, प्राचीनकाल में भी एक एकलव्य हो गया है न?' आचार्य बोले—'हाँ, पर उसमें और हममें बड़ा अन्तर है। वह पुण्य युग था, यह पाप युग है, उस एकलव्य ने बिना तर्क के अँगूठा काटकर गुरु को दिया था, इस एकलव्य ने गुरु को अँगूठा दिखा दिया।' " (एकलव्य ने अँगूठा दिखाया)।

यहाँ पर यह शक पैदा हो सकता है कि व्यंग्यकार ने कुलपति का सहारा लेकर एक तरह से व्यवस्था की शक्ति का पोषण भी किया है, लेकिन जवाब यह भी हो सकता है कि एकलव्य या उस-जैसे अब इतने सतर्क और सबल हो चले हैं कि कुलपति को उन-जैसों की सीधी उपेक्षा की स्थिति सम्भव नहीं रह गयी है। दूसरी बात यह भी कि फिलहाल 'लोहा लोहे को काटता है', लेकिन सा'ब ! जब छोटा लोहा बड़े लोहे को काटे तभी न ? तब तो कुलपति ने द्रोणाचार्य को काटा तो बात अनुकूल न बनी। लेकिन बात भी किसकी है, एकलव्य की, कुलपति की नहीं। इसलिए एकलव्य ने द्रोणाचार्य को काटा तो फल कुछ और भी हो सकता है। वास्तव में व्यवस्था के हित में 'गुरुर्ब्रह्मा' कही जानेवाली धारणा के विरोध में जाकर व्यंग्यकार ने एक ओर पुराने संस्कार की चीर-फाड़ की है तो दूसरी ओर नये को ताकत देकर मजबूत बनाने का काम भी किया है। परसाई की व्यंग्य-रचनाओं में यहाँ पहुँचकर हास्य पूरी तरह से गायब तो नहीं हुआ है, पर एक हल्के आक्रोश की शिराएँ फैलती अनुभव की जा सकती हैं।

जहाँ पर, उपेक्षित और शोषित वर्ग की रुखाई का विकास उसके कारणों की तह से अँकुराता हुआ दिखता है और जिसके पहले हमारी नासमझी से पुख्ता हुए संस्कारों की जड़ों को काट पाने की सफलता भी है। इसलिए यहाँ आकर रचना में आक्रोश के नये रेशों को अनुकूल उपजाऊ भू-भाग में सींचने और फैला पाने की सम्भावनाएँ बन गयी हैं।

परसाई की बड़ी बातों के साथ उनकी छोटी-से-छोटी बात का महत्त्व कम नहीं होता, क्योंकि वह किसी बड़े दरवाजे की पोल तक पहुँचने के लिए दीवालों में सुराग पा जानेवाली होती है। जैसे कि 'लघुशंका न करने की प्रतिष्ठा' याने बड़े-से-बड़े भ्रष्टाचारी, रिश्वतखोर जिसमें चीता, बकरा और खरगोश के पास जाकर सलाह करता है और चीता की पत्नी समारोह में अपने बच्चे के पेशाब न करने के झूठ को छिपाने के लिए "मिसेज शर्मा कहती हैं—'नहीं, हम ही आयेंगे आपके यहाँ। हम सब एक हैं। इसमें कोई बड़े-छोटे का सवाल थोड़े ही है।' " और

इसीलिए लेखक यह कहकर इस ढोंग को पूरी तरह उधेड़कर रख देता है कि "बच्चे ने पेशाब करके समाजवाद की प्रक्रिया शुरू कर दी है।" मतलब समाजवाद का ढोंग कितना सस्ता और सुलभ है कि टुच्ची बातों तक को छुपा देने के काम आता है, (जबकि वास्तविकता यह है कि चपरासी से समारोह में हाथ मिलाने की जरूरत पड़ सकती है, इसलिए उसे हाथ साफ करके आयें, कहा गया है)। साफ है कि बड़े साहब (शेर) के डर से भी बड़े, मँझले आफीसर एक हो जाते हैं। यहाँ तक कि क्लर्क भी। पर मुख्य बात, जो बड़े प्रेम के साथ चलती है, यही कि शेर जब जंगल के किसी कोने में आ जाये तो चीता बकरी से पूछता है—"बहनजी, साहब के स्वागत के लिए और क्या-क्या इन्तजाम किया जाये?" बकरी सिवा इसके और क्या जवाब दे—"साहब, बड़े शेर साहब को, मेरे बच्चों का लजीज गोश्त पेश किया जाये। यदि शेर साहब को संगीत का शौक हो, तो मैं 'में-में' की ध्वनि से उन्हें इन्टरटेन कर सकती हूं।" आज इस सुविधावादी या अवसरवादी उच्च-मध्यवर्ग की टुच्ची और लुच्ची हरकतों में भी 'समाजवाद' का छद्म जुड़कर एक हो गया है जिसके अन्दर बकरी को अपनी 'फाँसी लगी सहजता' में, शेर के लिए अपने ही बच्चों का लज़ीज़ गोश्त पेश करने के साथ, शेर साहब को, संगीत का शौक पूरा करने के लिए 'में-में' भी करना पड़े। इस विकराल क्रूरता की रेखा उच्च-मध्यवर्ग को पार करती हुई, सीधी उच्चवर्ग के उन शोषकों तक पहुँच जाती है जो व्यवस्था के मूल में अपनी जहरीली जड़ों का जाल बिछाकर, इनके मुँह में खून का स्वाद देकर दूर बैठे, इन्हें बकरी के पास तक भेजकर अपने शोषण-व्यापार में मजबूत रहते हुए सुरक्षित भी हैं। यह बात अलग है कि उनका चित्र हमें भले ही न दिख पाये, किन्तु चरित्र उजागर होता हुआ सामने है—और अगली स्थिति की प्रतीक्षा की जा सकती है। इस रचना में विकराल क्रूरता की वह खुलती हुई विभीषिका है जहाँ आक्रोश अपनी ऊँचाई पर उठने के लिए, कमर को सचेत कर रहा होता है, जहाँ पर खुलता आक्रोश एक उभार पर पहुँचने की बेचैनी महसूसता है। परसाई की ऐसी अनेक रचनाएँ अन्तर्विरोधों की पहचान की गहन गाथा के साथ व्यवस्था के प्रपंच के भीषण अँधेरे को चीरकर पार करती हुई, आक्रोश और उसे भी परिपक्व बनाते हुए परिष्कृत कर पाने की स्थिति तक पहुँचाती हैं। अर्थात वे आक्रोश के फैलाव और छितराव को ऐसी सघनता में बदल देते हैं जो ठोस, वजनदार होने के साथ प्रौढ़ हो जाता है। इस स्थिति की विचित्रता और विशिष्टता यह होती है कि आक्रोश तो दिखायी ही नहीं देता (या उसका पता नहीं चलता) लेकिन यह सतर्कता, दीनता के लिए दुत्कार और हीनता के बदले जैसे हाथ में हथियार दे देती है। देखिए और परखिए! एक लड़ाई के भूभाग में पहला कदम रखते हुए हमारे यह रचनागत हालात—

"जो साल हमने बिगाड़ दिया, उसे लो, उसकी तस्वीर से मन बहलाओ। बीते हुए की बदरंग मुरझायी तस्वीर हैं ये। आगत की चमकीली तस्वीर हम तुम्हें नहीं दे सकते···देनेवाले हमें भी तो हर साल के शुरू में रंगीन तस्वीर देते

हैं कि लो अभागो, रोओ मत, आगामी साल की यह रंगीन तस्वीर है, मगर वह कच्चे रंग की होती है। साल बीतने पर भद्दी हो जाती है···किसी दिन तुम इन बदरंग तस्वीरों को हमारे सामने ही फाड़कर फेंक दोगे और हमारे मुँह पर थूकोगे।" (हम, वे, भीड़)

यह रचना अपने इतिहास, वर्तमान और भविष्य तक जानेवाले अपने सुविचारित निष्कर्षों से सजी हुई और मँजी हुई लगती है। यहाँ, सीधा साक्षात्कार हमारे आक्रोश का न सही, पर आक्रोश के गाढ़े रंग को स्पष्ट तो कर ही देता है। एक तनाव है जो विस्तृत फलक को संश्लिष्ट आचरण से घनीभूत किये है। रचनाकार की यह उत्तेजना, विशुद्ध रूप से विचारधारा और उसके साथ उसकी चरित्र-सघनता को भी सामने लाती है। यहाँ लेखक की कलात्मकता अपेक्षित पतली हो गयी है, जिसका कारण किसी हद तक आक्रोश का भरपूर जोर भी है। लेकिन अगली रचना को देखिए जहाँ व्यंग्यकार अपनी रचनात्मक ऊँचाइयों की ओर आश्वस्त होकर यात्रा करता है—

"अब फायरिंग के शिकार परिवार के लोगों की औरतें यों बात करती हैं—हमारी तो किस्मत फूट गयी, हमारे मर्द को मामूली मरहम-पट्टी हुई है तो हमें सौ ही मिलेंगे। तू भागवान है बाई, कि तेरा मर्द मर गया तो तुझे पाँच हजार मिलेंगे। हमारा मर्द तो शुरू से निखट्टू है। इस चमेली का घरवाला फिर भी ठीक है। अस्पताल में पड़ा है तो हजार रुपये तो मिलेंगे। हमारे मर्द से तो इत्ता भी न बना।" इस रचना की पर्त तोड़ने से पहली तो सीधी बात यह उठती है कि पैसे की चाह या भूख इतनी अधिक है कि आदमी के मरने या मारे जाने की परवाह नहीं, परवाह मुआवजे में प्राप्त होनेवाली राशि की है, क्योंकि तबाही यहाँ तक बढ़ गयी है। लेकिन दूसरी पर्त को तोड़िए तो 'हमारा निखट्टू मर्द' लड़ाई में भी शामिल नहीं होता या होता है तो पीछे रहता है, सर्वहारा संघर्ष के तौर-तरीकों के काबिल नहीं है। उसमें सक्रियता का अपेक्षित ताप नहीं है। यह बात कितनी सही है, इसका प्रमाण रचना में आगे मिल जाता है, जो स्वयं इस प्रकार है—

"···इन मुख्यमन्त्रियों से अब काम नहीं माँग सकते, रोटी नहीं माँग सकते, तनख्वाह नहीं माँग सकते, न्याय नहीं माँग सकते, इनसे अब बस एक ही माँग की जा सकती है—मरनेवाले आदमी की कीमत बढ़ाओ। हुजूर, पाँच हजार बहुत कम होते हैं। सब जिन्सों के दाम बढ़ गये हैं, आदमी का भी दाम बढ़ाइए। सात हजार कर दें हुजूर! आदमी हम शुद्ध सप्लाई करेंगे। मिलावट नहीं होगी—जितना चाहिए उतना माल सप्लाई करेंगे। आप जितने चाहे उतने आदमी मार डालिए। इसी मुआवजा बढ़ाने की माँग को लेकर आन्दोलन हो जाय। देखें, फायरिंग के बाद एक-एक आदमी के शिकार के पाँच हजार देते हैं कि सात।" (मुर्दा का मूल्य)

यह रचना पाठक की मानसिक तैयारी की कितनी उच्चतम भूमि है, जहाँ आक्रोश के घनेपन को किस तरह छाना गया है और उसे मानसिक प्रौढ़ता की

सामान्य-सतर्क-सहजता में तब्दील कर दिया गया है। यहाँ विवेक से जुड़े निष्कर्ष के तीरों की जहर डूबी नोकें, व्यवस्था के विरोध में कितनी छेदती, मार करती हैं ! देखिए, जब यह कहा जाता है कि 'आदमी की कीमत बढ़ाओ, हुजूर, पाँच हजार बहुत कम होते हैं', तो यहाँ पर एक तेज, तीखा और जानदार परिष्कृत दिमाग का सन्तुलित कर्म क्या-से-क्या कर सकता है ? सर्वहारा को कितना ऊँचा उठाकर उसकी जमीन से कितने गहरे तक जोड़ सकता है ? इस जगह हम, तुम, सभी, सर्वहारा समझ से भरपूर हो उठते हैं। यह बात दूसरी है कि रास्तों की खोज अलग बिखरे हुए कितना कर पाते हैं ?—पर हम सबका चल निकलना कम अर्थवान नहीं रहता, जब इस तरह के सपने अवचेतन से उभरकर सामने आने लगते हैं कि "अब वे भूखे क्या खायें ? भाग्य-विधाताओं और जीवन के थोक ठेकेदारों की नाक खा गये, कान खा गये, हाथ खा गये, टाँग खा गये। वे सब भाग गये, अब क्या करोगे ? ··· (आखिर) अब क्या खायें ? आखिर वे विधान-सभा की और संसद की इमारतों के पत्थर और ईंटें काट-काटकर खाने लगे।" (अकाल-उत्सव)

यह एक ऐसा दृश्य-प्रभाव है जहाँ हास्य तो सपने में भी नहीं और क्रोध अपनी रूह में भी नहीं दिखता, जैसे एकदम नदारत है। यदि सामने है तो विवेक और उसकी सक्रियता में सारी संवेदना की एक उठान जो क्रोध की उत्तेजना से थोड़ी भिन्न तरह की चेतना की उत्तेजना है। क्योंकि इसके साथ सामूहिक और इतिहास से गुजरते हुए कालगामी निर्णय और कर्म का धरातल जुड़ा हुआ होकर आता है। लोग वही हैं जो दबे हुए, कुचले हुए हैं लेकिन यहाँ न दब्बूपन की हीनता है और न कुचलने का कष्ट, बल्कि एक चेतनागत उत्तेजना है जो दिमाग में जिन्दगी को समझने के लिए विचारधारा की दृष्टि देती है और शरीर में मुक्ति के लिए जरूरी कर गुजरने का माद्दा पैदा करती है।

परसाई की व्यंग्य-यात्रा, हास्योन्मुख संस्कारों से आक्रोशोन्मुख रचना-क्रियाकलापों तक और फिर वहाँ से समाज के मुक्ति-उन्मुख आचरण-व्यवहार में प्रवेश कर जानेवाली गतिशीलता, परसाई को ऐतिहासिक चेतना का अंग बना देती है। अब यह बात केवल महसूस करने तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि जरूरत इस बात की भी है कि यहाँ पहुँची हुई इस रचनायात्रा को और नये पड़ावों से किस तरह और ऊँचे उठाकर आगे बढ़ाया जाये ? यह सवाल परसाई के पाठक और उनकी व्यंग्य-रचनाओं में उपस्थित सर्वहारा, जिन्दगी के व्यापक सन्दर्भों में परसाई से, परवर्ती व्यंग्य-लेखक पीढ़ियों से और सभी सचेत रचनाकर्मियों से भी है। लेकिन विचारधारा के साथ परसाई की रीति और रुतबे को समझने-बूझने के बाद ही।

रचना-क्रम

अरस्तू की चिट्ठी
(भारत निवासी एक वंशज के नाम)

कबिरा खड़ा बजार में
(काल्पनिक भेंट)

'वसुधा' के सम्पादकीय

लेख, भाषण, वक्तव्य

परसाई से दो साक्षात्कार

प्रारम्भिक लेख, कहानियाँ, निबन्ध,
पुस्तकों की भूमिकाएँ, सम्पादकीय आलेख,
साक्षात्कार, व्याख्यान तथा
रिटायर्ड भगवान की कथा (उपन्यासांश) आदि

सन् 1957 में जबलपुर से सामान्य स्थिति के एक प्रेस मालिक ने 'परिवर्तन' साप्ताहिक निकाला, जिसके प्रधान सम्पादक दुर्गाशंकर शुक्ल थे ।

यह साप्ताहिक बहुत विद्रोही तेवर लिये हुए था । एक मण्डली इसके साथ थी । इसमें परसाईजी ने ए स्तम्भ लिखा—'अरस्तू की चिट्ठी ।' पत्र के तीखेपन ओर के मिथ्याचार पर तीव्र प्रहार के कारण वह हुआ—परन्तु यही कारण उसके बन्द होने का भी हु बड़े लोगों के दबावों के कारण प्रकाशक को पत्र पड़ा । आगे अरस्तू की चिट्ठियाँ हैं ।

—सम्पादक-मण्डल

अरस्तू की चिट्ठी

भारत-निवासी एक वंशज के नाम

अरस्तू की चिट्ठी-1*

आयुष्मान,

कल ही तुम्हारे देश का बजट फेल होने से बच गया। कितना तूफान उठा था। कांग्रेस पार्टी के भीतर कितना हंगामा मचा था। मगर सब शान्त।

तूफान को किसने पाल लिया? किसने जादू कर दिया? किसकी वंशी से असन्तोष का नाग मस्त हो गया।

तुम्हें मालूम होगा, आयुष्मान, कि टी. टी. कृष्णमाचारी की दम उखड़ चुकी थी, चारों ओर से उन पर प्रहार हो रहे थे। इसी समय तुम्हारे प्रधानमन्त्री पण्डित नेहरू ने जादू किया।

नेहरू जादूगर हैं। प्लेटो ने जिसे 'फिलासफर किंग' कहा है, वह यही नेहरू हैं। मेरे गुरु प्लेटो से मेरा बहुत मतभेद रहा, वह कल्पनालोक में जीता था, मैं अधिक यथार्थवादी था। 'फिलासफर किंग' में एक ताकत होती है जो तर्क और यथार्थ के ऊपर होती है—वह है फिलासफर किंग की 'अदा'।

हाँ, उसे 'अदा' ही कहूँगा। आम जनता 'अदा' पर मरती है। दूसरे शासक की बात को तौलती है, जाँच करती है, भला-बुरा देखती है, फिलासफर किंग की अदा पर डोलती है।

तुम्हारे प्रधानमन्त्री में यह अदा है। इसी 'अदा' पर तुम्हारे यहाँ की सरकार टिकी है, जिस दिन यह अदा नहीं है, या अदाकार नहीं है उस दिन वर्तमान सरकार एकदम गिर जायगी। जब तक यह अदा है तब तक तुम शोषण सहोगे, अत्याचार सहोगे, भ्रष्टाचार सहोगे—क्योंकि तुम जब क्रोध से उबलोगे, तुम्हारा प्रधानमन्त्री एक अदा से तुम्हें ठण्डा कर देगा। तुम्हें जानकर आश्चर्य होगा कि तुम्हारे मुल्क की सारी व्यवस्था एक अदा पर टिकी है।

प्रधानमन्त्री ने कहा—'टैक्स दो' और तुम देने लगे। प्रधानमन्त्री ने कहा—'बजट ठीक है' और तुमने कहा—'बिल्कुल ठीक है।' उनने कहा—'दूसरी योजना के लिए त्याग करना पड़ेगा' तो तुमने कहा—'लँगोटी उतरवा लो।'

और अब तुम्हारे प्रधानमन्त्री ने कहा कि दो साल बाद तुम्हारी हालत सुधर जायगी।

* परिवर्तन, 1 जून, 1957

तुमने बात मान ली ! तुम अदा पर मरते हो।

लेकिन आयुष्मान, तुम जो इतना देते हो, वह कहाँ जाता है ? जिस दिन मैं यह लिख रहा हूँ, उसी दिन के अखबार में खबर है कि ठेकेदारों और वन-विभाग के कर्मचारियों ने मिलकर दो लाख की सरकार की लकड़ी उड़ा दी ! तुम जानते हो कि नंगल बाँध के पैसे और सामान हजम कर जाने का मामला बड़े-बड़े इन्जीनियरों पर चल रहा है। तुम्हारी योजनाओं का सीमेण्ट और लोहा चुपचाप बिकता है।

अभी यहाँ तुम्हारे देश का एक पुलिस अफसर है—नर्क में है। उसके नाम के आगे यहाँ के रजिस्टर में 15 लाख बकाया लिखा है, जो उसे चुकाना है। तुम यहाँ की पद्धति नहीं जानते। होता यह है कि तुम्हारे यहाँ जो आदमी घूस लेता है, चोरी करता है, छीनता है, उसके नाम के आगे 'इतना कर्ज' यहाँ लिख लिया जाता है। फर्ज करो कि किसी अफसर ने 1000/- की घूस ली तो उसके नामे ये रुपये लिख लिये जावेंगे। और जब वह यहाँ आयेगा, तो उसे वह सब चुकाना होगा। वसूली के तरीके कैसे होते हैं—यह मत पूछो। तुम काँप जाओगे।

तो जो वहाँ बटोरता है, उसे यहाँ चुकाना पड़ता है। मगर तुम्हारी योजना का सारा पैसा तो ये खाये जाते हैं।

यहाँ त्यागी, देशसेवक किस्म के लोग भी आते हैं। मगर ये भी अजब हो गये हैं। तुम्हें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। कल यहाँ एक 'भारतसेवक समाज' का नेता आया है। उसकी जब जाँच की गयी, तो पाया गया कि उसकी हड्डी तक रबड़ी-मलाई की बनी है। उसकी नसों में खून नहीं, घी बहता है। उसने बड़ी समाजसेवा की है मगर उसके हिसाब में 18 हजार निकलता है, जो उसे चुकाना होगा। इन्जीनियर, सुपरवाइजर, इ. ए. सी., क्लर्क, पुलिस-आफिसर, ठेकेदार—न जाने कितने आ रहे हैं जिनके नाम के आगे लिखे रुपयों का हिसाब जोड़ा जाय, तो एक पंचवर्षीय योजना के खर्च के बराबर हो।

आयुष्मान, तुम इन लोगों से यह कर्ज वहीं क्यों नहीं चुकवा लेते ? यह पैसा जो यहाँ तरह-तरह से चुकाते हैं, अगर वहीं रह जाय तो तुम्हारी तो हालत सुधर जाय।

मगर तुम ऐसा नहीं कर सकते। तुम घूस, भ्रष्टाचार, चोरी नहीं रोक सकते। तुम अपने पसीने और खून की कमाई देते जाते हो और ये लोग उसे पचाते जाते हैं। और तुम सहते हो ?

तुम सहते हो, क्योंकि तुम अपने प्रधानमन्त्री की अदा पर मरते हो। वह कभी मुस्कुराकर, कभी खीजकर, कभी गम्भीर होकर तुमसे कहता है और तुम वह मान लेते हो। फिलासफर किंग की अदा के जादू के जाल में हो।

मगर तुमने मेरे द्वारा प्रतिपादित क्रान्ति के कारणों को पढ़ा होगा। भ्रष्टाचारी राज्य-कर्मचारियों के कारण भी क्रान्ति होती है। राज्य, नागरिक के पास पुलिसमैन, टैक्स कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, इ. ए. सी., ओवरसियर के रूप में ही आता

है। और कभी ऐसा भी वक्त आता है जब 'अदा' भी काम नहीं करती।

वह समय आ रहा है आयुष्मान! आज यहीं तक। अगर तुम्हें बर्दाश्त होगा तो हर हफ्ते एकाधि चिट्ठी लिख दूंगा। नहीं चाहोगे, तो कोई बात नहीं!

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-2*

आयुष्मान,

स्वर्ग पृथ्वी के बहुत करीब आ रहा है—याने यहाँ तुम्हारी दुनिया के तौर-तरीके अपनाये जा रहे हैं। भगवान अब रिटायर हो गये हैं और सारा काम राजनीतिज्ञों के हाथ में सौंप दिया। पर धीरे-धीरे यहाँ वे लोग आने लगे, जो वहाँ राजनीति का धन्धा करते हैं और जब वे यहाँ आये, तो उन्होंने प्लेटो, रूसो, मार्क्स, कौटिल्य आदि सबको धता बता दिया और राजनैतिक अखाड़ेबाजी शुरू कर दी। जिसको तुम लोग 'ईश्वर' कहते हो, वह बेचारा एक बच्चे की तरह रहता है और उसकी ओर से राज करते हैं तुम्हारे यहाँ से आये हुए ये भूतपूर्व टोरी और ह्विग, रिपब्लिकन और डेमोक्रेट कांग्रेसी और समाजवादी। सारी 'व्यवस्था को हथियाकर' बैठे हैं। जब से तुम्हारी दुनिया का बदनाम सीनेटर मेकार्थी यहाँ आ गया है, बड़ी गड़बड़ मची है—उसने यहाँ भी एक कमेटी बना रखी है जो उन लोगों की जाँच करती है जिन पर कम्युनिस्ट होने का शक है। अभी परसों बेचारे नारद को इस कमेटी के सामने हाजिर होना पड़ा, क्योंकि मेकार्थी को उन पर शक था कि वे कम्युनिस्ट हैं। मेकार्थी एक नये धर्म का प्रचार कर रहा है जिसमें 'डालर' ईश्वर है, और 'शोषण' धर्म है। बड़ा बुरा हाल है यहाँ का आयुष्मान! अभी उस दिन एनातोले फ्रान्स अपनी एक पुस्तक लेकर भगवान के पास गये और वह अंश पढ़कर सुनाया जिसमें एक लड़का बाप से कहता है, "पिताजी, या तो ईश्वर संसार में बुराई को रोकना चाहता है पर रोक नहीं सकता या रोक तो सकता है, पर रोकना नहीं चाहता—पर वह न तो रोक सकता है, न रोकना चाहता है। अगर रोकना चाहता है, पर रोक नहीं सकता तो वह शक्तिहीन है। अगर रोक सकता है, पर रोकना नहीं चाहता तो वह विकृत है। अगर न रोक सकता है न रोकना चाहता है तो शक्तिहीन भी है और भी विकृत। और अगर रोकना भी चाहता है

* परिवर्तन, 16 जून, 1957

तो रोक भी सकता है—तो आखिर रोकता क्यों नहीं ?" भगवान बेचारे गुमसुम हो गये। फिर बोले, "मैं बड़े धोखे में आ गया। राजनीतिज्ञों ने मुझसे कहा कि आप आराम करो, हम सब ठीक कर देंगे। और उन लोगों ने यह हाल किया है !"

यहाँ आजकल म्युनिसिपल चुनाव चल रहे हैं, आयुष्मान ! तरह-तरह के देवी-देवता चुनाव में खड़े हैं वे जो एकान्त में बैठकर चिन्तन करते थे, एकाएक जन-नेता बनकर खड़े हो गये हैं। अखबारों में कीचड़ उछाला जा रहा है, गाली-गलौज हो रही है, कुबेर के खजाने से कर्ज लेकर पैसा बाँटा जा रहा है। सोमरस पिलाकर बेहोशी में वोट का वचन लिया जा रहा है। हम लोग टुकर-टुकर देखते रहते हैं—कुछ कर नहीं सकते। दुनिया में जो हमारा हाल हुआ, वही यहाँ हो रहा है।

जिस नगरी में मैं रहता हूँ उसके अजीब नज्जारे देखने को मिल रहे हैं। चुनाव के थोड़े पहिले कुछ व्यक्ति जादू के खेल की तरह टप् से कूद पड़े और कहने लगे कि हम नगर की जनता के सेवक हैं। तुम्हारे गाँधी ने कहा, "सेवक हो तो सेवा करो।" वे बोले, "नहीं, हम बिना पद के सेवा नहीं कर सकते। 'पद मिलेगा' तो सेवा करेंगे, नहीं तो सेवा करनेवालों को सेवा नहीं करने देंगे।" बात वही हुई—खिलाओ, नहीं तो खेल बिगाड़ेंगे।

बड़े मजे के लोग हैं। एक मेम्बर ने चुनाव के 2 महीने पहले एक गरीब बस्ती में नल लगवा दिया। खूब पानी आने लगा। वे बार-बार जाकर कहते, "देखो, मैंने लगवा दिया। मेरी पेटी की छाप···है।" मगर इसी बीच वहाँ झगड़ा मचा। जिनकी झोंपड़ियों के पास नल था, उनसे उनका झगड़ा हुआ जिनसे दूर था। दो दल हो गये। नल के पासवाले नलवाले को वोट देनेवाले हैं और नल के दूरवाले किसी दूसरे को !

एकाएक भूख हड़तालें होना शुरू हो गयीं। तुम अचरज करोगे—एक दिन यहाँ 105 नेता भूख हड़ताल पर थे। सब कहते थे कि जनता के लिए वे प्राण दे देंगे। प्राण देने का मौका भी खूब चुना था। चुनाव के वक्त 24 घण्टे भोजन नहीं करने से पेट भी साफ होता है और लोग यह भी जान जाते हैं कि ये जनता के लिए प्राण भी दे सकते हैं। मगर दूसरे दिन मज़ा आ गया। नारद बहुत तेज हैं। उन्होंने खबर फैला दी कि लोग कहते हैं कि हम अपने नेताओं की परीक्षा लेते हैं। इनमें से जो वास्तव में प्राण दे देंगे, उन्हें हम वोट दे देंगे। बस दूसरे दिन सबने दूध, या मुसम्मी के रस से उपवास तोड़ दिया। एक बोला—

"अब तो घबराके ये कहते हैं कि मर जायेंगे—मर के भी 'वोट' न पाया तो किधर जायेंगे !"

और सुनो आयुष्मान, कुछ उम्मीदवार एकदम धार्मिक हो गये। अपने मुहल्ले में कथा और प्रवचन कराने लगे और श्रद्धापूर्वक आरती घुमाने लगे।

प्रजातन्त्र में एक 'डमी' उम्मीदवार भी होता है—याने मुख्य उम्मीदवार की छाया। अगर मुख्य उम्मीदवार किसी कारण न लड़ सके, तो 'डमी' लड़ लेता है। मगर 'डमी' उम्मीदवार बेचारा कब तक डमी बना रहे ? दिन बीतते-बीतते

इन 'डमियों' के मन बदले। एक उम्मीदवार ने अपने 'डमी' से कहा, "डमीजी, बैठ जाइए।"

वह बोला, "किसने कहा कि हम 'डमी' हैं? तुम ही 'डमी' हो। तुमने कैसे मान लिया कि हम तुम्हारे डमी हैं। तुम्हीं बैठ जाओ, हम तो लड़ेंगे।"

ये 'डमी' आफत किये हैं। आगे कभी कोई किसी को 'डमी' नहीं बनायेगा।

ख़ूब मज़ा आ रहा है, आयुष्मान! अखबारों में धमाचौकड़ी मची है। थोड़ा-सा पैसा दो और चाहे जिसकी 'मट्टी पलीत' करा लो। जो बातें उम्मीदवार को भी नहीं मालूम, वे भी छापी जाती हैं।

तुम्हारे यहाँ क्या हाल है? सुना है वहाँ भी कई जगह म्युनिसिपल चुनाव हो रहे हैं। इस वक्त कुछ पैसा बना लो, तो आगे काम आयेगा। अखबारनवीस हो ही तुम। उम्मीदवारों से पैसा लो, उनकी तारीफ करो, दूसरों की बुराई। क्या तुमने अभी तक नहीं समझा कि इस तरह के चुनाव में सबसे पहले 'सत्य' की हत्या होती है, उसके बाद 'शिष्टता' की।

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-3*

आयुष्मान,

तुम्हारे राज्य के अखबारों में एक बड़ी महत्त्व की खबर छपी है; सब अखबारों ने उसे विशेष सज्जा के साथ छापा है। खबर है—

श्रममन्त्री श्री द्रविड़ ने मजदूरों के साथ भोजन किया

तुम लोगों के प्रजातन्त्र में यह घटना समाचार कैसे बन गयी? तुम्हारे अखबारों ने इसे इतना बड़ा बनाकर क्यों छापा? मन्त्री अगर मजदूर के साथ बैठकर खाना खा ले तो क्या विशेषता हुई?

ये तमाम सवाल मेरे मन में उठे। और स्पष्ट कहूँ? तुम्हारे यहाँ प्रजातन्त्र नहीं है। तुम्हारे अखबार, तुम्हारा बुद्धिवादी वर्ग अभी तक मानसिक गुलामी में है। मन्त्री सामान्य मजदूर के साथ बैठकर खाना खा ले, तो तुम्हारे अखबार-नवीस लोग खीसें निपोरकर कहते फिरते हैं—'अहा, आज तो द्रविड़ साहब ने मजदूरों के साथ खाना खाया!'

* परिवर्तन, 23 जून, 1957

आयुष्मान, इस एक घटना से तुम्हारे यहाँ की सारी स्थिति, सारा विचार प्रगट हो जाता है। तुम्हारे यहाँ मिनिस्टर हौआ होता है। साधारण जन ही नहीं, अखबारनवीस तक उसे देवता समझते हैं—कि वे उससे दूर, नीचे बैठते हैं, उसे 'हीरो' बना डालते हैं और जब अगर वह कोई काम उनके साथ करता है, या उनके साथ मिलकर करता है तो वे उसकी जय बोलते हैं। यह संकेत है प्रजातन्त्र की असफलता का। तुम अखबारनवीस लोग जनता के विचारों के रखवाले हो, पथप्रदर्शक हो। पर तुम जनता के मन्त्री को जनता में बैठे देखते हो, तो हाथ जोड़कर गद्गद होकर कहते हो—"वाह भगवान्! कैसी नर-लीला कर रहे हो! वाह! भक्तों में बिराज रहे हो! धन्य नाथ!" यही सब तो तुम्हारे मन में होगा उस वक्त! वरना तुम क्यों विशेष रूप से छापते कि 'द्रविड़ ने मजदूरों के साथ भोजन किया।'

मुझे याद आता है—फ्रान्स की क्रान्ति के समय असीम विलासिनी रानी मेरी एण्टानेट जिसने अपने महल को ही संसार मान रखा था, जब पहिली बार पेरिस की सड़कों पर निकली, तो लाखों की भीड़ ने जयनाद किया। रानी जनता के बीच में से निकले! बड़ी कृपा! पर 15 साल में फ्रान्स की जनता में जब उभार आया, तो भूखी जनता ने राजा-रानी को गिरफ्तार किया और जुलूस बनाकर पेरिस को चले। जानते हो, तब वे क्या नारे लगा रहे थे—'हम लोग रोटीवाले को, उसकी स्त्री और उसके बच्चों को ला रहे हैं।'

और आयुष्मान, हिटलर पर एक बार फूलों की वर्षा हुई, तो एक फूल ने ज़रा-सा गाल खरोंच दिया। बस जनाब, प्रेस में हल्ला मच गया—'हिटलर फूल से घायल।' और संवाद आने लगे शुभाकांक्षा के!

अमेरिका में अभी देख लो—आइक की मुस्कान का कितना प्रचार किया जाता है? मिसेज आइसन हावर का अभी हाल में अमेरिका की सबसे सुन्दर स्त्री के रूप में प्रचार किया। दूसरा नम्बर अपनी विजयलक्ष्मीजी का था।

आयुष्मान, इस नाटकीयता को तुम्हारे अखबारनवीस समझ नहीं पाते? मेरा खयाल है, वे अभिभूत हो जाते हैं। और प्रजातन्त्र में अखबारनवीस अभिभूत हुए कि प्रजातन्त्र गया। तुम्हारे यहाँ के अधिकांश अखबार सरकारी पार्टी के हैं। इनमें बहुत-से सेठ-साहूकारों के हैं। बिड़ला, डालमिया के अखबारों की चेन पड़ी है देश में। ये सब अखबार मन्त्रियों के अभिनय, उछलकूद सबको खूब छापकर उन्हें 'हीरो' बनाते रहते हैं। आम जनता इससे बेवकूफ बनती है। वह 'हीरो' की जय बोलती है, उसकी कमी की ओर नहीं देखती। पण्डित नेहरू झूला झूलते हुए, पण्डित नेहरू आदिवासियों की पोशाक में, पण्डित नेहरू नृत्य करते हुए—कितनी तस्वीरें छपती हैं इस तरह की। नेहरू प्रधानमन्त्री हैं, बहुत ऊँचा व्यक्तित्व है 'वार टाइम हीरो' हैं, इसलिए फब जाता है। पर इससे अगर नेहरू डिक्टेटर-शिप की ओर जायँ तो? तुम जानते होगे कि बीसों साल पहिले पण्डित नेहरू ने 'चाणक्य' के छद्मनाम से कलकत्ता के एक पत्र में एक लेख अपने ही बारे में लिखा

था कि पण्डित में डिक्टेटर होने के लक्षण हैं। चौंको मत आयुष्मान, 'पर्सनेलिटी कल्ट' रूस में उघड़ चुका है, भारत में मत आने दो।

तो मन्त्री द्रविड़ ने मजदूरों के साथ भोजन किया। बड़ी कृपा की। मन्त्री होने के पहिले तो द्रविड़ साहब राजा-महाराजाओं के दस्तरख्वान पर ही खाते थे। और बेचारा मजदूर आदमी है ही नहीं। उसे मन्त्रीजी ने आदमी माना, यह क्या कम बात है? अब मजदूरों को गद्‌गद होकर कहना चाहिए, 'हम धन्य हो गये। हम कृतार्थ हो गये! अब हमें कुछ नहीं चाहिए। हमारी मजदूरी मत सुधरने दो, हमारा शोषण बदस्तूर कायम रखो। हमें कोई शिकायत नहीं। जब आपने हमारे साथ बैठकर खा लिया, तो हमारा जीवन ही सफल हो गया।'

आयुष्मान, तरस आता है, तुम्हारे नेताओं पर और तुम्हारे अखबारनवीसों पर। जब तक तुम्हारे अखबारनवीस में चीजों की बौद्धिक पकड़ न होगी, उसका व्यक्तित्व मन्त्री से भी ऊँचा न होगा। सत्ता के आसपास हिलाने के लिए उसके पास दुम रहेगी, जब तक विवेक-बुद्धि न होगी। सामाजिक जिम्मेदारी की भावना न होगी तब तक तुम्हारा प्रजातन्त्र अधूरा। अखबारनवीस प्रजातन्त्र का 'वाचडॉग' होता है। वह रखवाली करता है, दुम नहीं हिलाता।

मगर तुम्हारे यहाँ तो 'मिडिलची' अखबार निकालते हैं, 420 के उस्ताद अखबार निकालते हैं, 10-5 में बिक जानेवाले अखबार निकालते हैं। दन्त-निपोर, घोंघाबसन्त, पोंगानाथ आदि-आदि—हर कोई अखबारनवीस बन जाते हैं।

ये जब द्रविड़जी को मजदूरों में भोजन करते देखते हैं, तो आँख बन्द कर, हाथ जोड़ स्तुति करने लगते हैं—'धन्य हो भगवंन! भक्तों में विराज रहे हो। शबरी के बेर खा रहे हो।'

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-4*

आयुष्मान,

तुम्हारे मुल्क में इतिहास बन रहा है। विश्व-इतिहास नया मोड़ ले रहा है—तुम्हें कुछ खबर है कि नहीं?

* परिवर्तन, 30 जून, 1957

कल मेरी मार्क्स और लेनिन से मुलाकात हो गयी। कहने लगे, 'अरस्तू, तुमने देखा हमारे नम्बूदरीपाद ने आखिर नेहरू से मकान छुड़वा दिया! नेहरू अपने विशाल भवन को छोड़कर एक छोटे-से बंगले में आ गये हैं। जानते हो, इसका कारण नम्बूदरीपाद है।'

मकान बदलने का मार्क्सवादी कारण जानने के लिए मैं उत्सुक हो गया। मार्क्स से मेरी मुलाकात अक्सर हो जाती है। इतना क्रान्तिकारी विचारक बिरला ही मिलेगा, आयुष्मान! पर कुछ लोग मार्क्सवाद-जैसे क्रान्तिकारी दर्शन को 'डाग्मेटिक' बना देते हैं। वे चीजों को मार्क्सवादी अर्थ देते समय हास्यास्पद अर्थ दे देते हैं। महादेवी वर्मा के गीतों में पीड़ा की धारा देखकर एक मार्क्सवादी आलोचक ने कहा था कि महादेवी को आर्थिक कष्ट है; इसीलिए वे ऐसा लिखती हैं। यह 10-12 साल पहले की बात है। तब तुम्हारे यहाँ के किसी ने कहा था कि इस पीड़ा का कारण गरीबी नहीं है, बल्कि प्रवृत्तियों का दमन है। तब मार्क्सवादी ने जवाब दिया था—फ्रायड बोल रहा है। फ्रायड कमबख्त प्रतिक्रिया-वादी है।

तो दकियानूसी मार्क्सवादी उतना ही खतरनाक होता है जितना बुर्जुआ। तुम्हारे यहाँ के कई मार्क्सवादी (?) लोग, प्रेम करना प्रतिक्रियावादी आचरण मानते हैं; स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध बुर्जुआपन मानते हैं। गोया साम्यवादी समाज में बिना स्त्री-पुरुष के प्रेम और संयोग के बच्चे हो जाया करेंगे; और गोया साम्यवादी व्यवस्था में सब लोग प्रेम की जगह घृणा करेंगे।

कहना यह चाहता हूँ कि इन सब बातों से मार्क्स को बहुत मानसिक क्लेश होता है। उस दिन जब केरल के एक पुरुष मन्त्री थामस ने मन्त्राणी गौरी से ब्याह कर लिया तो मार्क्स-लेनिन ने यहाँ बड़ा भोज दिया। उन्होंने कहा कि इससे एक स्वस्थ परम्परा पड़ती है। जो यह सोचते हैं कि कम्युनिस्ट कोई वनमानुष होता है, उनको समझ में आयेगा कि वह मनुष्य ही होता है, सामान्य मनुष्य की तरह भावनाशील, पर उससे अधिक जाग्रत और सचेत!

तो कल मार्क्स-लेनिन ने नेहरू के मकान छोड़ने की बात कही। लेनिन ने कहा, "नम्बूदरीपाद और उसके सहयोगी मन्त्री छोटे मकानों में रहते हैं; कम वेतन लेते हैं; सादा जीवन जीते हैं। इसका नैतिक प्रभाव सारे भारत में पड़ा। अन्य प्रदेशों के कांग्रेसी मन्त्रियों को लाज आने लगी। पर उनसे यह सब ऐश-आराम छोड़ते बनता नहीं था। खून मुंह लग जाने से ऐसा ही होता है। एक बार सिंह को एक ऋषि ने बड़ा उपदेश दिया—जीव-दया, अहिंसा, प्रेम पर सिंह ने ध्यान से सुना और कहा कि महाराज, उपदेश तो मैं समझ गया। पर मन नहीं मानता; खून मुंह जो लग गया है। और उसने ऋषि को पकड़ा। इसी तरह कांग्रेस मन्त्रियों को ऐश-आराम का चस्का लग गया है। तब पण्डित नेहरू ने स्वयं मकान बदला, वेतन कम किया। परिणाम यह हुआ कि तमाम देश के मन्त्री वेतन कम करने लगे। नम्बूदरीपाद ने आखिर पण्डित नेहरू से मकान छुड़वाया। यह

घटना एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संकेत है।"

मैं सुनता रहा। नम्बूदरीपाद ने वास्तव में देश के सामने बड़ा अच्छा उदाहरण रखा है। यह सच है कि उसने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की नींद हराम कर दी है! लोग तुलना करने लगे हैं न?

पर मेरे मन में उस समय एक दूसरी ही बात उठी। मुझे भी लग रहा था कि शायद भारत में ही विश्व-इतिहास का नया मोड़ उपस्थित हो। इसी खयाल से मैंने मार्क्स-लेनिन से कहा, "यह ठीक है कि नम्बूदरी ने नेहरू का मकान छुड़वा दिया, पर नेहरू ने भी नम्बूदरी की पिस्तौल छीन ली है।"

दोनों मेरी ओर देखने लगे। मैंने बात को स्पष्ट किया, "कम्युनिस्ट का यह विश्वास होता है कि हिंसक वर्गसंघर्ष के बिना साम्यवाद नहीं आता; प्रोलेतरियेत की तानाशाही कायम होगी। नम्बूदरीपाद और उनकी पार्टी पिस्तौल में विश्वास करते थे, पर वैधानिक तरीके से निर्वाचन के द्वारा केरल में साम्यवादी सरकार बन गयी। प्रजातन्त्र के भीतर वैधानिक तरीके से बिना हिंसा के साम्यवादी राज्य हो गया—नेहरू ने नम्बूदरी की पिस्तौल छीन ली।

और अभी तक नेहरू-नम्बूदरी में बड़े मजे में निभ रही है। कांग्रेस में सबसे प्रगतिशील व्यक्ति नेहरू है, अपनी पार्टी में सबसे ज्यादा जनवादी है, सबसे अधिक खुले दिमाग का है। वह नम्बूदरीपाद की मदद कर रहा है—इससे दो लाभ हैं। एक तो कम्युनिस्टों के आन्दोलन को वैधानिक रूप देकर उपद्रवों को बन्द किया जा सकता है। दूसरे इससे कांग्रेसियों के दिमाग ठीक होते हैं। नेहरू ने कांग्रेस को नम्बूदरीपाद के भय का जुलाब दे दिया है। पुराने और नये दकियानूसी कांग्रेसी देवताओं में हड़कम्प मच गया है—अरे बाप रे, साम्यवाद आया!

तो यह बड़ा महान प्रयोग चल रहा है तुम्हारे देश में। यदि सफल हुआ तो विश्व को एक नया सिद्धान्त मिलेगा—बिना हिंसक वर्गसंघर्ष के, वैधानिक तरीके से भी साम्यवाद की स्थापना हो सकती है। यह परीक्षा चल रही है!

नेहरू और नम्बूदरीपाद मिलकर विश्व-इतिहास को और विश्व-साम्यवाद को नयी दिशा दे सकते हैं? यह समय बतायेगा।

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-5*

आयुष्मान,

वातावरण में 'ईथर' की तरंगें-जैसी हैं, इनसे स्वर प्रसारित होता है और वह रेडियो से पकड़ में आता है। यहाँ बड़े शक्तिशाली रेडियो हैं जिनमें पृथ्वी की तमाम बातें सुनायी पड़ती हैं। अभी हमने उस दिन मिलकर 'नागिन' फिल्म की बीन सुनी; कभी-कभी रेडियो सीलोन के व्यापार विभाग से 'नन्हे-मुन्ने बच्चे तेरी मुट्ठी में क्या है ?' वाला 'मैक्लीन्स' का विज्ञापन भी सुन लेते हैं और सोचते हैं कि हमारे वंशज बड़े सफाई-पसन्द हैं। और आयुष्मान, हकीम वीरूमल आर्य-प्रेमी का राष्ट्र के नाम सन्देश भी रेडियो से आता है। दो ही आदमी पूरे राष्ट्र को सन्देश देते हैं—पं० नेहरू और हकीम बीरूमल ! 'आर्यप्रेमी' दोनों ही हैं।

सिर्फ रेडियो की ही नहीं, दूसरी बातें भी यहाँ सुनायी पड़ती हैं—प्राइवेट बातें भी। फोन पर जो बातें गुपचुप कर ली जाती हैं, वे भी यहाँ के रेडियो में पकड़ में आ जाती हैं। हाल ही में एक दिन मैंने तुम्हारे राज्य के एक उपमन्त्री और एक विभाग के शिक्षा अधिकारी के बीच हुई टेलीफोन-वार्ता सुनी। नीचे दे रहा हूँ—

उपमन्त्री—देखिए, आपके विभाग के बारे में तरह-तरह की शिकायतें आ रही हैं। आप मनमानी नियुक्तियाँ करते हैं।

अफसर—सर, अधिकांश नियुक्तियाँ तो पब्लिक सर्विस कमीशन से होती हैं, जो मेरे अधिकार में दी गयी हैं उन पर मैं जरूर नियुक्तियाँ करता हूँ।

उपमन्त्री—तो इसका मतलब यह है कि आप जिसकी चाहेंगे उसकी नियुक्ति कर देंगे ?

अफसर—(हँसकर)—नहीं सर, जिसको आप चाहेंगे उसकी नियुक्ति भी हो जायेगी। बताइए।

उपमन्त्री—हाँ, ठीक है। देखिए दो आदमियों की नियुक्ति करनी है। उनके नाम नोट कर लीजिए।

अफसर—हो जायगी, सर !

इसके बाद अफसर ने फोन रख दिया, पहले भुनभुनाया और फिर अट्टहास किया जो यहाँ तक सुनायी पड़ा।

आयुष्मान, इसका मतलब यह हुआ कि दो प्रकार के आदमी तुम्हारे यहाँ नियुक्त होंगे—जिन्हें मन्त्री चाहेंगे वे और जिन्हें अफसर चाहेंगे वे। जिन्हें दोनों में से कोई नहीं चाहेगा, उनकी योग्यता व्यर्थ।

रही पब्लिक सर्विस कमीशन की बात—सो उसमें भी तीन-चार आदमी ही

* परिवर्तन, 8 जुलाई, 1957

होते हैं, उनमें से कोई अपना है, तो ठीक है, वरना कहीं के नहीं।

उदाहरण देकर समझाता हूँ। दो युवक हैं—सरस्वतीकुमार, उलूककुमार। सरस्वतीकुमार खूब प्रतिभावान और योग्य हैं, पर कोई मन्त्री या अफसर उसका नहीं है। उलूककुमार नाम को सार्थक करते हैं, पर परीक्षकों को पैसे देकर 'ऊँचा' क्लास पा गये हैं। उलूककुमार के पिता प्रभावशाली हैं। मन्त्री पर और कमीशन के मेम्बरों पर उनका रंग है।

दोनों कमीशन के सामने गये। सरस्वतीकुमार को लेना नहीं है; इसलिए उनके प्रवेश होते ही, मेम्बरों के चेहरे पर नाराजी आ गयी। प्रश्न पूछे जाने लगे। नौकरी नायब तहसीलदार की है और सवाल उससे पूछे—

1. कान्ट और हीगेल के दर्शन की तुलना करो!

2. 'इब्सनिज़म' क्या चीज है? इंग्लिश ड्रामा पर इब्सन का क्या प्रभाव पड़ा?

बी. ए. पास बेचारे सरस्वतीकुमार अचकचा गये। उनसे विश्वविद्यालय के दर्शन और अंग्रेजी विभागों के अध्यक्षों के योग्य प्रश्न पूछे गये। कमीशन नाराज—जवाब तक नहीं दे पाता कमबख्त!

फिर उलूककुमार आये। सब प्रसन्न—'बैठो, बेटा!' उनसे भी प्रश्न किये—

1. पिताजी मजे में हैं?

2. आजकल चाचा कहाँ हैं?

3. एक पैसे के दो आम; तो दो पैसे के कित्ते?

4. सिनेमा देखते हो? सुनाओ एकाध गीत!

उलूककुमार ने तड़ाक-तड़ाक जवाब दिये। कमीशन ने कहा—'वाह! How Sharp! How Brilliant!'

बस, उलूककुमार नियुक्त हो गये और सरस्वतीकुमार रह गये।

ऐसा ही होता है आयुष्मान, तुम्हारे यहाँ।

कॉलेजों में, भरती में, छोटी-मोटी नौकरियों तक में तुम्हारे मन्त्री हस्तक्षेप करते हैं, इसलिए तुम्हारे देश में गुण की कद्र नहीं है।

मैंने अभी एक बात और सुन ली। एक मन्त्री के पास उनके चुनावक्षेत्र के पटेल पहुँचे—दो बी. ए. पास बेटों और एक भतीजे को लेकर। वार्तालाप यों हुआ—

पटेल—जीत गये भैया सा'ब! अब कुछ हमारा भी काम हो जाय। ये तीन लड़के हैं आपके, इन्हें कहीं हीले से लगवा दो।

मन्त्री (अकड़कर)—भला मेरे हाथ में क्या है? यह तो डिपार्टमेण्टल हैड के हाथ में है।

पटेल (गुर्राकर)—अच्छा, तो हमारे हाथ में भी कुछ नहीं है। पिछले वक्त मैं न होता तो आपकी जमानत जब्त होती। इस बार मेरे हाथ में भी कुछ नहीं है।

मन्त्री (ढीले होकर) —नहीं, नहीं, ऐसी क्या बात है ! मैं तो मजाक कर रहा हूँ। आपके ही भरोसे तो मैं वहाँ से खड़ा हो रहा हूँ। अभी फोन किये देता हूँ। हो जायगा।

तुम्हारे प्रजातन्त्र में इसी प्रकार नौकरियाँ मिलती हैं।

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-6*

आयुष्मान

गर्मी और शादी दोनों का मौसम समाप्त हो गया। तुम्हारे यहाँ यह विश्वास है कि देवता सो गये, इसलिए शादी-विवाह बन्द। पर मेरा खयाल है, देवताओं के सोते-सोते शादी हो जाय तो अच्छा—वे जागे कि ऊधम शुरू कर देते हैं। मैं देवताओं को काफी देख चुका हूँ, इसलिए कह रहा हूँ।

तुम्हारे यहाँ कई तरह की शादियाँ हुई होंगी। साधारण शादी—जैसी लक्ष्मण, भरत आदि की हो गयी थी कि बड़े भाई ने धनुष तोड़ा और शेष सब उसी सिलसिले में निपट गये। मध्यवर्गीय शादी—जिसमें उधार माँगी कार में दूल्हे को बिठाकर एक-दो घण्टे जुलूस निकाला जाता है और शेष जिन्दगी बेचारा पैदल चलता है। गरीब की शादी—जिसमें रिक्शे पर या छोटे-मोटे घोड़े पर बिठा दिया जाता है। प्रेम विवाह—जिसमें लड़का और लड़की अपने आपको विश्वास दिलाते हैं कि वे एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकते, और शादी के बाद कभी-कभी अनुभव करते हैं कि एक-दूसरे के बिना रहते, तो सुखी रहते। सनसनीखेज शादी —जिसमें एक पार्टी कहती है कि शादी हुई और दूसरी कहती है कि नहीं हुई। मजबूरी की शादी—जिसमें करो या झख मारो। फिल्मी शादी—जिसमें शाम को शादी, रात हनीमून और सबेरे तलाक।

इन सबसे विशेष तुम्हारे देश में होती है—अफसरी शादी ! अफसर तुम्हारे यहाँ एक नये किस्म का जीवधारी पैदा हो गया है; प्रकृति ने हजारों वर्षों के प्रयोग के बाद इसे पैदा किया है, और हमारा खयाल है कि यह प्राणी-जगत का सबसे महान् जीवधारी होनेवाला है। अफसर के घर की शादी एक विशेष तरह की शादी होती है। ऐसी ही एक शादी की वार्ता तुम्हें सुनाता हूँ, सो ध्यान देकर

* परिवर्तन, 15 जुलाई, 1957

सुनो। तुम धार्मिक लोग हो—तुम सीता और राम के विवाह की कथा कितनी श्रद्धा, विश्वास और प्रेम से सुनते हो। उसी भाव से जो अफसर के घर की शादी, कथा, (जो है सो) श्रवण करेगा, वह चारों फल पायगा।

अफसर और राज्य एक ही वस्तु है। अफसर राज्य के लिए और राज्य अफसर के लिए। अफसर अपने माल और राज्य के माल में कोई भेद नहीं करता—अद्वैत इसी को कहते हैं। आयुष्मान! इसीलिए अफसर के यहाँ की शादी 'स्टेट वेडिंग' होती है। जैसे मन्त्री की शव-यात्रा 'स्टेट फ्यूनरल' होती है। ऐसा इसलिए होता है कि जब जनम-जनम के पुण्य उदय होते हैं, तब आदमी अफसर के यहाँ जन्म लेता है। तब उसकी शादी सरकारी स्तर पर होती है। लोगों की भेंट से उसका पालन होता है। नालायक होते हुए उसको बड़ी नौकरी मिलती है। और जब पिता मरता हैं तब बेटे के लिए लाखों की सम्पत्ति छोड़ जाता है। सरकार यह छानबीन नहीं कर सकती कि यह सम्पत्ति कहाँ से आयी, क्योंकि यह पवित्र संविधान में लिखा है।

यहाँ से देखी हुई एक शादी की बात तुम्हें बताता हूँ। तुम पत्रकारों ने उसे नहीं देखा होगा, क्योंकि तुम लोग उस समय चुनाव के मामले में व्यस्त थे।

आयुष्मान, वे एक बड़े अफसर थे—बहुत बड़े मिनिस्टर से नीचे। उनके परिवार में शादी थी। वे राजधानी में थे। दूसरे शहर में शादी थी। वे आवेंगे, यह निश्चित था। बस, सारा मुहकमा काम में लग गया।

कुल यों हुआ—सरकारी कला-निकेतन का फर्नीचर घर पहुँचा, मोटरें सेवा में हाजिर रहीं। सरकारी महाविद्यालय के पलँग आ गये। सारा बिजली का फिटिंग टेकनीकल संस्था के सामान और कर्मचारियों से हुआ। सुराही के लिए विशेष तिपाई संस्था के वर्कशाप में बनायी गयी। सरकारी मोटरें दौड़ती रहीं। पण्डाल की सारी सजावट सरकारी कर्मचारियों द्वारा सरकारी सामान से हुई।

उन 4-5 दिनों में वहाँ सब कालेजों के प्रिन्सिपल, प्रोफेसर, इन्स्पेक्टर आदि काम करते रहे। प्रिन्सिपल और प्रोफेसर कुर्सियाँ ढो रहे थे। सामान जमा रहे थे। अफसर के परिवार के लोग उन्हें आर्डर देते, डाँटते और वे बेचारे बच्चों की तरह दौड़ते-फिरते। पीने के पानी का प्रबन्ध भी ठीक नहीं था, इसलिए नल का गरम पानी पिया, धूप में कुम्हला गये। एक नृत्य शिक्षक को, जो एक कालेज में नौकर है, और छुट्टी में घर मद्रास गये थे, बुलाया गया और उनसे एक 'शो' कराया गया। ये सब क्यों ऐसा कर रहे थे? अफसर से व्यक्तिगत और पारिवारिक सम्बन्ध शायद ही किसी का हो। उनसे परिचय भी अधिकांश का नहीं था। कोई स्नेह नहीं था। मगर उन्हें खुश सब करना चाहते थे। किसी को क्लास वन चाहिए। किसी को कन्फर्म होना है। किसी को तरक्की चाहिए। किसी को बुढ़ापे में एकाध साल का एक्सटेन्शन चाहिए। बहुत-सों को वरदान मिला भी।

कई 'स्पेन शाट' बड़े मजे के हैं—

एक कॉलेज के प्रिन्सिपल और उसी के एक प्रोफेसर में इस बात की स्पर्धा थी कि साहब को कौन पान खिला दे। एक दायें और एक बायें पान का डिब्बा

लेकर नाचने लगे—बेचारे अफसर इस झमेले में किसी का पान नहीं ले सके।

एक कॉलेज के साइन्स के बूढ़े प्रोफेसर इलेक्ट्रिक फिटिंग कर रहे थे। अफसर के रिश्तेदार उन्हें कोई ओवरसीअर वगैरह समझे और डाँटने लगे। तब उन्हें बताया गया कि ये प्रोफेसर साहब हैं। (उन्हें एक साल एक्सटेन्शन चाहिए था!) एक संस्था के प्रधान को तरक्की चाहिए थी, उन्होंने सारे स्टाफ और सामान को सेवा में लगा दिया और उन्हें वरदान मिला। वे तरक्की पा गये!

2-4 दिनों तक किसी सरकारी संस्था में काम नहीं हुआ—सब स्टाफ और सब सामान पब्लिक ड्यूटी पर!

तुम्हारे देश के चपरासी या बाबू दफ्तर का कोई छोटा-मोटा सामान काम में ले आता है, तो उसे दण्ड मिलता है। गरीब चपरासी को लड़की की शादी करने के लिए बड़ी कठिनाई से तीन दिन की छुट्टी मिलती है, मगर अफसर के परिवार की शादी में सारा मुहकमा छुट्टी पर और शादी की ड्यूटी पर।

फिर अगर यह सब न्यायाधीश के घर हुआ हो तो? न्यायाधीश की आँख के सामने सरकारी सामान आता रहा हो तो? न्यायाधीश की जानकारी में सरकारी मोटरें और सरकारी कर्मचारी दौड़ते रहे हों तो? न्यायाधीश ऐसे अपराधों का न्याय करते हैं! कोई और करता तो उसे दण्ड देते—न्याय, धर्म, सत्य की रक्षा के लिए।

पर न्याय के दो रूप होते हैं—एक दूसरे के लिए; दूसरा अपने लिए।

आयुष्मान, सीता-विवाह की तरह इसके भी तुम अपने कवियों से भजन बनवा लो। जो गरीब आदमी की लड़की इस भजन को श्रद्धा से गायेगी उसे अच्छा वर मिलेगा, उसका विवाह अच्छा होगा।

पण्डित नेहरू तुम्हारे यहाँ 'सोशलिस्टिक पेटर्न' बना रहे हैं। इस महान् कर्म में अफसर लोग अपने प्रधानमन्त्री की सहायता कर रहे हैं?

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-7*

आयुष्मान,

कल नारद से बातें हो रही थीं। नारद को तुम लोग जानते हो। वे बदनाम भी हैं क्योंकि यहाँ की वहाँ लगाते रहते हैं और देवताओं में झगड़ा कराते हैं।

* परिवर्तन, 22 जुलाई, 1957

कृष्ण और अर्जुन-जैसे मित्रों में युद्ध करा दिया था। इस व्यक्ति में न्याय-चेतना इतनी जबर्दस्त है कि न्याय हेतु यह कुछ भी कर सकता है। नारद की वीणा है तो बड़ी प्रसिद्ध पर उसमें एक ही स्वर तनतनाता रहता है। नारद को वीणा बजाना आता ही नहीं है। मैंने पूछा, सीखा क्यों नहीं ? वे बोले, एक बार सरस्वती के पास गया था और उनसे कहा कि देवी, मुझे वीणा बजाना सिखा दें तो वे बोलीं, सिखाती हूँ। तुम बैठ जाओ। मेरी प्रकृति है घुमक्कड़ ! मैंने कहा कि वर्षों मैं एक स्थान पर तो बैठ नहीं सकता। तो सरस्वती ने कहा, तो तुमसे कला की साधना नहीं हो सकती। कला की साधना के लिए जमकर बैठना होता है और तुम उड़ते-उड़ते सीख लेना चाहते हो। तुम जिन्दगी-भर इसी तरह तनतनाते रहोगे। तुम्हें वीणा-वादन आ ही नहीं सकता।

लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि नारद ब्रह्माण्ड में सबसे ईमानदार और सबसे बड़े पत्रकार हैं। सारी सृष्टि के समाचार उनके पास रहते हैं। और जैसे तुम्हारी सरकारों के सचिवालयों में अखबारों से रिपोर्टें काट-काटकर सम्बन्धित मुहकमों को भेजी जाती हैं, वैसे ही नारद तमाम देवताओं को उनकी खबरें देते हैं।

कल उनसे बातें हो रही थीं। वे कहने लगे, "एक झूठ होता है; एक सफेद झूठ और एक अखबारी झूठ ! हमारे तमाम अखबार समाज को झूठ तक बेचते हैं। सत्य की कीमत लें तो एक बात है, पर झूठ तक को खरीदकर पढ़ते हैं लोग।"

मैंने पूछा, "किस सन्दर्भ में बात कह रहे हो ?"

वे बोले, "हाल ही में पृथ्वी का चक्कर लगाने गया। वहाँ के अखबारों को देखा और समाचारों की जाँच की तो मालूम हुआ कि सत्य सब अखबारनवीसों को मालूम है, पर उसे दबाकर वे झूठ छापते हैं। अमेरिका के अखबार रूस के खिलाफ और पाकिस्तान के अखबार भारत के खिलाफ जो छापते हैं, वह तो जाने ही दीजिए, स्थानीय मामलों में भी बेधड़क झूठ छापा जाता है।"

नारद ने बात को उदाहरण देकर समझाया, "देखो, अभी मैं भारत के मध्य-प्रदेश गया था। वहाँ जबलपुर शहर के कारपोरेशन के चुनाव हो रहे थे। 10-15 दिनों तक मैं वहाँ के अखबारों के समाचार पढ़ता रहा। कांग्रेसी अखबार रोज छापता कि कांग्रेस की स्थिति खूब मजबूत है। जनता उसका समर्थन कर रही है और सब सीटें कांग्रेस को ही मिलनेवाली हैं। उन 15 दिनों के अखबार उठाकर देखो तो पता लगेगा कि संवाददाता ने हर आदमी से उसकी राय पूछी है, और यह सत्य है कि हर आदमी कांग्रेस को ही वोट करनेवाला है। पर चुनाव हुआ और रिज़ल्ट खुला, तो कांग्रेस को इनमें से केवल सात सीटें मिलीं। याने संवाददाता का अनुमान झूठ ? या नीयत झूठ ? और एक आना पैसा खर्च करके, अखबार खरीद-कर नागरिक केवल झूठ जानता रहा। एक आने में एक पेज झूठ।"

नारद की बात सुनकर मैं सोचने लगा कि समाज को सत्य की उपलब्धि

करानेवाले, भ्रम का निवारण करनेवाले, ज्ञान की वृद्धि करनेवाले समाचारपत्र ठीक इससे उलटी बात क्यों करते हैं? यह हाल सिर्फ कांग्रेसी अखबारों का नहीं है। प्रजा समाजवादी, जनसंघी, साम्यवादी—सबकी एक-सी स्थिति है। ये समाचारपत्र नहीं हैं—ये केवल प्रोपेगेण्डा-पत्र हैं। और प्रोपेगेण्डा के कागज तो मुफ्त बाँटे जाते हैं। तो प्रश्न यह उठता है कि क्या नागरिक अख़बार खरीदने में इसलिए खर्च करता है कि उसे झूठा समाचार मिले? कितना झूठ छपता है—भारतसेवक समाज ने गाँव का निर्माण कर दिया (वास्तव में एकाध कुआँ साफ कर दिया है)। विराट आमसभा में फलाँ-फलाँ का भाषण (सत्य यह है कि उसमें 15-20 आदमी थे)। 'उपमंत्री' का जनता द्वारा स्वागत! (जबकि वहाँ तहसील के बाबू और चपरासी-भर थे)। और साम्प्रदायिक आग भड़कानेवाले अखबारों में देख लीजिए—देवप्रतिमा को मुसलमान ने खण्डित किया! हिन्दू स्त्री को मुसलमान लेकर भाग गया! फलाँ जगह गाय की हत्या!

इसका कारण यह है कि तुम्हारे यहाँ स्वतन्त्र पत्र हैं नहीं। और जहाँ स्वतन्त्र पत्रकारिता का इतना अभाव हो, उस प्रजातन्त्र का आखिर क्या होगा? तुम्हारे यहाँ अधिकांश पत्र पूंजीपतियों के हैं। और ये लोग हमेशा तत्कालीन सरकार के साथ हो जाते हैं। आजकल ये कांग्रेस के साथ हैं। जो विरोध के पत्र हैं, वे गरीब हैं। पर प्रवृत्ति उनमें भी वही है जो अन्य पत्रों में है। सरकार की तारीफ करनेवाले पत्र को सरकारी विज्ञापन मिलते हैं—यह इतनी बड़ी कीमत है कि अखबारों का ईमान बिक जाता है।

इसीलिए तुम्हारे यहाँ सत्य जानने का कोई साधन नहीं है। हर अखबार का सत्य अपना स्वार्थ होता है। उदाहरण देता हूँ। एक समाजवादी रास्ते से जा रहा था कि एक कांग्रेसी के कुत्ते ने उसे ज़रा-सा काट लिया। घटना कुल इतनी हुई। पर इसे जब अखबारों में पढ़ेंगे, तो अजीब लगेगा। कांग्रेसी अखबार छापेगा—फलाँ समाजवादी के कुत्ते ने फलाँ कांग्रेसी को काट दिया। ज्ञात हुआ है कि इसके पीछे चुनाव-स्पर्धा है। समाजवादी के इस कृत्य की सर्वत्र निन्दा हो रही है।

बताओ भला! समाजवादी को खुद कांग्रेसी के कुत्ते ने काटा है, पर अखबार छाप रहा है कि एक समाजवादी के कुत्ते ने काटा। उधर समाजवादी अखबार कुछ इस तरह छापेगा—फलाँ समाजवादी सड़क पर से जा रहे थे कि कांग्रेसी ने अपने कुत्ते को उन पर छोड़ दिया। पता चला है कि इसके पीछे पिछले चुनाव की दुश्मनी है।

समाचारों का तुम्हारे यहाँ यही तरीका है; सत्य को लिखने का अपना-अपना स्वार्थपूर्ण चश्मा है। प्रजातन्त्र में पत्र अगर स्वतन्त्र नहीं हैं, सत्य को जैसा का तैसा प्रस्तुत करने के साधन नहीं हैं; तो सारा समाज भ्रम में रहता है। विकास के कितने समाचार छपते हैं। अगर कोई इन्हें पढ़े तो लगेगा कि भारत में समृद्धि और सुख की कोई सीमा नहीं है। पर लोग भूखे ही मर रहे हैं। तुम अगर अपने गाँव से 2-4 महीने दूर रहो और इस अवधि में केवल उस गाँव के विकास के

समाचार सरकारी विज्ञप्ति और अखबारी रिपोर्ट से जानो तो तुम सोचोगे कि तुम्हारा गाँव बिल्कुल बदल गया होगा—ठीक वैसा ही जैसी सुदामा की झोंपड़ी महल में बदल गयी थी। पर गाँव जाकर देखो तो पाओगे कि वह तो वैसा ही है, जैसा तुम उसे छोड़ गये थे।

व्यक्ति-स्वार्थ, सरकार-स्वार्थ, पार्टी-स्वार्थ से बँधी हुई गुलाम पत्रकारिता का तुम्हारे यहाँ खूब बोलबाला है।

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-8*

आयुष्मान,

कल मुझे तुम्हारे देश के अफसर यहाँ मिले। वे किसी जीप-दुर्घटना में देह-मुक्त होकर यहाँ आये हैं। ऐसे लोगों के लिए यहाँ नये आवास बनाये जा रहे हैं। आवास बनाने का काम अब बहुत जोरों से चल रहा है, क्योंकि तुम्हारे यहाँ मारने के तरीके बढ़ रहे हैं। अमेरिका एक स्वच्छ बम (ए क्लीन बम) बना रहा है, इससे मरनेवाले ऊँचे दर्जे के मकानों में रखेजायेंगे। फिर कोई सुगन्ध बम बनायेंगे—खश, हिना, गुलाब के जिनसे खुशबू आयेगी। इससे मरनेवालों की सुगन्धित मौत होगी। उनके लिए ज्यादा सुन्दर मकान होंगे।

खैर, यह फिर कभी कहूँगा। यह अफसर तुम्हारे यहाँ किसी राष्ट्रीय निर्माण-कार्य में थे। तुम्हारे यहाँ पंचवर्षीय योजना चल रही है, उसमें कहीं विकास-अधिकारी थे वे। उनकी निर्माण की योजना देखकर उन्हें यहाँ मकान और बस्तियाँ बनाने का काम सौंप दिया गया। पर एक दिन वे घूस लेते पकड़ लिये गये, और जब उनके मकान की तलाशी हुई, तो वहाँ बहुत-सा सामान मिला। उनसे पूछा कि उन्होंने यह क्यों किया तो वे बोले, "मैं आदत से लाचार था। मेरे संस्कार ऐसे हैं; मेरी ट्रेनिंग ही यह थी।"

"पर यहाँ तो किसी चीज का अभाव नहीं है; फिर तुमने यह क्यों किया?"

उसने सहज भाव से कहा, "मैं इसके बिना रह नहीं सकता। घूस खाना, सामान चुराना, पैसा खाना, साँस की तरह मेरे लिए स्वाभाविक और आवश्यक हो गया है।"

* परिवर्तन, 5 अगस्त, 1957

आयुष्मान, वह आदमी मुझे बड़ा दिलचस्प लगा। मैं उसे कल अपने घर ले आया और उससे घण्टों बातें करीं।

मैंने पूछा, "तुम्हारे देश में एक महान आन्दोलन चला है—राष्ट्र-निर्माण का। कितने ही करोड़ रुपये खर्च हो रहे हैं। तुमने निर्माण-कार्य में क्या योगदान किया ?"

उसने कहा, "सच पूछो तो मैं यह सब समझता ही नहीं था। मैं पहिले नायब तहसीलदार था। मेरे फूफा सेक्रेटेरियेट में अफसर हैं, इसलिए उन्होंने मुझे विकास-कार्यों का अफसर बना दिया। मुझे खाक पता नहीं कि क्या करना है ? मुझे केवल नारे मालूम थे।"

"कौन-से नारे ?"

"यही हमारे प्रधानमन्त्री के नारे—निर्माण करो। त्याग करो। योजना को सफल बनाओ। यह देश का संकटकाल है !"

"उन नारों का क्या प्रयोजन है ?" मैंने वस्तुस्थिति जानने के लिए पूछा।

वह बोला, "ये निर्माण-नारे हैं। पर इनका उपयोग अधिकार लेने के काम में होता है। मजदूरों की हड़ताल रोकने के काम में होता है। इन नारों को लगाने से लोग रोटी-कपड़ा नहीं माँगते, टैक्स देने से इन्कार नहीं करते। इस तरह पंचवर्षीय योजना के नाम पर हम खूब धन इकट्ठा कर लेते हैं। लोगों को समझाते हैं कि पंचवर्षीय योजना के पूरा होने पर यह देश स्वर्ग के समान हो जायगा। इसलिए सब देशवासी कमखर्ची करो, अधिक वेतन मत माँगो, टैक्स दो ! तरह-तरह के नारे लगाकर हमारे देश में रुपया इकट्ठा हो रहा है और निर्माण के काम में लग रहा है।"

आयुष्मान, इसके बाद उसने तुम्हारे महान देश का जो चित्र खींचा उसे देखकर तो मैं भी दंग रह गया।

वह बोलता गया—

"हमारे देश में ब्लाक डेवलपमेण्ट आफिसर; कम्यूनिटी प्रोजेक्ट आफिसर आदि होते हैं, जिनमें अधिकांश ऐसे होते हैं जिन्हें वह काम नहीं आता। मैं ही नायब तहसीलदार था और फिर बी. डी. ओ. बना दिया गया। हमारे जिम्मे 2-4 लाख की रकम हर साल रहती है जिसे हम मनचाहे ढंग से खर्च कर सकते हैं। बड़ा मजा होता है। हम लोग इस पैसे से निर्माण-कार्य किस प्रकार करते हैं, इसका आभास आपको एक घटना से मिल जायगा। अभी सामुदायिक विकास योजनाओं के मन्त्री एस. के. डे निरीक्षण करने गये और सर्किट हाउस में ठहरे। वहाँ एक ठग घुस आया। उसने सर्किट हाउस के नौकरों से कहा कि मैं डे साहब के स्टाफ का आदमी हूँ। और डे साहब के स्टाफ से कहा कि मैं सर्किट हाउस का नौकर हूँ। वह वहाँ मजे में रहा और मौका देखकर साहब का मनीबेग ले उड़ा। जब डे साहब को यह मामला मालूम हुआ, तो वे बोले कि अगर यह आदमी मुझे अभी मिल जाय, तो मैं उसे एकदम ब्लाक डेवलमेण्ट आफिसर बना दूँ। इस पर

से आप यह अन्दाज लगा लीजिए कि हमारे लिए क्या योग्यता अपेक्षित है और हमारे सब भाई अपना सब काम इतनी अच्छी तरह कर रहे हैं कि उन्हीं के साहब ने एक अफसर का गोलमाल देखकर खुश होकर कहा—अगर तुम चेकोस्लोवेकिया या रूस में होते तो गोली से उड़ा दिये जाते।"

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-9*

आयुष्मान,

तुम्हारे यहाँ रायपुर में विद्यार्थियों पर गोली चली। एक मासूम लड़का यहाँ आ पहुँचा है। मेरी उससे बात हुई—वह बेचारा न तो ईसा को समझता है, न नटराज को। उसे यह झगड़ा ही समझ में नहीं आया। पर बलि तो उसी भोले की हुई। दुनिया में हमेशा ही निर्दोष की बलि होती है। तुम्हारे यहाँ बकरे की बलि होती रही है, देवताओं की प्रसन्नता के लिए। किसी देवता की हिम्मत सिंह की बलि माँगने की नहीं होती। सिंह की बलि देने का प्रयास करने पर बलि-कर्ता भक्त की ही बलि हो जाय, इसलिए मिमियानेवाले बकरे की बलि!

यहाँ तुम्हारे सब पैगम्बर, धर्मोपदेशक, सन्त और महात्मा इकट्ठे हैं। और सब आठ-आठ आँसू बहानेवाले हैं तुम लोगों की मूर्खता और द्वेष-भाव पर। ईसाई धर्म का पहिला सिद्धान्त है—सहनशीलता। पर ईसाई कितने असहिष्णु हो गये हैं! नाटक में नटराज की मूर्ति से ही धर्म भ्रष्ट होने का डर लग गया। याने धर्म कोई छुई-मुई है और उसके रखवाले हैं कि कोई छू न ले, नहीं तो कुम्हला जायगा। दूसरी ओर हिन्दू हैं जिनकी सारी मनुष्यता और आध्यात्मिकता मूर्ति में आ सिमटी है। जिस हिन्दू धर्म में नास्तिक तक को ग्रहण करने की उदारता है, उसके भक्तों की यह कैसी संकीर्णता।

सब धर्मों की यही दुर्गति हुई है। सब धर्माचार्यों को उनके भक्तों ने ही कलंकित किया है। सनातनधर्मी कभी बौद्धों के सिर काटते थे। फिर बौद्धराज्य हुए तो सनातनधर्मियों के मस्तक उतरने लगे। इसाई धर्मवाले हिरोशिमा में बम पटकते हैं और ओमान में नरसंहार करते हैं। इस्लामवाले काश्मीर में लूट, आगजनी, हत्या करते हैं। जैन धर्मवाले पानी छानकर पीते हैं, मगर खुले बाजार

* परिवर्तन, 8 सितम्बर, 1957

आदमी का खून बगैर छना पी जाते हैं।

लोग ठीक उसका उलटा करते हैं, जो उनके धर्मगुरु कह गये हैं। उस दिन सन्त कबीर कह रहे थे, "मैंने तो तन्त्र-मन्त्र का विरोध किया, पर मेरे बाद मेरे अनुयायियों ने दतौन करने, टट्टी जाने और लोटा माँजने के भी मन्त्र बना लिये।"

तत्व खो दिया है, रूप को पकड़े बैठे हैं। इसीलिए झगड़े होते हैं। धार्मिक दंगों में जो लड़ते हैं; वे क्या भक्त होते हैं? उनको धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। ईश्वर को वे कुछ नहीं समझते। वे ऐसे होते हैं जो किसी भी धर्म के लिए कलंक होते हैं—गुण्डे, हुल्लड़बाज, लुटेरे! झगड़ा हो जाने से लूट का सुभीता मिलता है। तुमने पिछले दंगे में देखा होगा, भक्त लोग मन्दिर से पूजा करके लौटते और रास्ते में कोई दूकान लुटती दिखती, तो चुपचाप पेट्रोमेक्स या टार्च धोती में छिपाकर ले आते। भगवान तुरन्त फल देते हैं न!

रायपुर में मिशनरी स्टेज पर नाटक हो रहा था। नाटक प्रारम्भ होने के पहिले मिशनरी सुपरिन्टेण्डेण्ट में इतनी उदारता थी कि उसने लड़कों को सामान लाने के लिए अपनी जीप दी थी। मगर नटराज की मूर्ति देखते ही उसकी ईसाइयत भड़की और उसके भीतर का मनुष्य और बुद्धि सब गायब! मूर्ख यह-तक नहीं समझ पाया कि यह नाटक है, यथार्थ नहीं। और यह भी भूल गया कि यह देश उसे अमेरिका से पैसे बुलाकार खुलेआम ईसाई धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता देता है। उसे लगा होगा कि कहीं नटराज मेरे ईसा से झगड़ा न कर लें। वह दीवाना अपने को ईसा का रक्षक समझने लगा। उसने विरोध किया, पर बिना नटराज के नाटक तो हुआ ही!

और तब सनसनी फैली और हिन्दुओं को लगा कि धर्म गया। रोज लूटने, वेश्यागमन करने, मद्यपान करने, भ्रूणहत्या करने, स्त्रियों को बेचने में इनका धर्म भ्रष्ट नहीं होता। पर इस घटना से हो गया। उन्होंने भड़काना शुरू किया। बेचारे विद्यार्थियों के कन्धे पर बन्दूक रखी और हुल्लड़बाजों से हुल्लड़ किया।

पर सवाल यह है कि 16 तारीख से 26 तारीख तक रायपुर के नेता और अफसर क्या करते रहे? तुम्हारे यहाँ नेता केवल चुनाव के समय सक्रिय होता है और अफसर केवल लाठी और गोली चलाने पहुँचते हैं। नेता की बात कोई मानता नहीं है, क्योंकि आम आदमी का उनमें विश्वास नहीं है। चुनाव के सिवा नेता किसी के पास जाता नहीं। समाज की दैनिक समस्याओं की ओर नेता का ध्यान नहीं जाता। और अफसर का जनता से सम्बन्ध केवल डिग्री, समन, लाठी और गोली के मार्फत होता है।

ऐसे मौके पर होता यह है कि ठीक विचारवाले नागरिक और नेता तो पीछे फेंक दिये जाते हैं, और गुण्डे नेता बन जाते हैं। धार्मिक द्वेष का जहर ऐसा ही होता है। गौ-हत्या का हो-हल्ला उड़ा दीजिए—25-26 साल के तपे हुए नेता 'मुर्दाबाद' हो जावेंगे और 25-26 साल के तपे हुए गुण्डे 'जिन्दाबाद'! बुद्धि-हीनता की हद है।

आयुष्मान, यह रायपुरवाली दुर्घटना टल सकती थी अगर अफसर और नेता ज़रा कष्ट कर लेते।

पर तुम्हारे यहाँ आदमी को मक्खी की तरह मारने की आदत पड़ती जा रही है। अशोकचक्रवाली गाँधी-भक्त सरकार है यह!

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-10*

आयुष्मान,

आजकल यहाँ वे लोग ज्यादा आने लगे हैं जो समय से पहिले जीवन का अन्त कर लेते हैं। जिन्दगी की डोर को अचानक बीच में ही काट देनेवाले इन लोगों में दो प्रकार के लोग विशेष हैं---असफल प्रेमी और गरीबी से पीड़ित! तुम्हारे यहाँ यू. पी. के मुख्यमन्त्री ने आत्महत्या करनेवालों की एक वर्ष की संख्या बतलायी है। उससे मालूम होता है कि हजारों लोगों का जीवन तुम लोगों ने मुश्किल कर दिया है। पहिले असफल प्रेम की ही बात लो।

प्रेम-सरीखी चीज ज़हर क्यों बन जाती है? तुमने अपने समाज में ऊँच-नीच, बड़े-छोटे के इतने बन्धन लगा रखे हैं कि तुम्हारा खयाल है कि आदमी का मन, गणित के सूत्रों के अनुसार चलेगा। तुम दुनिया-भर की उदारता और सहिष्णुता का डंका पीटते हो, पर अपने सामाजिक और पारिवारिक जीवन में कितने संकीर्ण हो? तुम्हारी यह धारणा है कि स्त्री और पुरुष परस्पर दुश्मन हैं, और तुम्हारा यह कर्तव्य है कि तुम भरसक उन्हें दूर रखो। तुम्हारे बुजुर्गवार जो स्वयं करते हैं उसे दूसरे के लिए वर्ज्य मानते हैं। ढलती उमर का बूढ़ा बालों में खिजाब लगाता और ताकती गोलियाँ खाता है; पर अगर उसकी तरुणी लड़की आईने के सामने ज्यादा देर तक खड़ी रहे तो उसे लगता है कि यह गलत है। रात की काली चादर ओढ़कर सबकुछ करनेवाले दिन निकलने पर कैसे सभ्य बन जाते हैं। तुम्हारे सामाजिक जीवन का पाखण्ड है यह, जिसके कारण असंख्यक युवक-युवती अपने जीवन को अन्त करने योग्य समझने लगते हैं। जिस समाज के तरुण वर्ग में घुटन होती है वह समाज पतित होता जाता है, क्योंकि घुटन विकृतियों की निशानी है, उससे मानसिक रुग्णता आती है और समस्त जाति का

* परिवर्तन, 22 सितम्बर, 1957

स्वास्थ्य बिगड़ता है । जब कोई युवक या युवती तुम्हारे बन्धनों के कारण प्रेम से विफल जीवन का अन्त करती है, तब एक नक्षत्र टूटता है। तुम्हारे काव्य में, तुम्हारे धर्मग्रन्थों में जिस प्रेम के गीत गाये गये हैं, वह अगर तुम्हें कहीं होता दिखे, तो तुम भड़क उठते हो। तुम राधा और कृष्ण की कथा गाकर विह्वल होते हो, गद्गद हो जाते हो; नमन करते हो। पर अगर आदमी प्यार करे तो तुम उसे पाप समझते हो । असंख्य आत्माओं के हनन का पाप तुम्हारा समाज माथे पर लादता जाता है और परिणामस्वरूप 'फ्रस्ट्रेट' पीढ़ियाँ जन्म लेती जाती हैं ।

इन आत्महत्याओं का एक कारण और है। प्रेम के सम्बन्ध में तुम्हारा परम्परागत दृष्टिकोण । आस्कर वाइल्ड ने कहा है—

"Man must live by love and admiration, not for love and Admiration." याने मनुष्य को प्रेम और प्रशंसा के लिए नहीं जीना चाहिए। जैसे जीने के लिए खाना चाहिए; खाने के लिए नहीं जीना चाहिए। तुम्हारे पहिले के बहुत-से सम्पन्न और निठल्ले लोगों ने यह धारणा पुख्ता कर दी है। प्रेम अपने आपमें एक सम्पूर्ण वस्तु है; अलग चीज है, जीवन से उसका सम्बन्ध है तो केवल इतना ही कि सारा जीवन प्रेम करने के एक ही काम के लिए है। यह निर्विवाद है कि प्रेम जीवन की बड़ी शक्ति है, बड़ी प्रेरणा है। लेकिन निठल्ले, नवाबों की तरह इस युग में कोई भी 24 घण्टे यह तो नहीं कर सकता कि—

दिल चाहता है वो ही फ़ुरसत से रात-दिन
बैठे रहें तसव्वरे-जानाँ किये हुए।

आयुष्मान, 'तसव्वरे-जानाँ' किये हुए आज रात-दिन कोई बैठा रहेगा, तो भूखा मर जायगा। राजपूतों के सम्बन्ध में कहा जाता था कि राजपूत का एक हाथ कामिनी के कण्ठ पर और एक तलवार पर रहा करता था। आज कारखाने के भोंपू की पुकार सुनकर नव-विवाहित पुरुष भी कामिनी की शैया त्यागकर कारखाने को भागता है।

तुम्हें इस युग में प्रेम का कर्म से सामंजस्य स्थापित करना होगा। प्रेम कर्म का प्रेरक होता है। प्रेम की प्रेरणा से कर्म में सौन्दर्य और कुशलता आती है, पर कर्महीन प्रेम अत्यन्त पतनशील और घिनौना होता है। यह नयी परिभाषा गढ़नी होगी। और तब आयुष्मान, बेवफाई से इतनी मौतें नहीं होंगी। 'दोनों तरफ आग बराबर लगी हुई' अगर न हो तो एक अपनी ही आग से झुलस जाता है और दूसरा अपनी माचिस लिये हुए किसी दूसरे दिल को देखता है। असफल प्रेम से मरने-जैसी कोई स्थिति नहीं आनी चाहिए। कहते हैं रिक्तता आती है, पर इस रिक्तता को भरा भी तो जा सकता है। तुम्हारे यहाँ चौंकेंगे लोग यह सुनकर कि उस खाली स्थान को दूसरे प्रेम से भरा जा सकता है। यह न पाप है न असम्भव है। मगर प्रेमी अपने आपको फुसलाता रहता है कि अब इस हृदय में किसी के लिए स्थान नहीं है। यह वास्तविकता उतनी नहीं है, जितनी अपने आपको धोखा देने की प्रवृत्ति। यह आत्म-वंचना है। जो आदमी कहता है कि वह नया ज्ञान प्राप्त

करने में असमर्थ है, वह भावनात्मक रूप में मर चुका—यह बात तुम्हारे यहाँ के लेखक डी. एच. लारेन्स ने कही है। मुझसे कोई विफल प्रेमी पूछे कि अब मैं क्या करूँ? तो मैं कहूँगा कि कहीं और प्रेम कर लो। मरते क्यों हो?

यह न हो तो जिन्दगी अन्य कामों में लगायी जा सकती है। पत्नी द्वारा प्रताड़ित तुलसीदास आखिर महाकवि हो गये। तुम्हारे ही यहाँ आधुनिक युग में एक उदाहरण एनीबेसेण्ट का है। तुम जानते होगे कि बर्नाड शॉ की प्रतिभा की लौ से वे बुरी तरह अभिभूत हो गयी थीं। 9 वर्षों तक वे शॉ से प्रेम करती रहीं पर जब विवाह का प्रश्न आया तो शॉ ने इतनी कठिन शर्तें रखीं कि एनीबेसेण्ट विवाह नहीं कर सकीं। वे 'थियासोफिकल सोसाइटी' में काम करने लगीं। भारत आयीं और भारत में जो उन्होंने सेवाएँ कीं, वे उन्हें अमर करने को पर्याप्त हैं। प्रेम की विफलता ने उन्हें समाजोन्मुख कर दिया।

इसलिए यह सीखना होगा कि प्रेम की विफलता मरने का कारण नहीं है। इतना बड़ा समाज सेवाएँ माँगता है। उसका भी हक है। प्रेम का पतनशील दर्शन इस युग में नहीं चलेगा। प्रेमियों का संयोग अगर समाज नहीं होने देना चाहता, तो साहस के साथ वे विद्रोह करें। गले से पत्थर बाँधकर उस जीवन में मिलने की आस लेकर तलाब में डूबना बड़ा भारी पाप है! वे यहाँ भी नहीं मिलते, यह मैं देखता रहता हूँ।

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-11*

आयुष्मान,

आज मैं तुम्हें एक ऐसे विषय पर लिख रहा हूँ जिसे छेड़ना खतरे से खाली नहीं है। इस विषय पर हर युग और हर देश में विचार होता रहा है कि क्या धर्म कालनिरपेक्ष है या युग के अनुसार बदलता रहता है? परिस्थितियों के अनुसार धार्मिक विधान में, धार्मिक रीति-रिवाज में परिवर्तन होता है या वे गतिशील विश्व की बिना परवाह किये अपनी पूर्वगति से चलते जायेंगे।

एक उदाहरण देता हूँ, तुम विचार करना। पुराने जमाने में अग्नि प्रज्वलित करने में बड़ी कठिनाई होती थी, इसलिए मुर्दे को मरघट में जलाने को ले जाते

* परिवर्तन, 10 नवम्बर, 1957

समय, एक आदमी हण्डी में आग लेकर अर्थी के साथ चलता था। अब इस जमाने में जब आग सुलगाना इतना आसान हो गया है, जब बिजली से आग पैदा हो गयी है, जब विद्युत-भट्टियाँ बन गयी हैं, क्या यह जरूरी है कि एक आदमी उसी तरह आग की हण्डी लटकाये चले।

दूसरी बात लो। पुराने जमाने में राज-परिवारों में विवाह तलवार की नोंक पर होता था। स्वयम्बर होते थे—राजकन्या को अनेकों राजकुमार ब्याहने आते थे और किसका विवाह उससे होगा, यह तलवार के द्वारा तय होता था। तब हर विवाहेच्छु कुमार के साथ एक सेना होती थी और वह स्वयं वीरवेश में होता था, तलवार धारण करता था। क्षत्रियों से यह प्रथा सब वर्णों ने ले ली और दूल्हा को वीरवेश में बारात के साथ ले जाना आरम्भ हुआ। तुम्हारे यहाँ अभी भी वर को लाल मुग्गा और लाल पगड़ी बाँधते हैं; उसके हाथ में कटार रखते हैं, हाथों में कड़े डालते हैं। मजा यह है कि लकड़ी की कटार पर मखमल की म्यान चढ़ाकर के हाथ में रख देते हैं या सुपारी काटने का सरोता ही रख देते हैं। उसका शृंगार ऐसा करते हैं कि वह बेचारा नाटक कम्पनी का 'जोकर' लगता है। जिसने कभी घोड़े को छुआ तक नहीं, उससे उसकी जान साँसत में पड़ जाती है।

इस युग में क्या यह सब रूपक जरूरी है।

आयुष्मान, युग के साथ समाज के रीति-रिवाज, नीति-नियम बदलना ही चाहिए। पुराने जमाने में तो आर्यों में नरमेध तक होते थे। क्या अब कोई आदमी को यज्ञ में बलि कर सकता है?

आज इस तरह की बात कहने का प्रसंग उठ खड़ा हुआ। तुम्हारे यहाँ आगामी एक-दो महीनों में एक बड़ा उत्सव हो रहा है—'गजरथ उत्सव।' यह उत्सव धनी व्यक्ति करता है, जिसमें लाखों आदमी आमन्त्रित किये जाते हैं। उत्सव होता है, हाथी के द्वारा रथ खींचा जाता है और रथ के पहियों में 'मोबिल आइल' के युग में घी डाला जाता है।

इसे जैन समाज धार्मिक समारोह के नाम से करता है। पर क्या यह धार्मिक है? धर्म वह है, जिसका पालन धनी-गरीब सब कर सकें, जो बड़े और छोटे सबके लिए सुलभ हो। क्या इस उत्सव को लखपति के सिवा कोई और कर सकता है? क्या गरीब जैन फेरीवाला इसे कर सकता है? क्या जैन स्कूल मास्टर इसे कर सकता है? क्या गरीब जैन क्लर्क इसे कर सकता है? तो फिर यह धर्म कैसे हुआ? जिसे पैसेवाला कर सके, गरीब न कर सके वह धर्म हो ही नहीं सकता। वह केवल व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिए 2-3 लाख की कीमत पर किया जानेवाला एक व्यक्ति-समारोह मात्र है। जो धनी इसे करता है उसे 'सवाई सिंघई' की पदवी मिलती है। बस, इस पदवी के लिए यह किया जाता है। सामान्य आदमी भी इसमें भाग ले, दूसरे की शादी में बाराती की तरह शामिल हो, इसलिए इसे 'धार्मिक उत्सव' कह दिया जाता है।

आयुष्मान, यह विचारणीय प्रश्न है। मैं एक धार्मिक सम्प्रदाय के बारे में

नहीं कह रहा हूँ। सबके बारे में विचार होना चाहिए। जो लोग धर्म के नाम पर इस जमाने में यज्ञ करते हैं और हजारों का घी व अन्न अग्निकुण्ड में झोंक देते हैं, उन पर भी विचार होना चाहिए।

तुम आखिर किस युग में जी रहे हो? एटम युग के मनुष्य तुम व्यवहार में आदिम युग के बने हुए हो। हमने अपने को घर के कमरे में या दूकान में बन्द कर रखा है। समाज और संसार की गति कुछ मालूम नहीं। जमाना कहाँ पहुँच गया? समाज की क्या हालत है? देश की समस्या क्या है? इन प्रश्नों से कोई मतलब नहीं।

एक व्यक्ति ने लाखों कमा लिये हैं। यह प्रतिष्ठा भी खरीदना चाहता है। इसलिए यह धर्म के नाम पर 2-3 लाख का एक उत्सव करता है और 'सवाई सिंघई' की पदवी धारण करता है। प्रतिष्ठा पाता है।

उसे यह मालूम नहीं है कि उसके देश का अर्थमन्त्री तमाम दुनिया में हाथ फैलाये भीख माँग रहा है। उसे यह मालूम नहीं है कि पंचवर्षीय योजना के लिए हमारे पास पैसे नहीं हैं। उसे यह मालूम नहीं है कि लाखों आदमी भूखे मर रहे हैं। उसे यह मालूम नहीं है कि शहर में हजारों ऐसे हैं जिनके पेट में एक चम्मच घी नहीं पड़ता है। मगर उन्हें इससे मतलब नहीं, आदमी घी न खा पाय; पर रथ का पहिया घी पियेगा। आदमी भूखे मरते रहें, पर वह भोग करायेगा। देश की योजना में वह पैसा नहीं देगा, पर 2-3 लाख अपनी प्रतिष्ठा के लिए बरबाद कर देगा।

भगवान महावीर ने दया और प्रेम का सन्देश दिया था, त्याग सिखाया था। उनके धर्म का नाम लेकर लोग कैसे-कैसे काम करते हैं।

आयुष्मान, तुम लोग उनसे कहो कि हम तुम्हें बड़ी-से-बड़ी पदवी देते हैं, हम तुम्हें सारे नगर की ओर से सम्मान देंगे—तुम वे 2-3 लाख रुपये बरबाद न करके समाज के हित में लगा दो। अस्पताल खुलवा दो, भिखारियों के सोने के लिए सराय बनवा दो, शिक्षा-संस्था खुलवा दो। अपाहिजों के लिए प्रबन्ध करा दो, अनाथ बच्चों के लिए अच्छी संस्था खुलवा दो। तुम्हारा नाम ज्यादा चमकेगा, तुम्हारी ज्यादा जय-जयकार होगी, तुम्हें लोग ज्यादा श्रद्धा देंगे। या उनसे कहो कि यह धन देश के निर्माण के लिए पंचवर्षीय योजना में दे दें। उपाधि चाहे जो ले लें—सारे समाज से आरती ही उतरवा लें—पर देश का धन बरबाद न करें। घी को आदमी के पेट में जाने दें, रथ के पहिये में न डालें।

वे शायद ही तुम्हारी बात मानें, क्योंकि उन्होंने विचार करना बन्द कर दिया है; दिमाग को 'रेफ्रिजरेटर' में रख दिया है। लेकिन मजा यह है कि एक प्रजा समाजवादी नेता इस समारोह के प्रधानमन्त्री हैं और एक प्रोफेसर मन्त्री हैं। सेठ-जी का दकियानूसीपन तो समझ में आता है, पर नेता और प्रोफेसर की बात समझ में नहीं आती। तुम उनसे पूछो।

तुम लोग इस समारोह को धर्म से बिल्कुल अलग करके मानो। धर्म का नाम

लेकर—तुम्हारे यहाँ डराने की पद्धति है। लोग कहेंगे, धर्म में हस्तक्षेप करते हो। पर यह धार्मिक समारोह कतई नहीं। जैनधर्म से इसका कतई मतलब नहीं। यह धन का चोचला है। रईस का प्रदर्शन है। 2-3 लाख का नाटक है।

और यह तुम्हारे समाज की प्रगतिशील शक्तियों को चुनौती है। मेरा विश्वास है कि जैन समाज में भी प्रगतिशील विचारोंवाले अनेक व्यक्ति हैं, विशेषकर तरुण वर्ग इन प्रतिगामी रिवाजों से मुक्त है। यह उन्हें चुनौती है। क्या वे इतना साहस कर सकते हैं कि देश के धन को इस तरह बरबाद होने से रोकें? क्या वे धर्म के नाम पर इतना बड़ा मिथ्यावाद होने देंगे? क्या वे इस धन को उपयोगी काम में लगवा सकते हैं? क्या उनमें इतना दम है कि वे इतने बड़े समाजविरोधी कार्य को रुकवा सकें?

यह कार्य उसी समाज का है जिसके भूषण वे धनपति हैं। उसी समाज के विचारवान, प्रगतिशील व्यक्तियों और तरुणों की परीक्षा है।

मेरा सुझाव है कि तुम लोग शान्ति से इस व्यक्तिगत प्रतिष्ठा-उत्सव को रुकवाओ। नहीं तो लोग तुम पर हँसेंगे। इस संकटकाल में धन-धान्य की यह बरबादी एक अपराध है, जिसके लिए कानूनन दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए।

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-12*

आयुष्मान,

तुम दूध तो रोज खरीदते ही होगे। दूध नाम की चीज मध्यवर्ग और उच्च-वर्ग में तुम्हारे यहाँ फैशन के रूप में व्यवहार में लायी जाती है। दूध जीवन-तत्व है, पोषक पदार्थ है, यह तुम नहीं मानते। तुम्हारे लिए दूध उस द्रव का नाम है जिसे चाय में मिलाने से उसका रंग भूरा हो जाता है। तुम्हें इसकी शिकायत भी होती है कि तुम्हारे यहाँ के ग्वाले दूध में पानी मिलाकर बेचते हैं।

यह बिल्कुल सही है कि वे दूध में पानी मिलाते हैं। मगर यह अपने आपमें एक अलग अनैतिक क्रिया नहीं है। यह तुम्हारे देश की मौजूदा 'महाजनी संस्कृति' ही है। यह कुसंस्कृति तुम्हारे सारे सामाजिक जीवन को आक्रान्त किये है। लेकिन तुम इसका उपचार अलग-अलग करते हो। एक-एक मच्छड़ मारने से तो घर के

* परिवर्तन, 17 नवम्बर, 1957

मच्छड़ कभी नहीं मर सकते । शरीर में अगर फोड़े हो गये हैं तो एकाएक फोड़े के ऊपर मलहम लगाने से कोई फायदा नहीं । खून खराब हो गया है, उसे शुद्ध करना होगा । तब सब फोड़े अपने आप मिट जावेंगे ।

दूध की ही बात लो । बड़ी शिकायत है कि दूधवाले पानी मिलाकर बेचते हैं । यह एक फोड़ा है समाज-पुरुष के शरीर में । अब तुम्हारी नगरपालिका या नगर निगम ने दूध की जाँच के लिए इन्स्पेक्टर नियुक्त कर दिये । शहर में बिकनेवाले सब दूध की जाँच शुरू हो गयी । आयुष्मान, तुम देखते होगे कि जब से जाँच शुरू हो गयी, तब से दूध में ज्यादा पानी आने लगा । परिणाम ठीक उलटा हुआ । तुम किसी ग्वाले से एकान्त में ईमान से पूछो, वह बतलायेगा कि वह पहिले से ज्यादा पानी मिलाने लगा है । वह तुम्हें बतलायेगा कि इन्स्पेक्टर को 'महीना बँध गया है', याने हर महीने उसे रुपये दिये जाते हैं और वह दूध 'पास' करता जाता है । जब पैसे देते तो बेखटके ज्यादा पानी मिलाते हैं । पहिले सेर में एक सेर मिलाते थे, तो अब डेढ़ सेर ! अब कौन पूछ सकता है ? इन्स्पेक्टर को पैसे तो देते हैं । यह दूसरा फोड़ा हुआ ! ज्यों-ज्यों तुम एक फोड़े का मुँह बन्द करने की कोशिश करोगे, त्यों-त्यों दूसरी जगह फोड़े उठते जावेंगे । अब तुम इस इन्स्पेक्टरवाले फोड़े पर मलहम चुपड़ो याने सेक्रेटरी या किसी सदस्य से जाँच करवाओ और अगर ये भी इसी महाजनी संस्कृति के भक्त हुए तो वे इन्स्पेक्टरों से अपना हिस्सा लेने लगेंगे और तुम्हारे दूध में पानी की मात्रा बढ़ जायेगी, क्योंकि इन्स्पेक्टर यह भेंट दूधवाले से वसूल करेगा और दूधवाला और पानी मिलाकर तुमसे ! अब क्या करोगे ? कहाँ-कहाँ मलहम लगाओगे ?

फोड़ों की कतार लगी है । किसी कॉलेज के प्रिन्सिपल को फर्नीचर बनवाना है । उसने 3-4 लाख का ठेका दिया । उसमें से 20 प्रतिशत कमीशन अपनी जेब में डाल लिया । अब ठेकेदार रद्दी लकड़ी का रद्दी माल बना देगा और प्रिन्सिपल उसे नामन्जूर नहीं करेगा । अब लड़कों तक में यह बात फैल गयी कि प्रिन्सिपल पैसा खाता है और रामकृष्ण विवेकानन्द के उपदेश देता है । उनके मन में अपने आचार्य के प्रति घृणा, अवज्ञा जागेगी । वे उसे निरादर देंगे, उसका प्रभाव नहीं मानेंगे । उनमें अनुशासनहीनता आयेगी । उपद्रव-वृत्ति आयेगी और तुम रोओगे कि लड़के बिगड़ गये हैं ! मगर विष तो रक्त में है । एक फोड़े से दूसरे फोड़े का 'कनेक्शन' है ।

प्राइवेट कॉलिज है—प्रिन्सिपल बेचारा मेम्बरी की भृकुटि से झूलता है । मेम्बरों ने योग्यता-अयोग्यता के खयाल से मुक्त होकर किसी को अपना मानकर पद पर बिठा दिया । अब वह बेचारा कॉलेज का काम, अध्ययन-अध्यापन आदि को तो तिलांजलि दे देगा और मेम्बरों के द्वारों पर सिजदा करता फिरेगा । उनके चक्कर लगायेगा । नाराज हो गये तो निकाल न देंगे ?

तुम्हारे यहाँ एक कॉलिज के भ्रष्टाचार के बड़े किस्से छपे थे । फिर उसका क्या परिणाम निकला ? जाँच किसने की ? उसी मुहकमे के किसी अफसर को

जांच करने का काम दे दीजिए और परिणाम देख लीजिए। वह अपना हिस्सा लेकर लिख देगा कि आरोप झूठ साबित हुए।

इसलिए आयुष्मान, रक्त को शुद्ध करना पड़ेगा। मनुष्य में विश्वास खोने की जरूरत नहीं है। आदमी तो अच्छा होता ही है। वह आगे भी बढ़ता जाता है। पर बीच-बीच में, ऐसे समय जब व्यवस्था सड़ जाती है, सारा समाज रुग्ण हो जाता है। तुम्हारे यहाँ यही काल चल रहा है। एक महाजनी सभ्यता है जिसका मूलमन्त्र 'बेईमानी' है। इस सभ्यता का अन्तिम चरण है, सबमें विकृति। इसके बाद मनुष्य के ही प्रयत्नों से इसकी समाप्ति है और नयी संस्कृति का जन्म है!

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-13*

आयुष्मान,

एक ही विषय पर यह दूसरी बार तुम्हें लिख रहा हूँ। कारण है, इस पखवाड़े में तुम्हारे यहाँ 'गजरथ महोत्सव' का काम खूब आगे बढ़ गया है और साथ ही उसका विरोध भी। हाथी वगैरह अभी तय हुआ या नहीं? सुना है अच्छा हाथी नहीं मिल रहा। कहाँ से मिले? हाथी या तो राजा पालते थे या महन्त—ये दोनों नहीं रहे। राजा लोग तो सरकारी पेंशन पर गुजारा कर रहे हैं और महन्तों की हालत पतली हो रही है। भक्त अब उतने मूर्ख रहे नहीं कि महन्तजी के ऐश-आराम, शराब, गाँजा के लिए भेंट चढ़ाने जावें। हाँ, इस बीच तुम्हारी सरकार ने एक नये किस्म के हाथी पाल रखे हैं—सफेद हाथी! हर मुहकमे में मोटी-मोटी तनख्वाहें लेकर कुछ काम नहीं करनेवाले इन हाथियों को अगर रथ में जोतकर जुलूस निकाल सको तो बड़ा धार्मिक कार्य हो जाय!

हाँ, तो तुम्हारे समाज में खलबली तो मच ही गयी। लोग विचार करने लगे। उनके मन में इस व्यक्तिगत प्रतिष्ठा-हेतु, की जानेवाली राष्ट्रीय धन की बरबादी के सम्बन्ध में द्वन्द्व तो पैदा हो ही गया। तुम्हारे पत्र में ही गत सप्ताह दो पत्र प्रकाशित हुए थे, जिनमें मेरी बात का समर्थन किया गया था। और जो भी लोग पत्र लिखें तुम छापो। अगर उक्त महोत्सव के पक्ष में भी कोई लिखना चाहें, तो उन्हें भी लिखने दो। विचार को निर्बाध गति से प्रकट होने देना चाहिए। विचार जब लुप्त

* परिवर्तन, 1 दिसम्बर, 1957

हो जाता है, या विचार प्रकट करने में बाधा होती है या किसी के विरोधी विचार से भय लगने लगता है, तब तर्क का स्थान हुल्लड़ या गुण्डागर्दी ले लेती है।

मैं बात को आगे बढ़ाता हूँ। इस बीच यह तो निश्चयपूर्वक हो गया है कि अधिकांश स्त्री-पुरुष इस उत्सव के विरुद्ध हो गये हैं। अगर इस समाज के लोगों से ईमान की बात पूछो तो 90 प्रतिशत यही कहेंगे कि वे इस धन की बरबादी को गलत मानते हैं। शेष 10 वे हैं जिनके दिमाग ने सोचना बन्द कर दिया है। या जिनका इस समारोह में स्वार्थ सधनेवाला है। या जो परम्परागत धारणाओं में बद्ध हैं। आयुष्मान! उन सेठजी के गजरथ करने में बहुत लोगों को हाथ सेंकने और जेब गरम करने का मौका मिल गया है। जो उनके आसपास दुम हिला रहे हैं, हाँ जी-हाँ जी में लगे हैं, उनकी जय बोल रहे हैं, उन्हें ज़रा सेठजी तो पहचानें। वे क्यों इतना उत्साह बतला रहे हैं? होंगे उनमें कुछ ईमानदार भी, मगर शेष अपनी जेब भरने की फिक्र में हैं। व्यापारी तो बड़ा काँइयाँ होता है। फिर बेचारे ये सेठ इस समय क्यों इतने भोले हो गये हैं?

फिर इस उत्सव से जिनका स्वार्थ बँधा है, वे इसे साम्प्रदायिक रूप देना चाहते हैं—वे कहते हैं कि यह तो धार्मिक मामला है। हमें कौन रोक सकता है? मैंने पहिले ही कहा था कि यह धार्मिक मामला तो कतई नहीं है। और अगर वे धर्म की डींग ही हाँकते हैं तो उनसे कहो कि जैनधर्म के शेष सब सिद्धान्त भी जिन्दगी में उतारो। सारी सम्पत्ति का परित्याग करो। सत्य भाषण करो। ब्रह्मचर्य का पालन करो। जीव को मत सताओ! ये सब भी तो धार्मिक सिद्धान्त हैं। इन्हें भी पालो। मगर इन्हें कैसे पालेंगे? भला सम्पत्ति त्यागी जाती है? सत्य बोलेंगे तो मुनाफा कैसे होगा? इसलिए वही आडम्बर पालन करेंगे, जिससे स्वार्थ सधता हो। सच्चा धर्म तो स्वार्थ-त्याग करना है, इसलिए सच्चे धर्म को कोने में रख दिया है। आयुष्मान, स्वार्थी लोग धर्म का नाम ले रहे हैं। उनके मन में धर्म-भावना कतई नहीं है।

अब अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो समझते हैं कि यह गलत हो रहा है, पर खुल्लम-खुल्ला वे यह कह नहीं सकते। न इसका विरोध कर सकते हैं। कहते हैं—मुलाहज़ा टूटता है, आपसी सम्बन्ध है, रिश्तेदारी या मित्रता है, बुरा मान जावेंगे। इन लोगों से मुझे यह कहना है कि यह कैसी रिश्तेदारी या मित्रता है कि अपने आदमी को गलत करते देखकर भी उसे चेताया न जाय। यह तो इसी तरह हुआ कि कोई खन्दक में गिरा जा रहा है और उसका मित्र दूर खड़ा देख रहा है। उससे पूछा कि क्यों भाई, तू उसे क्यों नहीं रोकता? तो वह कहता है—'ज़रा आपसी मामला है; रिश्तेदारी है, वे बुरा मान जायेंगे। गिर ही जाने दो?'

समाज में वह शक्ति आनी चाहिए कि सामाजिक मिथ्यावाद, असामाजिक कृत्य और समाज के लिए हानिकर कर्मों का विरोध कर सकें। तुम्हारे प्रधानमन्त्री ने अभी उस दिन कितने दर्द से कहा कि धनधान्य की बरबादी मत करो। देश पर संकट आया है। पर गजरथवालों को देश से क्या मतलब? आया करें संकट!

अपन देश से अलग हैं। अपना खुद का पैसा है। हम चाहें पानी में डाल दें।

इन लोगों को बतलाओ कि सब पैसा राष्ट्र का है। सारे समाज का उस पर अधिकार है। जो उसे अपना समझकर बरबाद करता है, वह समाज के कोष में से चोरी करता है। मुझे उम्मीद है कि सही सोचनेवाले, प्रगतिशील लोग, इस पाखण्ड के विरोध में उठेंगे।

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-14*

आयुष्मान,

आज ही एक जीव तुम्हारे लाक से यहाँ आया है। यहाँ उसके बयान से बड़ी गड़बड़ पड़ गयी है। वह कहता है कि डाक्टरों ने उसे मार डाला। वह इलाज के लिए अस्पताल गया था कि वहाँ ज्यादा क्लोरोफार्म दे देने से उसके प्राण उड़ गये। यहाँ इस लोक में भी जो अधिकारी हैं, मन्त्री हैं, वे भी कुछ तुम्हारे देश के मन्त्रियों से कम बहानेबाज नहीं हैं। तुम्हारे भूखण्ड के लिए जो स्वास्थ्य मन्त्री यहाँ पर हैं, वे कहने लगे, "यह बात गलत है कि यह आदमी असावधानी, अज्ञान या अवहेलना के कारण मरा। बात यह है कि जिस अस्पताल में यह भरती हुआ, वहाँ चिकित्सा का शिक्षण भी होता है और विद्यार्थी वहाँ 'प्रेक्टिकल' के लिए जाते हैं। उन्हें यह बताना था कि ज्यादा क्लोरोफार्म से आदमी की मृत्यु हो जाती है। इसके लिए प्रयोग करना था। इसलिए व्यक्ति पर प्रयोग करके परिणाम बतलाया गया था, जिससे भविष्य में होनेवाले डाक्टर इसे अपनी आँखों देख लें।"

है न बढ़िया कैफियत? तुम्हारी रानी साहिबा स्वास्थ्य मन्त्राणी को यह बात क्यों नहीं सूझी? उन्होंने विधानसभा में कह दिया कि ऐसी कोई गलती नहीं हुई। जितनी शिकायतें रानी साहबा के सामने पेश की गयीं सबके जवाब में उन्होंने कह दिया कि ये सब बातें जाँच करने पर गलत पायी गयीं। मेडिकल कॉलेज के पैसा खाने की बात झूठ, सामान चुराने की बात झूठ, लापरवाही की बात झूठ; अस्पताल के डाक्टरों की लापरवाही और जघन्यता की बात झूठ! उनका उलाहना पाक-साफ है।

और तुम लोग अखबारों में हल्ला मचाये हो। अरे भाई, वे रानी साहिबा हैं,

* परिवर्तन, 8 दिसम्बर, 1957

उन्हें छोटी-मोटी बातों पर ध्यान देने की क्या जरूरत ? फिर मामूली आदमी में और रानी में क्या फर्क ? कोई मामूली आदमी कहीं डाक्टरों के द्वारा मार डाला गया है, तो क्या उसके लिए इतनी बड़ी रानी सिर दुखायेगी। मामूली आदमी तो करोड़ों होते हैं, राजा-रानी तो बिरले ही होते हैं।

इस किस्म की बेखबरी रानियों की परम्परा रही है। क्रान्ति के पहिले फ्रान्स की रानी केटी एण्टानेट से किसी मन्त्री ने कहा कि पेरिस के लोगों को खाने को रोटी नहीं मिलती, तो वे अजीब भोलेपन से बोलीं, 'क्या ? रोटी नहीं मिलती ? तो केक क्यों नहीं खाते ?' उन्हें क्या मालूम कि जिन्हें रोटी भी नहीं मिलती वे बेचारे केक कैसे खा सकते हैं। मगर इस भोलेपन की बलिहारी है। इसी भोलेपन पर कहा गया है—

'इस सादगी पर कौन न मर जाय ऐ खुदा !' आयुष्मान, जब-जब तुम्हारी रानी विधानसभा में कहती हैं कि कहीं कुछ गड़बड़ नहीं है, तो इस सादगी पर तुम्हारी मर-मिटने की तबियत नहीं होती ? बड़े आशिक लोग हो तुम ! हल्ला मचाये ही जाते हो। उनको देखे से ही बीमार के मुँह पर रौनक आ जाती है; उन्हें विभागीय झमेले में पड़ने की क्या जरूरत ? वे मन्त्रिमण्डल की शोभा हैं; लोगों के मार डाले जाने की शिकायतों से तुम लोग उनकी प्रफुल्लता पर मलिनता क्यों लाते हो ?

डिप्टी मिनिस्टर भी तुम्हारे बड़े भोले हैं। उस दिन मेडिकल कॉलेज के प्रिन्सिपल की तुम लोगों ने शिकायत की तो कैसी सादगी से बोले थे, 'अरे भई, उनकी बड़ी लम्बी सेवाएँ हैं; वे वृद्ध आदमी हैं। उनका कुछ तो खयाल करो !!' इस सादगी पर, प्रजातन्त्र के नाम पर तुम्हारी सिर धुनने की तबियत नहीं होती ? उनका कितना अच्छा तात्पर्य था—'भई वृद्ध आदमी हैं, इसलिए उनकी सेवा के पुरस्कार रूप में उन्हें कुछ आदमियों को बेमौत मार लेने को कुछ गोलमोल तो कर लेने दो। आखिर पुराने नौकरों को 'बोनस' मिलता है कि नहीं ?' है न सादगी मथुरा भाई की ? अरे वे शुरू से ही भोले-भण्डारी हैं। वे छोटे-छोटे मामले में पड़ते ही नहीं।

इन दो भोले-भाले मन्त्रियों के ऊपर तुम राज्य का स्वास्थ्य बेखटके छोड़ दो। कुछ दिनों में परिस्थिति इतनी बदल जायगी कि न अस्पतालों की जरूरत पड़ेगी न डाक्टरों की। तुम देखोगे कि आगे चलकर प्राणदण्ड के अपराधी को अस्पताल भेजेंगे। डाक्टर से कहेंगे कि उसे पेट में दर्द है और डाक्टर इलाज करके उसे मार डालेगा।

वह युग आ रहा है। तुम लोग रानी साहिबा के आराम में खलल मत डालो। और मथुरा भैया तो बड़े भले हैं। उन्हें तंग मत करो।

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-15*

आयुष्मान,

तुम्हारी भेजी गजरथ महोत्सव समिति के प्रचारमन्त्री की चिट्ठी मिली। मैं चाहता हूँ कि तुम इस चिट्ठी को ज्यों-का-त्यों छाप दो! किसी समस्या में दोनों पक्षों के विचारों को प्रकाश में आने देना चाहिए।

चिट्ठी मैंने ध्यान से पढ़ी। इसमें गजरथ महोत्सव के पक्ष में पहिला तर्क यह किया गया है कि इसमें जो यज्ञ-हवन होगा, उससे संसार में शान्ति-स्थापना होगी। मुझे आश्चर्य और क्षोभ है कि बी. एस. सी. इन्जीनियरिंग पढ़े और समाजवादी विचारभूमि के प्रधानमन्त्री को इस बात पर विश्वास है। इस प्रकार के यज्ञ से अगर विश्वशान्ति हो जाती है, तो फिर आइसनहावर और ख्रुश्चेव को राष्ट्रसंघ के कम्पाउण्ड में यज्ञ-वेदी में बिठाकर हवन कर दिया जाय। बड़े आश्चर्य की बात है कि अन्यत्र प्रकाशित एक अन्य विज्ञप्ति में कहा गया है कि इस यज्ञ-हवन से सूखा, अकाल नष्ट होंगे। आयुष्मान! तुम्हें याद होगा कि पिछले एक साल में तुम्हारे नगर में ही दो-तीन यज्ञ हुए हैं जो कर्मकाण्डी ब्राह्मणों द्वारा किये गये थे। वे भी कहते थे कि इनसे समाज की समृद्धि होगी पर तुम्हारे यहाँ तो इस साल अकाल पड़ रहा है और भुखमरी, गरीबी बढ़ रही है। तो क्या यह निष्कर्ष निकाला जायगा कि कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के यज्ञ से सूखा पड़ता है और कर्मकाण्डी जैनों के यज्ञ से समृद्धि होती है। विज्ञान में विश्वविद्यालय की डिग्रीधारी प्रधानमन्त्री को इतना तो मालूम होगा ही कि वर्षा किन भौतिक कारणों से होती है। वृष्टि का आध्यात्मिक कारण किस विज्ञान-पद्धति में सिखाया जाता है? वे जान-बूझकर समाज को भ्रमित क्यों करना चाहते हैं? असल में हजारों साल पहिले दिये गये धार्मिक कर्मकाण्ड के ये विधान ऐतिहासिक दृष्टि से देखे जाने चाहिए। यदि वे वैसे ही मान लिये जायें तो हिन्दुओं को नरमेध यज्ञ भी करने देना चाहिए। क्योंकि उनके धर्म में यह भी होता है। सती प्रथा किसी समय बड़ा धार्मिक कृत्य माना जाता था, परन्तु यह बर्बरता कानून से बन्द हो गयी, जब मनुष्य का विचार अधिक विकसित हुआ। मैं कोई विशेष धर्म के कर्मकाण्डों की बात नहीं करता। सब धर्मों में ये जो, 'आउट ऑफ डेट' कर्मकाण्ड चलते रहते हैं ये बन्द होने चाहिए। यज्ञ, जिनमें मनो घी-शक्कर और अन्न अग्नि में झोंक दिया जाता है, इस अभाव के युग में इसे कानून से अपराध घोषित हो जाना चाहिए।

भगवान महावीर ने जो त्याग, अहिंसा, दया और क्षमा से महान उपदेश दिये हैं, उन्हें कितने लोग पालते हैं। धर्म का जो वास्तविक तत्व है उसे भुलाकर आडम्बर किये जा रहे हैं। धन के चोचले बताये जा रहे हैं। मैंने पहिले भी कहा

* परिवर्तन, 15 दिसम्बर, 1957

था कि जिस धर्म के पालन में लाख रुपये लगें, वह धर्म नहीं है, धन्धा होगा।

दूसरी बात जो कही गयी है वह बड़ी आँख खोलनेवाली है। मन्त्रीजी लिखते हैं—'इसमें किसी न किसी धनी व्यक्ति को तैयार करना पड़ता है और उसको सामाजिक उपाधि का प्रलोभन देना हमारी गजरथ परम्परा के अनुकूल होता है।' ज़रा इस वाक्य को खूब ध्यान से पढ़ो। यह पूरी पोल खोल देता है। वे स्पष्ट कहते हैं कि उन लोगों ने एक अच्छे धनी व्यक्ति को घेरघारकर तैयार किया। उसे प्रतिष्ठा का प्रलोभन दिया। वह प्रलोभन में आ गया और फिर इस नाम के लोभ-वश (धर्म के कारण नहीं) वह पैसा लगाने को तैयार हो गया। तब यारों ने कमेटी बना ली और काम शुरू कर दिया। इस सबमें किसका धरम निभ रहा है ? जिस भले आदमी को इन लोगों ने तैयार कर लिया है उसका ध्यान ज़रा मन्त्रीजी के इस वक्तव्य की ओर आकर्षित करो। वे ज़रा देखें कि ये लोग उनकी क्या गत कर रहे हैं। मन्त्री महोदय साफ कहते हैं कि उक्त सेठजी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लोभ में आकर यह उत्सव करने को तैयार हो गये हैं। इस वक्तव्य के आईने में वे अपना मुँह देखें और तब उस कमेटी को बुलाकर कहें कि तुम हमें बुद्धू बनाकर, झूठी प्रतिष्ठा का लोभ देकर हमसे यह काण्ड करवा रहे हो। आयुष्मान ! यह बात मैंने अपनी पहिली चिट्ठी में ही कही थी और अब स्वयं मन्त्रीजी ने उगल दिया है।

पाखण्ड विशेष धर्म में ही नहीं है, सबमें हो रहे हैं। शंकराचार्य की जमीन हड़पकर, मठ का धन उड़ाकर, तुम्हारे ही शहर में लोग बिल्डिंग तानकर व्यापार करते हुए सफेद मूँछों पर ताव देते घूमते हैं। साम्प्रदायिक भावना से ऊपर उठकर, विशुद्ध मानवीय और वैचारिक धरातल पर इन सब पाखण्डों के विरुद्ध समाज के प्रगतिशील तत्वों को संघर्ष करना चाहिए।

तीसरी मुख्य बात यह कही गयी है कि इस मेले में जो धन खर्च होगा वह मजदूरों, छोटे दूकानदारों आदि में बँट जायगा। पूंजीपतियों का यह बहुत पुराना और खण्डित तर्क है। अर्थशास्त्रियों की दलील देने से भी पुष्ट नहीं होता, क्योंकि पूंजीवाद का अर्थशास्त्र समाजवाद के अर्थशास्त्र से भिन्न होता है। उद्योगपति हमेशा से ही कहते आ रहे हैं—'अरे भाई ! हमें मुनाफा होता है तो हम उसे कारखाने में ही लगाते हैं। कारखाने में काम बढ़ता है, तो अधिक मजदूर लगते हैं, इस तरह पैसा वापिस मजदूरों में बँट जाता है। कैसी सात्विक दलील है, मगर मजदूर दुबला ही होता जा रहा है। भूखा ही मरता जाता है और पूंजीपति मुटाता ही जाता है। यूरोप और अमेरिका के पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों ने पूंजीवादी स्थितियों के आधार पर तथा पूंजीवाद को कायम रखने के लिए जो अर्थशास्त्र के एकांगी तथा व्यक्तिगत उद्योगप्रधान सिद्धान्त बनाये हैं उनकी अंग्रेजी किताबों के हिन्दी अनुवाद पढ़कर भारतीय पूंजीवाद के समर्थक बुद्धिवादी यह दलील देते हैं। इससे जाग्रत व्यक्ति अब भ्रमित नहीं होते। और इन लोगों से ज़रा पूछो कि क्या वास्तव में मजदूरों में पैसा बँट जाने के उद्देश्य से ही इस उत्सव की योजना दिमाग में आयी थी अथवा इस दलील का उपयोग बाद में अपने पक्ष में किया जाने लगा है !

चौथी बात यह कही है कि इसमें से 'भिक्षुक सदन' में सहायता दी जायगी, विश्वविद्यालय में मेडिल रखा जायगा, छात्रावास की योजना कार्यान्वित की जायगी। ये सब चीजें अच्छी हैं, लेकिन एक-दो बातें गौर से देखने की हैं। एक तो ये चीजें आठ-दस दिन पहिले ही कार्यक्रम में शामिल की गयीं। मौलिक आयोजन में ये शामिल नहीं थीं। मेरी पिछली दो चिट्ठियों से जैन समाज ही में जो हलचल पैदा हुई उसके परिणामस्वरूप आयोजकों ने किसी प्रकार लोगों का मुँह बन्द करने के लिए ये चीजें जोड़ दी हैं। यह वास्तविकता को ढाँकने के लिए सुन्दर आवरण मात्र है। तुम देखोगे कि नाममात्र को इन चीजों में कुछ छोटी-सी रकम लगा दी जायगी और शेष का दुरुपयोग होगा। यदि इन लोगों में वास्तव में सत्य है और समाजहित की चिन्ता है तो वे एक बहुत साधारण आयोजन, अधिक-से-अधिक एक हजार रुपये के खर्च में करके मूर्ति की प्रतिष्ठा करें और शेष बड़ी रकम समाज-उपयोगी निर्माणकारी कार्यों में लगायें। यह निर्लज्जता की बात होगी कि चारों ओर इस भुखमरी के बीच एक मेला जोड़ें, कड़ाहियाँ चढ़ें, मौज उड़ायी जाय। आदमी के पेट में एक चम्मच घी नहीं जाता और रथ का पहिया घी के पीपे पिये।

मुझे मालूम है कि इस समाज के भीतर अधिकांश लोग इस आडम्बर के विरुद्ध हैं। यहाँ तक कि वृद्ध, पुरुष और स्त्रियाँ तक, जो अन्धविश्वासिनी कही जाती हैं, इसे नापसन्द करते हैं, परन्तु संकोच के कारण कोई बोलता नहीं है। एक व्यर्थ संकोच के नीचे इस प्रकार सत्य दबा जा रहा है।

स्पष्ट रूप से इस आयोजन के ये प्रयोग हैं : (1) कुछ अन्धविश्वासियों की दृष्टि, (2) मेला निर्माण करनेवाले कुछ लोगों की जेबगर्मी और कुछ लोगों के द्वारा इस धन के पूर में से अपने-अपने घड़े भरे जायेंगे। ये लोग ही सेठजी को हवा भरे जा रहे हैं, (3) सेठजी की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा-लोलुपता की तुष्टि।

आयुष्मान ! धर्म के मूल सिद्धान्तों से किसी का विरोध नहीं। जैनधर्म और भगवान महावीर के प्रति मेरे मन में श्रद्धा है। बौद्ध और जैनधर्म तो हिन्दू धर्म में बढ़ते हुए पाखण्ड और कर्मकाण्ड के विरुद्ध विद्रोह के रूप में प्रकट हुए थे। उन्होंने समाज के बढ़ते हुए भेद और वैषम्य को पाटा था। मनुष्य मात्र को गले लगाया था। सत्य, दया, त्याग और करुणा पर एक विराट मानवधर्म आधारित किया था। पर इस विडम्बना को देखो कि उन्हीं के नाम पर ठीक उनके विपरीत कार्य होने लगा है।

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-16*

आयुष्मान,

तुम्हारा देश बड़ा विचित्र है। तुम किसी भी बात पर झगड़ा आरम्भ कर देते हो। पहिले तुम मन्दिर और मस्जिद पर लड़ते थे, चोटीवाला दाढ़ीवाले से लड़ जाता था। आखिर तुमने मुल्क के दो हिस्से कराके दम लिया।

अब स्वतन्त्रता के बाद क्या करें? झगड़ाप्रिय जाति को कोई न कोई कारण उलझने को चाहिए। तुम्हारी हालत उस झगड़ालू लोमड़ी की तरह है, जो जान-बूझकर कारण ढूँढ़ती थी। एक दिन सबेरे उसे झगड़ने को नहीं मिला, तो दोपहर को वह अपनी एक साथिन सीधी लोमड़ी के पास जाकर बोली, "आ बहिन, हम झगड़ें!" सीधी लोमड़ी बोली, "क्यों झगड़ें? कोई बात तो हो।" झगड़ैल लोमड़ी ने कहा, "देख वह सामने जो पेड़ खड़ा है उसी पर हम लोग झगड़ा करें। मैं कहूँगी कि वह पेड़ मेरा है; तू कहना कि नहीं, मेरा है। बस, झगड़ा शुरू हो जायगा। अच्छा, रेडी!" सीधी लोमड़ी तैयार हो गयी। झगड़ैल लोमड़ी बोली, "ए लोमड़ी की बच्ची, वह पेड़ मेरा है।" वह प्रत्युत्तर के लिए रुकी। सीधी लोमड़ी शान्ति से बोली, "बहिन, तेरा है, तो तू ही ले जा।" झगड़ालू लोमड़ी बड़ी खीझी और यह कहती चली गयी कि बेवकूफ, तुम्हें तो झगड़ना तक नही आता।

तुम्हारे यहाँ अनेक लोगों की हालत झगड़ालू लोमड़ी-सरीखी है, पर सीधी लोमड़ी-सा कोई नहीं है, इसलिए झगड़ा बढ़ता ही जाता है।

तुम्हारी भाषा का ही मामला लो। स्वतन्त्रता के पहिले तुम लोग राष्ट्रभाषा की जय बोलते थे। अंग्रेजी को निकाल फेंकने को कटिबद्ध थे। स्वतन्त्रता मिल गयी, तो अब भाषा के मामले पर लड़ने लगे। शायद ही किसी देश में कभी भाषा को लेकर ऐसी खून-खराबी और आन्दोलन हुए हों।

पंजाब में हिन्दी और पंजाबी का सीधा संघर्ष होने लगा। झगड़ालू लोमड़ियाँ तुम्हारे देश में कौन हैं यह तुम पहिचानो। पहिले ये हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता के रूप में थीं और अब जातिवाद के रूप में हैं। पंजाब में हिन्दी की लड़ाई हिन्दू सम्प्रदायवादी लड़ रहे हैं और पंजाबी की पंजाबी सम्प्रदायवादी। दोनों वर्गों के राजनीतिक स्वार्थों की टक्कर में बेचारी हिन्दी पिसी जा रही है।

और अब दक्षिण में राजगोपालाचारी और मुदलियार जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति कहते हैं कि भारत की राजभाषा अंग्रेजी होनी चाहिए, हिन्दी नहीं। अजब तर्क देते हैं। कहते हैं कि हिन्दी के राजभाषा होने से देश में विघटन की क्रिया आरम्भ हो

* परिवर्तन, 26 दिसम्बर, 1957

जायगी। याने हिन्दी होने से तमिल-तेलगू आदि क्षेत्र अपने को पृथक अनुभव करेंगे, क्योंकि हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं। उनसे पूछो कि क्या अंग्रेजी उनकी मातृभाषा है? अंग्रेजी को तमिल-तेलगू के माथे पर लादने के शौकीन वे क्यों हैं? विदेशी भाषा से यह लगाव क्यों है?

बात यह है आयुष्मान, कि भाषा के मामले में तुम्हारी नीति ही गलत रही है। तुमने हिन्दी को राजभाषा बना दिया, यह तो ठीक किया। पर उसको यह भार सहने योग्य बनाने का काम मिला हिन्दी-विरोधी मौलाना साहब को। परिणाम हुआ ढीलेपोल! पण्डित नेहरू स्वयं भी तो हिन्दी को कोई अच्छी नजरों से नहीं देखते। वे जोश मलीहाबादी को ही शायद एकमात्र कवि मानते थे। अब पता नहीं। दूसरी ओर तुम्हारे हिन्दी के ढोल पीटनेवाले हैं। ये समझते हैं कि हल्ला-गुल्ला करने से भाषा का प्रचार हो जाता है। ये 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' के वजन पर 'हिन्दी जिन्दाबाद' के नारे लगते हैं। संविधान में हिन्दी को राजभाषा का पद मिलते ही ये बौखला गये और समझे कि अब तो सब भाषाओं को कब्जे में कर लेंगे। इन्होंने बड़ी धमकियाँ दी हैं। दर्पोक्तियाँ बकी हैं। फलत: अन्य भाषा-भाषी सशंकित हो गये; चिढ़ गये। वे डरे कि उनकी मातृभाषा नष्ट न हो जाय। अंग्रेजी ने राजभाषा होते हुए भी प्रादेशिक भाषाओं का विकास नहीं रोका, पर हिन्दी से उन्हें यह डर लगा। इसलिए उन्होंने अंग्रेजी की आवाज बुलन्द की। राजगोपालाचारी-सरीखे आदमी ने जिन्दगी का मिशन बना लिया है हिन्दी-विरोध को। और जिस विघटन का डर वे बताते हैं वह उन्हीं के इस रुख से हो रहा है।

क्या हिन्दीवाले, प्रादेशिक भाषाओं को यह भरोसा नहीं दिला सकते कि उन भाषाओं का विकास नहीं रुकेगा, कि किसी भी भूभाग में वहाँ की भाषा ही प्रधान होगी, कि हिन्दी साम्राज्यवादी-जैसी कोई चीज नहीं है।

मजा यह है कि भाषा की समस्या को भी नेता लोग हल कर रहे हैं। तुम्हारे यहाँ फायरिंग से लेकर मन्दिर का उद्घाटन तक—सब नेता ही करते हैं। जो हिन्दी-नेता बड़ी बुलन्दी से हिन्दी की जय बोलते हैं, वे उसकी समृद्धि के लिए क्या करते हैं? वे क्यों नहीं हिन्दी की पुस्तकों को व्यवस्थित रूप से अन्य भाषाओं में अनुवाद कराते, जिससे लोग यह कहना छोड़ें कि हिन्दी में है ही क्या? दक्षिणवालों को तुम्हें आश्वस्त करना होगा। हिन्दी का 'मिशनरी स्पिरिट' में विकास करना होगा। वरना तुम लोग यह करोगे—

हिन्दीवाला तमिलवाले की खोपड़ी फोड़ेगा, बंगालीवाला गुजराती को डण्डे मारेगा।

तुम्हारा
अरस्तू

अरस्तू की चिट्ठी-17*

आयुष्मान,

आज मैं सवेरे से ही बड़ा क्षुब्ध हूँ। बात यह है कि मैं तुम्हारी दुनिया में चिन्तक-लेखक था, इसलिए इस वर्ग के प्रति मेरा एक प्रकार से बन्धुत्व है। आज प्रातःकाल एकाएक नारदजी आ पहुँचे और बोले, 'भारत में राजाश्रय की बड़ी परम्परा थी। अभी-अभी तक रही है। अब प्रजातन्त्र के नये राजा हो गये हैं, इसलिए रेडियो की अफसरी और क्लास वन की नौकरियों के रूप में राज्याश्रय मिलने लगा है। इस देश में ऐसा ही होता आया है—बड़े से बड़े मस्तिष्क को राजसत्ता खरीदती रही है। द्रोणाचार्य-सरीखे शस्त्र और शास्त्र मर्मज्ञ को दुर्योधन ने ऐसा खरीदा कि महाभारत में द्रोणाचार्य दुर्योधन की ओर से लड़े—यह जानते हुए कि उसका पक्ष अन्याय का पक्ष है। इसके बाद तो राजाओं ने पहलवानों और विद्वानों को पालने की परम्परा ही डाल ली। पटियाला नरेश के यहाँ पहलवान थे, तो ओरछा नरेश के यहाँ कवि। कितने राजाओं ने कवियों को रखा था। राजा शिवसिंह के यहाँ विद्यापति; छत्रसाल के यहाँ भूषण, हर्ष के यहाँ बाणभट्ट। यह कुछ अच्छा नहीं था। मगर फिर भी ये गुणों की कद्र करते थे। बिना माँगे देते थे। मगर इस परम्परा की अन्तिम कड़ी—खैरागढ़ राज्य परिवार ने एक विद्वान को निचोड़कर फेंक दिया!'

आयुष्मान, तब उन्होंने मुझे तुम्हारे ही प्रदेश के एक श्रेष्ठ लेखक पदुमलाल बख्शी की बात सुनायी। तुम सब जानते हो कि उन्होंने 20 वर्षों तक खैरागढ़ की रानी की ओर से राजा की सेवा की; उनके बच्चों को पढ़ाया, उनके भाषण लिखे, उनकी ओर से लिखे, उनकी ओर से राजनैतिक प्रचार भी किया। यहाँ तक कि एक निबन्ध-संग्रह इस नोट के साथ प्रकाशित कराया कि रानी से वार्तालाप के समय प्राप्त विचारों पर ये आधारित हैं। सोच सकते हो आयुष्मान, कि सब रानी ऐसी कहाँ कि चिन्तनशीला होंगी कि उनके प्रवचनों से निबन्ध बनने लगें। और अब एक और गजब हो रहा है—राजा साहब की आत्मकथा बख्शीजी लिख रहे हैं। आत्मकथा, और दूसरा आदमी लिखे? सत्य कहता हूँ आयुष्मान, मुझे तुम्हारे इस बख्शीजी पर बड़ा क्रोध आया। प्रतिभा और ज्ञान क्या इस प्रकार राजाओं को बेच देने की चीजें हैं।

आखिर उन्होंने इस हद तक यह सब क्यों किया? तुम्हारे यहाँ राज्याश्रय को लात मारने की परम्परा भी बड़ी जबरदस्त है। तुलसीदास ने यों कहकर राज्याश्रय को लात मारी थी—

* परिवर्तन, 15 सितम्बर, 1958

हम चाकर रघुवीर के, पटौ लिखौ दरबार।
अब तुलसी का होहिंगे, नर के मनसबदार ॥

कबीर कपड़े बुनकर गाता था—

मन लागा यार फकीरी में !

सूरदास ने किसी का सहारा नहीं लिया ! लेखक का, चित्रकार का, राजाश्रय में जाना दर्दनाक बात है। मेरे बुजुर्ग सुकरात ने आखिर जहर का प्याला पी लिया था, मगर सत्य को नहीं छोड़ा था। और तुम जानते ही हो कि अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ के राजपक्ष में चले जाने पर टेनीसन ने लिखा था कि चन्द चाँदी के टुकड़ों पर वह बिक गया। राबर्ट सदे के राजकवि होने पर बायरन ने बड़ी लताड़ दी थी—'सदे, तुम आखिर बन्दी पक्षियों के पिंजड़े में चले ही गये, राजा के इशारे पर चहकने के लिए।' तो यह दर्दनाक बात होती है आयुष्मान—विचार और कला का बन्धन में पड़ना ! मगर इससे भी काला पक्ष है—आश्रयदाता की अहसानफरामोशी, कृतघ्नता। तुम्हारे बख्शीजी के साथ यही हुआ। सुना है, उन्हें दो साल का वेतन नहीं मिला और जो मकान उन्हें दिया गया था, वह छीन लिया गया। इसका कारण भी नारद ने बड़ा विचित्र बतलाया। राजा और रानी परस्पर दुश्मन हैं। जिस पर राजा की कृपा हो जाय, उसकी रानी दुश्मन। इस समय बख्शीजी पर राजा की कृपा है, इसलिए रानी विरोध में है। अजीब स्थिति है—मियाँ-बीबी के झगड़े में बेचारे एक लेखक का नाश हो रहा है।

आयुष्मान, यहाँ महाराज छत्रसाल भी हैं, राजा शिवसिंह भी, ओरछा नरेश भी, रींवा नरेश भी। ये सब आश्रयदाता थे। महाराज छत्रसाल ने तो कवि भूषण की पालकी भी उठायी थी। भूषण ने कहा भी है—

साहू को सराहौं कै, सराहौं छत्रसाल को।

राजा शिवसिंह ने कहा कि मैं विद्यापति को देवता की तरह मानता था। ये सब तुम्हारे इन राजा-रानी को धिक्कार उच्चारते हैं। कहने लगे, 'कुछ हजार रुपयों के कारण और संकीर्ण कौटुम्बिक तथा दलगत भावना के कारण वे राजवंश के लोग, परम्परागत उदारता और सहृदयता को कलंकित कर रहे हैं।'

आयुष्मान, तुम्हारे युग में महाजनी सभ्यता के कारण आदमी दो कारणों से देता है—बदले के लालच से या भय से। पुलिस, एक्साईज या इन्कमटैक्स के इन्स्पेक्टर की एक डाँट पर बड़ा से बड़ा तीरंदाज धनिक चाहे जितना उगल देता है। और देने से कोई बड़ा नेता खुश हो जाय, और बाद में स्वार्थ सिद्ध हो सके, तो भी दान दिया जाता है। तुम्हारे यहाँ की उन रानी साहिबा ने 'इन्दिरा संगीत विद्यालय' खुलवाकर उसका उद्घाटन इन्दिरा गाँधी से करवाकर, प्रधानमन्त्री की कृपा प्राप्त कर ली है। सीधा इन्दिरा और जवाहरलाल से उनका सम्पर्क है। अतएव अब बाकी किसी की भी परवाह उन्हें है नहीं। और लेखक की क्यों होगी? लेखक, न उन्हें मन्त्रिपद दे सकता है, न पदच्युत कर सकता है, न चुनाव जिता सकता है। इसलिए ये सब लोग लेखकों को बिल्कुल तत्वहीन, निर्बल,

निरीह, दब्बू प्राणी मानते हैं। इसलिए उसका मनमाना शोषण करते हैं।

पर क्या तुम लोग सहनेवाले हो ? क्या तुम इस गयी-बीती धारणा को पुख्ता करोगे ? तुम्हारे साहित्यिक लोग क्या चुपचाप एक निरपराध विद्वान लेखक का वध देखा करेंगे ?

मेरा खयाल है, यही अवसर है जब तुम लोग अपने सत्व को सिद्ध कर सकते हो। संघर्ष के अनेक द्वार खुले हैं। अन्याय के विरुद्ध जिसकी आवाज बुलन्द नहीं होती, वह लेखक या कलाकार नहीं बन सकता। मुझे उम्मीद है, तुल लोग अब आलस्य त्यागोगे।

तुम्हारा
अरस्तू

सन् 1974 से 1976 तक परसाईजी ने 'सारिका' में एक स्तम्भ लिखा—'कबिरा खड़ा बजार में।' इसमें देश-विदेश के प्रमुख व्यक्तियों से कबीर का काल्पनिक साक्षात्कार होता था।

जून 1975 में आपातकाल लगा और जून अंक में ही कबीर का साक्षात्कार बाबू जगजीवनराम से था, जिसमें बाबूजी ने कबीर से कहा था—'अगर जयप्रकाश नारायण का (सरकार बनाना) पक्का हो जाय तो मैं उनकी तरफ चला जाऊँ।' सेंसरवालों ने इस अंक की दुर्गति कर दी। आधे पन्ने काले करना पड़े। आगे हैं इस स्तम्भ की 17 किस्तें। जगजीवनराम आगे इन्दिरा कांग्रेस छोड़ जयप्रकाश से मिल गये थे।

—सम्पादक-मण्डल

कबिरा खड़ा बजार में

काल्पनिक भेंट

चिली के तानाशाह पिनोशे से भेंट

मेरे मित्र कमलेश्वर के आग्रह पर मैं स्तम्भ शुरू कर रहा हूँ। मैं बहुत व्यंग्य लिखता हूँ। काफी व्यंग्य मैं उपनाम से लिखता हूँ। हरिशंकर परसाई तो सबसे मिल नहीं सकता, पर 'कबीर' और 'आदम' मिल सकते हैं। इसीलिए मैंने स्तम्भ का नाम रखा है--'कबिरा खड़ा बजार में।'

कबीर क्रान्तिकारी कवि था। उसने कहा था—

तू बाम्हन बम्हनी का जाया
आन द्वार काहे नहिं आया।
तू है तुरक तुरकनी जाया
भीतर खतन क्यों न कराया।

तो कबीर ही लोगों से मिलेगा। बात करेगा। आकर कहेगा—

'कौन ठगवा नगरवा लूटल हो!'

मुझे पहले जगन्नाथ काका मिल जाते थे। वह बातें करते थे, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय। उनकी मौत हो गयी।

अब यह एक कनछेदी लाल है, हालाँकि इसके कानों में छेद नहीं है। इस देश में यही है—गरीबमल करोड़पति हैं और मायाराम गरीब।

तो कबीर चिली गया—

एलेन्दे मार डाले गये थे।

मैंने फौजी राष्ट्रपति से भेंट करनी चाही। मैंने चिट पर लिख भेजा—कबीर वाण्ट्स टू मीट विद यू! (कबीर आपसे मिलना चाहता है।)

एक अफसर आया। कहने लगा—हू इज दिस कबीर? वी डू नाट मीट रास्कल्स! (यह कबीर कौन है? हम बदमाशों से नहीं मिलना चाहते।)

मैंने कहा—कबीर बदमाश था पर बदमाश आप भी हैं, जो जनतान्त्रिक सरकार को नष्ट करके सत्ता पर हावी हो गये हैं।

अफसर ने पूछा—यह कबीर कौन था? कहाँ का था?

मैंने कहा—कबीर कवि था। भारत का था।

उसने कहा—ओ, अ पोएट! ही मस्ट हैव बीन लाइक पैब्लो नेरूदा। वी

आर आफ्रेड ऑफ पोएट्स। देअर वाज ए रास्कल इन टर्की—नाज़िम हिकमत। ही इज डैड। (अरे कवि! हम कवियों से बहुत डरते हैं। एक बदमाश कवि था तुर्की में नाज़िम हिकमत। वह मर गया। अच्छा हुआ।)

मैंने कहा—मेहरबानी करके मेरी नये फौजी राष्ट्रपति से भेंट करा दो।

अफसर मुझे भीतर ले गया। फौजी तमगे लगाये नये राष्ट्रपति बोले—बैठ जाओ। तुम भारत से आये हो। भारत देश तो महान है, पर तुम्हारी प्रधानमन्त्री हमारी क्रान्ति के खिलाफ क्यों बोल रही हैं?

मैंने कहा—यह क्या आपने क्रान्ति की है?

राष्ट्रपति ने कहा—बिल्कुल क्रान्ति की है, मगर यह 'कॉपर क्रान्ति' है।

मैंने कहा—जैसे अरब देशों में 'तेल क्रान्ति' होती है?

राष्ट्रपति बोले—बिल्कुल ठीक। ऐसी ही क्रान्ति है।

मैंने कहा—यह क्रान्ति किसने करवायी?

राष्ट्रपति बोले—डॉलर ने।

मैंने कहा—अमेरिका के पास डॉलर तो हैं पर सोना नहीं है। अफ्रीका का सारा सोना स्विट्जरलैण्ड के मार्फत यूरोप के काला बाजार में बिकता है। अब तो भिखारी भी तख्ती लगाता है—'डॉलर्स नॉट एक्सेप्टेड' (डालर नहीं लिया जायेगा।) जब भिखारी भी डालर नहीं लेता, तो फिर डॉलर ने चिली में क्रान्ति कैसे करवा दी?

राष्ट्रपति बोले—हॉट आर्म्स (गरम हथियार) और षड्यन्त्र सी. आई. ए. का। तुम्हारा भुट्टो भी तो गरम हथियारों के लिए निक्सन के पाँव पकड़ता है!

मैंने कहा—पर निक्सन खुद कहते हैं कि हमारा कोई हाथ चिली की घटना में नहीं है।

फौजी राष्ट्रपति बोले—दी वूमन प्रोटेस्ट्स टू मच। (यह औरत बहुत ज्यादा विरोध करती है।) यह औरत की आदत है। जब 'नहीं' कहती है, तब इसका अर्थ 'हाँ' होता है। पूरे लेटिन अमेरिका पर, इस विरोध करनेवाली औरत पर, अमेरिकी साम्राज्यवाद कब्जा करेगा। हम करवायेंगे।

कबीर ने कहा—नेरूदा से मुलाकात हो सकेगी?

राष्ट्रपति बोले—वह तो मर गये।

मैंने पूछा—मर गये या मार डाले गये?

राष्ट्रपति ने कहा—कुछ भी समझो, पर उनकी आत्मा हमने एक शीशी में बन्द कर रखी है। तुम चाहो तो बात कर लो।

मैंने कहा—नेरूदा मार्क्सवादी था। मार्क्सवादी शरीर के बाहर आत्मा नहीं मानता। फिर यह आत्मा?

राष्ट्रपति बोले—यही तो हमारा कमाल है। हम मार्क्सवादी की आत्मा भी शीशी में बन्द कर लेते हैं।

मैं शीशी के पास गया। मैंने कहा—नेरूदा, यह कबीरदास है।

शीशी से नेरूदा की आत्मा बोली—अरे कबीरदास ? तुम तो पाँच सौ साल पहले मर गये थे। मैंने रवीन्द्रनाथ का तुम्हारी 100 कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ा है। तुमने क्या फिर जन्म ले लिया ?

मैंने कहा—हाँ। क्या कहना है, आपको ?

नेरूदा की आत्मा शीशी से बोली—अब क्या कहना है ? मैं पहले ही कह चुका—

सोमवार मंगलवार से जुड़ा है
और सप्ताह पूरे साल से
काल को काटना असम्भव है
तुम्हारी कैंचियों से
और दिन के सारे नाम
घुल जाते हैं, रात के जल में।

× × ×

समय अपने जूते खो चुका है
एक साल चार शताब्दियों-जैसा होता है।

नेरूदा की आत्मा चुप हो गयी। मैंने कहा—और क्या कहना है ? मैं कबीरदास हूँ।

नेरूदा की आत्मा बोली—मैं कैंसर से नहीं मरा। मेरी हत्या की गयी है। आत्महत्या करता तो पिशाच हो जाता। पिशाच मैं होना नहीं चाहता था। मेरा दोस्त एलेन्दे भी पिशाच नहीं होना चाहता था। और मैं क्या कहूँ—

लकड़बग्घे ! हमारे इतिहास के गन्दे चूहे
तुम कुतर रहे हो उन झण्डों को जो हम जीतकर लाये थे।

और फिर नेरूदा ने कबीर से अन्त में कहा—मैंने लिखा है—

कमजोर तानाशाह बात कर रहा है नर्क से
सुनहरे फीते, पट्टे, बैज लगाकर।

कबीर ने कहा—नेरूदा, बात हो चुकी। वॉल्तेयर ने जीवन-भर ईसाइयत के पाखण्ड का विरोध किया। 99 साल की उम्र में जब वॉल्तेयर मर रहा था, तो पादरी आये। कहने लगे—हम आपकी आत्मा की शान्ति की प्रार्थना करने आये हैं। वॉल्तेयर ने कहा—मेरी आत्मा बिल्कुल ठीक है, तुम अपनी आत्मा की चिन्ता करो। पर तुम आये किसकी तरफ से ? पादरी बोले—हम तो ईश्वर की तरफ से आये हैं। वॉल्तेयर ने कहा—तो फिर मुझे ईश्वर की चिट्ठी दिखाओ कि मैं इन्हें वॉल्तेयर के पास भेज रहा हूँ। पादरी लौट गये। वॉल्तेयर मर गया। पेरिस के किसी कब्रगाह में उसे दफना नहीं सके। पेरिस से 40 मील दूर एक कस्बे के पादरी ने कहा—धर्म के पाखण्डी नियम महान प्रतिमाओं के लिए नहीं होते। वॉल्तेयर को मैं दफन करता हूँ।

नेरूदा की आत्मा बोली—कबीरदास, तुमने सच कहा। हम सब शहीद होते

रहे हैं। मैं भी हो गया। तुम मेरे लिए परेशान क्यों हो ?

मैंने कहा—कोई चिन्ता की बात नहीं है। एक ऐतिहासिक 'नियति' होती है। मैंने पूर्वजन्म में कहा था—

मन फूला-फूला फिरे
जगत में कैसा नाता रे !

लौटा तो वही कनछेदीलाल मिल गये।

कहने लगे—गुरु, बहुत दिन बाद लौटे। क्या चिली हो आये ? नये राष्ट्रपात से भेंट हुई ?

मैंने कहा—हुई। पर मैं थका हूँ, आराम करूँगा। कनछेदीलाल कहने लगे—गुरु, कुछ तो कह दो।

मैंने कहा—जाते समय मैंने कहा था—कौन ठगवा नगरवा लूटल हो !

मैंने ठग को पकड़ लिया।

पर अब मैं यही कह सकता हूँ—

कहत कबीर सुनो भई साधो
सारी दुनिया झूठल हो !

पर कनछेदीलाल, जिनके कान में छेद नहीं है, और जो शायद दूसरे के कान में छेद करते हैं, कहने लगे—गुरु, चावल के राष्ट्रीयकरण की बात चल रही है। कई मुख्यमन्त्री विरोध कर रहे हैं। देश लौट आये हो, तो इन्दिराजी से बात कर लो।

मैंने कहा—कनछेदीलाल, दो-तीन दिन बाद कबीर इन्दिराजी से मिलेगा। मगर तुम तलाश करो—कौन ठगवा नगरवा लूटल हो ?

और तुम यह भी समझो—

चली कुलबोरन गंगा नहाय के
खसम के माथे पे सूपा धराय के
पाँच-पचीस के धक्का खाय के
चली कुलबोरन गंगा नहाय के।

कनछेदी, यह क्या कुलबोरन धर्म इस देश में चल रहा है ?

कनछेदी चुप हो गये।

फिर बोले—गुरु, आगे मैं चावल के राष्ट्रीयकरण पर पूछूंगा। इस बीच आप प्रधानमन्त्री से मिल आइए।

मैंने कहा—ठीक है, कनछेदीजी। 'सारिका' के अगले अंक में तुम पढ़ लेना। पर कान तो छिदवा लो।

कनछेदी बोले—गुरु, कान बचपन में छिदवाये जाते हैं। पर जमाना ऐसा आ गया है कि मुझे 50 साल की उम्र में कान छिदवाना पड़ेगा। यह भी मैं कर लूंगा।

इन्दिरा गाँधी से भेंट

कबीरदास ने सोचा कि गुजरात का खून सूखा नहीं है और इधर बिहार में गीला खून बह रहा है। आगे महाराष्ट्र में, उत्तरप्रदेश में कहीं भी खून बह सकता है। इधर खाने की चीजों की 'हाय-हाय' मची ही है। कबीर ने सोचा कि इस बार प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी से ही मिल लें।

घर से निकला तो चमचमाता सूट पहने हुए था। कनछेदीलाल ने टोका—अरे कबीरदास, आज तो तुम आई. ए. एस. लग रहे हो, या किसी राहत कार्य के ओवरसियर मालूम होते हो!

मैंने कहा—प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी से मिलने जा रहा हूँ। पाँच सौ साल पुराने कपड़े पहनकर जाता तो मुझे चपरासी दो चाँटे मारकर पुलिस के हवाले कर देता। पर, कनछेदीलाल, यह तो बताओ कि तुम घण्टे-भर से दाँत क्यों खोद रहे हो?

कनछेदीलाल ने कहा—देखो कबीर, बात यह है कि आज दोपहर को भरपेट भोजन किया। सोचा कि जी-भरकर दाँत खोद लेना चाहिए। अनाज की जो हालत तुम देख रहे हो, तो ऐसा समय आ सकता है, जब दाँत खोदने की जरूरत ही न पड़े।

मैं कनछेदीलाल की बात से चकित रह गया। मैंने कहा—कनछेदी, तुमने कान के बदले दिमाग छिदवा लिया है! ऐसी बातें करते हो। इतने निराश क्यों हो? केन्द्र राज्यों को विदेशों से मँगवाकर भी अनाज देता है। प्रदेश की सरकार जिलों को भेजती है। जिले का अधिकारी अनाज के अधिकारी को देता है। वह अपने नीचे के अधिकारी को देता है। फिर वह अनाज सहकारी दूकानों और सरकारी दूकानों में जाता है। वहाँ से जनता को मिलता है। इतने अधिकारी इसमें लगे हैं कि जनता को अनाज मिलेगा ही।

कनछेदीलाल ने कहा—पकड़ यहीं पर है। इतने अधिकारी एक के ऊपर एक इस काम में न लगे होते तो जनता को खूब अनाज मिल जाता।

मैं समझा नहीं तो कनछेदीलाल ने कहा कि मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ—एक राजा को भाँग खाने की आदत थी। वह शाम को भाँग का एक बड़ा गोला खाता। अपने खास नौकर को उसने आदेश दे रखा था कि मैं तो नशे में रहूँगा, तुम मुझे रात को हर दिन एक पाव मलाई खिलाया करना। नौकर ने सोचा कि राजा तो नशे में है, तो आधा पाव खुद खा लेता और आधा पाव राजा के मुँह में डाल देता। कुछ दिनों बाद राजा को लगा कि मुझे पूरी मलाई नहीं मिलती और यह नौकर भ्रष्टाचार करता है। उसने उस नौकर पर निगरानी के लिए एक नौकर और रख दिया। वे दोनों एक हो गये। पौन पाव मलाई दोनों खा जाते और एक छटाँक राजा को खिला देते। कुछ दिनों बाद राजा को फिर शक हुआ कि दोनों

बेईमानी करते हैं और उसने तीसरा आदमी उन पर निगरानी के लिए रख दिया। अब राजा को कुल आधा छटाँक मलाई मिलने लगी। बाकी वे तीनों नौकर खा जाते। राजा ने इस भ्रष्टाचार को रोकने के लिए पाँचवाँ और फिर छठा नौकर रखा। इन लोगों ने सोचा कि यह तो नशे में रहता है, इसलिए थोड़ी-सी मलाई उसकी मूँछों पर चुपड़कर बाकी मलाई वे लोग बाँट खाते। यही हो रहा है। जनता की मूँछ पर मलाई लगायी जा रही है और सारी मलाई बीच के लोग खा रहे हैं। तुम यह कहानी इन्दिरा गाँधी को जरूर सुना देना।

बड़ी मुश्किल से कबीरदास इन्दिरा गाँधी के कमरे में पहुँचा। उन्होंने कहा—वैसे मैं बहुत व्यस्त हूँ। कुछ घण्टों बाद मुझे एक विदेशी मेहमान का स्वागत करना है। पर तुम मुझे वह कबीरदास तो नहीं लगते। वह जुलाहा था और तुम चमचमाता सूट पहनकर शायद टैक्सी में आये हो। तुम कैसे कबीरदास हो!

मैंने जवाब दिया—यह मत समझिए कि माया ने मुझे ठग लिया है या 'रमैया की दुलहन' ने मेरा बाजार लूट लिया। मैं वही कबीरदास हूँ, लेकिन शताब्दी बीस का हूँ। स्वभाव से वही हूँ। मैं सबसे पहले आपको बधाई देना चाहता हूँ कि फूड कॉरपोरेशन के अध्यक्ष पर भ्रष्टाचार का मुकदमा चल रहा है। नीचे के लोगों के बारे में भगवान ही जानता होगा, पर इसी एक मामले से अपने राज्य-व्यापार, राष्ट्रीयकरण और अनाज-वसूली के कार्य की सफलता सिद्ध होती है।

इन्दिराजी थोड़ी देर उदास-सी रहीं। सन्त होने के कारण उन्होंने मुझे डाँटकर नहीं भगाया।

वह कहने लगीं कि हम पूरी सावधानी बरतते हैं। हमारे पास भ्रष्टाचार-विरोधी विभाग है, सी. बी. आई. है, निगरानी आयोग है। ये तो इक्का-दुक्का मामले हैं। होते ही हैं।

कबीर ने कहा—आप बुरा न मानें। मुझे अभी रेलगाड़ी में एक आदमी मिला। मैंने पूछा कि किस विभाग में काम करते हो? उसने जवाब दिया—मैं भ्रष्टाचार-विरोधी विभाग के 'भ्रष्टाचार सेक्शन' का अधिकारी हूँ।

इन्दिराजी परेशानी में पड़ गयीं। कहने लगीं—ऐसा भी होता है। मैंने यह तो सुना था कि निगरानी आयोग का अधिकारी भ्रष्टाचारियों से निगरानी के पैसे ले लेता है।

मैंने उनके मन को खुश करने के लिए कहा—एक कनछेदीलाल है। उसने मुझे अभी एक कहानी सुनायी है। आपको सुनाता हूँ। और मैंने राजा की मलाई की कहानी सुना दी। वह पहले तो खूब हँसीं, फिर गम्भीर हो गयीं। कहने लगीं—क्या सरकार की मूँछ पर मलाई लगा दी जाती है, मलाई बाकी लोग खा जाते हैं?

मैंने कहा—इस कहानी का अर्थ यह है कि सरकारें भाँग के नशे में पड़ी रहती हैं। जनता की मलाई को बीच के लोग खा जाते हैं। आप किस देश के राष्ट्रपति

का स्वागत करने जायेंगी ?

इन्दिराजी बोलीं —हिन्द महासागर में एक नया द्वीप मिला है, जिसकी आबादी करीब बीस हजार है। इस द्वीप का नाम हमने 'बीमारी द्वीप' रख दिया है। इसका राष्ट्रपति आनेवाला है।

मैंने कहा—आप पालम क्यों जायेंगी ? बीस हजार की आबादीवाले द्वीप के पास हवाई जहाज तो होगा नहीं। राष्ट्रपति तो तैरकर आ सकता है। और बम्बई में आप इसका स्वागत करतीं।

इन्दिराजी ने कहा—नहीं, हमने उनके लिए हेलीकॉप्टर भेज दिया है, और अच्छे कपड़े भी भेज दिये हैं।

मैंने कहा—आपका स्वभाव ही यह है कि आप अनाथ बच्चों को पाल लेती हैं। एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के कितने ही अनाथ बच्चे आपने पाल रखे हैं।

उन्होंने कहा—नहीं, बात यह है कि इस द्वीप में गुलाल का बड़ा भारी भण्डार है और हमारे यहाँ होली पर गुलाल का उपयोग बहुत होता है। हम तो भाई, जिस देश से किसी चीज की जरूरत हो, उसी के राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री को बुला लेते हैं। ताजमहल दिखाते हैं, राष्ट्रपति भवन में भोज देते हैं और सौदा कर लेते हैं।

मैंने कहा—हिन्द महासागर में डायगो द्वीप पर अमेरिका सैनिक अड्डा बना रहा है। तो रूस चुप नहीं बैठेगा।

इन्दिराजी ने कहा—सन्त हो न! राजनीति नहीं समझते। राजनीति की चादर में कई गाँठें होती हैं। रूस ने तो अपने यहाँ एक द्वीप तैयार कर लिया है, जिस पर मिसाइलें भी फिट कर दी गयी हैं। उसे कभी भी रूस हिन्द महासागर में लाकर जमा देगा।

मैंने पूछा—निक्सन के बारे में आपका क्या खयाल है ?

इन्दिराजी ने कहा—निक्सन के आचरण से हम लोगों को नैतिक बल मिलता है। महाभियोग की परम्परा शुरू हो गयी, और राष्ट्रपति पद छूटने लगे तो इसी देश के कुछ लोग माँग करेंगे कि राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जाये, क्योंकि वह चावल खाते हैं।

कबीरदास खूब जोर से हँसा।

इन्दिराजी ने कहा—इसमें हँसने की क्या बात है ?

मैंने कहा—मैं इसलिए हँसा कि आप वाटरगेट काण्ड और चावल को एक ही समझती हैं।

इन्दिराजी ने कहा—देखो सन्त, तुम्हारा क्या है! तुम तो भीख माँग लेते हो। तुम माया के जाल में नहीं हो, पर हमारे मन्त्रियों को तो माया जोड़ना है और पद पर बने रहना है।

कबीर ने कहा—ये जो इतने प्रदेशों के हजारों विधायक हैं, इन्हें आप यह काम क्यों नहीं सौंपतीं कि वे जनता तक खाने की चीजें पहुँचायें और वितरण-

व्यवस्था को ठीक रखें !

इन्दिराजी ने कहा—तुम चादर बुनते थे, और हम राजनीति बुनते हैं। विधायकों का काम है दो गुटों में बँट जाना और चौबीस घण्टे मन्त्रिमण्डल गिराने और बनाने में लगे रहना। फिर कहीं कोई मुख्यमन्त्री कह दें कि मन्त्रिमण्डल में हेर-फेर होगा, तो विधायकों का काम है दिल्ली की भागदौड़ करना। यह भाग-दौड़ मैं इसलिए करवाती हूँ कि विधायक दिल्ली की सत्ता को मानते रहें।

अब मैंने कहा—चार साल पहले आपने 'गरीबी हटाओ' का नारा दिया था। उसका क्या हाल है ?

इन्दिराजी ने उलटे मुझसे ही पूछा कि कबीरदास तो समाज में घुला-मिला है। वही बताये कि गरीबी हट रही है कि नहीं ?

मैंने कहा—कुछ जगह तो बराबर गरीबी हट रही है। मुनाफाखोर, काला-बाजारिये, घूसखोर, चोर आदि की हट रही है।

इन्दिराजी खुश हुईं और बोलीं—खुशी की बात है कि कम-से-कम एक तबके की गरीबी तो हट रही है।

मैंने कहा—लेकिन 100 में से 95 आदमियों की गरीबी बढ़ रही है। चावल की वसूली आपकी आधी हुई, और गेहूँ की वसूली के मामले में सारे मुख्यमन्त्री अपनी दुम को लँगोट बनाकर भाग गये। आगे आप लोगों को क्या खिलायेंगी ? महँगाई, अभाव, भुखमरी के कारण निराश, क्रोधित जनता हिंसा पर उतर आयी।

इन्दिराजी ने कहा—देश में बढ़ती हुई हिंसा से मैं चिन्तित हूँ। प्रतिक्रियावादी, जो समाजवाद विरोधी हैं, छात्रों को उभाड़कर उनसे सार्वजनिक सम्पत्ति नष्ट करवाते हैं, हिंसा करवाते हैं। ये समाजविरोधी पार्टियाँ पूँजीवादी तानाशाही लाना चाहती हैं।

मैंने कहा— आप ठीक कहती हैं—महँगाई और अभाव से पीड़ित जनता की भावना का उपयोग ये प्रतिक्रियावादी कर रहे हैं। पर मुझे बताइए कि आप अपनी पार्टी को समाजवादी पार्टी कहती हैं, रोज समाजवाद लाने के नारे लगाती हैं, आप क्रान्ति की बात करती हैं। क्रान्ति ये छात्र भी चाहते हैं।

इन्दिराजी ने कहा—मैं जानती हूँ, पर ये छात्र पथभ्रष्ट हो जाते हैं। गलत रास्ते पर चले जाते हैं।

मैंने कहा—बहनजी, उनके सामने रास्ते ही नहीं हैं। जब रास्ते ही नहीं हैं, तो गलत रास्ते पर जाने का सवाल ही नहीं उठता है। आप कहती हैं बार-बार कि छात्र देश के विकास के लिए श्रम करें, पर वे कहाँ श्रम करें ? और कौन-सा श्रम करें ?

बोलीं—देखिए, भला जयप्रकाशजी-जैसे वयोवृद्ध गाँधीवादी, अहिंसावादी नेता बिहार में छात्रों को हिंसा के लिए भड़काते हैं।

मैंने कहा—जयप्रकाशजी मुझे कभी समझ में नहीं आये। 1947 के बाद वह अपने को चिन्तक बनाने में लग गये और अजीब सपने देखने लगे। जब रूसी

अन्तरिक्ष यात्री यूरी गागारिन अन्तरिक्षयान में कुछ घण्टे अन्तरिक्ष में घूमकर लौटा तो 'मनीला टाइम्स' का सम्पादक तर्जी बिटाशी आपके पिताजी पण्डित नेहरू से मिला। पण्डितजी मजाक के मूड में थे। उन्होंने कहा—यह यूरी गागारिन कुछ घण्टे अन्तरिक्ष में घूम आया तो दुनिया में इतना हल्ला मचा हुआ है। हमारे देश में एक आदमी है, जो पिछले सोलह सालों से अन्तरिक्ष में घूम रहा है, और उसका कोई शोर दुनिया में नहीं है। पत्रकार चौंका। उसने कहा—यह तो मुझे भी नहीं मालूम कि आपके यहाँ ऐसा आदमी है। कौन है वह? पण्डित नेहरू ने कहा – उस आदमी का नाम जयप्रकाश नारायण है।

इन्दिराजी बड़ी देर तक हँसती रहीं और बोलीं —पापू जब अच्छे मूड में रहते थे, तब अच्छा मजाक करते थे।

कबीर ने कहा—बात यह है कि चम्बल के डाकुओं ने जयप्रकाशजी का हृदय-परिवर्तन कर दिया है।

मैं चलने के लिए उठा। उन्होंने कहा—कबीरदासजी, अन्त में कुछ कहना है? मैंने कहा—कबीर को बहुत कुछ कहना था और वह कह चुका है। विदा होते समय यही कहता हूँ कि—

कहत कबीर सुनो भई साधो, छोड़ो सबकी आसा रे!

और सुनना है? सुनो – मन्त्रिमण्डल बदल रहे हैं पर आदमी की हालत गिरती जाती है। लाश तो वही है, सिर्फ कफन बदले हैं। यानी कमलापति गये और बहुगुणा आये, तो क्या आदमी को राहत मिलेगी? नहीं मिलेगी, क्योंकि देश को लगभग 'लाश' मान लिया गया है। और आपके ये बदलते हुए मन्त्रिमण्डल केवल कफन हैं। अन्त में मैंने कहा—इन्दिराजी, एक बात मैं भी पूछना चाहता हूँ—आपकी पार्टी में कितने समाजवादी हैं?

इन्दिराजी ने कहा—तीतर के दो आगे तीतर, तीतर के दो पीछे तीतर। बतलाओ कुल कितने तीतर?

कबीरदास ने कहा—कुल तीन तीतर हुए, लेकिन लोग समझते हैं कि पाँच तीतर हैं।

इन्दिराजी ने कहा—आप ठीक कहते हैं।

जयप्रकाश नारायण से भेंट

इस बार कबीर ने सोचा कि जयप्रकाश बाबू से मिल लेना चाहिए। वह एक बार फिर से अखबारों में आ गये हैं और सत्याग्रह वगैरा-वगैरा की बातें करने लगे हैं।

मैं घर से निकला तो देखा कि वही कनछेदीलाल आँगन में जुआर सुखा रहे

थे। मैंने कहा—कनछेदी, जुआर सुखा रहे हो ?

कनछेदी का जवाब था—तुम्हें अनाज की पहचान तक नहीं है ! करघा चलाते थे और कविता कहते जाते थे ! इस कारण दोनों में पूरा मन न लगने के कारण न कविता अच्छी बनती थी, और न कपड़ा अच्छा बुनते थे। इसलिए तुमने कहा है—'झीनी-झीनी बिनी रे चदरिया'। यह चदरिया बिकती नहीं होगी, इसलिए भीख माँगकर खाते होगे। तभी तुम्हें अनाज की पहचान नहीं है। और जहाँ तक कविता का सवाल है, उसमें व्याकरण की बड़ी भूलें हैं। एक विद्वान आचार्य कहते थे कि कबीरदास कवि है ही नहीं।

मैंने कहा—कनछेदी, जड़बुद्धि आचार्यों का यह विशेष गुण है कि वे जड़बुद्धि महान प्रतिभा में कविता नहीं, व्याकरण देखते हैं, जैसे कोई गुलाब के फूल की सुगन्ध का आनन्द न ले, और कहे कि इसमें काँटे हैं। तुलसीदास तो मेरी तरह अपढ़ नहीं थे। विद्वान थे। पर वह कहीं लिखते हैं 'राजा', कहीं 'राजन्' और कहीं 'राजू', और सौन्दर्य-वर्णन के ये हाल कि 'कोटि मनोज लजावन हारे'। अब बताओ कनछेदी, करोड़ों कामदेवों से तुलना करने से कोई सौन्दर्य-चित्र बनता है ? अरे, दस ही कह देते।

कनछेदी ने कहा—छोड़ो इस कविता की बात को ! मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि सरकार ने बड़े बनियों को अनाज की छूट दे दी है तो वे जुआर को गेहूँ कहते हैं और हमें मानना पड़ता है ! पर तुम इस वक्त जा कहाँ रहे हो ?

कबीर ने जवाब दिया—भारतीय राजनीति के उस पुरुष से मिलने जा रहा हूँ, जिसने चदरिया ऐसे जतन से ओढ़ी कि 'जस की तस' धर रहा है—यानी जयप्रकाश नारायण से मिलने जा रहा हूँ।

कनछेदी ने कहा—खतरनाक आदमी के पास जा रहे हो। वह हृदय-परिवर्तन करता है। कहीं उसने तुम्हारा हृदय बदलकर कुत्ते का कर दिया तो रात-दिन मोहल्ले में भौंकोगे और काटोगे।

मैंने कहा—कनछेदी, कबीर भी कम नहीं है। मैंने भी कई हृदय बदले हैं। अभी मैं जयप्रकाश का हृदय बदलकर आता हूँ।

जब मैं जयप्रकाश के पास पहुँचा तो वह अकेले बैठे सिर पकड़कर सोच रहे थे। मैंने अपना परिचय दिया तो वह खुश हुए और बोले—तुम कबीरदास हो ? तुम सन्त हो लेकिन उग्र कवि भी हो। सन्त उग्र नहीं होता। मैंने कहा—होता है। तुम कभी उग्र थे और अब सन्त हो गये हो। कुम्भनदास सन्त थे, पर जब सीकरी अकबर से मिलने गये तो लौटकर उग्रता से कहा—

सन्तन कहा सीकरी सौं काम ?
आवत जात पन्हैयाँ घिस गयी बिसर गयो हरिनाम !

जयप्रकाश ने कहा—मैं कबीर को जानता हूँ। तुमने कई को गिराया है—

ऊँचे वर्ण और ऊँचे वर्ग को, पण्डित, मौलवी, धर्मगुरु, बनिया सबको। क्या तुम पूरे देश के मन्त्रिमण्डलों को नहीं गिरा सकते ?

मैंने कहा—जयप्रकाशजी, आपने क्या गिराने का काम ले लिया है ? इस देश में सब गिरानेवाले हो गये हैं, उठानेवाला कोई नहीं है। आप मुझे गलत समझते हैं। मैंने गिराया नहीं है, उठाया है। फिर मैंने पूछा—क्या आप राजनीति में हैं ?

जयप्रकाश ने कहा— मैं राजनीति में नहीं हूँ।

मैंने कहा—तो आप राजनीति में नहीं हैं ?

वह तपाक से बोले—मैं राजनीति में हूँ।

कबीर ने कहा—आप जीवन-भर 'हाँ' और 'नहीं' में रहे, 'हूँ' और 'नहीं हूँ' में रहे। हमारे जैनेन्द्र की तरह। कभी राजनीति से संन्यास में पहुँच जाते हो और कभी संन्यास से राजनीति में लौट आते हो। कभी असिस्टैन्ट विनोबा हो जाते हो और कभी उन्हें 'सनकी' कहते हो।

जयप्रकाश ने जवाब नहीं दिया। वह उदास हो गये। मैंने मूड को हल्का करने के लिए कहा—आप बिहार के हैं। बिहार में नाम विशेष प्रकार के होते हैं। आपका नाम जयप्रकाश नारायण प्रसाद सिंह होना चाहिए था। इस पर वह हँसने लगे और बोले—तुम ठीक कहते हो। मेरा नाम यही था, पर गाँधीजी के पास गया तो उन्होंने कहा कि तेरा नाम बहुत बड़ा है। तू सिर्फ जयप्रकाश रह जा। मैंने कहा—बापू, आप तो अपने नाम के आगे 'महात्मा' लगाये फिरते हो और मेरे नाम में से 'नारायण' निकालना चाहते हो ! मैं 'नारायण' नहीं छोड़ूँगा। और मैं जयप्रकाश नारायण ही कहलाने लगा। आगे न जाने कैसे यह 'नारायण' निकल गया और मैं 'जयप्रकाश बाबू' हो गया और अब अखबारवालों ने मुझे सिर्फ 'जे. पी.' बना दिया है।

मैंने कहा—बात यह है कि जैसे आप राजनीति में सिकुड़ते गये, वैसे ही नाम सिकुड़ता गया। राजनीति में 'नारायणत्व' समाप्त हुआ, तो नाम में से 'नारायण' निकल गया।

फिर मैंने पूछा—आजकल आप क्या कर रहे हैं ?

उन्होंने कहा—बेकारी की समस्या से पीड़ित हूँ। मध्यप्रदेश में डाकू रहे नहीं, और अब मुझे कुछ डाकू चाहिए।

मैंने कहा कि आप खुद डाकू क्यों नही बन जाते ? आपको काम मिल जायेगा और देश के दूसरे बड़े बेकार विनोबा को हृदय-परिवर्तन का काम मिल जायेगा। पर आपके उस भूदान, ग्रामदान, तहसीलदान, जिलादान वगैरा का क्या हुआ ?

जयप्रकाश उदास हो गये और बोले—मैं तो 'देशदान' तक चाहता था कि लोग देश मुझे दे दें, पर लोगों ने एक गाँव तक नहीं दिया। विनोबा ने मेरी जिन्दगी के इतने साल बरबाद कर दिये।

मैंने मजाक में कहा—मगर गाँधीजी ने तो विनोबा की पूरी जिन्दगी ही बरबाद कर दी ! वरना आज वह पवनार आश्रम में दूसरों के सहारे न जीते।

लड़कों की कमाई खाते और बहू से लड़ते ।

उदासी में भी जयप्रकाश हँस पड़े और कहा—तुम कबीर हो। तुम्हारी बात-बात में व्यंग्य और पेंच होता है।

मैंने कहा—जे. पी. जी, मुझे तो इस बात का दुख है कि आप-जैसा बड़ा नेता किसी नगरपालिका का सदस्य तक नहीं हो पाया।

इस पर उन्होंने कहा—मैं चाहता तो दिल्ली के मन्त्रिमण्डल में शामिल हो सकता था, पर मैंने पसन्द नहीं किया, क्योंकि मैं अपने को प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति से भी ऊँचा व्यक्ति मानता रहा। पर नतीजा यह हुआ कि मैं अब ग्रामपंचायत तक का सदस्य नहीं हूँ।

मैंने कहा—इसीलिए आप वही कर रहे हैं, जो ग्राम-पंचायत का हारा हुआ उम्मीदवार करता है। वह ग्राम-पंचायत भंग करवाने में लग जाता है और आप सारे प्रदेशों की सरकारें भंग करने का नारा दे रहे हैं।

फिर भी पूछा—आखिर आप विनोबा की शरण में कैसे पहुँच गये ?

जे. पी. ने कहा—एक तो हताशा में। दूसरे यह सोचकर कि देश में सर्वोदय ले आयेंगे··· मैं ईमानदार हूँ।

मैंने कहा—सुना है, आप अमेरिका में कम्युनिस्ट कहलाते थे।

उनका चेहरा तमतमा उठा और वह गुस्से में बोले—कौन कहता है ? आइ वाज नेवर ए ब्लडी कॉमी ! (मैं कभी भी बदमाश कम्युनिस्ट नहीं रहा।)

मैंने सर्वोदय की बात उठायी और कहा कि सर्वोदय का अर्थ होता है सबका उदय—पर यह कैसे हो सकता है ? जब सूर्य अस्त होता है, तब चाँद का उदय होता है, पर आप सूर्य की आग और चाँद की शीतलता एक साथ बरसाना चाहते हैं। मेरा मतलब है, सर्वोदय में शोषक का भी उदय और शोषित का भी उदय, मुनाफाखोर का भी उदय और जिसकी जेब वह काटता है, उसका भी उदय। आप 'ब्लडी कम्युनिस्ट' न रहे हों, पर समतावादी समाज पर विश्वास तो रखते रहे हैं !

जयप्रकाश थोड़े तैश में आ गये और कहने लगे—मैं समझ गया। तुम्हारा मतलब 'वर्ग-भेद' और 'वर्ग-संघर्ष' से है। तुम सन्त हो और सर्वोदय का मजाक उड़ाते हो। यू आर ए ब्लडी कम्युनिस्ट !

मैंने सिर्फ इतना पूछा कि इतिहास में कोई उदाहरण ऐसा है, जब दान से किसी देश में समतावादी समाज की स्थापना हुई हो ?

जयप्रकाश ने जवाब दिया—मैं इतिहास को नहीं मानता और न तुम्हारी 'उस' हिस्टॉरिकल डेस्टिनी (ऐतिहासिक नियति) को। मैं खुद इतिहास बनाने-वाला आदमी हूँ।

मैंने कहा—आप सन् '42 की क्रान्ति के 'हीरो' हैं। युवक आपके भक्त थे। हम सोचते थे कि आप क्रान्ति करेंगे और लेनिन हो जायेंगे।

उन्होंने कहा—भारत रूस नहीं है और लेनिन के पहले रूस में कोई गाँधी

नहीं हुआ था। लेनिन का मैं आदर करता हूँ, पर मैं लेनिन हो नहीं सकता था। मैंने तो एक नया सिद्धान्त दिया था---'फोर टायर स्टेट' का कार्यक्रम। पर नेहरू ने उसे फेंक दिया।

मैंने मजाक में कहा— लेकिन रेल में 'थ्री टायर' तो हो गया है।

जयप्रकाश इस मजाक से चिढ़-से गये। फिर वह बोले --नेहरू के पाँव तो भारत में थे, मगर सिर ब्रिटेन और पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में। लेनिन ने कहा था कि 'जनता की सत्ता और बिजली मिलकर साम्यवाद बनता है।' तो नेहरू भारी उद्योगों की स्थापना में लग गये और गाँव को भुला दिया। वह कई सालों तक 'समाजवाद' शब्द का उच्चारण तक नहीं कर पाये, क्योंकि इसे बाबू राजेन्द्रप्रसाद, मोरारजी भाई, सरदार पटेल, पाटिल आदि पसन्द नहीं करते थे। पार्टी पर अधिकार पटेल का था। वह पार्टी में नेहरू की स्थिति खराब कर देते। तो एक तरफ तो वह तकनीकी शब्दों और मुहावरों में सोचने और बोलने लगे और दूसरी तरफ 'सोशलिस्टिक पैटर्न ऑफ सोसाइटी' जैसे मुहावरे गढ़ने लगे। कांग्रेस को 'किंडरगार्टन' के बच्चे की तरह सीधा 'समाजवाद' कहने में सोलह साल लग गये।

मैंने सीधा सवाल उनसे किया---आप क्या हैं: सोशल डेमोक्रेट, लिबरल, क्रान्तिकारी, समाजवादी, या फासिस्ट ?

उन्होंने जवाब दिया---मुझे इन सारे शब्दों से नफरत है।

मैंने कहा—एक तरफ तो आप राजनीति के इन पारिभाषिक शब्दों से नफरत करते हैं और दूसरी ओर आपने अपने साथियों के साथ मिलकर कांग्रेस के भीतर समाजवादी गुट बनाया था।

जयप्रकाश ने कहा—यह सही है कि हमने कांग्रेस में समाजवादी गुट बनाया। उन दिनों यूरोप में 'सोशल डेमोक्रेट्स' का दबदबा था। मैंने कहा---आपके सोशल डेमोक्रेट्स ने ही हिटलर को तानाशाह बनाया था। क्या आप भी यही चाहते थे ?

जयप्रकाश ने कहा—मैं जानता हूँ, कबीरदास ऊटपटाँग बात करता है। मैं लोकतन्त्र में विश्वास रखता हूँ, पर यह सही है कि हम लोगों में कोई सोशल डेमोक्रेट था, कोई गाँधीवादी और कुछ मार्क्सवादी। और फिर आचार्य कृपलानी-जैसे लोग भी थे जो जवानी में 'एंग्री यंगमैन' थे और बुढ़ापे में भी 'एंग्री ओल्डमैन' हैं। फिर अशोक मेहता थे, जिनके मुँह से आँकड़े इस तरह निकलते थे जैसे कोई कुल्ला कर रहा हो। फिर लोहिया थे जो चाहते थे कि चौबीसों घण्टे तूफान चलता रहे। इस तरह सामाजिक न्याय में तो सबका विश्वास था, पर यह गुट शंकरजी की बारात हो गया।

मैंने पूछा—आचार्य नरेन्द्रदेव ?

जयप्रकाश भावुक हो गये। कहने लगे—वह महागुरु थे। उनका ज्ञान, चरित्र, सिद्धान्तवादिता, निर्लोभ, निष्ठा ऐसी थी कि हम जब उनके सामने पहुँचते

तो ऐसा लगता जैसे कोई बौना हिमालय के सामने खड़ा हो।

मैंने कहा—अब मुझे आप बताइए कि आजादी के बाद आप समाजवादियों ने क्या किया ?

जयप्रकाश ने कहा—जनता की नजरों में मैं, अशोक, लोहिया, अरुणा, पटवर्धन आदि '42 की क्रान्ति के बाद हीरो हो गये थे। हमने अन्दाज लगाया कि एक तो हम 'हीरो' हैं, दूसरे यह गरीब देश समाजवादी परिवर्तन के लिए एकदम तैयार है। तो हम कांग्रेस से अलग हो गये और नयी पार्टी—समाजवादी पार्टी बना ली। हमारा अन्दाज था कि जनता मत हमें ही देगी। अशोक मेहता, जो बहुत अच्छी अंग्रेजी बोलता है, ने तब कहा भी था अंग्रेजी मुहावरे में कि 'वी विल स्वीप द पोल्स।' इसका अर्थ होता है कि मतदान केन्द्रों में हम बाकी सब पार्टियों को खत्म कर देंगे।

मैंने कहा—उसके बाद का हाल मैंने देखा है। आप लोग चुनाव लड़े, पर एक तरफ तो नेहरू का मोहक व्यक्तित्व, फिर जनता के दिमाग में यह बात कि आजादी कांग्रेस ने दिलायी है। तो आप लोगों ने अशोक मेहता के शब्दों को निभाया। 'स्वीप' का अर्थ है 'झाड़ू लगाना'। मतगणना के बाद आप लोग मतदान केन्द्रों में झाड़ू लगा रहे थे। शंकर का ऐसा कार्टून था।

जयप्रकाश बहुत चिढ़े, बोले—तुम सन्त और कवि हो, इसलिए माफ करता हूँ वरना छात्रों को बुलवाकर तुम्हें पिटवा देता।

कबीर ने कहा—मैं सिर्फ सन्त और कवि ही नहीं था। मेरे हजारों गुण्डे चेले थे जो नीची जातियों के थे। ये मेरी रक्षा करते थे। वरना 500 साल पहले मेरा सिर कोई भी बैंगन की तरह काट लेता, क्योंकि मैंने सबकी चमड़ी उधेड़ी थी। आप छात्रों को बुलवा लीजिए और आप देखेंगे कि कबीर आपको ही उनसे पिटवा देगा। छात्रों की बात निकल आयी है तो यह बताइए कि गुजरात का छात्र-आन्दोलन तो महँगाई और मुनाफाखोरी के खिलाफ हुआ, पर यहाँ अठारह तारीख को छात्रों ने विधानसभा घेरी, सार्वजनिक इमारतों को जलाया, रेल जलायी, बस जलायी, पुस्तकालय जलाये, विज्ञान-कक्ष जलाये पर मुनाफाखोरी, जमाखोरी, और कालाबाजारी के खिलाफ कुछ नहीं किया। आप इन छात्रों को आशीर्वाद और उत्तेजना दे रहे थे। ये किस चीज के लिए लड़ रहे थे ? लोगों का कहना है कि ये लड़के बड़े-बड़े सेठों की तिजोरियों से निकले थे और सही क्रांतिकारी छात्र-आन्दोलन को नष्ट करना चाहते थे। कुछ यह भी कहते हैं कि यह सी. आई. ए. का षड्यन्त्र था। और उसने पैसे खर्च किये।

जयप्रकाश ने कहा—मैं तो हमेशा आन्दोलन के पक्ष में रहा हूँ और जहाँ तक सी. आई. ए. का सवाल है, दो कुत्ते भी लड़ जायें तो लोग हल्ला करने लगते हैं कि यह उपद्रव सी. आई. ए. ने करवाया।

—आपने इन लड़कों को मुनाफाखोरों और कालाबाजारियों के खिलाफ क्यों नहीं लगाया ? आप बड़े बनियों को क्यों छोड़ते हैं ?

जयप्रकाश बोले—तुम सन्त हो, कवि हो ! बहुत-सी बातें नहीं समझते हो ! मैं इन लोगों का हृदय-परिवर्तन करूँगा।

मैंने कहा—और उस लाइब्रेरी को जलवायेंगे जिसमें राहुल-जैसे महापण्डित ने पहाड़ों की यात्रा करके पाण्डुलिपियाँ इकट्ठी करके रखी हैं, जिनका सम्पादन अभी तक नहीं हो रहा है।

अब जयप्रकाश कुछ अकचका गये और अपने फार्मूले पर आये। बोले—कबीरदास, तुम्हारा हृदय भी काला है। मैं तुम्हारा हृदय बदलूँगा। बैठो।

कबीर ने कहा—मैं सिद्ध हूँ। आप बैठिए और दो मिनट में मैं आपका हृदय बदलता हूँ।

दो मिनट मैंने लगातार उनकी आँखों में देखा और उनका हृदय बदल गया। एक चमत्कार हुआ—जयप्रकाश उठे और सड़क पर खड़ी बस पर पत्थर फेंकने लगे। मैं यह देख रहा था। वह फिर पास में एक बहुत बड़े सेठ की दूकान पर गये और कहा कि एक-दो पीपे मिट्टी के तेल के हों तो दे दो। मैं विधानसभा में आग लगाना चाहता हूँ और मन्त्रिमण्डल को भस्म कर देना चाहता हूँ।

तब मैंने उनका हाथ पकड़ा। मैंने कहा—हृदय किसका बदला, तुम्हारा कि मेरा ? अब यहीं रुक जाओ। मन्त्रिमण्डल तो कफन है और देश लाश हो रहा है। तुम मन्त्रिमण्डल को भंग करवाकर दूसरा मन्त्रिमण्डल चाहते हो—इसका अर्थ है कि तुम देश को, जो लाश होने जा रहा है, सिर्फ नया कफन देना चाहते हो।

जयप्रकाश सहमकर बैठ गये। बोले—कबीरदास, तुम जाओ। मैं तुम्हारी कुछ पंक्तियाँ याद रखे हूँ, जैसे 'घूंघट का पट खोल री तोहे पिया मिलेंगे।' मेरे घूंघट का पट नहीं खुला। फिर तुमने कहा था—'मन फूला-फूला फिरै जगत में कैसा नाता रे।' कहा है, 'कहत कबीर सुनो भई साधो छोड़ो जग की आसा रे।' कहा है, 'कहत कबीर सुनो भई साधो सारी दुनिया झूठल हो।'

फिर वह कहने लगे कि अब तुम जाओ। मेरा नैतिक बल बहुत कम हो गया हैं। तुम खतरनाक बदमाश हो। मैंने कहा—मैं जाता हूँ, पर जाने के पहले आपके ही बारे में अपनी कविता की एक पंक्ति कहता हूँ—'नाव नदी को लील गयी रे भेद न जाना कोय !'

राष्ट्रपति निक्सन से भेंट

इस बार कबीर ने तय किया कि अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन से मिल आये। बेचारा बड़े जाल में फँसा है। साधू के सत्संग से कुछ लाभ उसे हो जाये। कबीर से हर छह महीने में अमेरिकी अधिकारी पूछते थे—क्या आप अमेरिका की यात्रा

करना चाहते हैं ? मैं कहता—हाँ। पर आज तक उन्होंने मुझे भेजा ही नहीं। सन्त-फकीर ऐसे ही नहीं जाता। यों तो कहीं भी घूमता रहता है पर जब आसन पर होता है, तब विदेशी लाभ के निमन्त्रण पर भी डोलता नहीं।

'आसन से मत डोल री तोहे पिया मिलेंगे', लेकिन इसके लिए 'सुन्न महल' में 'दियना' जलाये रहना पड़ता है और 'घूंघट का पट' खोलना पड़ता है।

इस बार पिया से मिलने का मौका आ गया, क्योंकि कबीर आसन से नहीं डोला। यह आसन बड़ा विचित्र है। इसे कम लोग समझते हैं। यह है विश्वास का आसन बिछाकर उस पर डटे रहना।

मैं अपनी पाँच सौ साल पुरानी साधू की पोशाक में एयर बैग लेकर निकला, तो कनछेदीलाल ने कहा—अब कहाँ चले ? प्रधानमन्त्री से मिलने जाते हो तो बढ़िया सूट पहनते हो। सूट, धोतीवालों के देश में ! पर इस पाँच सौ साल पुरानी पोशाक में जुलाहा सन्त कहाँ जा रहा है ?

मैंने कहा—सूटवालों के यहाँ अमेरिका !

कनछेदीलाल ने कहा—फँस गये सी. आई. ए. के चक्कर में !

मैंने कहा—सी. आई. ए. वाले कहते हैं कि मैं के. जी. बी. के चक्कर में हूँ।

कनछेदीलाल ने कहा—यानी हर आदमी किसी-न-किसी के चक्कर में माना जाता है। आदमी नहीं हुआ, कुत्ता हुआ—यह देखा जाता है कि इसके गले में किसका पट्टा है। पर तुम ठीक कर रहे हो कि साधू-फकीर के लिबास में जा रहे हो। अमेरिका में योगी, साधू, सन्त, फकीर की बड़ी पूछ है। अमेरिकी बड़ा विचित्र आदमी होता है। वह भीतरी, व्यक्तिगत शान्ति तो चाहता है पर बाहर सरकार को अशान्ति फैलाने देता है। एक बात बताओ, कुछ गाँजा, चरस, चण्डू वगैरा ले जा रहे हो ?

मैंने कहा—हाँ, यही तो प्रेमोपहार है इस देश का।

कनछेदी ने कहा—तुम साधू-सन्त हो ! कुछ गेहूँ मेरे लिए ले आना। यही दो-तीन बोरे। कबीर का वंश नहीं बूड़ेगा।

कबीर ने कहा—लाऊँगा तो दो-तीन बोरे क्यों ? दो-तीन लाख बोरे लाऊँगा।

कबीर पहुँच गया अमेरिका। पास का गाँजा, चरस वगैरा सब बाँट दिया लड़के-लड़कियों को।

मैंने, जब वे नशे में धुत्त थे, पूछा—कहो, कैसा लग रहा है ?

वे बोले—अद्भुत ! भारत-जैसा नशा कहीं नहीं।

मैंने कहा—नशे में तो हम सैकड़ों सालों से हैं। हमारे कई नशे हैं—भ्रम का नशा, सम्प्रदाय का, जाति का, और सबसे बड़ा नशा अपने को पवित्र मानने का। तुमने 'मदक' का मजा लिया है ?

वे बोले—नहीं। अब की बार मदक लाना। यू आर ए ग्रेट सेन्ट स्मगलर इन ड्रग्ज ! (तुम नशे के बड़े भारी साधू-तस्कर हो।)

कबीर ने माथा ठोंक लिया। कहाँ जा रही है दुनिया !

इस अमेरिकी महान समाज में तस्कर-साधू की बड़ी इज्जत है, सच्चे साधू की नहीं। मैंने लड़के-लड़कियों से कहा—तुम इस तरह नशे के आदी क्यों हो ?

वे बोले—बिकॉज वी आर नॉट कन्सिडर्ड ह्यूमन बीइंग्स। वी आर टेकन ऐज पिग्ज़ ! (क्योंकि यहाँ हमें मनुष्य कोई नहीं मानता। हम सूअर माने जाते हैं।) तो हम कहते हैं, पोर्क (सूअर का मांस) का मजा लो ! यानी हमारा गोश्त खाओ। बेटों का गोश्त ! और वह खाया जा रहा है।

कबीर ने सोचा, राष्ट्रपति निक्सन से भेंट कर ली जाये ! मेरे चारों तरफ खुफिया अफसर लगे थे।

एक ने पूछा—आपका कोई संगठन है ? कोई 'मिशन' है ?

मैंने कहा—नहीं। मैं अकेला ही आया हूँ। मेरे साथ चलनेवाले कम होते हैं। तब मैंने उससे कहा—मैं कवि भी हूँ और मैंने अंग्रेजी में अनुवाद करके अपना पद सुनाया—

'जो घर फूँकै आपना, चलै हमारे साथ।'

वे लोग बोले—यहाँ तो सब घर भरनेवाले आते हैं—चाहे साधू हो, सन्त हो, योगी हो। पर तुम्हारी शर्त अजीब है। तुम्हारा कोई चेला भी नहीं होगा।

मैंने कहा—कई चेले हैं, और यह तुम्हारी दुनिया इन्हीं बेवकूफों के दम पर सदियों से कायम है, जो अपना घर फूंकते हैं। घर भरनेवाले दुनिया का नाश करते हैं, दूसरे का घर जलाकर।

गुप्तचर विभाग का प्रधान आया। कहने लगा—कौन-सा मिशन है तुम्हारा ? 'डिवाइन लाइट' वाले साधू यहाँ बहुत हैं, 'ट्रान्सेन्डेण्टल कान्शसनेस' वाले भी बहुत हैं। तुम कौन हो ?

मैंने कहा—तुम्हें सब जानकारी है, यहाँ तक कि कौन आदमी बीवी के साथ कब-कब सोया। मुझसे क्यों पूछते हो ? दुनिया-भर में तुम्हारी जासूसी का जाल फैला है। तुम क्या समझते हो कि मैं कोई बेवकूफ, लुच्चा, बदमाश, डॉलर का भिखारी हूँ ? या मैं कोई रूसी गुप्तचर हूँ ! मुझे राष्ट्रपति से मिलना है।

अब कबीर का रोब जमा।

आखिर मैं राष्ट्रपति के पास ले जाया गया।

निक्सन ने कहा—मेरे पास समय नहीं था। पर भारत के साधू, सन्त, योगी आते हैं तो एक मिनट बात कर लेता हूँ। कई साधू आते रहते हैं। ये हमारी नयी पीढ़ी को बेवकूफ बनाकर मुझे बड़ा चैन देते हैं। बोलो, कौन-से मिशन के नेता हो ? कितने डॉलर चाहिए ?

कबीर ने कहा—कोई मिशन नहीं। डॉलर एक भी नहीं चाहिए। मैं कवि भी हूँ। वाल्ट ह्विटमैन अमेरिकी जनतन्त्र का कवि था न ! आप जानते हैं ? मैं

भी भारतीय जनतन्त्र का कवि हूँ।

निक्सन ने चकित होकर पूछा—ह्विटमैन अमेरिकी कवि था ?

मैंने कहा—हाँ, आपको नहीं मालूम ?

निक्सन ने कहा—नहीं, मुझे कवि से क्या मतलब ? मैं राजनीति का आदमी हूँ।

कबीर ने कहा—हाँ, इसीलिए आपको विएतनाम, लाओस, कम्बोदिया, चीन, इसराइल से मतलब है। आप कविता के इन्जेक्शन लिया करो। आपकी तबियत ठीक हो जायेगी। आप बड़े बीमार हैं।

अब निक्सन चौंका। मैंने कहा—एक अब्राहम लिंकन नाम का आदमी आपके यहाँ हो गया है...

निक्सन ने कहा—यहाँ तो हजारों अब्राहम और हजारों लिंकन नाम के आदमी हैं!

मैंने कहा—वह आपकी तरह ही राष्ट्रपति था। उसने कहा था—'जनता की सरकार, जनता के द्वारा, जनता के लिए!'

निक्सन ने कहा—हाँ, हाँ, एक लिंकन था। वह लकड़ी काटता था। गँवार था।

मैंने कहा—और आप भी सिर्फ तहसील की कचहरी में वकील थे, पर लिंकन तो बड़ा वकील भी हो गया था।

निक्सन ने कहा—तुम शायद उस लिंकन के गेटिसबर्ग-भाषण का हवाला दे रहे हो, पर मैं क्रान्तिकारी राष्ट्रपति हूँ। मैं कहता हूँ—'मेरी सरकार, जनता की बेवकूफी के द्वारा, निक्सन के लिए।'

निक्सन से मैंने कहा—आपकी नाक बड़ी लम्बी है।

उन्होंने जवाब दिया—मैंने हिसाब से लम्बी नाक रखी है। इस लम्बी नाक को कोई कितना काटेगा ? तुम देख नहीं रहे हो, वॉटरगेट में, टेप में, इन्कम टैक्स के घपले में, कितनी नाक कटी, पर तुम देख लो, नाक वैसी ही है!

मैंने कहा—बेशर्म की नाक इस्पात की बनी होती है।

निक्सन इस बात से खुश हुए।

मैंने टेपों के बारे में कहा—आप कह देते कि ये टेप मेरे और पत्नी के बीच की प्रेम की बातचीत के हैं, ये प्राइवेट हैं।

निक्सन ने कहा—क्या तुम समझते हो कि मैं झूठ बोलने में कमजोर हूँ ? मैंने बहुत बोले, पर चली नहीं। घर में भेदिया थे।

कबीर ने कहा—आप पर महाभियोग की सिफारिश हो गयी है। जनता भी माँग कर रही है।

निक्सन ने कहा—महाभियोग मामूली बात है। हमारा समाज बहुत महान है। यहाँ जब राष्ट्रपति को गोली से उड़ा दिया जाता है, तो महाभियोग तो मामूली बात है! मैं दुनिया में कहीं लड़ाई छिड़वा दूंगा, तो सब लोग इन चीजों

को भूल जायेंगे। सफल राष्ट्रपति वह है, जो जनता और कांग्रेस को बेवकूफ बना सके। अब देखो, जूडिशल कमेटी हुक्म देती है कि 50 टेप भेजो, मैं 10 भेज देता हूँ। फिर कहती है 45 और भेजो, मैं पाँच और भेज देता हूँ। तुम्हारे यहाँ के राष्ट्रपति ऐसा कुछ कमाल करते हैं ?

कबीर ने कहा—नहीं, हमारे यहाँ संसदीय लोकतन्त्र है। आपके यहाँ प्रेसीडेन्शल लोकतन्त्र है। जनता ने एक बार राष्ट्रपति चुन दिया, तो वह तानाशाह हो गया। हमारे यहाँ एक भस्मासुर हो गया है। उसने शिव नाम के महादेवता की—लॉर्ड शिव की—पूजा की; वही शिव जिसकी मूर्तियाँ चोरी से अमेरिका लाकर लाखों डॉलरों में बेची जाती हैं। शिव उससे खुश हुए। वर दे दिया कि तू जिसके सिर पर हाथ रख देगा, वह जलकर राख हो जायेगा। बस, उसने कई को राख बना दिया। एक दिन वह अपने देवता, अपने मालिक, गुरु शिव के ही सिर पर हाथ रखने लगा, तो शिव भागे-भागे फिरने लगे। यही हाल आपका है। आपकी जनता शिव है। उसने आपको राष्ट्रपति बना दिया और आप भस्मासुर हो गये।

निक्सन ने जम्हाई ली। कहने लगे—छोड़ो मेरी बात। अपने देश के हाल बताओ। भुखमरी अभी है न ?

मैंने कहा—हाँ, है।

निक्सन ने कहा—मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई। अब तुम्हारी सरकार भीख का कटोरा लेकर मेरे पास दस बार आयेगी। और मैं पहले तो टरकाऊँगा, कि गेहूँ हमारे पास है ही नहीं, फिर कुछ दे दूंगा। पर तुम्हारी प्रधानमन्त्री रोज हमारा अपमान क्यों करती हैं ? नहीं जानतीं हमारी ताकत ?

कबीर ने कहा—वह गलत बात तो नहीं कहतीं। कहती हैं—महाशक्तिवाले देश गरीब देशों के मामलों में दखल न दें। पर आपके बगल में इस छोटे-से देश क्यूबा का फिदेल कास्त्रो रोज आपको गाली देता है। उसका आपने क्या बिगाड़ लिया ?

निक्सन ने कहा—फिदेल गाली नहीं देता, उसके मुंह से रूस गाली देता है। मुंह उसका है, गाली रूस की है। इसीलिए मैं चुपचाप सुन लेता हूँ; वरना दो मिनट में खत्म कर दूं।

मैंने कहा—मैं समझ गया। रूस से आपको इतना प्रेम है कि फिदेल की गाली को प्रेमी की गाली मानकर शान्त रहते हैं। पर इधर इण्डियन ओशन में डायगो पर सैनिक अड्डा क्यों बना रहे हैं ?

निक्सन ने पूछा—उसे इण्डियन ओशन नाम किसने दिया ? सारे महासमुद्र तो हमारे हैं। यह हिन्द महासागर नाम किसने दिया ?

कबीर ने कहा—पता नहीं। शायद पुर्तगाली वास्को डि-गामा ने दिया हो या अंग्रेजों ने।

निक्सन ने कहा—बास्टर्ड्स ! हमसे क्यों नहीं पूछा ?

मैंने कहा—तब अमेरिका नाम का देश था ही नहीं। और क्या पता कि आपके पूर्वज पुर्तगाल-स्पेन से यहाँ आये हों। बाप-दादों की गाली मत दीजिए।

निक्सन ने कहा—खैर छोड़ो, पर तुम्हारी यह मादाम इन्दिरा गाँधी ऐसे बोलती हैं, जैसे सारी दुनिया पर इसी की हुकूमत हो !

मैंने कहा—वह चतुर स्त्री हैं। दूसरे देशों के नेताओं की बेवकूफी का फायदा उठाती हैं। आपकी बेवकूफी का फायदा भी उठाती हैं। इसीलिए तो उन्होंने अणु-विस्फोट का सिर्फ परीक्षण करवाया—शान्ति के साथ अपने देश में उद्योग के विकास के लिए। और फिर देखती रहीं कि आप-जैसे दुनिया के नेता क्या कहते हैं। आपकी बात सुनी, जापान की सुनी, कनाडा की सुनी और आप लोगों की बेवकूफियों का मजा लेती रहीं। हम लोग भी मजा लेते रहे। चीन होशियार है—कुछ बोला ही नहीं। भुट्टो ने देखा कि यही वक्त है कि भारत के ऐटम बम हमले का डर दिखाकर जितना मिले, ले लो। तो वह दुनिया का चक्कर लगाने लगा—अरे मालिक, अरे गरीब-नवाज, हम तो मौत के मुँह में हैं। हमारी मदद करो। हमें बचाओ। पता नहीं भुट्टो आपको बेवकूफ बना रहा है या आप भुट्टो को।

निक्सन ने कहा—हम दोनों एक-दूसरे को बेवकूफ बना रहे हैं। सच्ची दोस्ती वही है, जब दोस्त एक-दूसरे को बेवकूफ बनायें।

मैंने कहा—एशिया में आपका क्या स्वार्थ है ?

निक्सन ने कहा—'बिग पावर' का यह कर्त्तव्य है कि वह कहीं शान्ति न रहने दे। सब डर के साये में जिन्दा रहें। इसीलिए कहीं हमारा सातवाँ बेड़ा है, कहीं हमारा छठवाँ बेड़ा है। शान्ति ही रही, तो हमें 'महाशक्ति' कौन मानेगा ? फिर इतना पैसा, इतने हथियार, इनका भी तो कुछ करना पड़ेगा ! फिर हर महाद्वीप में हमारे चमचे देश हैं। उन्हें दिखाने के लिए कुछ तो करते रहना चाहिए। कुछ सिरफिरे लोग यानी कम्युनिस्ट इसे 'अमेरिकी साम्राज्यवाद' कहते हैं—पर यह सही अर्थ में 'अमेरिकी मजबूरी' है।

मैंने सोचा, अब उठूँ। तहसीलदार की अदालत के वकील से कहाँ तक बात करूँ ? मैं विदा लेने उठा तो निक्सन ने कहा—साधू हो, कोई मिशन तो होगा ही। हर मिशन एक खूबसूरत धोखा होता है। बोलो—कितने डॉलर दिलवा दूँ ? या यहीं रहो। मेरी जनता को 'भीतरी' शान्ति में ले जाओ जिससे सबकुछ बाहरी, वे मुझ पर छोड़ दें।

मैंने कहा—डॉलर साधू को एक भी नहीं चाहिए। मानवतावादी हो, तो मेरे देश को बिना एहसान, बिना अहंकार के गेहूँ भेज देना। मगर उसमें धतूरा मत मिलाना। धतूरे के जंगल हैं हमारे यहाँ ! हम मिला लेंगे।

निक्सन ने कहा—तुम बड़े अजीब साधू हो। सब साधू तो यहाँ लेने आते हैं और तुम···

मैंने कहा—तुम नहीं समझोगे। जो जाल में फँसा है, उस जाल को तोड़ना

नहीं चाहता, बल्कि उसे चूमता है, वह क्या समझेगा ? तुम जाल को चूम रहे हो और खुश हो। खुश रहो ! साधू का आशीर्वाद है कि जो भ्रम में खुश है, खुश रहे।

निक्सन ने कहा—कवि हो, कुछ तो कह जाओ। मैंने कहा—

'कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय
यह पुर-पट्टन यह गली बहुरि न देखौं आय।'

निक्सन ने 'गुड बाई' किया और कहा कि अपनी प्रधानमन्त्री को सलाह देना कि अंग्रेजी भाषा में मीठे शब्द भी होते हैं।

लौटा तो कनछेदी दतौन करते दिखे। कहने लगे—मिल आये निक्सन महान से ! कुछ डॉलर या यहाँ अमेरिकी डॉलर के रुपये लाये ? अमेरिकी एजेण्ट बने ?

मैंने कहा—कुछ नहीं। जिसे यही पता नहीं कि महान राष्ट्रपति लिंकन और महान कवि ह्विटमैन अमेरिकी थे, उससे क्या लाता ? वह हवलदार है।

कनछेदी ने कहा—साधुओं में सबसे बेवकूफ तुम हो। अरे, ऐसे ही खरबपति से तो पैसा ऐंठा जाता है और तुम सूखे लौट आये ! कबीर का वंश डूब गया। तुम भूखा मरने को पुण्य मानते हो ?

मैंने कहा—नहीं, मजबूरी या पाप मानता हूँ। कायरता भी सन्तोष देती है—'कायर सन्तोष'। मैं कहता हूँ—घी से चुपड़ी रोटी को छीन लाओ और खाओ !

कनछेदी ने कहा—बात ठीक है, पर इसके लिए दम चाहिए। पर सन्त, यह बरसात गेहूँ के बिना कैसे कटेगी ? दो बोरे दिला दो।

मैंने कहा—दिला दूँगा ! यहाँ भी तो सब ईमानदार हैं।

कबीर फिर इन्दिरा गाँधी से मिला।

मैंने कहा—निक्सन से मिल आया, बहनजी ! उसके पास गेहूँ बहुत है। वह देना भी चाहता है। भारत को खोना नहीं चाहता।

इन्दिराजी तैश में आ गयीं। बोलीं—क्या मतलब ? भारत को खोना नहीं चाहता—इसका क्या अर्थ है ? भारत कोई बाजारू सामान है ? भारत कोई आलू-बैंगन है ?

कबीर ने कहा—बस यही तो निक्सन कहता था कि अंग्रेजी में मीठे शब्द भी हैं।

इन्दिराजी ने पूछा—निक्सन की अंग्रेजी कैसी है ?

मैंने कहा—मेरे से घटिया ! कस्बे के पटवारी-सरीखी अंग्रेजी है। एक बार राष्ट्रसंघ में जब कृष्ण मेनन बोल रहे थे, ब्रिटेन के विदेशमन्त्री ने टोका कि यह गलत अंग्रेजी है। मेनन ने फौरन कहा—आई कैन नॉट बी ब्रीफ्ड बाई यू इन इंग्लिश। आई हैव लर्ट इट, ह्वाइल यू हैव पिक्ड इट अप ! (तुम मुझे अंग्रेजी के

बारे में सलाह नहीं दे सकते। मैंने अंग्रेजी सीखी है, पढ़ी है, जबकि तुमने उसे रास्ते में पड़ी चीज की तरह उठा लिया है।)

इन्दिराजी हँसने लगीं। बोलीं—सही बात है। खैर, मैं अंग्रेजी में माठे शब्दों की तलाश करती हूँ।

जनाब भुट्टो से भेंट

कनछेदीलाल ने पूछा—कहो गुरु, क्या हाल हैं जयप्रकाशजी के?

मैंने कहा—अच्छे हैं। मैंने उनका हृदय बदल दिया। पहले वे पत्थर फेंकनेवालों और आग लगानेवालों की पीठ ठोंकते थे। मैंने उनसे इस उम्र में बस पर अपने हाथ से पत्थर फिकवा दिये और इमारतों में आग लगवा दी। अब वे सारे देश की सरकारें भंग करवा देंगे। यह देश बिना सरकार का हो जायेगा।

कनछेदी काइयाँ है। कहने लगा—मुझे ऐसा लगता है कि यदि इन्दिरा गाँधी उनका नाम ले दें तो वे आन्दोलन बन्द कर दें। बस इसी की राह देख रहे हैं। बेचारे कहते हैं, इन्दिरा गाँधी मेरी बेटी की तरह है। पर इन्दिरा गाँधी जयप्रकाश बाबू का नाम ही नहीं लेतीं। बस 'कुछ लोग', 'कुछ लोग' कहती हैं। इतना ही कह दें कि बाबू जयप्रकाश नारायण उपद्रव करवा रहे हैं, तो जयप्रकाशजी फौरन आन्दोलन बन्द कर दें, मगर यह बड़ी क्रूर स्त्री है। खैर, अब कहाँ चले?

कबीर ने कहा—शहंशाहे आजम भुट्टो साहब से मिलने।

कनछेदी ने कहा—पर भुट्टो तुम्हें मिलेंगे कहाँ? उन्होंने तो हवाई जहाज में घर बना लिया है। रोज विदेश यात्रा पर होते हैं।

मैंने कहा—हवाई जहाज में होंगे, तो उतरने की राह देखूंगा।

कबीर को इत्तिफाक से भुट्टो राजधानी में ही मिल गये।

कबीर ने परिचय दिया तो भुट्टो तपाक से बोले—मैंने तुम्हारा नाम सुना है। तुम साधु-सन्त हो। इन्दिरा गाँधी पहले कूटनीतियों को भेजती थीं, अब साधु-सन्त भेजने लगीं। भई, मैं इस मौसम में शिमला नहीं जाऊँगा, कोई और जगह तय करो।

मैंने कहा—सुनिए तो! तुम्हें इन्दिरा गाँधी ने नहीं बुलाया। मैं तो साधु हूँ। मन से घूमता रहता हूँ।

भुट्टो ने कहा—कोई बात नहीं। जब तक चाहो रहो। पाकिस्तान तुम्हारा घर है। तुम तो मुसलमान हो न—जुलाहा—याने घटिया मुसलमान।

मैंने कहा—मुसलमान मुझे मुसलमान नहीं मानते और हिन्दू हिन्दू नहीं मानते। तुम क्या मुसलमान हो?

भुट्टो ने कहा—हाँ!

मैंने पूछा—नमाज पढ़ते हो?

भुट्टो ने कहा—नमाज गँवार पढ़ते हैं, मैं तो क्लबों में 'डांस' करता हूँ, वही मेरी नमाज है। देश के आदमी नमाज पढ़ते हैं और मैं डांसनमाजी उन पर हुकूमत करता हूँ।

मैंने कहा—बांग्ला देश में जो सुलूक तुम्हारे साथ हुआ और जैसे तुम निकले, उससे मुझे अफसोस है। यही कहूँगा—

निकलना खुल्द से आदम का सुनते आये थे लेकिन
वड़े बेआबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले।

फिर कहा—कुछ समझौता नहीं हुआ शेख मुजीब से?

भुट्टो ने कहा—समझौता करने गया ही कौन बेवकूफ था! मैं तो झगड़ा बढ़ाने गया था—सो बढ़ा आया। 'बेवकूफ बंगाली' कहकर चला आया। वे लोग बिहारियों को मेरे सूटकेस में डालना चाहते थे और अरबों डॉलर चाहते थे। इधर बलूची और पखतून नाक में दम किये हैं। बिहारियों को ले आऊँ, तो एक आफत और मोल ले लूँ। मैं इतना बेवकूफ नहीं हूँ, मैं पूर्व का सबसे बुद्धिमान आदमी हूँ।

कबीर ने कहा—दाद देता हूँ।

भुट्टो ने कहा—अपना तो यह हाल है—

कूचए यार में इस ठाठ से हम निकले
पीछे-पीछे हम चले आगे मेरी रुसवाई थी।

कबीर ने कहा—आप भारत में ही क्यों नहीं रह गये? वहाँ आपकी प्रॉपर्टी भी थी।

भुट्टो ने कहा—भारत में रह जाता तो न जवाहरलाल प्रधानमन्त्री बनते, न इन्दिरा गाँधी। मैं इन लोगों पर दया करके पाकिस्तान चला आया। यहाँ मैंने दो फौजी तानाशाह खाये और अपने ही देश के एक हिस्से बंगाल को अलग करवा दिया। दुनिया में किसी ने ऐसा किया?

मैंने कहा—किसी ने ऐसा नहीं किया। अब बलूचिस्तान और पख्तूनिस्तान भी पाक से अलग कर दोगे। धीरे-धीरे पाकिस्तान कुल 2-3 जिलों का रह जायगा।

भुट्टो ने कहा—फकीर तुम ठीक कहते हो। मैं इसी कोशिश में हूँ। आगे खुदा हाफिज़!

मैंने कहा—तुम इस उप-महाद्वीप में शान्ति की बात करते हो पर काम ठीक उलटे करते हो।

भुट्टो ने कहा—शान्ति कौन बेवकूफ चाहता है! जब तक उथल-पुथल न हो,

झगड़ा-फसाद न हो; मुझे नींद नहीं आती। जब भारत से लड़ाई चल रही थी, तब मुझे खूब नींद आती थी।

मैंने पूछा—तुम्हारी कोई विदेशनीति है ?

भुट्टो ने कहा—विदेशनीति बनाकर उसे 'फ्रिज' में बेवकूफ रखते हैं। अपना तो यह है कि अमेरिका को आका माना। उससे हथियार और डॉलर लिये। फिर देखा कि भारत-चीन का झगड़ा है तो माओ की कदमबोसी कर आये और हथियार ले आये। पर चीन ज़रा कंजूस है, ज्यादा नहीं देता। भारत से हमारी लड़ाई होती है, तो पीठ ठोंक देता है, पर लड़ाई में उतरता नहीं। फिर देखता हूँ कि रूस-चीन में तनाव है तो पहले पेकिंग गये, रूस की बुराई की और कह दिया कि हम तुम्हारी तरफ। फिर हम मास्को गये और वहाँ कह दिया कि हम तुम्हारी तरफ !

मैंने टोका— पर माओ और ब्रेजनेव बाद में हँसकर यह नहीं कहते होंगे कि क्या पिद्दी और क्या पिद्दी का शोरबा !

भुट्टो ने कहा —कहने दो ! पर प्रभावक्षेत्र तो सब चाहते हैं—अमेरिका, रूस और चीन ! मैं इसका फायदा उठाता हूँ।

मैं अब खास मुद्दे पर आया। मैंने कहा—भारत ने जो अणु-विस्फोट किया है, उससे आप बहुत नाराज हैं ?

भुट्टो ने कहा—तुम साधु हो। तुमसे क्या छिपाऊँ ! दिल में मैं बहुत खुश हूँ और भारत का बड़ा शुक्रगुजार हूँ। मैं जानता हूँ और तुम भी जानते हो कि दुनिया में अणुयुद्ध कभी नहीं होगा। पर भारत के इस अणु-विस्फोट का हल्ला करके, डर दिखाकर अपनी जनता को बेवकूफ बना रहा हूँ। तुम्हारी प्रधानमन्त्री ने भी असन्तुष्ट जनता को खुश करने के लिए यह फटाका छोड़ा है। फिर मैं दुनिया के हर देश जा रहा हूँ और हाथ जोड़कर कहता हूँ, देखो भारत ने अणु हथियार बना लिये। अब हमारी सुरक्षा खतरे में है, अब हमें बचाओ। सारी दुनिया में भीख का कटोरा लेकर घूम रहा हूँ और जो कुछ कोई दे दे, ले आता हूँ।

कबीर ने पूछा—पर क्या इन देशों के बड़े-बड़े नेता तुम्हारे इस 'स्टण्ट' को नहीं समझते हैं ?

भुट्टो—समझते होंगे, पर कुछ दे ही देते हैं। कुछ लोग ऐसा करते हैं न कि लोगों के पास जाते हैं और बनावटी आँसू लाकर कहते हैं, भाई की स्टेशन पर अचानक मौत हो गयी। कफन-दफन के लिए पैसे नहीं हैं। मेरी जेब रेल में कट गयी, कुछ दे दीजिए। लोग यह जानते हुए भी कि यह आदमी झूठ बोल रहा है, कुछ देते ही देते हैं। मैं भी दुनिया-भर में कफन-दफन के लिए पैसे माँगता फिरता हूँ।

कबीर ने पूछा—याने पाकिस्तान नहीं हुआ, यतीमखाना हुआ।

भुट्टो—यतीमखाना क्या बुरा होता है ? बहुत पाक होता है। सबसे बड़ी

बात है, जनता को बेवकूफ बनाये रहना। जनता माँग करेगी कि तुम भी अणु शक्ति बनाओ, तो मैं कह दूंगा कि 'निक्सन' एक बहुत बड़ा अणु छाता बना रहा है जिससे पाक का आसमान ढांक दिया जायेगा। जनता इससे नहीं मानी तो एकाध नमूने का एटम बम हवाई जहाज में वाशिंगटन से डाल लाऊँगा और दिखा दूंगा।

कबीर ने पूछा—और क्या करते हो?

भुट्टो—और कई तरकीबें हैं। मुल्क में कुछ भी गड़बड़ हुई तो कह देता हूँ कि इसमें विदेशी ताकतों का हाथ है। कभी मेरा मतलब भारत से, कभी अफगानिस्तान से होता है। दो कुत्ते अगर सड़क पर लड़ रहे हों, तो कह दूंगा—यह भारत की साजिश है। जनता चुप!

थोड़ी देर भुट्टो चुप रहे, फिर पूछा—तुम्हारे मुल्क में अनाज की कमी, महँगाई वगैरह है न?

मैंने कहा—हाँ, है।

भुट्टो ने पूछा—और जनता में हलचल है, असन्तोष है? जनता इन्दिरा-सरकार से नाराज भी है। इधर मेरी हालत भी खराब है। मेरा एक प्रस्ताव है जिससे इन्दिरा गाँधी का भी फायदा है और मेरा भी। तुम साधु हो। तुम्हारी पहुँच सब जगह है। क्या तुम उनसे इस प्रस्ताव पर बात कर सकते हो?

कबीर ने पूछा—प्रस्ताव क्या है?

भुट्टो ने कहा—उधर उनकी हालत खराब है इधर मेरी। क्यों न हम लोग 15 दिन की एक लड़ाई और लड़ लें? एक टूर्नामिण्ट-सरीखा। मैं अमेरिका से हथियार ले आऊँगा और वे रूस से ले लें। फिर हम दोनों 5 साल तक जनता को बेवकूफ बनाकर मजे में राज कर सकते हैं।

कबीर अकचका गया। मैंने कहा—अरे बाप रे! 'वार बाई एग्रीमेण्ट!' आपस में समझौता करके लड़ाई? हद हो गयी! सचमुच आप राजनीति में बेनजीर आदमी हैं। दुनिया में कहीं ऐसा भी होता है?

भुट्टो—राजनीति में सबकुछ होता है। आपस में तय करके भी लड़ाई होती है। तुम सन्त हो, राजनीति नहीं समझते।

कबीर ने कहा—मैं मान गया। आप किसी भी हद तक जा सकते हैं।

भुट्टो ने कहा—चकित मत होओ। मैं पढ़ता-लिखता नहीं और राजनीति में नहीं आता तो अमेरिका में 'काऊ ब्याय' होता।

कबीर ने कहा—आपके संस्कार ऐसे ही हैं। आपने 1965 में राष्ट्रसंघ में भारतीयों को 'कुत्ता' कहा था, और अभी बंगालियों को 'ईडियट' (निपट बेवकूफ) कहकर आ रहे हो। तुम अरबों के खिलाफ भी हो और उनके साथ भी। पता नहीं तुम किसके साथ हो? अच्छा यह बताओ, भारत के साथ सम्बन्ध सुधारोगे?

भुट्टो ने कहा—क्या फालतू बात करते हो? भारत के साथ सम्बन्ध ठीक कर लूंगा, तो मेरा खात्मा हो जायगा। किसी भी शासक का खात्मा हो जायगा।

भारत से दुश्मनी तो हमारे शासन की बुनियाद है।

मैंने पूछा—और काश्मीर?

भुट्टो ने कहा—मैं जानता हूँ कि हमारी तरफ का काश्मीर जायेगा, जैसा उन कम्बख्त बंगालियों का बंगाल गया। पर हम जब तक बने, काश्मीर के मामले को जिन्दा रखेंगे। तुम्हारा शेख मुहम्मद अब्दुल्ला भी तो धोखा दे गया हमें। अब वह 'भारत-भारत' चिल्लाता-फिरता है।

कबीर ने कहा—पर वह साथ ही 'काश्मीर' भी कहता है।

भुट्टो—पुराना खिलाड़ी है। भारत उसका देश, पर काश्मीर अलग।

कबीर ने पूछा—बंगाल जाने से आपको क्या नुकसान हुआ?

भुट्टो ने कहा—बहुत नुकसान हुआ। मछली कम पड़ गयी और रईस-जादियों को पान नहीं मिलते। बंगला पान! अहा! क्या जायका!

कबीर ने पान का डब्बा खोला और भुट्टो को दो बढ़िया किमामवाले पान दिये। कहा—लो, ये बंगला पान खा लो!

भुट्टो ने पान खाये और कहा—वाह! मजा आ गया। बंगाल हाथ से न जाता तो ऐसा पान रोज मिलता।

कबीर उठा। कहा—मैं अब चलता हूँ। आपके 'वार वाई एग्रीमेण्ट' की बात इन्दिराजी से करूँगा।

भुट्टो ने कहा—तुम कबीर, शायर भी हो। एकाध चीज सुना जाओ!

मैंने कहा—

कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
ये पुर-पट्टन ये गली बहुरि न देखौं आय॥

विनोबा भावे से भेंट

कबीर ने सोचा, इस बार 'बाबा' से मिल आऊँ। जयप्रकाश मिल आये, सर्व सेवा संघ का जलसा हो गया। काफी पैदल चलनें के बाद बाबा ने पनवार में 'क्षेत्र संन्यास' ले लिया है। फुरसत में होंगे।

घर से निकला तो वही कनछेदीलाल बरामदे में एक कटोरी से शहद चाटते मिल गये।

मैंने कहा—कनछेदी, क्या कर रहे हो?

कदछेदी ने कहा—शहद खा रहा हूँ। सर्वोदयी हो गया हूँ। सर्वोदय का मतलब शहद चाटना और दही खाना होता है।

मैंने कहा—जब सर्वोदय खत्म हो गया तब तुम सर्वोदयी हो गये हो।

कनछेदी ने कहा—यही तो ठीक वक्त है सर्वोदयी होने का। बाबा के बाद कहीं यह शहद चाटने का सर्वोदय खत्म न हो जाय। मैं असिस्टेण्ट विनोबा बनने का अभ्यास कर रहा हूँ, पर तुम कहाँ चले?

मैंने कहा—उन्हीं सन्त विनोबा से मिलने।

कनछेदी ने कहा—बहुत अच्छा कर रहे हो। दो सन्तों का मिलन बड़ा मजेदार रहेगा। कह देना, कनछेदी असिस्टेण्ट विनोबा बन रहा है।

कबीर पवनार आश्रम पहुँचा तो देखा, बाबा दातौन कर रहे हैं। मैं बैठ गया।

दातौन के बाद बाबा ने मेरी तरफ ध्यान दिया। पूछा—तुम कौन हो?

मैंने कहा—कबीरदास!

बाबा बहुत खुश हुए। मुझे गले लगा लिया। बोले—सन्त हो, कवि हो, मैं तो सन्तों की वाणी ही बोलता हूँ। तुकाराम के अभंग बोलता हूँ। तुम्हारी वाणी बोलता हूँ।

मैंने कहा—पर आप मेरी तरह उलटबासी भी बोलते हैं।

बाबा ने कहा—क्यों नहीं बोलूँगा? आखिर मैं भी सन्त हूँ। उलटबासी न बोलूँ, तो चतमकार कैसे पैदा होगा? अब देखो, मैं दातौन करता हूँ। सब दातौन करें, तो मंजन और टूथपेस्ट की समस्या हल हो जाय!

मैंने कहा—बाबा, पर शहरों में बबूल नहीं होते। दातौन कहाँ से लायेंगे?

बाबा ने जवाब दिया—तो शहरों में बबूल की खेती करें! सब टूथपेस्ट के कारखाने ठप्प हो जायेंगे। मैं तो कहता हूँ, ग्राम निर्भरता हो। अब लोग कहते हैं कि साबुन नहीं मिलता तो मैं कहता हूँ, साबुन से क्यों नहाते हो? मिट्टी शरीर पर मलकर नहाओ। साबुन के कारखाने बन्द हो जायेंगे; मुनाफाखोर खत्म हो जायेंगे।

मैंने कहा—बाबा, हर गाँव में इस्पात का कारखाना कैसे खुलेगा? इस्पात बनाना गृह उद्योग तो है नहीं।

बाबा ने कहा—मगर इस्पात की जरूरत ही क्या है?

कबीर ने कहा—फिर रेलें कैसे बनेंगी? लोग यात्रा कैसे करेंगे?

बाबा ने कहा—पदयात्रा करें। बम्बई से कलकत्ता जाना है तो पैदल जायें। रास्ते में माँगते-खाते चले जायें। सुदामा भी तो माँगते-खाते कृष्ण के पास द्वारका गये थे।

मैंने कहा—बाबा, मैं आपकी बात समझ गया। जिस चीज का अभाव हो, जिसे मुनाफाखोर दबाये हों, उसका उपयोग ही न करें। अन्न दबा है, तो अन्न न खायें, अन्न की समस्या हल हो गयी। जब खानेवाले ही भूखे मर जायेंगे तो अन्न की मुनाफाखोरी बन्द हो जायगी।

बाबा ने कहा—कबीर, आ गये न तुम उसी अपनी बदमाशी की आदत पर!

मुझे ही फँसा रहे हो।

मैंने कहा—बाबा, मैं नहीं फँसा रहा हूँ, आप खुद अपने ही जाल में इतने सालों से फँसे जा रहे हैं। इधर लोग समाजवाद की बात कर रहे हैं। कहते हैं, इने-गिने लोग जो अपार पैसेवाले हैं, मजा कर रहे हैं। बाकी कष्ट में हैं। तो सम्पति छीनी जाय और सब बराबर हो जायें। आपका क्या खयाल है ?

बाबा ने कहा—मैं समाजवाद को भ्रम मानता हूँ। सन्तोष ही सुख है। जिन्हें भगवान ने लक्ष्मी दी है, उनसे क्यों छीनोगे ?

रूखा-सूखा खाय के ठण्डा पानी पीव,
देख पराई चूपड़ी मत ललचावै जीव !

कबीर ने कहा—छोड़िए इसे। यह बताइए कि आपके उस सर्वोदय आन्दोलन का क्या हुआ ?

बाबा दुखी हुए। कहने लगे—वह तो गया। मेरे साथ हारे-थके, लोभी लोग ही आये। जिन्हें टिकिट नहीं मिली, वही सर्वोदय में आ गये। इनमें लोकसेवा की भावना थी ही नहीं। बाबा के साथ रहने से गुलछर्रे उड़ाने को मिलते हैं, तो सर्वोदयी हो गये। बाबा को तो पेट में अल्सर है, तो वह दही और शहद खाता है, पर इन सब लोगों को अल्सर हो गया और ये भी बाबा की नकल करने लगे। अब बाबा क्या करे ? हाथ का पिसा आटा खायेंगे, शहद खायेंगे, दही पीयेंगे, गुलबकाबली के फूल खायेंगे। जो सर्वोदय शिविर का इन्तजाम करते, वे परेशान हो जाते।

कबीर ने कहा—बाबा, आपने ठीक बात कही। आपको इन्दौर के उस सेठ की बात याद होगी। इन्दौर में उस समय सर्कस चल रहा था, तभी आप अपने सर्वोदयी चेलों को लेकर पहुँचे। लोगों ने एक बड़े सेठ से कहा कि आप अरबपति हैं, सर्वोदय शिविर का प्रबन्ध कर दीजिए। सेठ ने कहा—भैया, मैं सर्कस का इन्तजाम तो कर सकता हूँ, पर सर्वोदय कम्पनी का इन्तजाम करना मेरे वश की बात नहीं है।

बाबा इस बात पर खूब जोर से हँसे। कहने लगे—ठीक बात है, सर्वोदय सर्कस कम्पनी ही हो गयी थी।

मैंने पूछा—पर बाबा, आप ज्ञानी हैं। सबका उदय एक साथ कैसे हो सकता है ? मुनाफाखोर माल दबाये बैठा है और गरीब झोला लिये लाइन में खड़ा है। दोनों का उदय कैसे होगा ?

बाबा सोच में पड़ गये। बोले—यही वर्गसंघर्ष तो मैं टालना चाहता था। मैं इन बड़े शोषकों का हृदय-परिवर्तन करके एक मंगलमय समाज की स्थापना का सपना देखता था।

मैंने कहा—बाबा, हृदय हो तो उसमें परिवर्तन होगा। जिनके पास हृदय ही नहीं है, तो परिवर्तन काहे का होगा !

बाबा ने कहा—यह क्या बात कहते हो सन्त ? हृदय तो हर आदमी का

होता है !

कबीर ने कहा—मैं नहीं मानता, बाबा ! फिर कुछ लोग ऐसे भी तो होते हैं, जिनका हृदय तलुवे में होता है। वे हृदय को कुचलते हुए चलते हैं। डाक्टरों से पूछ लीजिए। वे सारे शरीर में हृदय खोजते हैं, पर वह नहीं मिलता। बड़ी मुश्किल से तलुवे में मिलता है।

बाबा ने कहा—मैंने तुम्हारा लिखा पढ़ा है। तुम ऐसी ही सधुक्कड़ी बातें करते हो। पर डाकुओं का तो हृदय-परिवर्तन हुआ।

कबीर ने कहा—वह मुझे मालूम है। जयप्रकाश डाकुओं का हृदय बदलने गये थे। कुछ डाकुओं ने समर्पण भी किया, पर लोगों का कहना है कि हृदय जयप्रकाश ने नहीं, पुलिस ने बदला। और जब छतरपुर नाम के जिले के सदर मुकाम में मुख्यमन्त्री सेठी और जयप्रकाश दोनों थे, तब लोग सेठी की जय बोल रहे थे, जयप्रकाश की जय कोई नहीं बोल रहा था तो जयप्रकाश बुरा मानकर चले गये और कहते गये कि अब मैं मध्यप्रदेश कभी नहीं आऊँगा।

बाबा ने कहा—हुआ होगा, पर सर्वोदयी को जय से, मान-सम्मान से क्या मतलब ?

मैंने कहा—जयप्रकाश बाबू को है क्योंकि वे आधे सन्त और आधे राजनेता हैं। अच्छा, यह तो बताइए, जयप्रकाश बाबू आपके पास आये थे। उनके आन्दोलन के बारे में आपका क्या खयाल है ?

बाबा बोले—मैं बड़ा काइयाँ आदमी हूँ। मैंने उनसे ऐसा कहा जिसका मतलब हाँ भी होता है और नहीं भी। मैंने कहा—विवेक कहता है, तो परिवर्तन करो पर अहिंसा से करो। अब देखो, हिंसा दोनों तरफ से हो रही है तो बाबा को मतलब नहीं।

कबीर ने कहा—बाबा, पर जयप्रकाश तो इसे क्रान्ति कहते हैं।

बाबा ने कहा—कहते हैं, तो कहने दो। क्रान्ति और भ्रान्ति में थोड़ा-सा अन्तर होता है। कभी-कभी भ्रान्ति को भी क्रान्ति समझ लिया जाता है।

कबीर ने बाबा को पकड़ा—जैसे आपका भूदान ! भूदान से आप क्रान्ति लाना चाहते थे, पर वह भ्रान्ति निकल गया।

बाबा ने कहा—कबीर, तुम गलत समझे। क्रान्ति मैंने कभी नहीं लानी चाही। वह तो तेलंगाना में किसानों के हिंसक आन्दोलन को देखकर मुझे लगा कि भूमिहीन किसान को भूमि की भूख है, तो मैं निकल पड़ा भूदान के लिए पैदल।

कबीर ने पूछा—फिर क्या हुआ ?

बाबा ने माथा ठोंककर कहा—बाबा को सब 'सालों' ने—अरे, माफ करना, सन्त को गाली नहीं देनी चाहिए, सबने बाबा को धोखा दिया। बंजर जमीन बाबा को दे दी, जहाँ घास की एक पत्ती नहीं उगती; और अखबारों में छपवा लिया कि हमने 100 एकड़ भूमि-दान कर दिया। अब उन पत्थरों पर कौन किसान खेती करेगा ?

मैंने पूछा—बाबा, पर क्या दान से आर्थिक परिवर्तन हो सकता है ?

बाबा ने कहा—मैं पहले कह चुका हूँ कि ग्राम-आत्मनिर्भरता—यही क्रान्ति है। हर गाँव जरूरत की चीजें अपने ही गाँव में पैदा करे।

मैंने कहाँ— बाबा, पर मैंने देखा है कि गाँव के कुछ लोग ट्रान्जिस्टर बजाते हैं। गाँव में ट्रान्जिस्टर कैसे बनेंगे ? रेडियो कैसे बनेगा ? शहर पर निर्भर तो रहना ही पड़ेगा।

बाबा ने कहा—यही तो बीमारी है। इच्छाएँ बढ़ती हैं तो उनकी पूर्ति के लिए आदमी भागता फिरता है।

कबीर ने कहा—मैंने माना कि गाँवों को हजार साल पीछे चला जाना चाहिए। आपकी यह बात भी मानी कि हर गाँव को आत्मनिर्भर हो जाना चाहिए, पर हर साल लाखों गाँवों में अकाल पड़ता है। वे आत्मनिर्भर कैसे होंगे ? वे तो भुखमरी में आत्मनिर्भर हो सकते हैं, फिर जिन गाँवों में पैदावार अच्छी है और जो आत्मनिर्भर हैं, वे इन अभावग्रस्त गाँवों को कुछ नहीं देंगे।

बाबा ने कहा—तो गाँवों का संघ बन जाय।

मैंने कहा—बिहार और केरल के गाँवों का संघ कैसे बनेगा ? ये कोई 3-4 किलोमीटर दूर तो हैं नहीं। फिर वही व्यवस्था करनी होगी कि रेल से यहाँ का अनाज वहाँ भेजा जाय। और आप कहते हैं, पद-यात्रा करो। आपकी ग्राम-निर्भरता से बाबा देश के आधे से अधिक ग्रामीण मर जायेंगे।

बाबा सोच में पड़ गये। घड़ी देखी और बोले—मेरा दही खाने का समय हो गया। कुटी में गये और दही का कटोरा लेकर आ गये। दही खाने लगे। बोले—तुम्हारा जी तो नहीं ललचाता ?

कबीर ने कहा—नहीं।

बाबा ने कहा—सच्चे साधु हो !

कबीर ने कहा—सो तो ठीक है, पर सन्तों को बाँटकर खाना चाहिए। आप तो दही के मामले में पूंजीपति हो गये।

बाबा ने कहा—बात यह है कि एक सन्त दूसरे को बाँटे तो उसकी खुराक कम पड़ जाती है। मैं नापकर खाता हूँ।

मैंने कहा—ठीक है बाबा, साधु तो कम्बल को छोड़ना चाहता है, पर कम्बल साधु को नहीं छोड़ता। 'माया महाठगनी हम जानी। तिरगुन फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।' रमैया की दुलहन ने सन्तों का बाजार भी लूट लिया।

बाबा दही खा चुके थे। कहने लगे—मैं भी राम का परम भक्त हूँ।

कबीर ने कहा—पर मैंने तो अपने को 'राम की लुगाई' कह दिया।

बाबा ने कहा—तुम कुछ साधना-वाधना करते हो ? मैंने तो इतने कर्म किये और करता हूँ। तुम क्या करते हो ?

कबीर ने कहा—इतने हजार मील पैदल चलने से क्या मिला आपको ? मैं 'सहज साधना' करता हूँ—

साधो, सहज समाधि भली
जहँ-जहँ डोलौं सोइ परिकरमा, जो-जो करौं सो सेवा
जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजौं और न देवा।

फिर मैंने बाबा को थोड़ा संकट में डाला—बाबा, आप रामनाम को परम औषधि मानते हैं। कुछ साल पहले आपको टाइफाइड हुआ था। तब आपने 'क्लोरोमाइसिटीन' ली और अच्छे हुए। रामनाम कहाँ चला गया था?

बाबा थोड़े अकचकाये, फिर बात बनायी—बात यह है कि 'एण्टीबायोटिक' भी रामबाण है, इसलिए मैंने ले ली!

मैंने कहा—और आप 'रामबाण' के बड़े कारखानों के खिलाफ हैं।

मैंने देखा बाबा कुछ परेशान हैं। उचित समझा कि इन्हें छोड़ूँ।

मैंने कहा—बाबा, अब मैं चलता हूँ।

बाबा ने कहा—कुछ कहते जाओ, साधु। मेरे विचार तुम्हें कैसे लगे?

कबीर ने कहा—साधु हूँ। सच को मुँह पर कह देता हूँ। आप न जाने किस दुनिया में रहते हैं। वह दुनिया कितनी शताब्दी पहले की है। आपकी सब बातें उलझी-पुलझी। मेरे विचारों से मेल नहीं खातीं। कहता हूँ—

तेरा मेरा मनुआ बन्दे कैसे एक होय रे!
तू कहता कागद को लेखी, मैं कहता आँखन की देखी
मैं कहता सुलझावन हारी, तू राखै उलझाये रे
तेरा मेरा मनुआ बन्दे कैसे एक होय रे!

और कबीर चल दिया।

कनछेदी ने पूछा—क्या हुआ?

मैंने कहा—कुछ खास नहीं। यही हुआ—तेरा मेरा मनुआ बन्दे कैसे एक होय रे! तुम शहद और दही का अभ्यास करो। 'वेकेन्सी' होनेवाली है।

मोरारजी देसाई से भेंट

कबीर को तब बड़ा दुख होता है, जब बड़े-बड़े नेताओं का नाम अखबारों से गायब होने लगता है। अब सादोबा पाटिल का नाम कई महीनों से अखबारों में देखने को नहीं मिला तो साधु का मन बड़ा दुखी रहता है। भोजन करता हूँ तो याद आता है कि कभी सादोबा खाद्यमन्त्री थे, और हर साल कहते थे कि अगले साल देश खाद्य के मामले में आत्मनिर्भर हो जायगा। पर अभी भी भीख का कटोरा लेकर थाईलैण्ड-जैसे छोटे देश के पास हम जाते हैं कि भैया थोड़ा चावल डाल दे!

इसी सिलसिले में कबीर को मोरारजी भाई की याद आ गयी। मैं अहमदाबाद के लिए निकल पड़ा।

सामने बरामदे में वही कनछेदीलाल दिख गये। कबीर ने पूछा—क्या बात है कनछेदी? गुमसुम बैठे हो?

कनछेदी ने कहा—सोच रहा हूँ कि चरणसिंह के पास चला जाऊँ और 'भारतीय लोक दल' में शामिल हो जाऊँ।

मैंने कहा—अरे, अभी-अभी तो तुम शहद और दही खाकर सर्वोदयी बन रहे थे और अब चरणसिंह के दल में जा रहे हो।

कनछेदी ने कहा—सर्वोदय के शहद का छत्ता निचुड़ गया। भारतीय लोक दल में शक्कर और गुड़ है, वहीं जाऊँगा। पर तुम कहाँ चले?

मैंने कहा—मोरारजी भाई से मिलने।

कनछेदी ने कहा—जाओ। गाली खाना तुम्हारी तपस्या है। जयप्रकाशजी से मिले तो अभी तक गाली खा रहे हो। मोरारजी भाई से मिलोगे, तो और भी गाली खाओगे।

मैंने कहा—कनछेदी, गाली तो मेरे नाम से चलती है। सुना नहीं है तुमने, देश के इस भाग में होली पर जो गाली बकी जाती है, वह मेरे नाम से शुरू होती है—'अरे रे सुनो कबीर!' और अपना तो यह हाल है कि 'सुख-दुख तें एक परे परम पद पा पद रहा रमाई!'

कनछेदी ने कहा—खैर, जाओ। पर सदाचारी बनकर मत लौटना। मोरारजी भाई आदमी को सदाचारी बना देते हैं। आसन, योग-साधना करते रहते हैं।

कबीर ने कहा—यह योगविद्या तो हम सिद्धों ने ही फैलायी थी—अष्टकमल-दल चरखा डोले! मोरारजी भाई भी अष्टकमल की साधना करते हैं और चरखा चलाते हैं। अच्छा चलूँ।

मैं मोरारजी भाई के पास पहुँचा। परिचय दिया तो वे गद्गद हो गये। बोले—आओ, साधु! बड़े अच्छे आये। आजकल मिलने आनेवाले कम हो गये हैं—मन फूला-फूला फिरे जगत में, कैसा नाता रे! तुमने सच कहा है!

मैंने कहा—कहिए कैसे हैं?

मोरारजी भाई ने कहा—अच्छा हूँ। आसन करके निपटा।

कबीर ने पूछा—आप आसन करते हैं? कौन-से आसन करते हैं?

मोरारजी भाई ने कहा—प्रातःकाल कई आसन करता हूँ।

मैंने कहा—शवासन भी करते हैं?

मोरारजी भाई मेरे व्यंग्य को समझ गये। थोड़े तिलमिलाये, फिर बोले—अरे साधो, तुम तो जानते ही हो कि पिछले 4-5 सालों से लगातार शवासन कर रहा हूँ—राजनीति में शवासन!

कबीर ने कहा—पर आप आसन से डोल गये, तो पिया छूट गये।

पूछने लगे—कब डोला मैं आसन से ?

मैंने कहा—आपसे जब इन्दिरा गाँधी ने अर्थविभाग माँगा, तो आपने इस्तीफा क्यों दे दिया ? मन्त्रिमण्डल में बने रहते !

मोरारजी ने कहा—काहे का मन्त्री बना रहता ? वह लेडी (इन्दिरा गाँधी) मुझे बिना विभाग का मन्त्री बना देती या पोस्ट आफिस दे देती । तो क्या मेरे-जैसा आदमी लिफाफों पर सील लगाने बैठता ? मैं अर्थमन्त्री या गृहमन्त्री ही हो सकता हूँ । यह लेडी कुछ भी कर सकती है—निर्मम और कुटिल है ।

कबीर ने कहा—एक अँगरेजी दैनिक में पण्डित द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि उन्होंने आपको प्रधानमन्त्री बनाने की पूर्ण तैयारी कर ली थी, पर आपने अखबारों में यह वक्तव्य देकर कि चुनाव लड़ूँगा, अपना नुकसान कर लिया ।

मोरारजी ने कहा—झूठ बोलता है । बेंगलोर आया था, पाटिल वगैरह के साथ और उड़ गया इन्दिरा गाँधी के और दिल्ली पहुँचकर तरह-तरह की कुटिल चालें बताता रहा इन्दिरा गाँधी को । वह कृष्ण का भक्त है और कृष्ण दन्दी-फन्दी था । झूठ, धोखा, छल-कपट सब करता था । यह मिश्र भी त्रिभंगी है । तीन जगह टेढ़ा है ।

कबीर ने कहा—हाँ, आपने राम और कृष्ण की नीतियों को लेकर अपने और मिश्रजी के बीच हुए वार्तालाप का जिक्र आत्मकथा में किया है । आप राम-भक्त हैं । आपसे मिश्रजी ने कहा था कि राम ने बालि को ताड़ों की ओट से मारा था । आप भी अपने प्रतिद्वन्द्वी को ओट से मारें । पर आप खुले में आ गये और हार गये ।

मोरारजी भाई ने कहा—ओट क्या मैंने नहीं ली ? पर जिन्हें ताड़ समझा था, वे तिनके निकल गये । यह निजलिंगप्पा बड़ा पोंगा आदमी निकल गया । इन्दिरा गाँधी ने उसे भोजन पर बुलाया तो भुखमरे की तरह चला गया । बताओ, कैसा बुद्धू बना ! क्या पता उस लेडी ने उसे भोजन के साथ कुछ खिला दिया हो, जिसके कारण उसकी बुद्धि और भ्रष्ट हो गयी और शाम को उस लेडी को अपने घर खाने का निमन्त्रण दे आया । मगर यह सड़क देखता रहा और वह आयी ही नहीं ।

मैंने पूछा—आप गप्पाजी की जगह होते तो क्या करते ?

मोरारजी भाई ने कहा—मैं भोजन करने तो जाता पर अपना भोजन लेकर जाता । फिर वह कैसे पूछतीं कि भुरता कैसा है और रायता कैसा लगा ? और रात को वह भोजन पर नहीं आतीं तो मैं अनशन कर देता—आमरण अनशन ।

मैंने कहा—हम लोग राम और कृष्ण की बात कर रहे थे । आप कृष्ण के आलोचक और राम के भक्त हैं । पर कृष्ण 16 कलाओंवाले अवतार थे और राम सिर्फ 12 कलाओं से युक्त !

मोरारजी भाई ने कहा—यही अन्याय तो होता है । यही देखो, यह लेडी तो 16 कलाओंवाली हो गयी और मेरे-जैसा परिपक्व अनुभवी राजनेता सिर्फ

4 कलाओंवाला रह गया।

कबीर ने कहा—पर जानकार लोगों का कहना है कि संयुक्त कांग्रेस में झगड़ा यथास्थितिवादी और परिवर्तनवादी का था। आप लोग यथास्थितिवादी 'कंजरवेटिव' हैं और इन्दिरा वगैरह परिवर्तनवादी, याने 'रेडिकल'। मतलब यह कि आप लोग समाजवाद विरोधी और वे समाजवाद समर्थक !

मोरारजी भाई ने कहा—'समाजवाद' याने क्या ? समाज को वातरोग हो जाय, उसे 'समाजवाद' कहते हैं। हम समाज को वातरोग से बचाना चाहते थे। नेहरू रूस हो आये थे और कार्ल मार्क्स नाम के एक आदमी की किताबें पढ़ ली थीं। बस, रूस की नकल पर 'समाजवाद' चिल्लाने लगे।

कबीर ने पूछा—मार्क्स को आपने पढ़ा है ?

मोरारजी भाई सत्यवादी हैं। कहा—नहीं पढ़ा। किताबें पढ़ने में ज़रा कच्चा हूँ। अर्थमन्त्री था पर अर्थशास्त्र सम्बन्धी किताबें मैं नहीं पढ़ता था। ज्ञान तो मेरे भीतर ही है।

कबीर ने कहा—पर गाँधीजी कहते थे, स्वराज्य में हर आँख का आँसू पोंछा जायगा। समाजवाद भी आँसू पोंछता है।

मोरारजी भाई ने कहा—गाँधीजी महात्मा थे। कह सकते थे। पर सरकार का काम आँसू पोंछना है क्या ? करोड़ों नहीं, अरबों रूमाल बनवाओ आँसू पोंछने के लिए। अरे, सरकार का काम है पुलिस से आँसू की गैस छुड़वाकर और आँसू निकालना।

मोरारजी भाई ने कहा—अब मेरे दूध पीने का समय हो गया।

उन्होंने दूध मँगवाया और गटागट पी गये।

कबीर ने पूछा—आप गाँधीजी की तरह बकरी का दूध पीते हैं ?

मोरारजी भाई ने कहा—नहीं, गाय का, काली गाय का !

कबीर ने मजाक के 'मूड' में कहा—सनातनधर्मी हैं आप ?

मोरारजी भाई ने पूछा—यह कैसे कहते हो ?

मैंने कहा—काली गाय का दूध पीते हैं न ! कबीर ने एक सनातनधर्मी का प्रवचन सुना था। वह सनातन धर्म समझा रहा था। कह रहा था—एक स्वाल डालता हूँ। स्वाल है—भैंस काली मगर दूध सुफेद क्यों ? दीजिए जवाब—सनातन धर्म !

मोरारजी खीजे—सनातन धर्म का मजाक उड़ाते हो ! तुम्हारी आदत है। जब तुमने यह कहा था, तब मैं काशी में मुख्यमन्त्री होता तो तुम्हें 'मीसा' में जेल के अन्दर करवा देता। अरे, इसे ऐसा क्यों नहीं समझते कि मैं राजनीति की काली गाय के थनों से सफेद दूध निकालकर पीता हूँ।

कबीर ने कहा—कभी पीते होंगे दूध ! अब तो उस गाय के थनों का पानी ही पी रहे हैं—सफेद पानी !

कबीर ने पूछा—इस कामराज को क्या हो रहा है ? क्या तारकेश्वरी की

तरह लौट जायगा ?

मोरारजी को क्रोध आ गया। कहने लगे—उस लुंगीवाले भैंसे का नाम मत लो। यह वही कामराज है, जिसने मुझे कामराज योजना के नाम से मन्त्रिमण्डल से निकाला था। कहता है—आर्थिक संकट से निपटने के लिए सूबे को सरकार से सहयोग करना चाहिए। नाम 'नाडर' मगर डर गया। पर अब हमारी पार्टी कहाँ बची ? उसे तो चरणसिंह लील गया। सब तो भारतीय लोकदलवाले हो गये।

मैंने एक सवाल ज़रा उत्तेजक पूछा—कुछ भीतरी लोगों का कहना है कि जब कृष्ण मेनन सुरक्षामन्त्री थे, तब आप अर्थमन्त्री थे और सुरक्षा विभाग को बहुत कम पैसे देते थे। क्या यह सही है ?

मोरारजी तमतमाये। बोले—तुमने देश के तीसरे खराब आदमी का नाम लिया। अरे साधु, मैं उसे पैसे क्यों देता ? वह तो सुरक्षा-कारखानों में कप-बसी बनवाता था।

कबीर ने कहा—माफ करें, भाईजी, आप चौराहे के गपोड़े-जैसी बात कर रहे हैं। मेरे शहर में 4 सुरक्षा-उत्पादन के कारखाने हैं। बड़े-बड़े विशेषज्ञों ने मुझसे कहा कि मेनन सुरक्षा को आधुनिकतम और आत्मनिर्भर बना रहा है, पर तभी चीनी हमला हो गया और मेनन को आप लोगों ने निकाल दिया।

मोरारजी भाई ने कहा—अच्छा हुआ। साधु, तुमने मौलाना आजाद की किताब पढ़ी है ? इण्डिया विंस फ्रीडम ?

मैंने कहा—हाँ, मैं पढ़ने में कच्चा नहीं हूँ।

मोरारजी ने पूछा—मौलाना ने इस मेनन के बारे में क्या लिखा है ?

कबीर ने कहा—यही लिखा है कि मेरे और सरदार पटेल के कई मामलों में विकट मतभेद थे, पर एक बात में हम सहमत थे कि मेनन खतरनाक आदमी है और नेहरू के दिमाग को बहकाता है।

मोरारजी बोले—अरे, साधु भोले हो ! वह न निकलता तो नेहरू के बाद वही प्रधानमन्त्री बन जाता और तब भारत को रूस का एक प्रदेश बना देता। अभी भी यह 'लेडी' भारत को रूस का हिस्सा बनाने में लगी है।

कबीर ने पूछा—'गरीबी हटाओ' नारे के बारे में क्या खयाल है ?

मोरारजी भाई ने कहा—धोखा ! सरासर धोखा ! वोट पाने के लिए। अब देख लो, गरीबी हटी है कि बढ़ी है ?

मैंने पूछा—तो क्या गरीबी कभी नहीं हटेगी ?

मोरारजी भाई ने कहा—कैसे हटेगी ? अरे, गरीब हैं तब तक गरीबी है। गरीब परलोक चले जायेंगे तो गरीबी मिट जायगी।

कबीर इस सुलझे हुए तर्क से बहुत प्रभावित हुआ।

चलते-चलते मैंने पूछा—आपका दिन कैसे कटता है ?

मोरारजी भाई ने कहा—बस सुबह उठना, आसन करना, दूध पीना, चरखा कातना, लोगों से मिलना, आत्म-कथा लिखना।

मैंने पूछा—और ?

वे बोले—और चिन्तन करते रहना।

मैंने कहा—काहे का चिन्तन ? अध्यात्म, दर्शन वगैरह का ?

मोरारजी भाई ने कहा—हाँ, उसे अध्यात्म ही कह सकते हो। यही चिन्तन करता रहता हूँ कि प्रधानमन्त्री कैसे बनूँगा।

मैंने पूछा—सिनेमा देखते हैं ? रेडियो पर गाने सुनते हैं ?

जवाब मिला—नहीं देखता। दोनों अनैतिक हैं।

मैंने कहा—बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय॥

क्या आपका भी अपने बारे में यही खयाल है ?

भाईजी गुस्से में आ गये। तीखी आवाज में कहा—साधु, तुम जाओ यहाँ से !

मैंने कहा—अच्छा ! जय रणछोड़दासजी की !

वे तिलमिला गये। चिल्लाये—भाग यहाँ से साधु ! तू साधु है और मैं सत्ता में नहीं हूँ। अगर हवलदार भी होता, तो तुझे हवालात में बन्द कर देता। भाग, नहीं तो चरखा फेंककर मार दूंगा।

कबीर भागा।

लौटा तो कनछेदीलाल ने पूछा—कैसे लगे मोरारजी भाई ?

कबीर ने कहा—बहुत अच्छे! किसी का नुकसान नहीं करते। जो भी नुकसान करना है, अपना ही करते हैं।

किसिंगर साहब से भेंट

कबीरदास कुटी से निकला तो वही कनछेदी बरामदे में बैठा मिल गया। अखबार पढ़ रहा था। मैंने पूछा—कहो कनछेदी, क्या हाल-चाल हैं ?

कनछेदी ने कहा—हाल तो ठीक है पर चाल ठीक नहीं है।

कबीर ने पूछा—चाल कैसे ठीक नहीं है ?

कनछेदी ने जवाब दिया—चाल यों ठीक नहीं है कि कहाँ तो हम सन्त बनने चले थे और कहाँ अब तस्कर बनने की सोच रहे हैं। इस समय सन्त विनोबा से ज्यादा नाम तस्कर बादशाह हाजी मस्तान का है। सन्तत्व में क्या धरा है ! तस्करी ही धर्म है। और फिर मेरा मन हो रहा है कि बिहार-जैसी समानान्तर सरकार बनाने की पहल इधर भी करूँ। उस सरकार को राष्ट्रसंघ में शामिल कर ही लिया जायगा। मैं इधर का जयप्रकाश नारायण बनना चाहता हूँ। जब इस

जयप्रकाशी पूर्ण क्रान्ति में तस्कर, जेबकतरा, लफंगा सब आ सकते हैं, तब दो बार का सजायाफ्ता कनछेदी क्यों नहीं आ सकता ?

मैंने कहा—तुम्हारी चाल तो ठीक है। जरूर दोनों काम करो। 'मीसा' में जेल जाओगे तो जॉर्ज फर्नांडिस-जैसे क्रान्तिकारी तुम्हारे भले के लिए वक्तव्य देंगे। जॉर्ज दो बार कह चुके कि तस्करियों को 'मीसा' में बन्द क्यों किया ? इनके लिए भारतीय दण्ड संहिता काफी थी।

कनछेदी ने कहा—साधु, ऐसा है—हिन्दू-मुसलिम भाई-भाई ! तस्कर-तस्कर भाई-भाई ! पर तुमसे एक शिकायत है सन्त ! तुमने कहा है—'कटुक वचन मत बोल री, तोहे पिया मिलेंगे' और इधर तुम अच्छे-अच्छे आदमियों से 'कटुक वचन' बोल रहे हो—सन्त विनोबा से, सन्त मोरारजी भाई से कटुक वचन बोल आये।

कबीर ने कहा—कनछेदी, यह उपदेश तो मैंने दूसरों को दिया है। यह मेरे लिए थोड़े ही है। सन्त एक नैतिकता अपने लिए रखता है, दूसरी दूसरों के लिए। देखो न शंकराचार्य कहते हैं—ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, मगर मठ की प्रॉपर्टी के लिए हाईकोर्ट में मुकदमा लड़ते हैं। एक शंकराचार्य दूसरे के खाते से पैसे निकाल लेता है।

कनछेदी ने कहा—खैर, अब कहाँ जा रहे हो ?

मैंने कहा—अमेरिका, हेनरी किसिंगर से मिलने !

कनछेदी ने कहा—तुम्हारा उस भले आदमी से मिलना शुभ नहीं है। पिछली बार तुम निक्सन से मिले थे। उसके बाद ही उसने इस्तीफा दे दिया ! खैर जाओ। कटुक वचन मत बोलना।

कबीर वाशिंग्टन पहुँचा। किसिंगर बड़े व्यस्त थे। पहले तो उन्होंने कहलवा दिया—मैं साधु-वाधु से नहीं मिलता।

मैं बैठा रहा तो थोड़ी देर बाद किसिंगर का सेक्रेटरी आया और बोला—साधु, तुम नहीं जाओगे ? अच्छा, चलो भीतर। साहब दो मिनट बात कर लेंगे।

कबीर भीतर गया। किसिंगर फाइलें देख रहे थे। मेरी तरफ देखा और पूछा—तुम कौन हो ?

कबीर ने कहा—मैं सन्त हूँ और कवि भी हूँ। भारत से आया हूँ।

किसिंगर ने कहा—तुम्हारे यहाँ से साधु-सन्त तो बहुत आते हैं। कुछ डॉलर ले लो और जाओ। पर तुम कवि भी हो। कैसे कवि हो ? अरे पण्डित नेहरू ने अपनी टेबल पर तुम्हारी कविता लिखकर क्यों नहीं रखी ? हमारे कवि राबर्ट फास्ट की कविता क्यों लिखकर रखी प्रेरणा के लिए ?

> दी वुड्स आर फुल ग्रीन एण्ड डीप
> बट आई हैव प्रामिजेज़ टु कीप
> सो माइल्स मोर एण्ड देन आई स्लीप
> माइल्स मोर एण्ड देन आई स्लीप !…

हमसे गेहूँ भी लोगे और कविता भी।

कबीर ने कहा—सँकरापन और अन्धापन अमेरिकी दिमाग की खूबी है। नेहरू में विश्व-भावना थी। कवि क्या एक देश का होता है? शेक्सपियर क्या अँगरेजों के बाप की प्रॉपर्टी है? या वाल्ट ह्विटमेन क्या तुम्हारे बाप की प्रॉपर्टी है?

मेरी बात से किसिंगर चौंके। मेरा रंग बँधने लगा।

किसिंगर ने पूछा—साधु, तुम मुझसे दिल्ली में ही क्यों नहीं मिले?

कबीर ने कहा—इसलिए कि तुम सच हमेशा कहीं और बोलते हो। तुमने काहिरा में सच नहीं बोला। सच बोला—तेल अबिब में—कि हम इसराइल का फायदा देखेंगे।

इस बात से किसिंगर चौंके। कबीर ने सोचा, इसे और चौंकाया जाय।

कबीर ने कहा—क्या यह सच नहीं है कि तुम हमारे तस्करों की तेज नाव पर बैठकर हिन्द महासागर आये, वहाँ डियागो से हवाई जहाज में बैठे और घूम-घामकर पालम हवाई अड्डे पर ऐसे आये जैसे सीधे वाशिंग्टन से आ रहे हो। तस्करों से तुम्हारी यह दोस्ती क्यों?

किसिंगर को पसीना आ गया।

कहने लगे—यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ? किसने कहा?

कबीर ने कहा—साधु की दो आँखें और दो कान नहीं होते। साधु से कुछ छिपा नहीं है। सच बताओ।

किसिंगर ने कहा—मैं समर्पित ईसाई हूँ। साधु से झूठ नहीं बोलता। तुम ठीक कह रहे हो। मैं तुम्हारे तस्करों को अपना सहयोगी मानता हूँ। जो भी भारत का अर्थतन्त्र तोड़ने में लगा है, वह हमारा दोस्त है।

कबीर ने कहा—एक सम्बन्ध और है। तुम भी तस्कर ही हो—इण्टरनेशनल पोलिटिकल स्मगलर! इस देश की नीति की तस्करी उस देश को करते हो और दूसरे देश की तीसरे देश को। अच्छा, तुम इतना सफर करते हो समझौतों के लिए। हमारे यहाँ कृष्ण मेनन था। वह भी समझौतों के लिए दुनिया-भर में घूमता था।

किसिंगर ने कहा—ओ, कृष्ण मेनन! हाँ, जानता हूँ। बहुत तेज दिमाग का था, पर उसकी जबान बहुत खराब थी। तुम्हारी प्रधानमन्त्री कहती हैं—वह एक ज्वालामुखी था। ठीक है। उसके मुँह से आग निकलती थी। अब देखो, अस्पताल में मौत के पास पड़ा था और पत्रकार तुम्हारे अणु-परीक्षण के बारे में पूछने गये तो कहता है—हाँ, हमने अणु-परीक्षण किया। क्या तुम समझते हो हम इतने सालों से बच्चों की तरह गोलियाँ खेल रहे थे? बताओ भला, ऐसी बात कही जाती है।

मैंने कहा—वाल्तेयर जो जीवन-भर ईसाई धर्म के पाखण्ड से लड़ता रहा, उसके पास मरते समय पादरी पहुँचे। उसने पूछा—क्यों आये? पादरी बोले—

तुम्हारी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करने। वाल्तेयर ने पूछा—पर तुम्हें किसने भेजा? पादरी बोले—हम तो ईश्वर के भेजे आये हैं। वाल्तेयर ने फौरन कहा—तो मुझे ईश्वर का लिखा अधिकार-पत्र दिखाओ। और पादरी चले गये। वाल्तेयर भी ज्वालामुखी था। अच्छा, आप ज्वालामुखी क्यों नहीं बन जाते?

किसिंगर ने कहा—मैं ज्वालामुखी नहीं, पनडुब्बी हूँ। पानी में छिपकर वार करता हूँ।

कबीर ने कहा—पर मेनन ने तो इतने समझौते करवाये। तुम्हारे 11 आदमी भी चीन से उसी ने छुड़वाये। तुम दुनिया के इतने चकरदण्ड पेल चुके, पर समझौता एक भी नहीं करवाया।

किसिंगर ने कहा—समझौता कराने कौन बेवकूफ जाता है? मैं तो झगड़े बढ़ाने जाता हूँ। अगर दुनिया में समझौते हो गये और शान्ति हो गयी, तो महान अमरीका को कौन पूछेगा?

कबीर ने कहा—इसीलिए तुमने चिली में जनतन्त्र को नष्ट किया। श्रीमती एलेण्डे तो साफ कहती हैं कि किसिंगर ने चिली की निर्वाचित सरकार को खत्म करके फौजी तानाशाही लाद दी।

किसिंगर ने कहा—औरतों की बातों का क्या? भई, चिली की सरकार कम्युनिस्टों की सरकार थी। उसे गिराना तो हमारा फर्ज था।

कबीर ने कहा—पर वह निर्वाचित सरकार थी। तुम्हारे यहाँ भी निर्वाचित सरकार है। अपने यहाँ निर्वाचित सरकार की रक्षा करते हो, मगर दूसरे देश में उसे गिराते हो। यह दुरंगी नीति क्या है?

किसिंगर ने कहा—निर्वाचित सरकार होने से क्या होता है? सरकारों को हमारा पिछलग्गू होना चाहिए। पर तुम्हारी प्रधानमन्त्री चिली के मामले को लेकर इतनी लाल-पीली क्यों हो रही थीं? कहती थीं—चिली से भारत को सबक लेना चाहिए।

कबीर ने कहा—हमारे देश में भी तो सी. आई. ए. सक्रिय है। क्या तुम भारत में चिली-सरीखा नहीं करवा सकते?

किसिंगर ने कहा—करवा सकता हूँ, पर तुम्हारा देश तैयार तो हो। इतना पिछड़ा देश है तुम्हारा कि हम उसका चिली-जैसा भला नहीं कर सकते। तुम साधु हो, कोशिश करो। तैयारी हो जाय, तो मुझे बताओ। मैं दूसरे दिन भारत को चिली कर दूंगा।

कबीर ने पूछा—आप भारत क्यों गये थे?

किसिंगर ने कहा—भारत-अमरीकी सम्बन्ध सुधारने।

कबीर ने पूछा—इसी वक्त क्यों गये थे?

किसिंगर ने कहा—इसलिए कि तुम्हारे यहाँ अकाल पड़ा है। सम्बन्ध सुधारने का सबसे अच्छा मौका यही होता है। तुम्हें हमसे गेहूँ चाहिए। जब तुम उधार गेहूँ माँगते हो, तब आपसी सम्बन्ध अच्छे हो जाते हैं। देखो, तुम्हारा

रजदूत कोल मेरी कैसी तारीफ करने लगा है। अहा, देखकर तबीयत खुश हो गयी। कैसा अच्छा अकाल पड़ा है, मजा आ गया।

कबीर ने कहा—पर तुम पाकिस्तान को हथियार देते जाओगे, तो भारत से सम्बन्ध कैसे सुधरेंगे?

किसिंगर ने कहा—तुम भी ले लो।

कबीर ने कहा—याने तुम्हारा गेहूँ खाकर तगड़े हों और तुम्हारे हथियारों से आपस में लड़ें। इसी को अच्छे सम्बन्ध कहते हैं।

किसिंगर ने कहा—तुमने पते की बात कही। यही हमारी नीति है।

मैंने पूछा—और ये डियागो गार्सिया में फौजी अड्डे क्यों बना रहे हो?

किसिंगर ने कहा—एक तो तुम्हें यह पूछने का हक नहीं है। वे द्वीप तुम्हारे नहीं, ब्रिटेन के हैं। हमने किराये पर लिये हैं। अपनी किराये की जमीन पर हम कुछ भी करें।

कबीर ने कहा—याने कब्र भी खोद सकते हैं, अपनी या किसी की?

किसिंगर ने कहा—भई, हम शान्ति के लिए वहाँ सैनिक अड्डा खोल रहे हैं।

मैंने कहा—दुनिया आपकी शान्ति को जानती है। दक्षिण-पूर्व एशिया गये तो वहाँ कैसी अच्छी शान्ति रही। मध्यपूर्व में गये तो वहाँ भी शान्ति! अव इधर भी शान्ति करोगे?

किसिंगर ने कहा—हमारा वहाँ होना जरूरी है। वहाँ रूस है।

कबीर ने कहा—कहाँ है रूस?

किसिंगर ने कहा—और भारत क्या है? भारत ही तो रूस है। भारत रूस का सैनिक अड्डा है तो हमारा भी वहाँ होना चाहिए।

कबीर इसका क्या जबाब देता?

विषय बदला—आप कहते हैं कि अमेरिकी जनता वियतनाम और वाटरगेट को भूल जाय! क्यों भूल जाय? क्या आप वियतनामियों से कह सकते हैं कि वे अमेरिका को भूल जायें?

किसिंगर ने कहा—भई, आम अमेरिकी बेवकूफ होता है। उससे समय-समय पर ऐसी बातें कहते रहना चाहिए। बेचारा निक्सन बीमार है। वाटरगेट की याद दिलाने से वह मर जायगा। जहाँ तक वियतनामियों का सवाल है, तुम उनसे कहो कि भूल जायें।

मैंने कहा—आपने निक्सन की बात की। निक्सन कैसा आदमी है?

—महत्त्वाकांक्षी पर बेवकूफ, वरना वाटरगेट में नहीं फँसता!

मैंने कहा—तुमने क्यों नहीं बचाया उसे?

किसिंगर ने कहा—क्यों बचाता? मैं राष्ट्रीय सुरक्षा का सलाहकार था, राष्ट्रपति की सुरक्षा मेरे जिम्मे नहीं थी। और फिर अपना राष्ट्रपति फँसे तो अच्छा ही लगता है।

मैंने पूछा—और फोर्ड कैसा है?

किसिंगर ने कहा—वह 'मीडियाकर' है—मिडिलची !

कबीर ने पूछा—राष्ट्रपति का अगला चुनाव क्या तुम लड़ोगे ?

किसिंगर ने कहा—कतई नहीं ।

कबीर ने कहा—मैं समझ गया। तुम नम्बर दो रहकर नम्बर एक पर कब्जा किये रहना चाहते हो ।

किसिंगर ने कहा—बस यही अपना इरादा है। जान फास्टर डलेस के बाद अब मैं हुआ हूँ ।

कबीर उठने को हुआ, तो किसिंगर ने कहा—तुम विचित्र साधु हो ! राजनीति की इतनी बातें करते हो ! अरे, भगवान का भजन करो। खैर, इतनी दूर से आये हो तो कुछ डॉलर लेते जाओ।

कबीर ने कहा—डॉलर लेकर क्या करूँगा ? डॉलर का भरोसा भी तो नहीं है। अभी कुछ ही साल पहले डॉलर को कोई पूछता नहीं था ! तब लोगों ने देखा था कि लन्दन में सड़क के किनारे एक भिखारी एक तख्ती लिये बैठा था। तख्ती पर लिखा था—डॉलर्स नाट एक्सेपटेड ! याने डॉलर नहीं लिये जायेंगे।

इसके बाद 'बैड लक' कहकर कबीर कमरे से निकल गया ।

लौटा तो कनछेदी ने कहा—कहो, कैसा लगा किसिंगर ?

कबीर ने कहा—बड़ा काँइयाँ। पर गेहूँ देगा। अपने जमाखोर भारत-अमेरिकी सम्बन्ध मधुर बना रहे हैं ।

कनछेदी ने कहा—गेहूँ देगा, तो फिर कनछेदी दोपहर को आज खूब रोटियाँ खायगा ।

एक कुलपति से भेंट

कबीर ने यह सोचा कि जयप्रकाश से मिल लिये, सन्त विनोबा से मिल लिये, मोरारजी भाई से मिल लिये पर आजकल अखबारों में हाजी मस्तान का नाम कम आ रहा है, और जयप्रकाश का नाम अधिक आ रहा है। कबीर ने सोचा, नेताओं से न मिलें। इसलिए कबीर निकला एक विश्वविद्यालय के कुलपति से मिलने के लिए ।

बाहर निकला तो वही कनछेदी दाँत खोदते दिखे। कबीर ने कहा—कनछेदी, तुम बरामदे में बैठे-बैठे क्या करते हो? तुम कुछ काम-धाम तो करते नहीं हो, फिर दाँत कैसे खोदते हो ?

कनछेदी ने कहा—कबीर, तुम भी सन्त और मलूकदास भी। सन्त मलूक-

दास ने कहा है—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम,

दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।

फिर कनछेदी ने कहा—कबीर, दाँत तो इसलिए खोद रहा हूँ कि अमेरिका से गेहूँ आनेवाला है। संसद में मन्त्री शिन्दे ने कहा है कि हम अमेरिका से अनाज माँग रहे हैं। इसमें आत्मसम्मान जाने की कोई बात नहीं है। जब देश में अनाज के भण्डार पड़े हों, तब यदि भीख माँगने से आत्मसम्मान नहीं जाता, तो कनछेदी दाँत तो खोदेगा ही। पर कबीरदास, तुम कहाँ चले ?

कबीर ने कहा—मैं जा रहा हूँ एक विश्वविद्यालय कुलपति से मिलने।

कनछेदी ने कहा—सन्त, अभी तुम मिले मोरारजी भाई से, किसिंगर से, अब जा रहे हो कुलपति से मिलने ?

कबीर ने कहा—इसमें क्या गलत है !

कनछेदी ने कहा—किसी डीन से क्यों नहीं मिल लेते ?

कबीर ने कहा—वह डीन नहीं, 'दीन' होता है। उससे बड़ा कुलपति होता है। कोई-कोई कुल-नाशपति भी होते हैं। पर कबीर उनसे मिलेगा जरूर।

कनछेदी ने कहा—मिल आओ साधु, पर ज्ञान लेकर मत आना।

कबीर रेल में बैठा और पहुँच गया एक विश्वविद्यालय के कुलपति के यहाँ।

कुलपति ने पूछा—आप कौन ? किस काम से आये हैं ? क्या लड़के को भर्ती कराना है ? या लड़के के नम्बर बढ़ाना है ?

कबीर ने कहा—ये सब काम मुझे नहीं कराने हैं। आप हिन्दी और संस्कृत के डॉक्टर हैं, आपने मुझे पहचाना नहीं ? मैं कबीरदास हूँ, जिसकी कविता आपके यहाँ पढ़ायी जाती है।

कुलपति बोले—हाँ-हाँ, कबीरदास एक कवि था मध्ययुग में। पर वह गाली बकता था और रहस्यवाद भी कहता था। तुम्हारी जाति का कोई ठिकाना नहीं। कोई कहता है कि तुम विधवा ब्राह्मण-स्त्री के पेट से पैदा हुए और तुम्हें पाला नूरू जुलाहे ने। न तुम ब्राह्मण, और न तुम मुसलमान।

कबीर ने कहा—मैंने खुद कहा कि जात बाहर से बनती है—

तू बाम्हन बम्हनी का जाया, आन द्वार काहे नहि आया।

और—

तू है तुरक तुरकनी जाया, भीतर खत्तन क्यों न कराया।

कुलपति बोले—मैं तो ब्राह्मण हूँ। मेरी मजबूरी है कि मेरे विश्वविद्यालय में कबीरदास पढ़ाया जाता है। तुम्हारे पास जनेऊ नहीं है, मेरे पास है।

कबीर ने कहा—जनेऊ तीन काम में आते हैं, याने झूठी कसम खाने के लिए, चाबी बाँधने के लिए और पेशाब करने के लिए। मैंने कहा है—

मूतै लिंगी बाँधे कान,
जे देखो बम्हन का ज्ञान।

और मैंने कहा है––साधो पाण्डे निपट कुचाली।

तब कबीर ने उनसे पूछा—आप कुलपति हैं। आप कुलपति कैसे बने ?

कुलपति बोले—सारे कुलपति सरकार की इच्छा से बनते हैं। अक्सर राज्यपाल कुलाधिपति होता है। उसकी आरती करो, तो चाहे जो बन जाओ। हमारे राज्यपाल बहुत अच्छे हैं। वे मछली, सुअर का गोश्त खाते हैं, पर एक घण्टा भगवान की पूजा करते हैं। मैं अपनी जेब में माचिस और ऊदबत्ती लेकर जाता था। ऊदबत्ती जलाकर उनकी आरती करता था और उन्हें भजन सुनाता था। मैं सुनाता था—

जय जगदीश हरे,
भक्तजनों के संकट पल में दूर करे।

और—पाप हरो देवा—याने हम तो पाप करते ही जायेंगे लेकिन उन पापों का हरण आप करो। राज्यपाल खुश हो गये, और मुझे बना दिया कुलपति।

मैंने पूछा—मैं तो बेजात हूँ। आप ब्राह्मण हैं और राज्यपाल आपसे नीची जाति का है। फिर ब्राह्मण का अहंकार कहाँ गया ?

कुलपति ने पूछा—कबीरदास तुम ही बतलाओ ?

कबीर ने कहा—परशुराम ब्राह्मण थे और बड़े ही अहंकारी थे। वे बुढ़ापे में लक्ष्मण से बहस कर रहे थे। उनके पास फरसा था। वे शिव के भक्त थे, लेकिन शिव ने केवल एक धनुष बनाया था—वह 'सैम्पल' का धनुष था। उसे राम ने, जो क्षत्रिय थे, तोड़ दिया। तब परशुराम ने कहा—

राम रमापति कर धनु लेहू,
खेंचहु चाप, मिटै सन्देहू।

और—

छुअत चाप आपहिं चढ़ गयऊ,
परसुराम मन विस्मय भयऊ।

और तब परशुराम रिटायर हो गये।

आप रिटायर कब होंगे ? आप क्या काम करवा रहे हैं ? क्या कोई शोध करवा रहे हैं ?

कुलपति बोले—शोध तो मैं खुद कर रहा हूँ। पहले यहाँ ब्राह्मण अधिक थे, अब साले कायस्थ अधिक हो गये हैं, तो बैलेन्स बिगड़ गया है। मैं शोध कर रहा हूँ कि जो कायस्थ नहीं हैं, उन्हें ब्राह्मणों के साथ कैसे लाया जाये। दूसरी शोध मैं यह कर रहा हूँ कि पहली तारीख को तनख्वाह कैसे मिले। तीसरी शोध मैं यह कर रहा हूँ कि किस विश्वविद्यालय से अपने सम्बन्ध जोड़ लूं कि मैं वहाँ परीक्षक, मार्डरेटर होकर जाऊँ और वे मेरे यहाँ आयें। इसमें करीब 15 हजार रुपये ऊपर से मिलते हैं।

कबीर ने पूछा—शिक्षा की हालत क्या है ?

कुलपति बोले—कुजात—कबीर तुमने खुद ही कहा है कि—

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पण्डित भया न कोय,
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय।

और—बूड़ा वंश कबीर का, उपजे पूत कमाल।

कबीर ने कहा—ढाई की जगह क्या आप चार अक्षर नहीं बोल सकते, प्रेम के ? आपके यहाँ लड़के-लड़कियाँ हड़ताल करते हैं, घेराव करते हैं।

कुलपति बोले—ये सब गुण्डे हैं और तुम्हारे-जैसे आदमी इन्हें बिगाड़ते हैं। न पढ़ने के लिए छात्र आते हैं, न पढ़ाने के लिए अध्यापक। अध्यापक हाजिरी और तनखा के लिए आते हैं और छात्र ऊधम करने और नकल करने के लिए।

कबीर ने कहा—जब शिक्षा में सुधार नहीं हो रहा है, लड़के-लड़कियों को पढ़ाया नहीं जाता, उनकी यही माँग नहीं मानी जाती, तो ये लड़के-लड़कियाँ घेराव, प्रदर्शन, नकल, वगैरह क्यों नहीं करेंगे ?

कुलपति बोले—करें !

कबीर ने कहा—आपके लड़के-लड़कियाँ तो हैं। क्या वे भी यही करते हैं ?

कुलपति बोले—मेरे भी लड़के-लड़कियाँ बिगड़ गये हैं। वे भी दूसरे गुण्डे छात्रों के साथ मेरा घेराव करते हैं, याने अपने बाप का घेराव।

कबीर ने कहा—यह तो 'एक्सीडेण्ट' है कि वे आपके बेटा-बेटी हो गये किसी को यह अधिकार नहीं है कि जन्म के पहले वह अपना बाप चुन ले। यह अधिकार होता तो कबीर भी ब्राह्मण बाप चुन लेता।

कुलपति अब थोड़े घबड़ाये। कहने लगे—कबीरदास, तुम्हारे बारे में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने थोड़ा-सा लिखा है, लेकिन वो रवीन्द्रनाथ ठाकुर पता नहीं कैसे भक्त हो गया। उस बंगाली ने तुम्हारी सौ कविताओं का अनुवाद अंग्रेजी में किया और लिखा कि मैंने कबीरदास से बहुत कुछ सीखा है। तुम गँवार, तुम्हारी भाषा गँवार, मुझे आश्चर्य है कि रवीन्द्रनाथ सरीखा परम विद्वान तुम्हारा भक्त कैसे हो गया ?

कबीर ने कहा—आचार्यजी, ज्ञान की सीमा नहीं है। आप डबरे के मेढ़क हैं, जो यह समझते हैं कि मैं महासमुद्र का मगरमच्छ हूँ।

कबीर ने पूछा—क्या आप शिक्षा में परिवर्तन के बारे में सोचते हैं ? क्या आप छात्रों की समस्याओं के बारे में सोचते हैं ? मेरा मतलब है कि आप कुछ सोचते हैं ?

कुलपति बोले—मैंने सोचना पन्द्रह साल पहले छोड़ दिया। अब मैं बड़ा चिन्तन करता हूँ कि तनख्वाह कब मिलेगी ? विश्वविद्यालयों से पैसे मुझे कब मिलेंगे ? देखो, वह हरामजादा जयपुर विश्वविद्यालय का, उसने मुझे दो साल में कुछ नहीं दिया। मैं इन सब बातों पर चिन्तन करता रहता हूँ। मेरी दो लड़कियाँ हैं और दोनों पी-एच. डी. हैं, लेकिन वे शादी करना चाहती हैं, गैरब्राह्मण से। इन साले कायस्थों ने सब नाश कर दिया। परम ब्राह्मण की लड़कियाँ पढ़-लिख-कर शादी करना चाहती हैं, छोटी जात के लोगों से।

कबीर ने कहा—बड़ी अच्छी बात है। ये लड़कियाँ प्रेम-विवाह कर लेंगी, तो आपको दहेज नहीं लगेगा। हर अच्छे पिता को और माता को भगवान से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि भगवान, मेरी लड़की किसी के साथ भाग जाये और शादी कर ले। आप तो विद्वान हैं, आपके कितने लड़के हैं ?

कुलपति बोले—तीन लड़के हैं।

कबीर ने कहा—तीन लड़के नहीं, तीन 'चेक' हैं। ये आपके 'ओवर ड्राफ्ट' हैं।

कुलपति बोले—अरे कबीरदास, मेरा बस चलता तो सारे देश में तुम्हारी कविताएँ नहीं पढ़ायी जातीं। तुम नम्बर एक के बदमाश कवि हो ! तुम लड़के-लड़कियों को बिगाड़ते हो, उनका दिमाग खराब करते हो !

कबीरदास ने कहा—कुलपतिजी, लड़के-लड़कियों का दिमाग तो आपके पास गिरवी रखा है। दिमाग आप बिगाड़ रहे हैं। न आपने पिछले बीस साल से कुछ पढ़ा, न लिखा, न शोध करायी। आप फँसे हैं इस चक्कर में, ब्राह्मण कायस्थ को कैसे हरा दे और कायस्थ इस चक्कर में पड़े हैं कि ब्राह्मणों को कैसे हरा दें। शिक्षा कहाँ है ? ज्ञान कहाँ है ? शोध ? मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, तो क्या मैं कवि नहीं हूँ ?

कुलपति बोले—अरे कविता तो लिखते थे ब्राह्मण। ये कबीर जुलाहा कहाँ से आ गया ? ये कुम्भनदास जो मटके बनाता था, कैसे कवि हो गया ? और ये नामदेव दर्जी कवि कैसे हो गया ? और ये रैदास चमार कैसे कवि हो गया ? पर हमारी मजबूरी है कि हम ब्राह्मणों को पढ़ानी पड़ती हैं, इन शूद्रों की कविताएँ।

कबीरदास ने पूछा—विश्वविद्यालय का आगामी कार्यक्रम क्या है ?

कुलपति बोले—मेरा कार्यक्रम तो तय है। मन्त्री के पास जाना, उनकी आरती करना। फिर राज्यपाल के पास जाकर उनकी आरती करना, और अपनी नौकरी बचाये रखना और तनख्वाह तथा भत्ते लेते रहना।

कबीर ने कहा—बड़ी अच्छी बात है कि आप विश्वविद्यालय को इस तरह चला रहे हैं। आप महान योगी हैं, याने पैसे का टोटल करते रहते हैं। अब मैं चलूँ ?

कुलपति बोले—जाओ, लेकिन मेरा वश चला तो तुम्हारी सारी कविताएँ विश्वविद्यालयों से निकलवा दूंगा।

कबीर ने कहा—बहुत धन्यवाद। जो जितना निकाला जाता है, वह उतना ही भीतर घुस आता है। तुम निकालोगे लेकिन मैं घुस आऊँगा। जब मैंने यह कहा है कि—'बूड़ा वंश कबीर का, उपजे पूत कमाल।' तो मैं आपकी क्या परवाह करता हूँ ?

कबीरदास उठ दिया।

लौटा तो कनछेदी फिर दिख गया। पूछने लगा—कबीरदास, कुलपति से मिल आये ? कैसे हैं ?

कबीर ने कहा—बहुत अच्छे हैं। शिक्षा, छात्र, शोध, ज्ञान इन्हें फालतू मानते हैं। तनख्वाह, भत्ता, ऊपरी आमदनी और चापलूसी को भगवान मानते हैं।

एक मुख्यमन्त्री से भेंट

यह कनछेदी भी अजब किस्म का आदमी है। कभी दाँत खोदता बरामदे में बैठा रहता है। मैं पूछता हूँ—कनछेदी, क्या कर रहे हो? वह कहता—कुछ नहीं, बैठे हैं। बैठे रहना भी एक काम है। कहो तो खड़ा हो जाऊँ। पर तुम किससे मिलने जा रहे हो? अभी उस दिन वह खुद ही कबीरदास के पास आ गया।

मैंने कहा—कहो कनछेदी, कैसे आ गये इतने सबेरे? घर में आटा-दाल है कि नहीं?

कनछेदी ने कहा—आटा-दाल तो गोदामों में है। न घर में, न पेट में, फिर भी दाँत तो खोदते ही रहते हैं। आदत जो पड़ गयी है। पर तुमने साधु, राजनीति के महामानवों को छोड़कर कुलपति वगैरह से मिलना क्यों शुरू कर दिया? क्या डर गये? और कुलपति और 'डीन' याने 'दीन' के पास क्यों जाने लगे? अब तुम किसी मुख्यमन्त्री से मिलो।

कबीर ने कहा—अच्छा, अब किसी मुख्यमन्त्री से ही मिलूंगा।

कबीरदास एक दिन एक मुख्यमन्त्री से मिलने पहुँच गया। चिट भेजी। बड़ी देर बाद मुख्यमन्त्री का सेक्रेटरी आया। कहने लगा—साहब बहुत व्यस्त हैं। तुम साधु हो। क्या काम है? किसी का तबादला कराना है? किसी को नौकरी दिलानी है? या कोई संस्था हो, मठ हो, उसके लिए पैसा लेना है?

कबीर ने कहा—मुझे कुछ नहीं चाहिए। मेरा कोई काम नहीं है।

सेक्रेटरी ने कहा—यहाँ तो सब काम कराने ही आते हैं। कुछ काम नहीं है, तो अपना और सी. एम. का समय नष्ट क्यों कर रहे हो?

कबीर ने कहा—लोगों से मिलना मेरा काम है। इसमें समय नष्ट नहीं होता। फिर मैं साधु हूँ—ऐसा आशीर्वाद दूँगा मुख्यमन्त्री को कि पार्टी में उनका विरोधी गुट नष्ट हो जायगा।

सेक्रेटरी ने कहा—अच्छा, रुको। मैं साहब से पूछकर आता हूँ।

सेक्रेटरी ऊपर गया। थोड़ी देर बाद लौटा। बोला—चलो, साहब बुला रहे हैं।

कबीर मुख्यमन्त्री के पास पहुँचा। वहाँ काफी लोग थे। बड़े नेता, मझोले नेता, छोटे नेता, ओछे नेता, चमचे, उपचमचे, असिस्टेण्ट चमचे और उम्मीदवार चमचे। मुख्यमन्त्री मुझे अलग कमरे में ले गये। बिठाया।

बोले—साधु हो। बैठो। मैंने तुम्हारा नाम सुना है। बोलो क्या काम है?

कबीर ने कहा—कोई काम नहीं। दर्शन करने आया था। आप लोग भारत के नये सन्त हैं। आपके दर्शन करना चाहिए।

मुख्यमन्त्री ने कहा—एक मिनिट रुको।

बात यह हुई कि एक मन्त्री फाइल लेकर घुस आया था। मुख्यमन्त्री ने उससे

कहा—हाँ, यह फाइल मैंने देख ली है। इस क्षेत्र का विधायक पक्का अपना आदमी है न। हो तो उस क्षेत्र के राहत कार्य का पैसा बढ़ा दो।

मन्त्री चला गया।

कबीर ने कहा—आप जनता को राहत वहाँ के विधायक का मुँह देखकर देते हैं? जनता का मुँह देखकर नहीं देते। जिस क्षेत्र का विधायक आपके गुट में नहीं है, उस क्षेत्र की जनता भी आपकी नहीं है।

मुख्यमन्त्री ने कहा—वह क्या जनता है, जिसका चुना हुआ विधायक हमारे साथ नहीं है।

कबीर ने कहा—आप पक्के भारत-भाग्य-विधाता हैं। आप सत्ता में कैसे हैं?

मुख्यमन्त्री ने कहा—इसलिए कि हाईकमान का मुझे समर्थन है। हाईकमान नेतृत्व बदलने के पक्ष में नहीं है।

कबीर ने कहा—हाईकमान कहाँ-कहाँ नेतृत्व बदलेगा? एक जगह बदला तो सब जगह बदलना होगा। गुजरात विधानसभा भंग करके प्रधानमन्त्री पछता रही हैं, पर आपके दल में काफी विधायक 'असन्तुष्ट' कहलाते हैं। ये असन्तुष्ट कौन हैं और क्यों हैं?

मुख्यमन्त्री ने कहा—इनमें काफी तो 'भूतपूर्व' हैं, याने जो पहले मन्त्री थे, पर अब नहीं हैं। फिर वे हैं जो अभी-अभी विधानसभा में आये हैं, मगर एकदम मन्त्री बनना चाहते हैं।

मैंने कहा—मन्त्रिमण्डल के सदस्यों में भी तो मतभेद होगा।

मुख्यमन्त्री ने कहा—जरूर है। उनके असन्तोष को मिटाने की एक तरकीब हम मुख्यमन्त्रियों के पास है। हम हर तीन महीने में घोषणा कर देते हैं कि मन्त्रि-मण्डल फेरबदल, याने 'रिशफल' करनेवाले हैं। बस सारे मन्त्री दब जाते हैं कि 'रिशफल' में कहीं हम न निकाल दिये जायें।

—और असन्तुष्टों के लिए?

मुख्यमन्त्री ने कहा—उनके लिए दो बार तो मैं मन्त्रिमण्डल का विस्तार कर चुका हूँ। 20 मन्त्री थे, अब 35 कर दिये। फिर भी नये-नये असन्तुष्ट पैदा हो जाते हैं।

कबीर ने कहा—फिर 200 मन्त्री बना दो। पैसा कौन तुम्हारी जेब से जाता है, वह तो जनता की जेब से जाता है।

मुख्यमन्त्री ने कहा—बना तो दूँ, पर फिर तुम्हीं लोग शोर करोगे। इन 200 को मैं विभाग कौन से दूँगा?

कबीर ने कहा—विभागों की क्या कमी है? किसी को जमाऊ विभाग का मन्त्री, किसी को उखाड़ विभाग का मन्त्री, कोई घपला मन्त्री, कोई काण्ड मन्त्री। फिर विभागों को और तोड़ दो। शिक्षा विभाग में एक पहली कक्षा का मन्त्री, दूसरा दूसरी कक्षा का मन्त्री, तीसरा तीसरी कक्षा का मन्त्री—इसी तरह।

कबीर ने पूछा—सफल मुख्यमन्त्री कैसा होता है?

मुख्यमन्त्री का जवाब था—जो दो गुट पार्टी में बनवा दे। बड़े गुट को अपने साथ रखे, कभी छोटे गुट को थपथपा दे, मगर हाईकमान को साथ रखे।

कबीर ने कहा—कोई घपला, कोई काण्ड वगैरह ?

वे बोले—होते क्यों नहीं हैं। राहत कार्य में घपला होता है, कहीं चावल काण्ड होता है। मगर मैं बचकर चलता हूँ, किसी फाइल पर दस्तखत नहीं करता। सब काम जबानी चलाता हूँ। ज्यादा हल्ला मचा तो जाँच कमीशन बिठा देता हूँ। कैसा ही जाँच कमीशन हो, मेरी पकड़ नहीं। मेरे दस्तखत ही फाइल पर नहीं हैं। दूसरे भी नहीं, क्योंकि वे भी चतुराई से खाते हैं। साधो, सारे देश में जो जहाँ है, वहीं खाता है। पर मेरा कहना है—चतुराई से खाओ और बड़ा हिस्सा इधर सरकाते जाओ।

कबीर ने कहा—मैं समझ गया। एक राहतकार्य आप खोलते हैं जनता के लिए, दूसरा राहतकार्य भगवान आप लोगों और आपके अफसरों के लिए। जब भगवान ही आप लोगों को राहत देता है, तब भगवान के काम में कोई पकड़ कैसे होगी ? आप लोग तो भगवान से मनाते होंगे कि प्रभु, प्रदेश में अकाल पड़े, सूखा पड़े, तो हमें राहत मिले।

मुख्यमन्त्री ने कहा—ठीक कहते हो साधु ! इस अभागे प्रदेश में पिछले साल अकाल नहीं पड़ा तो हमने कहा, प्रभु, हमने कौन-सा पाप किया है कि अकाल नहीं पड़ा ? और देखो सन्त, इस साल कैसा 'फर्स्ट क्लास' अकाल पड़ा है !

कबीर ने पूछा—आप लोग सब समाजवाद लाने की बात करते हैं। यह समाजवाद क्या है और कैसे आयेगा ?

मुख्यमन्त्री ने कहा—हम इन वादों के झंझट में नहीं पड़ते। हमें वोट चाहिए। पहले नेहरूजी वोट दिलाते थे, तो हम उनकी जय बोलते थे और नेहरूवादी थे, अब इन्दिरा गाँधी वोट दिलाती हैं, तो हम इन्दिरावादी हैं। फिर वोट लेने, चुनाव जीतने का हमें इन 25-30 सालों में अनुभव हो गया है। हम सब तरकीबें जानते हैं।

मैंने कहा—याने वही गाँवों में बड़े किसानों, भूतपूर्व मालगुजारों को पटाये रखना। शहर में गुण्डों को पैसे खिलाना। सेठों के पाप माफ करना। पिछड़े वर्ग को रात को दारू पिलाना। यही न !

मुख्यमन्त्री ने स्वीकारा—हाँ, चुनाव जीतने के लिए यह सब करना पड़ता है। यह तो महाभारत है। महाभारत के धर्मक्षेत्र में कृष्ण ने किन-किन हथकण्डों से द्रोणाचार्य और भीष्म-जैसे वीरों को मरवाया। भीष्म के सामने शिखण्डी कर दिया और उस परमवीर से हथियार रखवा लिये। हम भी शिखण्डी रखते हैं।

कबीर ने कहा—यह सब तो ठीक है, पर शासन आप लोग कैसे करते हैं ? मुख्यमन्त्री को सब विभागों का ज्ञानी होना चाहिए। तुम हो ? फिर एक नेता आज शिक्षामन्त्री है, कल हो जाता है सिंचाईमन्त्री। क्या वह शिक्षा का भी विशेषज्ञ है और सिंचाई का भी ?

मुख्यमन्त्री ने कहा —मन्त्री को अपना विभाग जानने की तकलीफ ही नहीं करनी है। ये बड़ी-बड़ी तनखाहवाले सचिव और अफसर सब करते हैं। वे फाइल लाते हैं और मन्त्री दस्तखत कर देता है। शासन हमारा थोड़े ही है, इन अफसरों का है। हमें तो समय ही नहीं मिलता राजनीति की गोटियाँ जमाने से।

कबीर ने पूछा—और क्या हाल है? पत्नी से कैसे पटती है?

मुख्यमन्त्री ने कहा—पत्नी का मेरे साथ पूरा सहयोग है। लाइसेन्स दिलाने में और पैसा खाने में भी। बस, कॉलेजों और स्कूलों में इनाम बाँटती है और खुश रहती है।

कबीर ने कहा— यह तो ठीक है, पर आप पर इतना बोझ है। तीन बच्चों-वाली पत्नी से कैसे काम चलता होगा? कुछ और सिलसिले हैं?

मुख्यमन्त्री ने कहा—साधु होकर ऐसी पाप की बात करते हो!

मैंने कहा—पर यह सब जानते हैं कि आपके दो औरतों से सम्बन्ध हैं। ब्रिटेन में एक मन्त्री था—प्रोफूमो। उसके क्रिस्टीन कीलर नाम की लड़की से सम्बन्ध थे। जब यह बात खुली, तो इस्तीफा दे दिया। और इधर तुम चलाये जा रहे हो।

मुख्यमन्त्री ने गुस्से में कहा—साधु हो, इसलिए माफ करता हूँ वरना पुलिस बुलवाकर तुम्हें अन्दर करवा देता। तुम मेरे चरित्र पर आक्षेप करते हो। हम क्या अँगरेज हैं? ब्रिटेन का जनतन्त्र 5-6 सौ साल का है, हमारा सिर्फ 25-30 साल का। हमें हजार साल चाहिए, हम दस औरतें रख लें पर आगामी हजार साल तक इस्तीफा देने की जरूरत नहीं। और तुम साधु, अपनी जबान बन्द रखो वरना…

कबीर ने कहा—वरना-अरना कुछ नहीं। साधु-सन्तों को धमकी मत दो। हमें तुम्हारी और तुम्हारे शासन की सब पोलें मालूम हैं। हम जोर-जोर से कहेंगे और तुम्हारी आफत हो जायेगी। तुम्हें सुदामा के बारे में हुई घटना मालूम है? सुदामा को जब कृष्ण ने सम्पत्ति दे दी तो भीख माँगनेवाले ब्राह्मण का मकान बन गया और बैंक में पैसा जमा हो गया। बस, इन्कमटैक्स और आबकारी के लोग आ गये। बोले—ए सुदामा, कल तक भीख माँगते थे और आज इतनी जायदाद, बैंक में इतना पैसा! यह कहाँ से लाये? हिसाब दो। क्या तस्करी करते हो? सुदामा ने कहा—यह जाकर उसी कृष्ण से पूछो। उसके राज में कितनी पोल है, कितना भ्रष्टाचार है, कितनी अन्धेरगर्दी है! मैं तो उधार के चावल भेंट में लेकर गया था, पर उसके भ्रष्टाचारी अफसर और मन्त्री मेरे चावल ही खा गये। मुझे सारी पोलें मालूम हो गयीं। तब कृष्ण ने मेरा मुंह बन्द करने के लिए सम्पत्ति दी है। जाओ, पूछ लो कृष्ण से। अब बोलो मुख्यमन्त्रीजी!

मुख्यमन्त्री थोड़ी देर सकते में रहे। फिर एकाएक गा उठे—

हम…कोच्छ नइँ…बोलेगा…

हम बोलेगा तो बोलोगे कि बोलता है!

कबीर हँसा। कहा—तुम तो फिल्मी गाने पर आ गये।

मुख्यमन्त्री ने कहा—और क्या करूँ? बोलो साधु, तुम मुंह बन्द करने का

क्या लोगे ?

कबीर ने कहा—हम पैसे खाकर मुंह बन्द नहीं रखते।

मुख्यमन्त्री ने कहा—अच्छा, मुझे माफ करो। तुम साधु हो, दयालु हो। यह जो वर्मा है न, यह साला मुझे धमकी देता है कि मेरे साथ 80 विधायक हैं। मैं तुम्हें पलटा दूंगा। तुम ज़रा इसे ठीक करो।

कबीर ने कहा—मैं यह भी नहीं करता। शर्मा और वर्मा में क्या भेद है ?

और मैं उठ दिया। चलते-चलते कहा—तुलसीदास की बात सुन लो—जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवस नरक अधिकारी।

मुख्यमन्त्री ने हेकड़ी से कहा—

जब हश्र का दिन आयगा, उस वक्त देखा जायगा।

लौटा तो कनछेदी ने पूछा—कैसे थे मुख्यमन्त्री, कबीर ?

कबीर ने कहा—कोन राजपद पाय नसाई !

अटलबिहारी वाजपेयी से भेंट

कबीर अटैची लेकर निकला तो वही कनछेदी बरामदे में बैठा दिख गया। मैंने कहा—कहो कनछेदी क्या कर रहे हो ?

कनछेदी ने जवाब दिया—सोच रहा हूँ।

कबीर ने कहा—अरे, तुम भी सोचने लगे ! मत सोचा करो। बड़ी बुरी लत है। जिसे लग जाती है, दुबला हो जाता है। पर सोच क्या रहे हो ?

कनछेदी ने कहा—देश के बारे में सोच रहा हूँ।

कबीर ने कहा—यह और भी बुरी बात है। बड़े-बड़े नेता तो अपने ही बारे में सोचते हैं और यह पिद्दी कनछेदी इतने बड़े देश के बारे में सोच रहा है।

कनछेदी ने कहा—यही सोच रहा हूँ कि ईश्वर है या नहीं ? और इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि ईश्वर है। ईश्वर न होता तो यह देश कभी का मर गया होता। इसे सिर्फ ईश्वर ही मरने से बचा रहा है—यही सबसे बड़ा सबूत है। पर तुम कहाँ चले ?

मैंने कहा—एक और नेता से मिलने, जो कई की तरह अपने को देश का भाग्य-विधाता समझता है—अटलबिहारी वाजपेयी।

कनछेदी ने कहा—अरे खतरनाक आदमी है। लच्छेदार भाषा और अदाओं में फँसाता है। दो घण्टे भाषण उसका सुनो। बड़ा मजा आता है। पर घर जाकर सोचो कि इसने क्या कहा, तो जवाब निकलता है कि कुछ नहीं कहा। वह बस

बोलता है। क्या ? यह मत पूछो। बस मूंगफली खाते जाओ और भाषण सुनते जाओ।

कबीर ने कहा—वह मुझसे ऐसा नहीं बोलेगा, क्योंकि मैं 'पब्लिक मीटिंग' नहीं हूँ। ये ऐसे नेता लोग जब जनता को सामने देखते हैं तो कहते हैं --आज सुरन मोहिं दीन्ह अहारा ! जैसा हनुमान को देखकर सुरसा ने कहा था। पर इस हनुमानरूपी जनता का यह कमाल है कि—

जस जस सुरसा वदन बढ़ावा,
तासु दुगुन कपि रूप दिखावा।

खैर चलूं। गाड़ी का समय हो रहा है।

कबीर अटलजी के कमरे में दाखिल हुआ तो यह पूछे बिना ही कि मैं कौन हूँ, वे गबकने लगे—इस इन्दिरा गाँधी की तानाशाही ने···

मैंने रोका—अटलजी, मैं पब्लिक मीटिंग नहीं हूँ और तुम्हारे सामने माइक भी नहीं है। मैं कबीरदास।

अटल थोड़े हतप्रभ हो गये। कहने लगे—अरे साधु, मुझसे भूल हो गयी। पर यह बात बाहर नहीं फैलना चाहिए कि मैंने ऐसा किया। मेरी छवि बिगड़ेगी। बैठो-बैठो, कैसे आये ?

मैंने कहा—यों ही। मिलने और बात करने।

अटलजी ने कहा—पर मैं ब्राह्मण हूँ और तुमने ब्राह्मणों के खिलाफ बहुत कहा है। तुम शूद्रों से मिला करो।

मैंने कहा—शूद्रों से भी मिलता हूँ, पर तुम ब्राह्मण-ब्राह्मण भी एक नहीं हो। इन्दिरा गाँधी भी ब्राह्मण और तुम भी ब्राह्मण और सुभद्रा जोशी भी ब्राह्मण जो बलरामपुर में तुम्हें चुनाव हराती थी। आपस में क्यों लड़ते हो ?

अटलजी ने कहा—यह राजनीति है। इसमें कोई किसी का नहीं होता। तुम अपढ़ साधु को यह राजनीति समझ में नहीं आयेगी। तुम तो कहते हो—ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय ! अरे अक्षर ढाई प्रेम में ही नहीं, घृणा में भी होते हैं। हमारे विरोधी से हमें घृणा ही करनी चाहिए।

कबीर ने कहा—करो घृणा ! पर यह बताओ, तुम 'शाखा' से आये हो न ?

अटल जरा तैश में बोले—तुम्हें क्या मतलब ?

कबीर ने जवाब दिया—मतलब है—क्या तुम भी शाखामृग हो ? यही जानना चाहता हूँ।

अटलजी ने कहा—यहाँ कोई स्वयंसेवक नहीं है, वरना तुम्हें दिखा देता।

कबीर ने कहा—याने तुम 'शाखामृग' हो, तभी ऐसी बात साधु से कहते हो। क्या यही 'भारतीय संस्कृति' है, जिसका तुम नारा लगाते हो ? भारतीय संस्कृति की क्या परिभाषा है ?

अटलजी ने कहा—भारतीय संस्कृति कोई खाने की चीज नहीं, पीने की चीज नहीं। वह भारतीय है और संस्कृति है। समझे ?

कबीर ने कहा—समझ गया। तो इस भारतीय संस्कृति में कबीरदास है कि नहीं ?

अटलजी ने कहा—तुम जुलाहे बुनकर भारतीय संस्कृति में कैसे आ सकते हो ? गुरुजी के शब्दों में तुम 'स्वकीय' नहीं, 'परकीय' हो। तुम्हारा भारतीय-करण नहीं हुआ।

मैंने पूछा—पर इस 'भारतीयकरण' के सिद्धान्त को प्रतिपादित करनेवाले बलराज मधोक से तुम्हारा क्या झगड़ा है ? बेचारे ने एक पूरी किताब लिखी है, इस पर।

वाजपेयी ने कहा—वह समझता था कि वह 'थियरी' दे रहा है, मगर नेता तो अटलबिहारी वाजपेयी है।

मैंने कहा—इसलिए कि आया उसी जगह से, पर जनतन्त्री होने का रोल अच्छा खेलता है।

अटलजी खुश हुए। फिर बोले—ये इन्दिराजी हम लोगों को फासिस्ट कहती हैं, और हम इन्दिराजी को फासिस्ट कहते हैं। यह 'फासिस्टवाद' क्या है ?

कबीर ने कहा—पढ़ो, समझो। अपने देश की हालत देखो।

अटलजी बोले—इन हजारों लड़के-लड़कियों को जो नक्सलवादी हैं, जेलों में इतने साल बन्द रखना क्या 'फासीवाद' (लोहिया की भाषा) नहीं है ?

कबीर ने कहा—है। पर लाखों स्वयंसेवकों को छुरा, लाठी से लैस रखना, उनका आतंक के लिए उपयोग करना क्या फासीवाद नहीं है ? फिर इन नक्सल-वादियों से कबीर को कोई शिकायत नहीं है। पर अगर ये छूट गये, तो ख़तरा पहला तुम्हें है, दूसरा कांग्रेस को। वे पहले वर्गभेद को मिटायेंगे। और आपकी पार्टी तथा कांग्रेस पार्टी कहती है कि वर्ग हैं ही नहीं, तो इन नक्सली लड़के-लड़कियों का शत्रु कौन है ?

अटलबिहारी थोड़े चौंके। बोले—मैं भी कुछ पढ़ा-लिखा हूँ। इनके वर्ग-शत्रु हम लोग हैं। हाँ, यह वर्गसंघर्ष है। पर लोहिया ने कई बार कहा था कि वर्णसंघर्ष भी है।

कबीर ने सीधा पूछा—एक नीचे वर्ण का सूदखोर क्या उस ब्राह्मण को माफ कर देगा, जिसने उससे कर्ज ले लिया है ? वह उस ब्राह्मण को मार डालेगा पर बाद में दूसरे ब्राह्मण के चरण भी पूजेगा। वह धर्म के साथ धन्धा भी निभाता है। कहाँ रहा तुम्हारा वर्णसंघर्ष ? क्या बैंक से कर्ज इस कारण मिलता है कि वह ब्राह्मण है ? पर हाँ, सामन्ती सभ्यता में इस ब्राह्मण का महत्त्व था, अब भी है। अब देखो न, हमारी अणु-विज्ञान सफलतावाले दोनों पारसी हैं—भाभा और सेठना। ब्राह्मण भी होंगे। पर यदि तुम्हारे परम पूज्य (पपू) गुरुजी की बात चलती तो किसी ब्राह्मण मुंशी को वे एटामिक इनर्जी कमीशन का अध्यक्ष बना देते, क्योंकि भाभा और सेठना 'परकीय' हैं, मुंशी स्वकीय है। अटलजी, यह ब्राह्मण ही है जिसने बुद्ध-काल के बाद रिसर्च नहीं होने दी। नागार्जुन के बाद कौन

महान 'केमिस्ट' हुआ ? मैंने एक बहुत बड़े अंग्रेज विशेषज्ञ की किताब पढ़ी है—'दी कान्क्वेस्ट ऑफ पेन'—याने ऑपरेशन के लिए दी जानेवाली दवा जो दर्द नहीं होने देती। उसने लिखा है कि 'एनेस्थीसिया' भारत में 25 सौ साल पहले इतना अच्छा था, जितना पश्चिम के पास 1925 तक नहीं था। पर इसके बाद ब्राह्मणों ने कहा—चुप ! सारा ज्ञान हमारे पास है, पोथी में।

और पोथी बन्द कर ली। फिर यह देश पैदा कर सका केवल शंकराचार्य, अरविन्द और कबीर-जैसा जुलाहा, कुम्भनदास कुम्हार, रैदास चमार ! पर इस संस्कृति ने दूसरा नागार्जुन, दूसरा चरक, दूसरा वाग्भट्ट पैदा नहीं किया। याने विज्ञान से यह संस्कृति अविज्ञान की तरफ बढ़ी है।

अब अटलबिहारी थोड़ा अधिक चौंके। कहने लगे—कबीरदास, तुम्हारी तरह कविता मैंने भी लिखी है, पर कविता से क्या फायदा ? मैं किसी समय कवि-सम्मेलनों में बड़ी तालियाँ पिटवाता था। पर कविता से समाज का क्या होता है ?

कबीर ने कहा—पर कविता को समाज से कुछ होता है। कविता को समाज से 'कुछ' नहीं होता, तो वह सार्थक कविता नहीं होती।

अटलजी—पर हम लोग राजनीति की बात करें न ? इस समय रणनीति क्या है ?

कबीर ने कहा—फिर तुम दूसरे की भाषा बोले। यह रणनीति वर्गसंघर्ष की भाषा है। यह कोई कौरवों का चक्रव्यूह नहीं है।

भारतीय लोकतन्त्र के रक्षक जयप्रकाश नारायण (लोकनायक) के शब्दों में अटलजी बोले—हमें पूर्ण क्रान्ति चाहिए।

मैंने पूछा—यह पूर्ण क्रान्ति क्या है ? क्या हिन्दू और मुसलमान उन लड़के-लड़कियों की रक्षा करता है, जो भागकर शादी कर लेते हैं ? तो फिर क्रान्ति विभाजित नहीं होती, क्रान्ति होगी तो पूरे सामाजिक जीवन में। इसे ही पूर्ण क्रान्ति कहते हैं और विप्र, तुम शास्त्र मानते हो, मैं नहीं। पर शास्त्रवचन सुनना चाहो तो यह कि मार्क्स और लेनिन ने कहा है—क्रान्ति लगातार होती है।

वाजपेयी ने कहा—तुम तो साधु हो। बताओ न, मध्यावधि चुनाव होगा या नहीं ?

कबीर ने कहा—सब लोग यही पूछते हैं। जब तुम्हें संसद पर विश्वास नहीं है तो मध्यावधि चुनाव के बारे में क्यों चिन्तित हो ?

तब अटलजी ने मेरे कान में कहा—अरे संसद से इस्तीफा देने की घोषणा तो एक स्टण्ट था। कौन लगी-लगायी नौकरी छोड़ेगा ? पर बोलो, क्या मध्यावधि चुनाव होगा ?

कबीर ने कहा—नो बडी नोज़ दी लेडीज़ माइण्ड ! पर तुम्हारी रणनीति क्या है ?

अटलजी ने कहा—मुझे तो होना है अगला प्रधानमन्त्री। अब यह जयप्रकाशी

फौज दिल्ली पर हमला कर रही है। जब दिल्ली पर कब्जा कर ले तो पुकारे—अटलजी, आइए न! प्रधानमन्त्री हो जाइए।

कबीर ने कहा—अटलजी, आपको किसका डर है? किसे पुकारा जा सकता है? मोरारजी भाई को?

अटलजी ने कहा—नहीं, वे बहुत बूढ़े हैं।

कबीर ने कहा—राजनीति में कोई बूढ़ा नहीं होता। मरने तक जवान रहता है। बहरहाल, किससे डर है?

अटलजी ने कहा—इस चौधरी चरणसिंह से। यह अभी से प्रधानमन्त्री की तरह बोलने लगा है—शेडो प्राइम मिनिस्टर। कहीं यह चौधरी कूदकर दिल्ली के तख्त पर न चढ़ जाय! मैं अभी से सावधान हूँ।

कबीर ने कहा—नहीं, आप ही बनेंगे। पर मध्यावधि चुनाव हो गये तो?

अटलजी ने कहा—यही तो मैं तुमसे पूछता हूँ साधु! क्या होंगे? अरे, 'पूर्णक्रान्ति' पूर्ण होने के पहले कहीं मध्यावधि चुनाव हो गये तो सारा खेल बिगड़ जायगा।

इसके बाद अटलजी रिहर्सल करने लगे। बोले—देखो साधो, मैं राष्ट्रपति फोर्ड से यों हाथ मिलाऊँगा और कोसिजिन से यों। ऐसा हाथ न नेहरू ने मिलाया, न इन्दिरा गाँधी ने।

कबीर ने कहा—आप डटकर रिहर्सल करो। मैं चलता हूँ।

अटलजी बोले—अरे, ठहरो! यह तो बता जाओ कि मध्यावधि चुनाव होंगे या नहीं।

कबीर ने कहा—स्त्री का मन साधु भी नहीं जानता।

लौटा तो कनछेदी ने पूछा—कहो कैसे रहे अटलबिहारी?

मैंने कहा—अच्छे हैं। हाथ मिलाने का रिहर्सल कर रहे हैं। प्रधानमन्त्री होना है न?

भारत सेवक समाजी से भेंट

कबीर अटैची लेकर बाहर निकला तो देखा, वही कनछेदी बरामदे में बैठा अँगीठी ताप रहा है।

कबीर ने पूछा—कहो कनछेदी, क्या कर रहे हो?

उसने कहा—कुछ नहीं, अँगीठी ताप रहे हैं। भीतर भूख की आग तो बाहर कोयले की आग। गनीमत है कि कोयला मिल रहा है। गेहूँ तो अभी तक राशन-

दूकान पर आया नहीं। जहाँ तक चावल का सवाल है, एक डिब्बे में मुट्ठी-भर नमूने के लिए रख छोड़ा है। आगे नाती-पोते पूछें कि बाबा, आपके जमाने में चावल क्या होता था तो निकालकर बता दें कि बेटा, इस चीज को हम चावल कहते थे।

कबीर ने कहा—इतने निराश मत होओ कनछेदी! अच्छा समय आ गया है। अमेरिका में अपने राजदूत कौल ने दरबार में कान पकड़कर कह दिया है—अन्नदाता, भूलचूक माफ! फिर बाबू जगजीवनराम भी गये हैं।

कनछेदी ने कहा—ठीक है। हम तो अब यह सोच रहे हैं कि जनसंघ में चले जायें। जब अटलबिहारी प्रधानमन्त्री हो ही रहे हैं तो इस कनछेदी को कोई राशन-दूकान दिला ही देंगे। पर तुम कहाँ चले?

कबीर ने कहा—भारत सेवक समाज के एक नेता से मिलने।

कनछेदी ने कहा—कैसे साधु हो? साधु-सन्तों, भले आदमियों को तंग करते हो, लोगों का दिमाग खराब करते हो। तुम्हें भी क्या सुकरात की तरह जहर का प्याला पीना है?

कबीर ने कहा—जहर का प्याला तो रोज पीते हैं, कनछेदी! पर मरते नहीं। अच्छा, अब चलूँ।

कबीर जब भारत सेवक समाज के नेता के पास पहुँचा, तो वे चिन्तित बैठे थे। सामने एक आदमी हिसाब कर रहा था—दस और दस बीस—बीस और पन्द्रह-पैंतीस।

मैंने कहा—भारत सेवकजी, मैं कबीरदास हूँ—राम की लुगाई।

वे बोले—बैठो साधु, तुम राम की लुगाई और हम भजन गाते हैं—रघुपति राघव राजाराम, सबको सन्मति दे भगवान।

कबीर ने कहा—याने भगवान, सबको सन्मति दे पर हमें मत दे?

भारत सेवक बोले—नहीं, भगवान ने हमें भी सन्मति दी कि मौका मिला है तो कुछ कर लो। तभी तो यह जाँच चल रही है। हिसाब बनवा रहे हैं।

कबीर ने कहा—याने—

अब रहीम मुसकिल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम!
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलै न राम!

भारत सेवक बोले—बस यही मुश्किल आ पड़ी है। जग और राम दोनों को साधने के कारण यह जाँच कमेटी बैठ गयी है।

कबीर ने कहा—चिन्ता मत करिए, राम सब ठीक कर देंगे।

भारत सेवक बोले—राम ठीक करते होते तो यह जाँच क्यों होती। हमारा काम तो राम को समर्पित है। अब राम अपने ही काम की जाँच करवा रहे हैं। स्वर्ग से गाँधीजी भी हमारी मदद नहीं करते।

वे बहुत दुखी हो गये।

कबीर ने कहा—आप इन मामलों में इतने पुराने माहिर हैं कि सब ठीक कर

लेंगे। किसी मन्त्री को नहीं पटाया ?

वे बोले—पटाये तो तीन मन्त्री हैं।

कबीर ने कहा—बस, फिर होने दीजिए जाँच। दो-तीन मन्त्री मैं पटाये देता हूँ।

वे खुश हुए। कहने लगे—साधु, तुम इतना कर दो तो हम संकट से उबर जायें।

मैंने कहा—मैं कर दूंगा पर अब जरा भारत सेवक समाज पर बात हो जाय। यह भारत सेवक समाज किसलिए बना ?

वे बोले—भारत की सेवा के लिए।

कबीर ने कहा—नहीं, गाँधीवाद एक मीठे फलों का झाड़ है। इस झाड़ की हर शाखा पर कई पक्षी बैठे हुए मीठे फल खा रहे हैं। एक शाखा पर आप भी बैठे हैं और मीठे फल खा रहे हैं।

भारत सेवक ने कहा—नहीं, बात यह है कि आजादी के बाद कांग्रेस के कुछ लोग तो सत्ता में चले गये—विधायक, संसद-सदस्य, मन्त्री वगैरह हुए। फिर भी काफी कांग्रेसी बच गये। इन्हें कहीं फिट करना था। फिट नहीं करते तो ये बेकार कांग्रेसी ऊधम मचाते इसलिए नेहरू सरकार ने सोचा कि 20-25 करोड़ से कुछ फर्क नहीं पड़ता। इन्हें दे-दिवा दो और काम से लगा दो।

कबीर ने पूछा—तो इन बेकार कांग्रेसियों के लिए ये सब संस्थाएँ खोली गयीं ?

वे बोले—और नहीं तो क्या ! बेकार कांग्रेसियों में कुछ सर्वोदय में चले गये, कुछ सर्वसेवा संघ में और काफी भारत सेवक समाज में। ग्राण्ट मिलती जाती थी और काम में लगे थे।

कबीर ने कहा—तो क्या बेकार कांग्रेसियों को चुप रखने के लिए भारत सेवक समाज बना ?

उन्होंने जवाब दिया—हाँ, और हम यही सेवा करते आ रहे हैं कि चुप हैं। वरना हम बोलते। सबकी पोल खोलते। तिकड़म करते तो मन्त्री हो जाते। तब हम खुद ग्राण्ट देते पर आज यह हाल है कि हमें ग्राण्ट के लिए मन्त्रियों के दरवाजे खटखटाना पड़ता है।

कबीर ने कहा—आप तो बहुत पुराने वयोवृद्ध भारत सेवक हैं। आप क्या यह नहीं समझते कि पण्डित नेहरू ने स्वतन्त्रता के बाद ही यह सोचा कि हो सकता है उन्हें कांग्रेस छोड़ना पड़े, इसलिए एक संस्था खड़ी कर दो जिसका नेतृत्व वे सँभाल लें और कांग्रेस से बड़ी पार्टी खड़ी कर दें। गाँधीजी ने कहा ही था कि आजादी के बाद कांग्रेस को खत्म कर दो। पण्डित नेहरू का विराट व्यक्तित्व भारत सेवक समाज को कांग्रेस से बड़ा संगठन बना देता।

भारत सेवक बोले—हाँ, यह हो सकता है। पर ऐसा मौका आया ही नहीं, क्योंकि सरदार पटेल की मृत्यु हो गयी।

कबीर ने कहा—याने सरदार पटेल की मृत्यु ठीक समय पर हुई ?

उन्होंने कहा—हाँ, ठीक समय पर हुई।

कबीर ने कहा—और गाँधीजी की मृत्यु ?

वे बोले—वह भी ठीक समय पर हो गयी। हर मृत्यु ठीक समय पर हुई।

कबीर ने पूछा—गाँधीजी जीवित रहते तो क्या होता ?

भारत सेवक ने कहा—मैं क्या जानूं ! तुम साधु हो, गाँधीजी भी साधु। तुम काइयां साधु हो, गाँधीजी भी काइयाँ साधु थे।

कबीर ने कहा—तुम ठीक कहते हो। वे काइयाँ साधु थे। वाइसराय लार्ड वेवेल से उनकी तीन घण्टे बात हुई। लार्ड वेवेल ने कहा—आप संक्षेप में लिख दीजिए कि आप क्या चाहते हैं। गाँधीजी ने पाँच वाक्य लिख दिये। वेवेल ने पढ़ा और सन्तुष्ट हो गया। रात को उसने फिर पढ़ा और आधी रात को अपने सेक्रेटरी को पुकारकर कहा—अरे, यह गाँधी तो मुझे बेवकूफ बना गया। ये पाँच वाक्य ठीक हैं, पर हर वाक्य दूसरे को काटता है। बड़े काइयाँ साधु थे गाँधीजी।

भारत सेवक ने कहा—सही है साधु। पर वे जीवित रहते तो सरकार की फजीहत होती।

कबीर ने कहा—और वे रोते—

> सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै,
> दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै !

खैर, छोड़ो गाँधीजी को ! यह बताओ कि भारत की क्या सेवा कर रहे हो ?

भारत सेवक ने कहा—चुप हैं। यह क्या कम सेवा है ? सर्वोदयी भी चुप हैं। यह भी भारत की सेवा है। फिर हम चरखा अभी भी चलाते हैं, दतौन करते हैं, 'रघुपति राघव' करते हैं।

कबीर ने कहा—पर यह जाँच किसलिए हो रही है ?

उन्होंने ने कहा—हिसाब-किताब की जाँच है। कहते हैं, हमने घपला किया, पैसा खाया।

कबीर ने पूछा—क्या ऐसा हुआ ?

वे बोले—भई, बात यह है कि हम भी भारतीय हैं। हम कोइ विदेशी तो हैं नहीं। आम भारतीय जैसा करेगा, वैसा ही हम करेंगे, वरना हम देशद्रोही हो जायेंगे। तो हमने भी देशवासी की तरह आचरण किया। इसमें गलत क्या हुआ ?

कबीर ने कहा—गलत कुछ नहीं, पर आप ऊँचे हैं। आप भारत सेवक समाज-वाले हैं। आप पर ये व्यक्तिगत खाने-वाने के आरोप नहीं लगना चाहिए।

भारत सेवक ने दो टूक बात कही—साधु, हम क्या भारत के अंग नहीं हैं ? यदि हमने अपनी ही सेवा की तो क्या यह भारत की सेवा नहीं हुई ?

कबीर ने कहा—ठीक है। आपने अपनी सेवा करके भारत की ही सेवा की है। एक मरीज अस्पताल से मुफ्त इलाज कराके निकलने लगा, तो डाक्टरों ने कहा, कुछ दान गरीबों के लिए दे जाइए। उसने कहा कि गरीब तो मैं भी हूँ,

इसलिए वह दान अपने आपको दे लेता हूँ। ऐसा ही आपने किया। आपने अपने को भारत मान लिया और अपनी सेवा करने लगे। यही भारत सेवा हुई और भारत सेवक समाज का काम।

तभी हिसाब करनेवाला बोला—भैयाजी, तीन रसीदें नहीं मिल रही हैं।

भारत सेवक ने कहा—रसीदें नहीं मिल रही हैं? अरे तुम्हें इतने पैसे क्या इसलिए दिये जाते हैं कि तुम मुझसे कहो कि रसीदें नहीं मिल रही हैं? नहीं मिल रही हैं तो बना लो। तुम्हारे और दूसरे कार्यकर्ताओं के पास अँगूठे नहीं हैं? क्या तुम लोग जाली दस्तखत नहीं बना सकते? यदि ऐसा नहीं कर सकते तो क्यों इस संस्था में हो? क्यों इस पवित्र संगठन को बदनाम करते हो?

उसने कहा—मैं सब ठीक कर लूंगा भैयाजी, आप चिन्ता मत कीजिए।

भारत सेवकजी ने कहा—देखो सन्त कबीर, क्या दुर्भाग्य है? जिस पवित्र संस्था में सेवक के ईमान पर शक किया जाय, वह भी क्या संस्था है! जी चाहता है कि इसे छोड़ दूं।

कबीर ने कहा—अगर पेट भर गया हो तो छोड़ दीजिए। जब आदमी का पेट भर जाता है तो वह थाली को हटा देता है।

भारत सेवक ने कहा—साधु, तुमसे क्या छिपाना! अभी एक रोटी की भूख और है। एक रोटी और खा लूं तो थाली पड़ी रहेगी और मैं कुल्ला करने चला जाऊँगा।

कबीर ने कहा—यह भी ठीक है। अधपेटे मत उठो।

भारत सेवक ने कहा—साधु, एक बात कहूँ—मेरे पास अभी गुंजाइश है। मैं दे सकता हूँ। कुछ रुपये अपने मठ के लिए लेते जाओ, पर दो-तीन मन्त्रियों को पटा देना।

कबीर ने कहा—नहीं, मुझे नहीं चाहिए। कबीर को पैसे से क्या लेना-देना? मन्त्री मैं पटा दूंगा, पर इसकी मजदूरी नहीं लूंगा। आप साफ बच जायेंगे।

भारत सेवक ने कबीर के चरण पकड़ लिये। कहने लगे—कोई मेरे लिए उपदेश।

कबीर ने कहा—क्या उपदेश दूं? तू बाम्हन, मैं काशी का जुलाहा! फिर भी सुनो—

> झूठ बराबर तप नहीं, साँच बराबर पाप,
> जाके हिरदय झूठ है, ताके हिरदय आप!

कबीर लौटा। वही कनछेदी मिल गया। पूछा—कहो कबीर क्या हाल है भारत सेवक के?

कबीर ने कहा—हिसाब की जाँच होनेवाली है। दस और दस बीस··· बीस-बीस-बीस···और पन्द्रह पेंतालीस!

कनछेदी ने कहा—अरे बाप रे! बीस और पन्द्रह पेंतालीस!

विजयाराजे सिन्धिया से भेंट

कनछेदी कहने लगा—कवीरदास, कितने बड़े लोगों से भेंट कर आये पर किसी स्त्री से भेंट अभी तक नहीं की। क्या स्त्री से डरते हो?

कबीर ने जवाब दिया—कनछेदी, स्त्री से डरना चाहिए। बात ये है कि—

माया महाठगिनी हम जानी
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै
बोलै मधुरी बानी !

पर मैं एक स्त्री इन्दिरा गाँधी से मिल आया हूँ, लेकिन जयप्रकाश कहते हैं कि वह महाठगनी है। तुम क्या चाहते हो ?

कनछेदी ने कहा—अरे कवीरदास, इस देश में एक स्त्री प्रधानमन्त्री नहीं है, दो हैं।

कबीर ने पूछा—दूसरी कौन है ?

तो कनछेदी बोला—दूसरी है ग्वालियर की विजयाराजे सिन्धिया जो 'राजमाता' कहलाती हैं।

कबीर ने कहा—ठीक है। मैं उनसे मिल आता हूँ।

और कबीरदास ग्वालियर पहुँच गया। वहाँ जयविलास पैलेस में घुस गया। साधु-सन्तों को कोई रोकता नहीं है। राजमाता के सचिव ने पूछा कि क्या काम है, साधो ? कबीर ने कहा कि कुछ नहीं, राजमाता से मिलना और उन्हें आशीर्वाद देना है।

सचिव ने पूछा—कुछ भभूत वगैरह लाये हो ?

कबीर ने जवाव दिया—भभूत नहीं, भूत लाया हूँ। राजमाता का भूत बताऊँगा।

सचिव मुझे राजमाता के पास ले गये। वैभव से दूर रहकर भी कबीर ने वैभव बहुत देखा, इसलिए राजमहल का वैभव मुझे आतंकित नहीं कर सकता।

राजमाता की बैठक में घुसा तो उन्होंने कहा—आओ साधो ! कबीरदास हो न ? हम लोग साधु-सन्तों को बहुत दान देते हैं और उनका सम्मान करते हैं।

कबीरदास ने कहा—न मुझे दान चाहिए, न सम्मान। बात ये है कि पिछली बार जब मैं ग्वालियर आया था तो आपके चिरंजीव माधवराव के सचिव ने मुझसे कहा कि जयविलास महल चलिए, वहीं भोजन करिए। वहाँ बहुत अच्छा म्यूज़ियम है, उसे देखिए।

कबीर ने पूछा—राजमाता हैं ?

सचिव ने जवाब दिया—वे नहीं हैं। विदेश गयी हैं।

तो कबीर ने कहा—तो फिर क्या म्यूज़ियम हुआ ? जब म्यूज़ियम की सबसे आकर्षक मूर्ति ही नहीं है, तो म्यूज़ियम का कोई मतलब नहीं है।

राजमाता ने मुझे गौर से देखा और कहा—तुम बड़े टेढ़े साधु हो। मैं क्या म्यूज़ियम पीस हूँ ?

कबीरदास ने कहा—और नहीं तो क्या ? आप शुरू से म्यूज़ियम पीस रही हैं। संविद सरकार जब बनी थी तो गोविन्दनारायण सिंह ने आपको म्यूज़ियम पीस बनाकर रखा और संविद की नेत्री बना दिया।

राजमाता तनतना उठीं। बोलीं—उस लफंगे ठाकुर का नाम मत लो। वह डबल रोल करता था। इधर मुझसे संविद को मजबूत करने की बात करता था और उधर उसी संविद को उखाड़ने की कोशिश करता था। खेत पर टैक्टर चलाता था और संविद पर बुल्डोजर। कहता था कि गाँव जा रहा हूँ लेकिन भोपाल में यहीं कहीं छिपकर दाँव-पेंच करता था।

कबीर ने कहा—मगर उसने रिकार्ड का काम किया है। उसने दो मन्त्रि-मण्डल गिराये। एक तो द्वारिकाप्रसाद मिश्र का और दूसरा अपना खुद का। शाम तक टेनिस खेलता रहा। तमाम पत्रकार और राजनीति के लोग उसकी तलाश कर रहे थे, पर वह टेनिस कोर्ट पर था। शाम हुई तो उसने कहा कि अब टेनिस बन्द। अब खेल शुरू होगा राजनीति का। और रात को उसने अपना ही मन्त्रि-मण्डल भंग कर दिया।

राजमाता ने कहा—ठीक कहते हो साधो! वह ऐसा ही नाटककार है। मुझे पता ही नहीं कि मेरे पीठ के पीछे क्या कर रहा है। वह पण्डित द्वारिकाप्रसाद मिश्र को 'कनपटिया बाबा' बोलता था और अब कांग्रेस में लौटकर उन्हीं मिश्रजी के साथ हो गया।

कबीर ने पूछा—आप भी तो राजनीति में हैं। क्या आप दाँव-पेंच, उठा-पटक वगैरह नहीं कर सकती थीं ?

राजमाता ने कहा—देखो साधो, हम तो राजा-रानी हैं। कोई टुटपूँजिया नहीं हैं। हम तो महल की राजनीति करते हैं और ये ठाकुर करता था सड़क की राजनीति। राजनीति करना है तो जयविलास पैलेस में आओ, मैं थोड़े ही किसी के पास जाऊँगी। मगर यह ठाकुर किसानों के साथ बैठकर बीड़ी पीता था। कैसा घटिया मुख्यमन्त्री था !

कबीर ने कहा—महल की राजनीति तो पं. द्वारिकाप्रसाद मिश्र भी करते हैं।

राजमाता बोलीं—भाई, उनमें मुझमें फर्क है। वे मँजे खिलाड़ी हैं, उन्होंने कांग्रेस के दो हिस्से करवा दिये। गोविन्दनारायण ठीक कहता है कि वह कनपटिया बाबा है। बहुत काइयाँ है। पता नहीं बँगले में बैठा-बैठा किसके नाश की योजना बना रहा है। हम तो राजा-रानी लोग हैं, हुक्म दे दिया कि ऐसा करो। फिर हमारे पास पैसा है।

कबीर ने कहा—राजा-रानी तो खत्म हो गये।

राजमाता ने कहा—कहाँ खत्म हो गये! नाममात्र के लिए। पुलिस हटा ली तो हमारी अपनी पुलिस है। जो डाकू हैं ये किसकी पुलिस हैं, ये तो हमारी

पुलिस हैं और हमारे महल में ही पचासों बन्दूकधारी हैं।

कबीर ने कहा---और यह जो प्रिवीपर्स बन्द हो गये, सो क्या हुआ ?

राजमाता हंसीं। बोलीं—अरे यह तो दिखावा है। उन थोड़े-से रुपयों से हमारा क्या बनता-विगड़ता है। हमारे पास अपार सम्पत्ति है, शेयर हैं, विदेशी बैंकों में पैसा जमा है। हम तो सरकार की बराबरी के हैं।

कबीर ने कहा---मैं जानता हूँ। सरकार के पास हैलीकॉप्टर तो आपके पास हैलीकॉप्टर। मुख्यमन्त्री हैलीकॉप्टर में घूम रहा है तो आप भी हैलीकॉप्टर में घूम रही हैं। सचमुच आपकी बराबरी की सरकार है। पर क्या आपकी प्रजा भी है ?

राजमाता ने कहा—हाँ, प्रजा है। राजवाड़े के सारे लोग हमारी प्रजा हैं। जो मैं कह दूं, वही यह प्रजा करती है। तभी तो मैंने अटलबिहारी वाजपेयी से कहा कि चुनाव यहीं से लड़ो, हमारी प्रजा तुम्हें वोट देगी। और उसे जिता दिया।

कबीर ने कहा—मैं जानता हूँ। सुभद्रा जोशी उस बेचारे के पीछे पड़ी रहती थी। तो एक स्त्री से घवड़ाकर वह दूसरी स्त्री की शरण में आ गया और आपने उसका उद्धार कर दिया।

राजमाता ने कहा—मगर वह एहसान फरामोश है। मुझे जनसंघ की अध्यक्षा बनाने के लिए उसने जोर ही नहीं दिया, वरना आडवाणी की जगह आज मैं होती।

कबीर ने कहा—बात ये है कि जनसंघ हिन्दू संस्कृति को मानता है। एक तो आप स्त्री, फिर विधवा। आपको अध्यक्ष कैसे बनाते ? आप तो जानती हैं कि जब इन्दिरा गाँधी प्रधानमन्त्री हुईं तो स्वर्गीय एम. एस. गोलवलकर ने कहा था कि एक विधवा प्रधानमन्त्री हो गयी है। अब इस देश का भविष्य अन्धकारमय है।

राजमाता ने कहा—साधो, तुम उन्हें एम. एस. गोलवलकर कहते हो। परम पूज्य गुरुजी क्यों नहीं कहते ?

कबीर ने कहा—मैं अपना गुरु खुद चुनता हूँ। किसी से गुरु उधार नहीं लेता। बहुत लोगों के लिए वे उधारी के गुरु हैं।

कबीरदास ने पूछा—अब आपका राजनीतिक कार्यक्रम क्या है ?

राजमाता ने कहा—मेरा कार्यक्रम है प्रधानमन्त्री बनना। जब इन्दिरा गाँधी प्रधानमन्त्री बन सकती हैं तो मैं क्यों नहीं बन सकती ! मैं जयप्रकाश बाबू से कहूँगी कि चाहे जितना पैसा आन्दोलन के लिए ले लो पर प्रधानमन्त्री मुझे बनाओ।

कबीर ने कहा—आपने क्या इन्दिरा गाँधी से अपनी तुलना करके देखी है। दोनों में क्या समानता है ?

राजमाता बोलीं—तुलना क्या करना है ! जितना पैसा मेरे पास है, उतना उनके पास नहीं है।

कबीर ने कहा---मैं समझ गया। स्त्रियों में यही स्पर्धा होती है। मामूली औरतें कहती हैं—अरे तू क्या है ? तेरे बक्से में पाँच साड़ियाँ हैं, मेरे बक्से में आठ। मैं तेरे से बड़ी हूँ। लेकिन राजमाताजी, बुद्धि, कूटनीति, ज्ञान, व्यक्तित्व

इनका भी तो कोई महत्त्व होता है ।

राजमाता का जवाब था—इन्दिरा का महत्त्व तुम्हीं बताओ। इन्दिरा गाँधी से क्या मैं कम सुन्दर हूँ ?

कबीर ने कहा—साधु नीति जानता है। किसी स्त्री के मुँह पर यह नहीं कहना चाहिए कि तू कम सुन्दर है। आप इन्दिरा गाँधी के बराबर सुन्दर हैं। फिर आपके पास पैसा अधिक है। आप बिल्कुल प्रधानमन्त्री होने के लायक हैं।

राजमाता खुश हुईं। कहने लगीं—यह जो जयप्रकाश बाबू का आन्दोलन चल रहा है तो केन्द्र में अब संविद बनेगी और लोग मेरे पास आयेंगे कि आप संविद की नेत्री हो जाइए। तो मैं संविद की नेत्री भी हो जाऊँगी और प्रधानमन्त्री भी।

कबीर ने कहा—पर पिछली प्रदेशों की संविद सरकारें बहुत बदनाम हुईं और टूट गयीं। यही हाल केन्द्र में हुआ तो ?

राजमाता ने कहा—दिल्ली में मैं ऐसा नहीं होने दूंगी जैसा भोपाल में हुआ। मैं वहाँ गोविन्दनारायण सिंह पैदा ही नहीं होने दूंगी।

कबीर ने कहा—अगर अटलबिहारी वाजपेयी गोविन्दनारायण हो गया तो? या चौधरी चरणसिंह गोविन्दनारायण हो गया तो ?

राजमाता ने कहा—एक तो मैं इन्हें गोविन्दनारायण नहीं बनने दूंगी, फिर यदि बन भी गये और संविद टूटी तो फिर ये गौरव क्या कम है कि हमने देश पर कुछ समय राज कर लिया।

कबीर ने कहा—चिरंजीव माधवराव के बारे में क्या सोचती हैं ?

राजमाता ने जवाब दिया—उसे तो मध्यप्रदेश का मुख्यमन्त्री बनना ही है, यह बिल्कुल तय हो चुका है।

कबीर की बात लगभग पूरी हो चुकी थी। उन्होंने कहा—अब मैं चलूं।

राजमाता ने कहा—कुछ खाओ। क्या खाना चाहते हो ? कुछ गाँजा-वाँजा पीते हो तो मँगा दूं ?

कबीर ने कहा—राजमहलों में साधुओं से खाया नहीं जाता और जहाँ तक गाँजे का सवाल है, वह मेरे झोले में है।

कबीरदास चल दिया। लौटा तो वही कनछेदी मिल गया। पूछने लगा—कैसी लगी राजमाता ?

कबीर ने कहा—बहुत अच्छी हैं। सब जय और विलास है। इन्दिरा गाँधी से अपने को बड़ा मानती हैं। बात वही है कि तेरे बक्से में पाँच साड़ी तो मेरे बक्से में आठ साड़ी।

राजनारायणसिंह से भेंट

कबीर घबड़ा उठा। मैंने कनछेदी से कहा—अरे कनछेदी, गजब हो गया। राजनारायणसिंह की चिठ्ठी आयी है। लिखा है—क्यों बे कबीर के बच्चे, तू सबसे मिल रहा है, पर अभी तक मेरे पास क्यों नहीं आया? तू भी काशी का और मैं भी काशी का और तू काशीवाले राजनारायण से नहीं मिला। 7-8 दिन में मैं ही तेरे घर आता हूँ। या तो तुझे पीटूँगा या तेरे दरवाजे पर अनशन कर दूँगा।

कनछेदी ने कहा--कबीरदास, पहली गाड़ी से जाओ। अगर वह यहाँ आ गया तो पता नहीं इस मुहल्ले का क्या होगा! वह इस किस्म का आदमी है कि—उलट-पलट लंका सब जारी।

कबीर काशी पहुँचा और राजनारायण का दरवाजा खटखटाया तो भीतर से आवाज आयी—ठहर न बे! हम दण्ड पेल रहे हैं।

कबीर बाहर बैठा रहा। थोड़ी देर बाद दरवाजा खुला और राजनारायण ने कहा—अब आओ। वे पसीने से लथपथ थे।

मैंने कहा—मैं कबीरदास हूँ। आपकी चिट्ठी मिली तो एकदम भागा चला आया। पर आपने इतनी कठोर और क्रोधभरी चिट्ठी मुझे क्यों लिखी?

राजनारायण ने कहा— जब वह चिट्ठी लिखी, तब मेरा 'मूड' बहुत खराब था। उस दिन संसद में इस इन्दिरा के बिगड़ैल बेटों ने मुझे बोलने नहीं दिया था। बार-बार 'हूट' करते थे। गुस्से में था, इसलिए वैसी चिट्ठी लिख दी होगी।

मैंने कहा—आप हिन्दीभक्त हैं, मगर 'मूड' और 'हूट' अँगरेजी शब्द बोलते हैं।

राजनारायण ने कहा—इस रानी इन्दिरा के रहते हिन्दी कहाँ पनप सकती है? मगर डॉक्टर साहब (डॉ. लोहिया) भी 'रिपोर्ट' की हिन्दी 'रपट' बना लेते थे।

मैंने कहा—तभी आप लोग रपट गये। पार्टी के हिस्से हो गये। आप लोकदल में चले गये। खैर, इस उम्र में भी आप इतने दण्ड पेलते हैं?

राजनारायण ने कहा—दण्ड पेले बिना संसदीय कर्म कैसे होगा? अभी तो मुझे शीर्षासन करना है।

और वें शीर्षासन करने लगे।

निपटे तो बोले—शीर्षासन का राजनीतिक फायदा यह है कि इसमें हर चीज उलटी दिखती है। और सफल राजनीति के लिए चीजें उलटी दिखना जरूरी हैं।

कबीर ने कहा—तो आपकी राजनीति यही है कि सीधी चीजें उलटी दिखें?

राजनारायण ने कहा—और क्या? सीधा ही दिखे तो राजनीति क्या हुई?

जब कभी लिमये या जॉर्ज सीधा देखने लगते, मैं डांट देता—ए, उलटा देखो, वरना पार्टी से निकल जाओ।

वे बाथरूम गये। लौटे तो थाली में जलेबियाँ ले आये। खाने बैठे तो पूछा—कबीर, जलेबी खाओगे!

मैंने कहा—नहीं, आप खाइए!

राजनारायण ने क्रोध से कहा—अबे खा साधु, नहीं तो एक झापड़ा मार दूंगा! सिर्फ तीन जलेबी लेना, वरना मेरी खूराक कम पड़ जायगी।

कबीर ने तीन जलेबियाँ लीं और घबड़ाकर निगल गया।

जलेबी खाकर राजनारायण भीतर गये और दूध का लोटा ले आये। भाप निकल रही थी। वे पीने को हुए तो मैंने कहा—भाप निकल रही है। थोड़ा ठण्डा कर लीजिए।

राजनारायण ने कहा—कुनकुना दूध कायर पीते हैं। उनकी राजनीति कुनकुनी होती है। डॉक्टर साहब उबलती हुई राजनीति पीते थे, मैं उबलता हुआ दूध पीता हूँ। साधु, तुम आसन, ध्यान, योग वगैरह करते हो?

कबीर ने कहा—नहीं करता। अपना तो यह है कि—

साधो, सहज समाधि भली,
जहँ-जहँ डोलों सोइ परिकरमा,
जो-जो करौं सो सेवा,
जब सोवौं तब करौं दण्डवत,
पूजौं और न देवा।

राजनारायण ने कहा—अरे, काशी में रहकर यह सब नहीं किया? तभी तो 'द्विज' तुमसे नफरत करते थे।

कबीर ने कहा—हाँ यह सही है पर मैंने भी तो द्विजों की चमड़ी उधेड़ी है।

राजनारायण ने कहा—और यही मैं भी करता हूँ। द्विजों की चमड़ी उधेड़ता हूँ। डॉक्टर साहब 'वर्ण संघर्ष' पर बड़ा जोर देते थे, पर पता नहीं जोशी-फोशी जैसे 'द्विज' पार्टी में कैसे आ गये?

कबीर ने कहा—तुम तो डॉक्टर लोहिया को बात-बात में इस तरह याद करते हो, जैसे कोई विधवा भावुक होकर कहती है—वे कहते थे कि बिब्बो, तुम्हें नीली साड़ी बहुत अच्छी लगती है।

राजनारायण ने कहा—अपनी प्रकृति के अनुसार कबीर तुमने उदाहरण ऊटपटाँग दे दिया। पर सच है कि डॉक्टर साहब राम थे, और मैं उनका हनुमान था। एक बार लिमये से उनके कुछ मतभेद हो गये, तो मैंने उन्हें लिखा कि मैं लिमये को ठीक कर दूंगा। ऐसा हमारा सम्बन्ध था। तुम ठीक कहते हो, तुमने अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है, हम डॉक्टर साहब की बहुरिया थे। रुको, तुम्हें चाय पिलाता हूँ।

उन्होंने चाय बुलवायी। मेरे लिए कप-बसी में और अपने लिए केतली में। मैं चाय पीने लगा, पर देखता क्या हूँ कि केतली की टोंटी नाक में लगाकर वे नाक से गरम चाय पी गये।

मैंने कहा—कमाल है! गर्म चाय नाक से पीते हो!

राजनारायण ने कहा—और नहीं तो क्या? चाय ठण्डी करके मुँह से पीऊँ तो मेरा नाम राजनारायणसिंह कैसे होगा? और समाजवादी क्रान्ति कैसे आयेगी? अरे साधु, समाजवाद फूंक-फूंककर नहीं पिया जाता। वह उबलता हुआ उँड़ेला जाता है।

इतने में एक आदमी कोई शिकायत लेकर आया। राजनारायण ने शिकायत सुनी और गुस्से में कहा—मुझसे क्यों शिकायत करते हो? जाओ अपनी उसी दिल्लीवाली रानी के पास। वोट उसे दोगे, प्रधानमन्त्री उसे बनाओगे और शिकायत मुझसे करोगे! जाओ, पहले उससे इस्तीफा दिलाओ, तब मुझसे बात करो।

राजनारायण ने एक फूहड़ शब्द भी कहा था, जो छपाने लायक नहीं है।

वह आदमी भाग खड़ा हो गया।

मैंने कहा—जन-समस्याओं का हल क्या आप इसी तरह करते हैं?

राजनारायण ने कहा—हाँ, ये हरामजादे वोट तो उसे देंगे और अपनी तकलीफ राजनारायण से कहेंगे।

कबीर ने पूछा—प्रधानमन्त्री से आप लोग इतना क्यों चिढ़ते हैं?

राजनारायण ने कहा—यह नेहरू खानदान है। इस नेहरू खानदान ने देश का नाश कर दिया।

कबीर ने पूछा—मोतीलाल नेहरू ने भी?

राजनारायण ने कहा—मोतीलाल नहीं, मोतीलाल के परदादों ने भी। यह खानदान ही विनाशकारी है। जब तक यह खानदान राजनीति में है, तब तक देश का नाश होता रहेगा। डॉक्टर साहब कहते थे कि इस जवाहरलाल नेहरू ने हमारी क्रान्तिकारिता को मार डाला।

कबीर ने कहा—पर क्रान्तिकारिता एक क्या, सौ नेहरुओं से नहीं मरती।

राजनारायण ने कहा—तभी तो राजनारायण अभी भी चौबीसों घन्टे क्रान्तिकारी है। बताऊँ?

और वे उचककर अलमारी पर चढ़ गये और टेबल पर कूद पड़े। कहा—देखा, ये है लगातार क्रान्ति!

कबीर ने पूछा—संसदीय जीवन आपका कैसा है?

राजनारायण ने कहा—अरे, मेरा संसदीय जीवन बहुत पुराना है। मेरी तारीफ ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री एटली ने भी की थी। मैं तब उत्तरप्रदेश विधान सभा का सदस्य था। एटली विधान सभा की कार्यवाही देख रहे थे। मैं पूरे 'मूड' में था—'संसदीय' 'मूड' में। मैं कुर्सी के ऊपर खड़ा हो गया और चिल्लाने लगा। अध्यक्ष ने कहा—बाहर निकल जाओ तो मैं कुर्सी के नीचे घुस गया। अब विधान

सभा के गार्ड मुझे बाहर निकालने की कोशिश कर रहे हैं और मैं निकल नहीं रहा हूँ। बड़ा मजा आया ! बाद में एटली ने तारीफ की। नेहरू से कहा—आपकी विधान सभा तो बड़ी जीवन्त है। हमारी संसद के अधिवेशन बड़े नीरस होते हैं।

कबीर ने पूछा—आप समझते हैं यह तारीफ थी ?

राजनारायण ने कहा—और नहीं तो क्या था ?

मैंने कहा—अरे पहलवान, यह व्यंग्य था, मजाक था कि हमारी संसद में गम्भीर विचार होते हैं और तुम्हारे यहाँ हुल्लड़ !

राजनारायण ने कहा—तुम मूर्ख हो ! कुछ नहीं समझते। वह मेरी तारीफ थी, इसीलिए अपने इस संसदीय कार्य को मैं चालू रखे हुए हूँ। अध्यक्ष कहता है, बैठ जाओ। मैं नहीं बैठता। अध्यक्ष कहता है—निकल जाओ, मैं नहीं निकलता और कुर्सी के नीचे घुस जाता हूँ।

कबीर ने पूछा—क्या तुम संसद की कार्यसूची पढ़ते हो ? संसद में उठनेवाले विषयों का अध्ययंन करते हो ?

राजनारायण ने कहा—यह सब वे बुद्धू लिमये और जॉर्ज करते हैं। बैठे हैं। पढ़ रहे हैं। सोच रहे हैं। अपना यह है कि दण्ड पेले, जलेबी खायी, दूध पिया और संसद में पहुँच गये, और जो भी विषय उठा, उसी पर चिल्लाने लगे। मेरे फेफड़े बहुत ताकतवर हैं। विषय से अपने को मतलब नहीं। विषय चाहे जो भी हो, हमें तो हंगामा करना है।

कबीर ने कहा—पर संसद की मर्यादा होती है।

राजनारायण ने कहा—काहे की मर्यादा ? जब तक वह मलिका सिंहासन पर बैठी है, तब तक कोई मर्यादा रह नहीं सकती।

कबीर ने कहा—पर राजनारायण, तुम्हें, तुम्हारे गुट और तुम्हारे समाजवाद को वह चौधरी चरणसिंह लील गया।

राजनारायण ने कहा—भई, बात यह है कबीर, कि उसके पास जाट नेता बहुत हैं। और हमें बनाना है इन्दिरा विरोधी मोर्चा। तो हम उसी के साथ हो गये। पर जिस दिन चाहूँगा, उस चौधरी को पछाड़कर नेता हो जाऊँगा।

मैंने पूछा—तुम्हारा कैसा समाजवाद है ?

राजनारायण ने कहा—इन्दिरा का विरोध करना ही समाजवाद है।

मैंने कहा—पर इन्दिरा अपने को और अपनी पार्टी को समाजवादी कहती है।

राजनारायण ने कहा—खाक समाजवादी हैं ! डॉक्टर साहब कहते थे कि जब तक यह जवाहरलाल नेहरू है, तब तक समाजवाद नहीं आ सकता। नेहरू गये तो यह मलिका आ गयी। जब तक नेहरू खानदान है, तब तक समाजवाद आ ही नहीं सकता।

कबीर ने पूछा—अगर लिमये प्रधानमन्त्री हो जायें तो तुम क्या करोगे ?

राजनारायण ने कहा—तब भी मैं विरोध करूंगा। नारा लगाऊँगा—लिमये-परिवार ने देश का नाश कर दिया। मैं हमेशा विरोध करूंगा।

मैंने पूछा—तुमने कार्ल मार्क्स पढ़ा है ?

राजनारायण ने कहा—नहीं पढ़ा। क्यों पढ़ें ? डॉक्टर साहब तो थे।

मैंने पूछा—डॉक्टर लोहिया ने जो लिखा है, वह पढ़ा है ?

वे बोले—वह भी नहीं पढ़ा। जब डॉक्टर साहब हमारे साथ थे तब उनका लिखा क्यों पढ़ें ? अभी तुमने कार्ल मार्क्स की बात की। ये कम्युनिस्ट कार्ल मार्क्स को गुरु मानते हैं। ये बदमाश कांग्रेस में घुस गये हैं। बाहर से उनकी पार्टी और भीतर से ये घुस-पैठिये उस रानी का दिमाग खराब कर रहे हैं। उसे गलत रास्ते पर चलाते हैं।

मैंने पूछा—जयप्रकाश नारायण का आन्दोलन कैसा है ?

वे बोले—बहुत अच्छा है। मैं तो उनका समर्थक हूँ।

मैंने पूछा—क्या इसलिए कि वे क्रान्ति लाना चाहते हैं ?

वे बोले—नहीं, इसलिए कि जयप्रकाश इन्दिरा गाँधी को तंग कर रहे हैं। हमें तो इस सुरसा को खतम करना है, राजनीति से। और यह मैं ही करूंगा—

जस-जस सुरसा वदन बढ़ावा,
तासु दुगुन कपि रूप दिखावा।

मैंने पूछा—अभी क्या कार्यक्रम है ?

—बस संसद का सत्र खतम होते ही विश्वविद्यालय के फाटक पर अनशन शुरू कर दूंगा। उधर हमारी यूनियन है।

—अब चलूं। संसद में आज मेरा हुल्लड़ का प्रोग्राम है—जय बजरंगबली—तोड़ दुश्मन की नली !

मैंने कहा—यह जरूरी थोड़े ही है कि प्रश्न के घण्टे में ही हुल्लड़ का संसदीय कार्य करो। दिन-भर पड़ा है।

राजनारायण ने कहा—हां, सो तो ठीक है। एक बात कहना भूल गया। तुम भी काशी के, तुलसीदास भी काशी के, भारतेन्दु भी काशी के और मैं भी काशी का हो गया। फिर भारत की राजधानी काशी क्यों न हो ? मैं संसद में इस बारे में एक बिल लाऊँगा कि भारत की राजधानी काशी हो। तुम्हारा गालिब से अच्छा स्मारक बनवाऊँगा।

कबीर ने कहा—बिल तो लोकसभा में आता है और तुम हो राज्य-सभा में।

वे बोले—हाँ, यह कठिनाई है। ख़ैर, आगे देखा जायेगा। पर एक बात कहता हूं। भारतेन्दु ने कहा था—प्यारे हरिचन्द की कहानी रह जायगी। मैं कहता हूँ—प्यारे राजनारायण की कहानी रह जायगी !

कबीर ने बिदा ली।

लौटा तो कनछेदी ने पूछा—मिल आये ?

मैंने कहा—मिल आया।

कनछेदी ने कहा—साधु, तुमने मुहल्ले का बड़ा भला किया।

डाक्टरों से भेंट

कबीरदास राजनेताओं से मिलता था, मजे की बातें होती थीं। राजनारायणसिंह से मिलने का मजा गया नहीं था। सोच रहा था कि गुजरात जाऊँ या बिहार जाऊँ, पर एक गैर-राजनैतिक काम में फँस गया—मानवीय काम में। इसका यह मतलब नहीं कि राजनीति अमानवीय होती है, पर यह एक व्यक्तिगत काम आ गया।

मैं बाहर निकला, तो कनछेदी बरामदे में बैठा दिख गया। कबीर ने पूछा—कहो कनछेदी, क्या कर रहे हो ?

कनछेदी ने कहा—कुछ नहीं, आसमान में मानसून की राह देख रहे हैं और फिर छत को देखते हैं। मानसून अच्छा आये, तो किसान से लेकर कृषिमन्त्री तक खुश होते हैं पर मेरा दिल बैठने लगता है। सारा घर टपकता है। हर बरसात में लगता है कि अब घर की जगह झील बन जायेगी।

मैंने कहा—तो मरम्मत कराओ।

कनछेदी ने कहा—मरम्मत तो कराता हूँ, पर छत हो तो उसकी मरम्मत हो। यह जो है, छत दिखती है, पर छत है नहीं। एक छेद ढाँको तो दूसरा खुल जाता है—जैसे सरकार एक पोल ढाँकती है, तो दो नयी खुल जाती हैं। देखो, तुम्हारी ही झीनी-बीनी चदरिया है, अगर वह फटकर तार-तार हो जाये, तो पैबन्द कहाँ लगाओगे ?

कबीर ने कहा—सो तो ठीक है, कनछेदी ! इस देश की चादर भी तार-तार हो गयी है। देश के भाग्य-विधाता चादर बदलना नहीं चाहते। उसी तार-तार चादर में पैबन्द लगाने की कोशिश करते हैं। खैर, तुम दूसरा मकान ले लो।

कनछेदी ने कहा—साधु, तुम होगे ज्ञानी, पर दुनियादारी नहीं समझते। सस्ते अच्छे मकान सरकारी नौकरों को मिल जाते हैं। वे 'रेन्ट कन्ट्रोल' में आते हैं। नये मकान का किराया अपने बस का नहीं। एक नये मकानवाले से पूछा तो उसने कहा—यह मकान तुम्हारे लिए नहीं है, सरकार के लिए है। तुम हद से हद सौ रुपये दोगे, पर सरकार किसी दफ्तर के लिए पाँच सौ में ले लेगी। सरकार की तरफ से कोई मोलभाव नहीं करता, क्योंकि किराया अफसर की जेब से नहीं जाता। खैर, इस बरसात में मकान गिर जाये और मैं दबकर मर जाऊँ, तो यहाँ तुम 'कनछेदी स्मारक' बनवा देना। जीते जी जो नहीं मिला, उसे मरकर

ले लूंगा। पर तुम कहां जा रहे हो ?

मैंने कहा—कनछेदी, अपने अखाड़े का यह भगत है न, रामदास, उसके इलाज का इन्तजाम कराने जा रहा हूँ। उसके पेट में जोर का दर्द उठा और सुना, वह अस्पताल में भर्ती हो गया है।

कनछेदी ने कहा—गोया डाक्टरों के चक्कर में पड़ गये! अरे, रोग से आदमी बच जाता है, पर डाक्टरों से नहीं बचता। इधर एक बड़ा डाक्टर है। पिछले साल मेरे चचेरे भाई बीमार पड़े। उस डाक्टर को बुलाया। जब तक डाक्टर पहुँचे, भाई मर चुका था, पर डाक्टर ने उस मुर्दे को ही एक इन्जेक्शन दे दिया और 35/- ले लिये। खैर, जाओ। साधु समझकर शायद कुछ दया कर दें।

कबीर अस्पताल पहुँचा, तो देखा रामदास वार्ड के सामने एक झाड़ की छाया में पड़ा कराह रहा है। मेरा खयाल था, वह भरती कर लिया गया होगा। मैंने पूछा—क्यों रामदास, वार्ड में भरती नहीं हुए ?

रामदास ने कहा—भरती करते ही नहीं हैं। कहते हैं, बेड खाली नहीं है। मेरा तो पेट फटा जा रहा है।

मैं वार्ड में गया। देखा, सात-आठ बेड खाली हैं। कबीर भरती करनेवाले डाक्टर के कमरे में पहुँचा। वहाँ दरवाजे पर एक चपरासी बैठा बीड़ी पी रहा था। उसने मुझे भीतर जाने से रोका। मैंने झट झोले में से गाँजा निकाला और उसे देते हुए कहा—क्या कोरी बीड़ी पी रहे हो! यह लो गाँजा! थोड़ा गीला करके मलकर बीड़ी में भर लो और कश खींचकर बोलो—लेना हो शंकर!

उसने कहा—वाह महात्मा, क्या परसाद दिया है! कल से ये खतम हो गया था। जाओ, भीतर जाओ, साधु महाराज!

वह गाँजा मलने में लग गया। मैं भीतर घुस गया। डाक्टर नीचा माथा किये, अपने आप कह रहे थे—क्या डल सीजन है! साला 'हैल्दी सीजन' चल रहा है। प्रैक्टिस आधी रह गयी है।

डाक्टर साहब ने सिर उठाकर मुझे देखा और गुस्से से कहा—कौन हो जी ? किसने आने दिया ? हर कोई साधु, भिखमंगा चला आता है! क्या काम है ?

मैंने कहा—एक रामदास नाम का आदमी झाड़ के नीचे पड़ा है। उसे भरती कर लीजिए न!

डाक्टर ने कहा—बेड खाली नहीं है।

मैंने कहा—मैं खुद देखकर आ रहा हूँ कि सात-आठ बेड खाली हैं।

डाक्टर ने खीजकर कहा—होंगे खाली! पर जब वे बेड उसे लेते नहीं हैं, तो मैं क्या करूँ ? जिस बेड पर डालो, वही उछालकर फेंक देता है। जाओ, तुम्हीं किसी बेड को मना लो!

मैंने पूछा—मरीज आप तय करते हैं या बेड ?

डाक्टर ने कहा—बेड तय करता है। क्या करता है, यह तुम्हारा मरीज ?

मैंने कहा—गरीब आदमी है। थोड़ी-सी खेती है।

डाक्टर ने कहा—गरीब है तो घर पर क्यों नहीं मरता ? इधर मरने क्यों आया ? वह भरती नहीं होगा।

कबीर को क्रोध आ गया। मैंने कहा—मैं आपकी रिपोर्ट करूँगा।

डाक्टर ने कहा—किससे रिपोर्ट करोगे ? इस दुनिया में तो कोई सुननेवाला नहीं है ! तुम्हारी तो भगवान ही सुनता है, पर भगवान को मैंने अभी ताकत के इन्जेक्शन दिये हैं। और पिछले साल जब शंकर को 'टाइफाइड' हुआ था, तब मैंने ही उन्हें 'क्लोरोमाइसटीन' दी थी। तुम्हारी सुनेगा कौन ? निकल जाओ यहाँ से।

कबीर बदहवास कमरे से बाहर निकला।

तब वही चपरासी जो गाँजा फूँक चुका था, मिला। उसने कहा—गुरु, ऐसे काम नहीं होगा। डाक्टर साहब के बँगले जाओ—और कुछ 'कलदार' टेंट में लेकर जाओ, तब बेड खाली होगा।

मैंने रामदास से कहा—थोड़ा धीरज रखो। शाम तक सब ठीक हो जायेगा।

मैं बड़ा दुखी लौटा। तभी कनछेदी आ गया। पूछने लगा—कहो, कैसा है रामदास ?

मैंने कहा—झाड़ के नीचे पड़ा तड़प रहा है। भरती नहीं किया गया।

कनछेदी ने कहा—तुमने ऊपर रिपोर्ट क्यों नहीं की ?

मैंने कहा—रिपोर्ट किससे करता ? सबसे ऊपर तो भगवान है, पर डाक्टर कहता है कि भगवान खुद मुझसे ताकत के इन्जेक्शन लेते हैं।

कनछेदी खूब हँसा। कहने लगा—भगवान को भी ताकत के इन्जेक्शन लगते हैं ? वाह रे भगवान ! देखो कबीर, कल जब अस्पताल जाओ तो रामदास के कफन-दफन का इन्तजाम करके जाना। हमेशा इस तैयारी से अस्पताल जाना चाहिए।

मैंने कहा—नहीं कनछेदी, मैंने आशा नहीं छोड़ी है। शाम को डाक्टर से बँगले पर मिलूँगा। भगवान से ऊपर भी एक सत्ता है।

—तुम्हारे पास सौ रुपये होंगे ?

कनछेदी ने कहा—दो सौ ले जाओ, पर उस गरीब रामदास को बचाओ।

शाम को कबीर बड़े डाक्टर के बँगले पहुँचा। बँगले के फाटक पर एक तख्ती लगी थी—'कुत्ते से सावधान !' मेरा खयाल था, इस बँगले में आदमी रहता है ! पर मैं घुस गया। कुत्ता भयंकर था, पर एक बार गुर्राकर शान्त हो गया। यह ज्यादा समझदार निकला।

डाक्टर के कमरे में घुसा। उनके सामने फार्मों की एक थप्पी लगी थी। वह उन्हें देखकर दस्तखत करते जा रहे थे।

मुझे देखकर भड़क पड़े—तुम फिर आ गये भिखमंगे ! मैंने कह दिया न कि वह तुम्हारा रामदास भरती नहीं होगा।

मैंने जेब से पचास रुपये निकालकर रख दिये। कहा—यह बात करने की फीस है। ये जो फार्म हैं, काहे के हैं?

डाक्टर ने कहा—ये 'रिइम्बर्समेन्ट' के फार्म हैं। तुम इस कठिन काम को क्या समझोगे ?

मैंने कहा—समझता हूँ। सरकारी नौकरों और उनके परिवार के इलाज के बिलों पर आप दस्तखत कर रहे हैं। मैंने ऐसे सरकारी नौकर भी देखे हैं, जिनके बीवी-बच्चे सब लगातार हर महीने बीमार रहते हैं। पता नहीं, ये मरते क्यों नहीं ! यह आपके इलाज की कृपा है कि परिवार बीमार पड़ा है, दवा केमिस्ट की अलमारी में है, डाक्टर घर बैठा है—बस सिर्फ बिल बन रहे हैं। इसी दवा से लोग स्वस्थ हो जाते हैं। यह तो विज्ञान नहीं, जादू है !

अब डाक्टर चौंका। बोला—तुम कौन हो जी ? क्या तुम सी. बी. आई. के आदमी हो ?

मैंने कहा—हुजूर, मैं जानता ही नहीं कि सी. बी. आई. क्या है ! मैं तो भीख माँगनेवाला हूँ। भीख माँगकर पचास आपको दिये। पर मैं यह मानता हूँ कि आपके ऊपर इन फार्मों का ही इतना बोझ है कि इलाज करने या मरीज की तरफ ध्यान देने का आपको समय नहीं मिलता। आप सचमुच दया के पात्र हैं। आप पर इन्कमटैक्स चोरी का मुकदमा चल रहा है और वह फौजदारी भी है। जमानत का इन्तजाम तो कर लिया होगा, वरना मैं भीख माँगकर जमानत ले लूंगा। आप देवता हैं।

डाक्टर घबड़ाया। उसने मुझे पचास रुपये वापस किये। फिर भीतर गया और पाँच सौ रुपये लाया। मुझे देकर कहा—यह और लो। मैं सब समझ गया। कल रामदास की भरती कर लूंगा। बाकी कृपा बनाये रखना। पर आपका 'रैंक ?' पद ?

कबीर ने कहा—सुपरिन्टेन्डेण्ट स्पेशल ब्रॉच।

डाक्टर ने कहा—अरे बाप रे! आप जाइए! ज़रा मेरे कुत्ते से बचकर जाइए।

मैंने कहा—कुत्ता आपसे ज्यादा समझदार है। उसने मुझे छेड़ा ही नहीं। कुत्ते भी तरह-तरह के होते हैं।

लौटकर कबीर ने कनछेदी से कहा—लो अपने दो सौ। ऊपर से डाक्टर के दिये पाँच सौ मेरे पास हैं।

कनछेदी ने पूछा—डाक्टर ने तुम्हें रुपये क्यों दिये ?

मैंने कहा—कनछेदी, हर चादर मैली है। पहले मूरख मैली करता था, अब

बुद्धिमान मैली करता है। डाक्टर समझा कि मैं सी. बी. आई. का आदमी हूँ और उनके हिसाब की जाँच करने आया हूँ।

खैर, दूसरे दिन रामदास भरती हो गया।

मैंने उसके वार्ड के डाक्टर से कहा—इसके पेट का एक्स-रे करा दीजिए।

उसने कहा—तुम क्या डाक्टर हो? आ गये एक्स-रे कराने! एक्स-रे मशीन इन्कार कर रही है। जाओ मनाओ उसे!

कबीर गया और एक्स-रे मशीन के चरणों पर पचास रुपये रखकर कहा—हे देवि, तू मान जा। यह तेरी भेंट है। अब तू गरीब रामदास की फोटो उतार दे।

मशीन खुश हो गयी। रामदास का एक्स-रे हो गया।

मैंने पूछा—डाक्टर साहब, क्या मशीनों में विल पावर (इच्छा-शक्ति) होती है?

वह मेरी तरफ देखने लगा। मैंने कहा—जवाब दीजिए।

उसने कहा—तुम हो कौन जो इस तरह की बातें करते हो? तुम कहीं···

मैंने कहा—यों ही गँवार हूँ, पर एक बात तो बताइए—इन्कम टैक्स में तो आप नहीं फँसे हैं?

उसने कहा—तुम्हें मतलब?

मैंने कहा—कोई मतलब नहीं।

डाक्टर थोड़ी देर एक कोने में खड़ा सोचता रहा। फिर आकर मुझे पचास रुपये वापस किये और कहा—ये ले जाओ। तुम शायद 'वो' हो।

अब रामदास का इलाज ठीक चलने लगा।

पर एक दिन रामदास को बेहद दर्द होने लगा। मैंने एक डाक्टर से कहा, तो उसने जवाब दिया— वह डाक्टर प्रसाद का पेशेन्ट है, मैं नहीं देखूंगा।

मैंने कहा—अगर वह मर रहा हो तो?

उसने कहा—तो मर जाये। डाक्टर प्रसाद का केस है, वही बदनाम होगा।

किसी तरह रामदास ठीक हो गया। तब मैंने डाक्टरों से कहा—मैं कबीरदास हूँ—सन्त कवि!

वे चौंके—अरे वही सन्त कबीर—'घूंघट के पट खोल रे, तोहे पिया मिलेंगे' वाले!

मैंने कहा—हाँ वही। पर तुम्हारे घूंघट के पट कब खुलेंगे?

रामदास घर लौट गया।

कनछेदी ने कहा—कहो कबीरदास, अब क्या सोचते हो?

मैंने कहा—सोचता क्या हूँ! गालिब को याद करता हूँ—

पड़ जाइए बीमार तो कोई न हो तीमारदार,
और जो मर जाइए तो नौहःख्वाँ कोई न हो।

कनछेदी भी काइयाँ है। कहने लगा—यह कैसा रहेगा—

लायी हयात, आये, कजा ले चली चले,
न अपना खुशी आये थे, न अपनी खुशी चले।

कबीर ने कहा—अच्छी बात है, कनछेदी ! अच्छा, 'गुड मार्न, डाक !'

कनछेदी ने कहा—यह 'गुड मार्न डाक' क्या है जी ?

मैंने कहा—कनछेदी इसका मतलब है—गुड मार्निंग डाक्टर ! एक-दूसरे से सब ऐसा ही अभिवादन करते हैं। यह अँगरेजों के जमाने से चला आ रहा है। अभी हिन्दी-वीरों का ध्यान इस तरफ नहीं गया।

कनछेदी उठा। बोला—अच्छा, गुड मार्न डाक !

मैंने कहा—कनछेदी, फिर तुम गलती कर गये। जाते वक्त यह नहीं कहा जाता।

चन्दाराम से भेंट

कबीर राजनीतिवालों से मिलते-मिलते ऊब उठे थे। वे लोग भी कबीर से परेशान हो गये थे।

सोचा, इस महीने कबीर भी राहत लें और नेताओं को भी लेने दें !

कबीर के कान में खबर आयी कि बाबू चन्दाराम फिर बहुत सक्रिय हो गये हैं। वे इस नगर के रत्न हैं। सोचा—दौड़-धूप बन्द करें। चलो चन्दाराम से ही मिल लें।

बाहर निकला तो कनछेदी बरामदे में बैठा दिखा। मैंने कहा—कहो कनछेदी, क्या कर रहे हो ?

कनछेदी ने कहा—कुछ नहीं। अखबार पढ़कर निपटे हैं। भई, ये तुम्हारे अखबारवाले भी कमाल करते हैं। अखबार खोलो तो ये समाचार पढ़ने को मिलते हैं—बलात्कार, अपहरण, अवैध शराब, सट्टा और जुआ। इस देश में क्या सिर्फ इतने ही काम होते हैं ? और विज्ञापन देखो तो ये—कीमती कपड़ों के, सौन्दर्य-सामग्री के और ताकत की दवा के। याने इस देश का आदमी अच्छे कपड़े पहनता है, सौन्दर्य का लेप करता है और ताकत की दवा खाता है।

मैंने कहा—कनछेदी, अख़बारवाले वही परोसते हैं जो पाठक खाना चाहते हैं।

कनछेदी ने पूछा—खैर, ठीक है। पर सन्त तुम कहाँ चले ? आज तुम्हारे हाथ में अटैची नहीं है।

मैंने कहा—कनछेदी, आज 'लोकल' मामला है। दौड़-धूप करते और लोगों

से ऊब-सा गया हूँ ।

कनछेदी ने कहा—लोगों से नहीं उलझोगे, तो तुम्हारी तबीयत बिगड़ जायगी। 'लोकल' भेंट आज किससे है ?

मैंने कहा—चन्दाराम से।

कनछेदी ने कहा—चन्दगीराम से ? पहलवान से ?

मैंने कहा—चन्दगीराम से नहीं, चन्दाराम से—उनसे जो चन्दा करने के लिए शहर में मशहूर हैं।

कनछेदी ने कहा—अरे वे ! चन्दाराम नहीं, चन्दादास हैं। चन्दे के दास !

मैंने कहा—मैं उन्हें चन्दाराम इसलिए कहता हूँ कि चन्दा उनके लिए राम है। मैं तो 'राम की बहुरिया' हूँ पर वे चन्दे की बहुरिया हैं।

कनछेदी ने कहा—जरूर मिलो उनसे। अच्छा 'सीजन' चल रहा होगा, तो तुम्हें भी कुछ मिल जायगा।

कबीर उनका पीछा करता उनके घर पहुँच गया—वे शहर का एक हिस्सा निपटाकर लौटे थे। बरामदे में बैठे हुए पसीना पोंछ रहे थे। उनके आसपास 5-6 चन्दासेवक थे।

मैंने कहा—कहिए, चन्दारामजी क्या हाल हैं ?

चन्दाराम उठे। बोले—आइए, आइए, कबीरदासजी ! पर आपने आते ही मुझे 'चन्दाराम' क्यों कह दिया ? मेरा नाम सेवकराम 'सेवक' है।

मैंने कहा—गुण और कर्म से नाम देता हूँ। आप एक श्रेष्ठ चन्दा उगाहू हैं, इसलिए आप 'चन्दाराम' हैं। आप को 'राम' से एतराज होगा, पर जब तोते को 'तोताराम' कह देते हैं, तो आपको 'चन्दाराम' कहने में क्या हर्ज है ?

उनके चेले उठे। बोले—सेवकजी, अब हम लोग चलें। तिलकवार्ड 'कवर' करना है।

चन्दारामजी ने कहा—हाँ, आप लोग आराम कीजिए। मैं सद्गुरु कबीरदास से बात कर लूं। सद्गुरु हैं, शायद कोई नया गुर सीखने को मिल जाय।

वे चले गये तब कबीर ने पूछा—चन्दारामजी···

चन्दारामजी ने टोका—मेरी एक प्रार्थना तो आप पहले मानिए। मुझे चन्दाराम मत कहिए, आपकी वाणी एकदम फैल जाती है। यदि यही बात फैल गयी कि आप मुझे चन्दाराम कहते हैं तो मेरी हँसी होगी, बदनामी होगी और चन्दा पाने में कठिनाई होगी।

कबीर ने कहा—अच्छा मैं भी आपको सेवकजी कहूँगा। चन्दाराम कहने से धन्धाराम को नुकसान होगा।

सेवकजी चुप रहे।

तब कबीर ने ही कहा—इतनी गर्म दोपहर ! आपका पसीना अभी भी नहीं सूखा है। जाकर नहा आइए।

सेवकजी ने कहा—नहाऊँगा नहीं। नहाने से पसीना धुल जायगा। अभी 5

बजे से फिर इसी काम से निकलना है। तब लोगों को पसीने की बदबू आयेगी और वे मान जायेंगे कि मैं पुण्य कार्य के लिए बड़ी मेहनत कर रहा हूँ— और खुशी से चन्दा दे देंगे।

कबीर ने पूछा—पर इतनी मेहनत क्यों करते हैं?

सेवकजी ने जवाब दिया—समाज के लिए। समाज को मेरी जरूरत है। कपड़े धोने के लिए समाज को धोबी की जरूरत है, बाल कटाने के लिए नाई की जरूरत है, तो चन्दे के लिए भी मुझ जैसे आदमी की जरूरत है। जैसे सब लोग कुशलता से बाल नहीं काट सकते, वैसे ही सब लोग चन्दा वसूल नहीं कर सकते।

मैंने कहा—समाज को जेब कटवाने के लिए जेबकतरे की भी जरूरत है। तो जेबकतरा भी सामाजिक आवश्यकता और आप भी सामाजिक आवश्यकता। दोनों में कोई फर्क हुआ क्या?

सेवकजी अकचकाये। कहने लगे—आप कबीरदास हैं, आपको सबकुछ कहने का हक है। पर मैं चन्दावादी हूँ, क्या बुरा करता हूँ?

मैंने कहा—कोई बुरा नहीं करते।

फिर मैंने पूछा—सेवकजी, आप किस काम के लिए चन्दा माँगते हैं।

सेवकजी ने कहा—हर काम के लिए! अब कोई थैली भेंट करनी है। मैं फौरन निकल पड़ता हूँ, उसके लिए चन्दा माँगने।

मैंने पूछा—आप किस पार्टी के लिए चन्दा माँगते हैं?

सेवकजी ने कहा—मैं सब पार्टियों के लिए चन्दा माँगता हूँ। मेरे में भेद-भाव नहीं है। मैं मानवतावादी हूँ!

कबीर ने पूछा—और किस-किस का चन्दा करते हैं?

वे बोले—किसका नहीं करता? दुर्गा-उत्सव है, गणेश-उत्सव है, कितने उत्सव हैं! इन सबके लिए चन्दा करता हूँ। बांग्ला देश के लिए भी चन्दा मैंने किया था। कोई बात अपने आप न उठे, तो चेलों की सहायता से उठा देता हूँ। एक बार मैंने हल्ला कर दिया कि इस क्षेत्र में पाँच सौ साल पहले एक महाकवि रामधनदास हो गये हैं। वे हमारे गौरव थे। शर्म की बात है कि हम उन्हें भूल गये। उनकी स्मृति में एक समारोह करना है। बस, चन्दा करने निकल पड़े।

कबीर ने कहा—फिर किसी ने पूछा नहीं कि कहाँ है रामधनजी का काव्य?

सेवकजी ने कहा—आम लोग नहीं पूछते। वे चन्दा देकर बरी हो जाते हैं। किसी ने पूछा तो पाँच-दस खुद ही जोड़कर बता दिये। मैं कवि भी हूँ न! फिर कह दिया—दुर्भाग्य से उनका शेष काव्य काल के गाल में समा गया। लोग मान लेते हैं।

कबीर ने पूछा—कभी चूहे के लिए चन्दा किया है?

सेवकजी ने कहा—क्यों नहीं? मैं तो मक्खी के लिए भी चन्दा कर सकता हूँ। 5-6 साल पहले ही एक बड़ा चूहा मरा मिला। मैंने शोर किया—यह चूहा गणेशजी के वाहन का अवतार था। यह स्वर्ग सिधार गया। इसकी समाधि बनेगी

—लाओ चन्दा !

फकीर ने पूछा—आप कुछ काम भी करते हैं ?

सेवकजी ने कहा—यही काम क्या कम है ! इसी से फुरसत नहीं मिलती। दूसरा काम कर नहीं सकता।

कबीर ने पूछा—जब कोई जीविका नहीं है, तो परिवार का पालन कैसे होता है ?

सेवकजी ने कहा—देखो सन्त, इसी में से पालन होता है। मैं झूठ नहीं बोलता। हर काम में कमीशन मिलता है। मैं तो यह पवित्र काम करता हूँ, इसमें कमीशन मिलता है। मैं तो जिस पार्टी के लिए काम करता हूँ, उससे पहले तय कर लेता हूँ। अपना काम ईमान का है। फीसदी पहले ही तय कर लिया, जिसमें झंझट न हो पर इस दुनिया के लोग बड़े नीच हैं।

कबीर ने पूछा—सच बताइए, इस पुण्य कार्य में खतरे हैं कि नहीं ? कभी आपको खतरे उठाने पड़े ?

सेवकजी ने कहा—मानवसेवा में बहुत खतरे हैं। मेरा दो बार घिराव हो चुका है और तीन बार मैं पिट चुका हूँ। दो साल पहले ही मैंने एक सांस्कृतिक कार्यक्रम चन्दे से कराया था। कलाकारों के पारिश्रमिक का पैसा लेकर मैं इलाहाबाद की गाड़ी में बैठ ही रहा था कि 50-60 लोगों ने मुझे पकड़ लिया। कुछ चप्पलें पड़ीं; लोगों ने कहा—कलाकारों के पैसे लेकर भाग रहे हो !

मैंने भोलेपन से कहा—अरे हाँ, मैं तो भूल ही गया था। मेरा खयाल था कि चुकाने के लिए मैंने अपने सहायक को दे दिये हैं, पर जल्दबाजी में भूल गया। अच्छा हुआ कि आप लोग आ गये। मैंने उन्हें रुपये दिये और उन्हें विश्वास हो गया कि सेवकजी भूल गये थे।

मैंने पूछा—आजकल जो यह पसीना बहा रहे हैं, वह किसलिए ?

सेवकजी ने कहा—देवी का मन्दिर बनवाना है, उसी का चन्दा कर रहे हैं। ईश्वर चाहेगा, तो अगले जाड़ों से पहले मन्दिर बन जायेगा।

मैंने कहा—सेवकजी, आप बड़ा काम कर रहे हैं। अच्छा, अब मैं चलूँ।

सेवकजी ने कहा—बोलो, तुम्हारा मठ बनवा दूँ ?

मैंने कहा—कितने फीसदी पर ?

सेवकजी दाँत निपोरने लगे। बोले—नहीं-नहीं, मैं सन्तों से कुछ नहीं लेता।

मैंने कहा—और सन्त मुफ्त में अपना काम नहीं कराता। कम्बल-कम्बल में गाँठ नहीं बैठती, इसलिए मेरा मठ नहीं बनेगा। अच्छा, साधु चला।

लौटा तो वही कनछेदी मिला। पूछने लगा—कहो साधु, कैसा है चन्दादास !

मैंने कहा—अच्छा है, चन्दाराम। ईमानदार आदमी है। फीसदी कमीशन तय करके चन्दा कर देता है। वह तो मुझे ही फाँस रहा था कि आपका मठ बनवा दूँ, पर मठ नहीं बनेगा क्योंकि फीसदी तय नहीं हुआ।

एक अभिनन्दनी से भेंट

कबीर बाहर निकला तो अचरज में आ गया। वह कनछेदी जो बेकार बैठा रहता था, आज काम में लगा था। कुदाली से घर के सामने का चबूतरा तोड़ रहा था। पसीना-पसीना हो रहा था।

मैंने कहा—अरे कनछेदी, यह क्या कर रहे हो?

कनछेदी ने कहा—साधु, बोलो मत। काम करने दो।

मैंने कहा—पर यह चबूतरा क्यों तोड़ रहे हो?

कनछेदी ने कहा—यह 'एनक्रोचमेन्ट' है, अतिक्रमण है। देखते नहीं, नगर निगम की नाली पर यह चबूतरा बना है। इरादा तो यह था कि बायीं तरफ एक ठेला बनवाकर किसी पानवाले को किराये पर दे दूं, पर अब तो इसी चबूतरे को उखाड़ देना है। मैं नहीं उखाड़ूंगा तो 'वे' आकर उखाड़ देंगे।

मैंने कहा—कनछेदी, तुम तो ऐसे बोल रहे हो जैसे कोई लजीली औरत कहती है—हमारे 'वे' कल बाहर जानेवाले हैं, 'वे' कह रहे थे कि कमला···

कनछेदी ने कहा—तुम कुछ भी कहो, पर मैं नहीं कहूँगा। दीवारों के भी कान होते हैं। इस नाली के भी कान हैं। बड़ों-बड़ों की हवेलियाँ रो रही हैं।

मैंने कहा—पर कनछेदी, बीस साल से तुम यह चबूतरा बनाये हो। तुम्हें इन बीस सालों में यह समझ में नहीं आया कि यह 'एनक्रोचमेन्ट' है।

कनछेदी ने कहा—मैंने तो बड़ों-बड़ों की देखा-देखी में यह कर डाला। पर तुम तो ज्ञानी हो, तुमने मुझे क्यों नहीं बताया?

कबीर ने कहा—मैं तो समझ रहा था कि नाली का इतना हिस्सा तुमने खरीद लिया है।

कनछेदी ने गुस्से से कहा—देखो, ये बातें मत करो। मेरी एक सलाह मानो। अपने ये लम्बे बाल कटवा डालो।

मैंने कहा—मैं क्या लड़कियों को छेड़ता हूँ?

कनछेदी ने कहा—पर लड़कियाँ तुम्हें छेड़ती हों तो? बात तो वही हुई। खैर, कहाँ चले?

मैंने कहा—तोताराम अभिनन्दनी से मिलने।

कनछेदी जोर से हँस पड़ा। बोला—अच्छा, साधु चला अपने अभिनन्दन का इन्तजाम करने!

मैंने कहा—नहीं कनछेदी, मैं अपना नहीं, अभिनन्दनीजी के अभिनन्दन के सिलसिले में जा रहा हूँ।

कनछेदी ने कुदाली चलायी। पत्नी से बोले—जल्दी टोकनी भर, वे आते ही होंगे।

और कबीर चल दिया तोताराम अभिनन्दनीजी के पास। तोतारामजी इस

इलाके के मशहूर अभिनन्दन समारोहों के आयोजक हैं।

मैं उनके पास पहुँचा। वह बड़े उदास बैठे थे।

मैंने कहा—अभिनन्दनीजी, मैं कबीरदास हूँ।

उन्होंने कहा—आओ साधु।

मैंने कहा—इतने उदास, हताश क्यों बैठे हैं?

उन्होंने कहा—क्या बताऊँ? सारी योजना फेल हो गयी। जिन समाजसेवी का मैंने अभिनन्दन आयोजित किया था, कार्ड छपवाकर बाँट दिये थे, वे जेल की हवा खा रहे हैं। अब मैं क्या करूँ? वे इस इलाके के सबसे प्रसिद्ध समाजसेवी हैं। हर संस्था को दान देते रहे हैं।

मैंने पूछा—फिर वे गिरफ्तार क्यों हो गये? वे तो 'दानवीर' हैं।

अभिनन्दनीजी ने कहा—साधु, छापा पड़ा, तो सोना, चाँदी, नकद मिले। दो खाते मिले। दो नम्बरी मामले मिले। तस्करी का माल मिला। वे जेल में डाल दिये गये और मेरा कार्यक्रम फेल हो गया।

मैंने कहा—आपका बड़ा पैसा डूब गया।

वे बोले—नहीं, पैसा तो नहीं डूबा, क्योंकि पैसा उन्होंने ही दिया था; पर मेरी इज्जत डूब गयी।

मैंने कहा—इज्जत तो बनती-बिगड़ती रहती है। फिर बन जायेगी। पर आप इतने घबड़ाये क्यों हैं?

उन्होंने कहा—साधु, निमन्त्रण पत्रों पर मेरा नाम छपा है। मेरी इज्जत भी गयी।

कबीर ने उन्हें हिम्मत बँधायी—कोई चिन्ता की बात नहीं। तुम्हें क्या पता कि ये समाज-सेवी ऐसे हैं। तुम बेफिक्र रहो। रोटी खायी कि नहीं?

वे बोले—दो दिनों से नहीं खायी।

मैंने कहा—जाओ, रोटी खाकर आओ।

वे भीतर रोटी खाने चले गये। कबीर गाता रहा—

कविरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय,
ये पुर पट्टन ये गली, बहुरि न देखौं आय!

अभिनन्दनीजी खाकर लौटे।

कहने लगे—कोई डर तो नहीं है?

मैंने कहा—कोई डर नहीं। डर तो अपने गलत कामों से पैदा होता है।

वे बोले—मैंने कोई गलत काम नहीं किया। साधु, लोग काम करते रहते हैं, समाज में, साहित्य में, धर्म में, राजनीति में···पर इनका मूल्यांकन नहीं होता। इसलिए मैंने 'तोताराम अभिनन्दन एजेन्सी' कायम की। इस एजेन्सी के मारफत मैं उन लोगों का जो किसी भी क्षेत्र में विशिष्ट सेवा करते हैं अभिनन्दन करवाता हूँ। मैं नहीं चाहता कि कोई भी जो विशिष्ट सेवा करे, अभिनन्दन न पाये।

मैंने कहा—आपका उद्देश्य क्या है?

वे बोले—हमारी एजेंसी समाज सेवा करती है।

मैंने कहा—कोई ठग यदि विशिष्ट हो जाये तो ?

वे बोले—तो हम उसका भी अभिनन्दन करेंगे। मैं तो नटवरलाल का भी अभिनन्दन करना चाहता था।

मैंने कहा—आपकी कार्यप्रणाली क्या है ?

उन्होंने कहा—एक तो यह कि 'क्लाएण्ट' हमारे पास खुद आते हैं। कहते हैं—जितना भी पैसा लगे, अभिनन्दन करा दो। दूसरे हम खुद क्लाएण्ट को तलाशते हैं। यश की कामना किसे नहीं होती ? हम जाते हैं लोगों के पास कि फलाँ साहब को देशसेवा करते 40 साल हो गये, उनका अभिनन्दन करना हमारा कर्तव्य है। यदि उनका अभिनन्दन नहीं किया और वे मर गये, तो उनका प्रेत हमारे आस-पास मँडराता रहेगा। लोग दयावश अभिनन्दन समिति बना लेते हैं। संयोजक हमेशा मैं होता हूँ।

मैंने पूछा—कोई 50 साल का हो गया हो तो ?

अभिनन्दनीजी ने कहा—हाँ ऐसे 'केस' भी हमारे पास आते हैं। कहते हैं—हम पचास साल के हो गये। हमें समाज-सेवा करते 25 साल हो गये। हमारा अभिनन्दन करो। मैं देखता हूँ कि वे केवल 49 साल के हैं। मैं वापस कर देता हूँ। मैं झूठे केस नहीं लेता।

मैंने कहा—तुम दया किया करो। नौकरी में उम्र 'कण्डोन' होती है। कोई विशेष आदमी है पर 'ओवरएज' हो गया है, तो उसकी उम्र माफ कर दी जाती है। तुम भी 49 सालवाले को क्या 50 साल का नहीं मान सकते ? अरे एक साल पहले ही अभिनन्दन कर दो।

अभिनन्दनीजी ने कहा—कबीर, तुम ठीक कहते हो। मैं आगे ध्यान रखूँगा, पर लोग बहुत तंग करते हैं।

मैंने पूछा—कैसे !

उन्होंने कहा—अपना अभिनन्दन ग्रन्थ खुद छपाकर ले आते हैं। कहते हैं कि तुम अपनी फीस ले लो, पर यह अभिनन्दन ग्रन्थ किसी बड़े आदमी के कर-कमलों से मुझे भेंट कराओ। तब मुझे बड़ी मेहनत पड़ती है।

मैंने कहा—पर 'क्लाएण्ट' फीस तो देता होगा ?

वे बोले—देता तो है, पर काम के हिसाब से फीस कहाँ मिलती है !

मैंने पूछा—कितने अभिनन्दन अभी तक करवा चुके ?

उन्होंने कहा—लगभग पचास। जिन्हें कोई नहीं जानता था, उनका भी अभिनन्दन मैंने कराया। मैं प्रचार कर देता हूँ—हमारे लिए बड़े शर्म की बात है कि फलाँ साहब को समाजसेवा करते 30 साल हो गये। वे प्रचार से दूर रहे, मौन सेवक रहे, अपना सर्वस्व त्याग दिया। वे 60 साल के हो गये। हमारा कर्तव्य है कि हम उनका अभिनन्दन करें। लोग भावुक हैं, झाँसे में आते हैं। जो उन्होंने नहीं किया, वह सब मैं उनके अभिनन्दन पत्र में लिख देता हूँ।

अभिनन्दनीजी ने पूछा—सन्त, तुमने कभी मेरा कोई अभिनन्दन-समारोह देखा ?

मैंने कहा—कई देखे हैं। बढ़िया होते हैं। तीन महीने पहले मैंने एक कुलपति का अभिनन्दन देखा था।

उन्होंने कहा—साधु, विश्वविद्यालय के एक गुट के अध्यापक मेरे पास आये थे कि वाइस चांसलर का अभिनन्दन करा दीजिए। मैंने कहा—खर्च कौन देगा? वे बोले—हम देंगे। मैंने अभिनन्दन करवा दिया। सन्त, तुमने देखा!

मैंने कहा—वही तो मैं कह रहा हूँ। मैंने देखा कि पैण्ट पहने अध्यापक लोग वाइस चांसलर के चरणों पर सिर रख रहे हैं। मुझे डर लग रहा था कि इनका पैण्ट फट जायेगा।

अभिनन्दनीजी ने कहा—मैं इस बात का खयाल रखूंगा। आगे निमन्त्रण पत्र में नोट छपवा दूंगा कि जिन्हें चरण छूना है, वे कृपया धोती पहनकर आयें।

अब अभिनन्दनीजी बिल्कुल ठीक थे। मैंने पूछा—कितने 'क्लाएण्ट' लिस्ट पर हैं?

उन्होंने कहा—आठ हैं! पर उनका भविष्य निश्चित नहीं है। मैं कमजोर 'केस' नहीं लेता अब।

मैंने पूछा—कभी कोई कठिनाई आयी?

वे बोले—हाँ आयी। एक साहब का जन्म संयोग से एक अप्रैल को हो गया। मैं तीन साल कोशिश करता रहा कि इनकी वर्षगाँठ मनवा दूं, पर मैं निमन्त्रण पत्र बांटता और लोग आते नहीं। वे कहते—हमें 'अप्रैल फूल' बनाया जा रहा है। आखिर मैं 100 आदमियों के पास गया और कहा कि ये सचमुच पहली अप्रैल को पैदा हुए थे। तब समारोह हुआ।

मैंने कहा—अभिनन्दनीजी, आपको इतने साल अभिनन्दन करते हो गये। यह धर्म भी है और धन्धा भी। कबीर आपका अभिनन्दन करना चाहता है।

तोतारामजी ने कहा—सन्तवीर, मेरा क्या अभिनन्दन? मेरी तो 'अभिनन्दन एजेन्सी' है। पर सन्त, मैं तुम्हारा अभिनन्दन करना चाहता हूँ, फिफ्टी-फिफ्टी! बोलो?

मैंने कहा—मेरे बाद तुलसीदास ने लिखा है—

हम चाकर रघुवीर के, पटौ लिखौ दरबार,
अब तुलसी का होंहिगे, नर के मनसबदार।

लौटा तो देखा, कनछेदी 'एनक्रोचमेंट' साफ कर चुके थे। कहने लगे—कहो साधु, क्या तय किया अभिनन्दनीजी से?

मैंने कहा—कुछ नहीं। वे मेरा अभिनन्दन करना चाहते हैं···उनकी एजेन्सी है। मैं उनका अभिनन्दन करना चाहता हूँ। कम्बल-कम्बल में गाँठ नहीं बँधती।

सन् 1956 में जबलपुर के प्रगतिशील लेखकों और बुद्धि-जीवियों ने चन्दे से 'वसुधा' मासिक पत्रिका निकाली, जो 1958 तक चली। उस समय कोई प्रगतिशील मासिक पत्रिका हिन्दी में नहीं थी। 'नया पथ' बन्द था।

'वसुधा' का तब बहुत सम्मान था और प्रगतिशील विचारों का वह प्रतिनिधित्व करती थी। अनेक लेखकों, कवियों की प्रथम रचनाएँ 'वसुधा' में छपीं। पत्रिका का दबंग व्यक्तित्व था। आज के कुछ प्रमुख लेखक हैं, जिनकी आरम्भिक रचनाएँ इसमें छपती थीं।

इसके सम्पादक थे--पं. रामेश्वर गुरु और हरिशंकर परसाई। इसमें मुक्तिबोध लिखते थे और इसे अपनी पत्रिका मानते थे। परसाईजी ने पीछे पड़कर मुक्तिबोधजी से 'साहित्यिक की डायरी' लिखवायी थी।

प्रधान सम्पादक पं. रामेश्वर गुरु का परसाईजी पर विशेष स्नेह था और वे सम्पादकीय लेख लिखने का काम परसाईजी को दे देते। 'वसुधा' में परसाईजी के लिखे कुछ चुने हुए सम्पादकीय लेख यहाँ संकलित हैं।

—सम्पादक-मण्डल

'वसुधा' के सम्पादकीय

दुश्मनों की गिनती*

कुछ समय से हिन्दी के दुश्मन गिनाये जाने लगे हैं—ये संख्या में तीन होते हैं। तीन अच्छी संख्या है—त्रिमूर्ति, त्रिनेत्र, त्रिशूल, त्रिलोक, त्रिकाल। तीन का मोह ही है कि हम त्रिशत्रु पर रुक गये। 'नयी धारा' ने तीन शत्रु गिनाये थे--वृद्ध शिक्षामन्त्री मौलाना आज़ाद, 'चिल्लि-उड्डायन' (पतंग उड़ाना) छाप डॉ. रघुवीर और 'हमारे आराध्य' के 'मूड' में रहनेवाले पं. बनारसीदास चतुर्वेदी।

हमें तीन का मोह नहीं। संख्या आगे बढ़ाना चाहते हैं और व्यक्तियों की अपेक्षा संस्थाओं और वर्गों की ओर अँगुली उठाते हैं।

मौलाना आज़ाद को अगर शिक्षा मन्त्रालय का प्रतीक मान लिया ज़ाय तो इस विभाग का शैथिल्य साफ है। इतने साल हो गये—न स्टेण्डर्ड शब्दावली, न स्टेण्डर्ड पारिभाषिक कोष। इसी के स्तन-पान करनेवाली साहित्य एकेडमी है, जिसका उपयोग है कुछ अपनों को नौकरी मिल जाना।

लेकिन हमारे हिन्दी में एक वर्ग है जिसे अहिन्दीभाषी हिन्दी 'फेनेटिक्स' कहते हैं। कभी 'मुस्लिम फेनेटिक्स' होते थे, अभी 'हिन्दू फेनेटिक्स' भी हैं जिनका ख्याल है कि केन्द्रीय मन्त्रालय में काम-धाम न हो; केवल गाय के खुर की पूजा हो और ब्राह्मणों को दक्षिणा मिले। इसी तरह एक वर्ग 'हिन्दी फेनेटिक्स' का है, जिनमें कुछ का हिन्दी-प्रेम इस कारण बांध तोड़ता है कि उन्हें अंग्रेजी नहीं आती। कुछ का हिन्दी-प्रेम इसलिए भी है कि उन्हें 'हिन्दी' और 'हिन्दू' में सिर्फ मात्रा का फर्क मालूम होता है। ये 'फेनेटिक्स' अप्रिय चेष्टाओं से, असन्तुलित वक्तव्यों से और कभी-कभी गाली-गलौज से अहिन्दीभाषियों को व्यर्थ ही उत्तेजित करते रहते हैं। बात अपने बीच की है। पर्दा डालने से कोई लाभ नहीं। इन्हें ही कुल हिन्दीवाले या हिन्दीवाले का 'टाइप' समझकर अहिन्दीभाषी हिन्दी के प्रति विरोधी भावना बनाते हैं।

भीतर के शत्रु हैं ये। वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी जो साहित्य-अभिवृद्धि का काम छोड़कर अदालत में घर बनाये हैं। पैसेवाली सार्वजनिक संस्था को मरा हुआ जानवर समझकर स्वार्थ के गिद्ध मंड़राते हैं। ये भी हिन्दी के दुश्मन !

फिर प्रान्तों के साहित्य-सम्मेलन, जो साहित्य-सृजन और प्रकाशन को छोड़कर

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 2, जून 1956

इंट-गारा-चूना का महल बनाकर और वहाँ तैल-चित्र टँगवाकर समझ लेते हैं कि हिन्दी साहित्य का भला हुए बिना अब नहीं रहेगा। मध्यप्रदेश साहित्य सम्मेलन इनमें अग्रणी है।

वे भी दुश्मन, जो समझते हैं कि भाषा आम जनता की जबान पर नहीं, बल्कि शब्द-कोषों में निर्मित होती है, तथा जो इस बीसवीं शताब्दी में मध्ययुग की अवतारणा करना चाहते हैं। ये वैचारिक भूत हैं, जिनके पाँव पीछे की ओर हैं। वे भी दुश्मन, जो हिन्दी शब्दावली को बिना समझे बुरा कहते हैं।

वे तमाम अफसर और सरकारी कर्मचारी भी दुश्मन जो 'टाई' तो छोड़ चुके हैं पर अंग्रेजी से गला कसे हुए हैं; जो समझते हैं कि वे कोई भौगोलिक भूल हैं—याने उन्हें भारत में नहीं, बल्कि इंग्लैण्ड में जन्म लेना था।

वे तमाम प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता भी दुश्मन जो लेखकों का खून इतना चूस लेते हैं कि साहित्य के लिए उनके पास एक बूंद भी खून की देने को नहीं बचती!

और सबसे बढ़कर हमारी अपनी तपस्या की कमी! जिस मिशनरी भावना से काम होना चाहिए उससे अभी हो नहीं रहा। हिन्दीवालों में उस सामूहिक चेतना की अभी भी बड़ी कमी है जिससे प्रेरित होकर हर आदमी काम में जुट जाता है। हर आदमी हाथ में तराजू लिये बैठा है और हर काम में व्यक्तिगत लाभ-हानि को तौल रहा है। अजन्ता और एलोरा की गुफाओं के निर्माण में पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो व्यक्ति, बिना नाम छोड़े खपते रहे, वह भावना कहाँ दृष्टिगोचर होती है? हिन्दी-वालों को एक काम बहुत अच्छा आता है—तुलसी-सूर-मीरा की रट लगाना, लेकिन इसी पूंजी पर आगे व्यापार नहीं हो सकता। सन्तों ने प्रेम से हिन्दी को सारे भारत में पहुँचाया था, अगर हम वैसा नहीं कर सकते, तो उनका नाम लेने के कहाँ हकदार हुए?

सरकार और साहित्यकार*

पिछले 2-3 सालों से, जबसे हिन्दी के लेखकों-कवियों की 'भरती' रेडियो और सरकारी पदों में अधिक होने लगी है, यह आवाज जगह-जगह से उठने लगी है कि सरकार स्वतन्त्र चिन्तक को सरकारी फर्मे में जमा रही है, प्रतिभा का उपयोग सरकारी 'रोटीन' में करती है, साहित्यकार के सत्य, निर्भय और स्पष्ट स्वर को कुण्ठित कर रही है। इसे सरकार द्वारा साहित्यकारों की 'खरीद' भी कहा जा रहा

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 4, अगस्त 1956

है। इस प्रकार की आवाजें विभिन्न क्षेत्रों से आ रही हैं, जिनमें एक स्वर उनका भी है, जिन्हें अभी ये नौकरियाँ मिलने में देर है। अक्षमता घृणा को जन्म देती है। विफल आशा भी उपदेश-वृत्ति की जननी है। लेकिन केवल यही है, यह मानना शुतुरमुर्ग की आत्मरक्षा की क्रिया से कुछ कम मूर्खतापूर्ण नहीं है। इस आवाज में अनेक स्वर उन ईमानदार, स्वार्थहीन, स्वतन्त्रचेता साधकों के हैं, जिन्हें 'पराई विभूति' देख सकने का अभ्यास है। 'हिन्दुस्तान' साप्ताहिक में जो पत्र छपते रहते हैं, वे इस बात के द्योतक हैं कि इस बात को लेकर हिन्दी संसार में कितनी हलचल है। दिल्ली से प्रधानमन्त्री, सचिव और नेताओं के आसपास हिन्दी की बड़ी-बड़ी दुमें हिलने की जो खबरें आती हैं, वे बड़ी शर्म दे जाती हैं। हाल ही में 'अमृत बाजार पत्रिका' में श्रीकृष्णलाल श्रीधरानी का एक लेख इस सम्बन्ध में छपा था। 26 जनवरीवाले राजधानी के सर्व-भाषा कवि-सम्मेलन में हिन्दी के ही दो कवि ऐसे निकले, जिन्होंने पण्डित नेहरू की प्रशंसा में कविताएँ लिखीं—दोनों डॉक्टर कवि, जिनमें एक भारत के विदेश विभाग में, दूसरे उसके बाद काठमाण्डू में नियुक्त। अन्य भाषाओं की कविताओं की तुलना में उस रात हिन्दी की कविताएँ काफी घटिया रहीं, क्योंकि बड़े-बड़े कवियों ने उस राष्ट्रीय पर्व पर राष्ट्र की महती आत्मा, आशा और आकांक्षा को सतही करना ज्यादा जरूरी समझा। राज्यों की राजधानियों से भी खबरें आती हैं कि किस प्रकार साहित्यकार सचिवों और मन्त्रियों को खीसें दिखाते हैं और अपनी सफलता की फसल के लिए अपने खेत में दूसरे की निन्दा-चुगली का 'खाद' देते रहते हैं।

ये सब परिस्थितियाँ बड़ी भयावह हैं। विगत मास की 'राष्ट्रवाणी' में धर्मवीर भारती का काफी क्षुब्ध मन से लिखा गया एक लेख छपा है, जिसमें दो मूर्धन्य साहित्य-सेवकों का उदाहरण देकर बतलाया है कि हिन्दी के कलाकार 'धुरीहीन' हैं।

हिन्दी के साधक की गरीबी सर्वविदित है। आराम का लोभ सबसे संवरण नहीं हो सकता। जीने के लिए साधन चाहिए; सरकारी नौकरी अच्छा साधन ही है। पर सवाल यह है कि अगर ये सरकारी नौकरियों पर न जावें, तो करें क्या? इसका एक आम जवाब यह है कि साहित्य-रचना धन्धा नहीं है; तपस्या है। कबीर कपड़ा बुनकर कविता लिखते थे; रैदास जूते बनाकर पेट भरते थे। उन्होंने साहित्य को कभी जीविका का साधन नहीं बनाया। यह जवाब बड़ा मोहक लगने पर भी असंगत और अयथार्थ है। एक तो वह जमाना दूसरा था। फिर हर आदमी कबीर और रैदास बन भी नहीं सकता। यह माना कि भारत में अभी तक लिखने से रोटी नहीं मिलती। फिर भी यह तो सही है ही कि रोटी कमाने के काम में सारी शक्ति और समय लगाकर श्लथ मन और तन से लेखक आखिर क्या लिखेगा? जो आदमी जिस चीज का निर्माण करता है, उससे उसे रोटी मिलती है। कुम्हार को बर्तनों से रोटी मिलती है, चमार को जूते से। जो साहित्य का निर्माण करता है, उसे ही आखिर उससे रोटी क्यों न मिले? नहीं मिलती, इसका कारण है कि घड़े खरीदने-वाले तो समाज में हैं, पर पुस्तक खरीदनेवाले नहीं हैं। जो हैं वे जासूसी पढ़ते हैं या

वे उपन्यास पढ़ते हैं जिनमें हर पैराग्राफ के बाद आता है—"फिर हाथ और साड़ी के युद्ध में साड़ी हार गयी।" हल्की फिल्म और हल्का साहित्य चला है। अच्छी फिल्में फेल होती हैं, अच्छा साहित्य अलमारियों में रखा रहता है। परिणाम यह है कि हिन्दी का लेखक वास्तव में भूखा मरता है।

ऐसे समय में सरकार ने बड़ी कृपा की है (?) कि उसे रोटी देना आरम्भ कर दिया। लेकिन गलों में रस्सी बाँधकर, खूंटे से कसकर, रोटी पशु के लिए शायद हितकर हो, साहित्य रचनेवाले के लिए घातक ही है। कोई भी देख सकता है कि आमतौर पर सरकारी पदों पर जाने के बाद लेखक की रचनाओं में वह ओज, वह स्पष्ट स्वर नहीं मिलता, जो पहिले मिलता था। 'केरिअर' बहुत बुरी बला है, 'क्लास टू' से 'क्लास वन' तक चढ़ जाने की आकांक्षा बड़े पतन का कारण बन रही है। सचिवालय की घुटन में, और रेडियो के संकीर्ण साँचे में प्रतिभाएँ नष्ट हो रही हैं, आत्माएँ कलुषित हो रही हैं; छल, कपट, प्रवंचना धीरे-धीरे इस पवित्र क्षेत्र में आ रही है। जागरूक साधक इस शिकंजे में चीख-चीख पड़ता है।

साहित्य-सृजेता को स्वतन्त्र होना ही चाहिए, तभी उसका स्वर निर्भय और स्वतन्त्र होगा। शासन का पिछलग्गू साहित्य, समाज को पतन की ओर ले जायेगा। लेकिन जो लेखक को सामान्य समाज से ऊपर ऐश-आराम की जिन्दगी की सुविधा कर देना चाहते हैं, वे उसकी साहित्यिक मौत का प्रबन्ध करना चाहते हैं। उसे सामान्य जन-जीवन के सुख-दुख में भाग लेना चाहिए, उसी स्तर पर जीना चाहिए, तभी उसके साहित्य में सत्य उभरकर आयेगा। 'एयरकण्डीशण्ड' कमरे में वह 'यूटोपिया' के ख्वाब देखेगा। जो 'केरिअर' की धुन में है, उसे तो एकदम साहित्य रचना बन्द ही कर देना चाहिए। साहित्य रचना तपस्या तो है ही। इसमें मिटना तो पड़ता ही है। तहसीलदार को डिप्टी कमिश्नर होते देखकर अगर कलेजे से ठण्डी साँस निकल जाती है, तो तुरन्त नौकरी कर लेना चाहिए, साहित्य रचना वश की बात नहीं है। जो बेलाग जिन्दगी जी सकते हैं, उनसे ही कुछ नये की उम्मीद कर सकते हैं।

पर यह लिखने का मतलब यह नहीं है कि हिन्दी के लेखक को मर जाने के लिए छोड़ देना चाहिए। उसे जीने के साधन तो देने ही होंगे। और यह साधन उसकी कृतियों से होने चाहिए। सरकार अगर वास्तव में लेखक की सहायता करना चाहती है तो उसकी रचनाओं की बिक्री का प्रबन्ध करना चाहिए। गाँव-गाँव में पुस्तकालयों की स्थापना करनी चाहिए, जिससे पुस्तकें खप सकें। फिर पत्रों द्वारा शोषण बन्द होना चाहिए। विज्ञापन में हजारों रुपये कमाकर कितने पत्र लेखक को 5 या 10 में निपटा देते हैं या केवल 'नमस्कार' कर लेते हैं। फिर सामाजिक रुचि का भी परिष्कार जरूरी है। अच्छा साहित्य पढ़ने की और खरीदकर पढ़ने की आदत जब तक लोगों में नहीं आयेगी, लेखक की जिन्दगी कष्टमय रहेगी ही।

अन्तिम रूप से इस सम्बन्ध में कोई योजना देना अभी कठिन है, पर समाज और साहित्य के हितचिन्तकों को शीघ्र ही कोई रास्ता निकालना होगा, अन्यथा

धीरे-धीरे सरकारी फाइलों की श्रेणी का साहित्य निकलने लगेगा। साहित्य को सरकारी चीज बनने देने से बचाना होगा।

'क्वाँरा' की दुर्गति*

पिछले 7-8 वर्षों से हिन्दी कविता में कुछ शब्दों की ऐसी पिटाई मची है कि अब कविता में इन्हें देखकर रसोद्रेक होना बन्द हो गया है, केवल दया आती है। एक नमूना देते हैं—क्वाँरा और क्वाँरी।

न जाने कब से चल रहा है 'क्वाँरा' और 'क्वाँरी'। हिन्दी के क्वाँरेपन के आरम्भ में धर्मवीर भारती के प्रयोग—'क्वाँरी साँसों का देवता' ने ध्यान खींचा था। इसके बाद तो क्वाँरा और क्वाँरी की झड़ लग गयी। शायद ही कोई सप्ताह ऐसा गुजरा हो, जब किसी कविता में यह प्रयोग न पढ़ा हो। कभी क्वाँरी किरण है तो कभी क्वाँरे खेत !

क्वाँरापन बड़ा लुभावना होता है, कवियों को तो और अधिक। क्वाँरा या क्वाँरी में जो ग्रामीणत्व है, हमारी भूमि की मिट्टी की गन्ध है, अकृत्रिम अभिव्यक्ति है, वह सहज ही मन को मोह लेती है, इसमें कोई शक नहीं। पर जब हर चीज क्वाँरी होने लगी, तब बड़ा कष्ट होने लगा। हिन्दी के नवीन कवियों ने पिछले सालों में लगभग हर चीज को क्वाँरी बना दिया है—विवाहिता को भी और विधवा को भी। नजर से जो असंख्य प्रयोग इस प्रकार के गुजर चुके हैं, उनमें से यहाँ-वहाँ के जो नोट किये हैं, वे ये कुछ हैं—

क्वाँरी कली, क्वाँरी बाल, क्वाँरी किरन, क्वाँरा यौवन, क्वाँरा आसमान, क्वाँरी धरती, क्वाँरी मिट्टी, क्वाँरी आशा, क्वाँरे अरमान, क्वाँरी ऊषा, क्वाँरी दूब, क्वाँरी सन्ध्या, क्वाँरी उमंग, क्वाँरा बादल, क्वाँरी लता, क्वाँरी नदी, क्वाँरी धड़कन, क्वाँरा चाँद, क्वाँरा सूरज, क्वाँरे पौधे !

ये केवल कुछ हैं। अगर सबकी गिनती करेंगे तो 2-3 पृष्ठ घेर लेंगे। हर चीज हिन्दी कविता में क्वाँरी हो गयी है। और अभी उस दिन 'धर्मयुग' के कवितांक में नीरज की कविता देखी, तो चलते-चलते कण्ठ में अटकी 'मेले की क्वाँरी चहल-पहल !' अब और क्या रहा ? 'क्वाँरा मकान,' 'क्वाँरा स्टेशन,' 'क्वाँरा एंजिन,' 'क्वाँरा घण्टाघर,' 'क्वाँरी मड़ी,' 'क्वाँरी कोतवाली' और हो जाय ! हिन्दी के बड़े-छोटे कवियों से कहना है कि भाइयो, प्रतिभा को जरा खराद पर रखो, बार-बार

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 5, सितम्बर 1956

शब्दों की पिटाई कम करो। पन्तजी ने दो मात्राओं की कमी देखी, तो 'चिर' धर दिया और हर किसी संज्ञा के पहिले शत-शत लगाना शुरू कर दिया, माखनलालजी सूझ, पीढ़ी और ईमान के बिना दस वाक्य नहीं लिखते। नये लोग बुजुर्गों से कम-से-कम यह बात न सीखें।

रेडियो की बात*

रेडियो की बात कितने बार, कितने लोगों ने कितनी तरह से लिखी है— कोई सीमा नहीं! पर बात समाप्त नहीं हो रही है—'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता!'

बातें वही हैं— रेडियो की रंगभेद नीति, फर्मे में 'फिट' करने की प्रवृत्ति।

रेडियो के कार्यक्रमों की लिस्ट देखने से मालूम होता है कि शायद रेडियोवालों के पास दो लिस्टें हैं—एक काली लिस्ट और एक गोरी लिस्ट। गोरी लिस्ट में कुछ तो श्वेत केशधारी होते हैं; शेष वे होते हैं जो रेडियो-अधिकारियों से मिल लेते हैं, या चिट्ठी द्वारा नमन कर लेते हैं, जो उनके गुट्ट में हैं, उनके अखाड़े के शार्गिद हैं। वे भी इस गोरी लिस्ट में हैं, जो पूर्णतः सरकारी साहित्यकार हैं। वे भी, जो शराब-बन्दी पर, योजना पर, मन्त्री-अभिनन्दन पर, भूदान पर, प्रधानमन्त्री पर, कविता और लेख लिखकर हुक्म मिलते ही दे देते हैं। वे भी इस गोरी लिस्ट में हैं जो अपनी रचनाओं से ओजपूर्ण शब्द छाँट-छाँटकर निकाल देते हैं, जिनकी रचना 'फिलमफेयर' में भी छप सकती है और 'कल्याण' में भी। वे भी जो सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की बात करना पाप समझते हैं। रेडियोवाले इस कदर गुलामी के शिकंजे में कसे हैं कि कोई शक्ति और ओज की बात सुनवाना राजद्रोह मानते हैं।

शेष काली लिस्ट में।

प्रोग्राम दोनों को देते हैं।

अगर काली लिस्टवाला अच्छा लिख लेता है, तो उसका प्रोग्राम न देने से, हल्ला-गुल्ला होगा। इसलिए काली लिस्टवाले का कोई पुराना रिकार्ड तीन रुपये में बजा दिया या 10-15 रु. में कोई रचना-वचना पढ़वा दी। फिर गोरी लिस्ट-वाले को 80-90 रुपयों में रेडियो पर बुलाकर भाषण करवा दिया। दोनों का प्रोग्राम हो गया न। अब तो कोई एतराज नहीं।

इसमें सबसे ज्यादा पिसता है, नया साहित्यकार। बुजुर्गों को कभी ऐसा लगता नहीं है कि इस नीति का विरोध करें, क्योंकि उनको तो प्रोग्राम मिलते हैं। नये

* उपरोक्त अंक में प्रकाशित दूसरा सम्पादकीय।

लेखकों में, जो अपने आपको इस ढाँचे में फिट कर लेते हैं, लाभ लेते हैं; जो नहीं कर पाते, कलाकार के आत्मसम्मान को जाने नहीं देते, सत्य को स्पष्ट घोषित कर देते हैं, वे अछूत हैं।

कितनी नवीन उद्भट प्रतिभाओं की अवहेलना करके रेडियो अपना स्तर नीचे गिरा रहा है !

हिन्दी-विरोधी शक्तियाँ*

हाल ही में श्री राजगोपालाचारी के एक भाषण से तथा उसके कुछ समय पूर्व राज्यों के शिक्षामन्त्री-सम्मेलन के एक निर्णय से, हिन्दी-संसार में बड़ी हलचल मच गयी है।

राजाजी बड़े जिम्मेदार आदमी हैं, वे स्वयं एक बड़े साहित्य-साधक हैं इसलिए उनकी बात बड़ा वजन रखती है। उन्होंने कहा है कि भारत में राज्यों के आपसी सम्बन्धों की भाषा अँगरेजी होनी चाहिए। बात तो यह हुई, पर इसका तर्क बड़ा दिलचस्प है—यह कि अगर हिन्दी ही अनिवार्य राष्ट्रभाषा बनायी गयी तो दक्षिण के प्रति अन्याय होगा, क्योंकि दक्षिण के लोगों ने दो सौ वर्षों से अँगरेजी सीख ली है। वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध और कूटनीतिवृद्ध राजाजी से विनम्रतापूर्वक यह कहना है कि क्या 'केवल' दक्षिण के ख्याल से राष्ट्रभाषा निश्चित होगी ? उत्तर, पूर्व और पश्चिम भारत का इसमें कोई हित नहीं देखा जायगा ? और अगर दक्षिणवालों ने विदेशी शासकों की विदेशी भाषा इतनी कुशलता से सीख ली, तो क्या वे राष्ट्र-भाषा हिन्दी को नहीं सीख सकेंगे ? या क्या वे राष्ट्र की भाषा का सीखना तौहीन समझेंगे और विदेशी भाषा पर गर्व करेंगे ? हिन्दी के पक्ष में जो सबसे बड़ी बात है, वह यह है कि यह देश के सबसे बड़े जनसमाज द्वारा बोली, लिखी और समझी जाती है और अब तक इसने वह सामर्थ्य भी प्राप्त कर ली है, जो एक राष्ट्रभाषा में अपेक्षित है।

पर हिन्दी के प्रति एक प्रकार का पूर्वाग्रह कुछ लोगों के मन में है, जिनमें पण्डित नेहरू-जैसे लोग भी हैं। पण्डितजी में हर विषय पर अन्तिम शब्द बोल देने की जो प्रवृत्ति है, उसी के अनुसार उन्होंने कुछ दिन पहले कह दिया कि यदि हिन्दी से काम चलाया गया तो पंचवर्षीय योजना के क्रियान्वयन में कठिनाई होगी। यह बात समझ में नहीं आयी। हिन्दी भाषा से काम चलाने पर बाँध, पुल, रेलमार्ग, कारखाने

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 7, नवम्बर 1956

और सड़क बनाने में क्या कठिनाई होगी ? इन्जीनियरिंग की शिक्षा अँगरेजी के माध्यम से ही होती है—यह शायद पण्डितजी का विचार है। पर रूसी विशेषज्ञ भी क्या अँगरेजी से काम चलाते हैं ? और क्या जर्मन शिल्पी और यन्त्री अँगरेजी भाषा के मोहताज रहते हैं ? नयी व्यवस्था लागू करने में पहले-पहल जो अचरज लगता है, उसी के शिकार हम लोग हो रहे हैं। यह तो लगेगा ही। विद्यार्थी को 'मे आइ कम इन सर' की जगह 'क्या मैं आ सकता हूँ' कहने में बड़ी झेंप लगती है। पर क्या समय के साथ यह बिल्कुल स्वाभाविक नहीं हो जायगा ?

दूसरा कारण आशंका का यह है कि हिन्दी की सच्ची सामर्थ्य लोगों को मालूम नहीं है। अधिकांश लोग जो इस 'टोन' में बातें करते हैं, हिन्दी का मतलब सेठ गोविन्ददास और बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन समझते हैं। हिन्दी के लिए इन आन्दोलन-कर्ताओं के सिवा हिन्दी की सर्जनात्मक शक्तियों और कृतियों की उन्हें बहुत कम जानकारी है। पण्डित नेहरू की धारणा भी हिन्दी के बारे में लगभग ऐसी ही है। 'दिनकर' की पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' की पण्डितजी ने भूमिका लिखी है, पर हम नहीं समझते, उन्हें उसे पलटकर देखने की भी फुरसत मिली होगी। हिन्दी की सामर्थ्य प्रतिदिन किस वेग से बढ़ रही है, यह बहुत-से लोगों को नहीं मालूम और इसी कारण वे यह आशंका व्यक्त करते हैं कि हिन्दी इस जिम्मेदारी को सँभाल नहीं पावेगी।

प्रगति जो पर्याप्त नहीं हुई है, उसका कारण स्वयं सरकार है। सन् 1965 में हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान लेना है--जब यह विधान में स्पष्ट अंकित है, तब भारत के शिक्षा मन्त्रालय ने इस ओर कितने धीरे और कितने बेमन से कदम बढ़ाये हैं। हर साल 100-50 इनाम बाँट देने से काम नहीं होता। न अभी तक पारि-भाषिक शब्दावली हुई, न वैज्ञानिक शब्द। सब गोलमाल कर रखा है। क्या इस प्रकार जानबूझकर हिन्दी की सामर्थ्य को कम नहीं किया जा रहा ?

और एक विचित्र बात है। हमारे यहाँ भाषा और साहित्य के मामले भी मन्त्रियों के द्वारा तय होते हैं। भाषा या लिपि के निर्णय विशेषज्ञ नहीं लेते, मन्त्रि-गण बैठकर तय कर लेते हैं। इन मन्त्रियों को शिक्षा, साहित्य और भाषा के विषय में कितना ज्ञान है, यह कोई बताने की बात नहीं है। हमारी हर वस्तु का भाग्य-विधाता राजपुरुष और राजनेता है--वह सर्वोपरि है, सर्वज्ञ है। शिक्षा मन्त्रियों ने तय कर लिया है कि अंग्रेजी अनिवार्य रूप से पढ़ाया जानेवाला विषय होना चाहिए। क्यों होना चाहिए ? उन्हें क्या सामान्य भारतीय विद्यार्थी की विडम्बना मालूम है ? सामान्य बुद्धि के, तीसरे दर्जे में ढकलनेवाले लड़के अंग्रेजी में क्यों सर खपायें ? कितने लड़कों की जिन्दगी खराब होती है, इसे वे ही जानते हैं जो शिक्षण-कार्य में लगे हैं। मन्त्री इसे नहीं जान सकते। भाषा की खूबियाँ, उसकी लिपि, विशेषज्ञ ही ठीक से जानते हैं, मन्त्री नहीं। इस प्रकार के निर्णय बड़े हानिकर सिद्ध हो रहे हैं।

कुछ अँगरेजी पत्र भी, जिनके कर्मचारियों की जीविका अंग्रेजी से चलती है, हिन्दी का विरोध कर रहे हैं। एक पीढ़ी अपना लाभ देखकर आगामी सब पीढ़ियों

का भविष्य बिगाड़ने की क्रिया में लगी है।

अंग्रेजी से दुश्मनी किसी की नहीं है। वह बड़ी समृद्ध भाषा है। उसके अध्ययन के द्वार योग्य लोगों के लिए खुले रहने चाहिए। लेकिन उसे हर किसान, मजदूर, मुंशी और दूकानदार की मातृभाषा तो नहीं बनाया जा सकता।

आलोचना की आवश्यकता*

'नया पथ', नवम्बर में उदयनारायण तिवारी द्वारा लिखित 'नीरज की पाती' की आलोचना हमें अच्छी लगी। अच्छी इसलिए नहीं लगी, कि उसमें 'निन्दा सबद रसाल' का आनन्द आया, बल्कि इसलिए कि 'कविता' के नाम से जो माल साहित्य के बाजार में स्वर के डब्बों में बन्द होकर बिक रहा है, उसकी साहसपूर्ण, स्पष्ट और निष्पक्ष आलोचना की परम्परा हम हिन्दी में चाहते हैं। हिन्दी में कविता पढ़ायी नहीं जाती, केवल सुनी जाती है। और जिसे सुना है, उसे छपा पढ़ने पर न जाने कैसा-कैसा लगता है, लज्जा आती है अपने आप पर कि हमने कवि-सम्मेलन में इसी की दाद दी थी।

आम कवि-सम्मेलनों में या तो गाना जमता है, या गाली, क्योंकि ये दोनों सहज ही समझ में आते हैं; इन दोनों के परे जो कविता नाम की चीज है, वह अगर सुनायी जाय, तो कवि को 'हूट' कर दिया जायेगा। परिणाम यह हो रहा है कि कवि स्वर-साधना अधिक करता है, काव्य-साधना कम, क्योंकि उसे मंच पर 'जमना' है और अच्छे कवियों की 'मट्टी पलीद' करना है। इसलिए वह अच्छी हल्की चीज लिखता है, जिसमें कहीं चिक और कहीं जाली, कहीं महावर और कहीं चितवन और कहीं कम्पन आदि जड़कर, बिल्कुल नट की तरह झूमकर जब मंच पर पढ़ता है, तो सस्ते भावों और शब्दों से विकल हो श्रोता दाद देते ही हैं। ये न छायावादी कवि, न प्रगतिवादी कवि, न प्रयोगवादी कवि—ये केवल 'कण्ठ-कवि।' कवि न होहुँ नहिं चतुर कहाऊँ। मति अनुरूप सिनेमा गाऊँ!

कविता जिसके लिए है, उसके पास पहुँचायी जाय, इसे हम मानते हैं! मंच से सहस्रों जनों को कविता सुनने को मिलती है, मंच के द्वारा कवि जनता के पास पहुँचता है। लेकिन वह क्या लेकर पहुँचता है? उसे क्या देता है? उसे किस कदर धोखा देता है? जिसे स्वस्थ, उदात्त, उच्च भाव देना चाहिए, उसे कैसी हल्की चीज सौंपता है?

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 8, दिसम्बर 1956

विज्ञापनों को देखिए—साइकिल का विज्ञापन है, तो स्त्री की तस्वीर उसमें जरूर है। बीड़ी के विज्ञापन में स्त्री, मोटर के विज्ञापन में स्त्री, डालडा में स्त्री—हर चीज के विज्ञापन में स्त्री की तस्वीर जरूर होगी। बिना स्त्री की छाप के कोई चीज अच्छी या लोकप्रिय नहीं। विज्ञापनबाजों ने जिस तरह नारी का उपयोग किया है, उसी तरह हमारे कुछ कवि कर रहे हैं। नारीछाप साबुन और नारीछाप कविता—एक ही टाइप है। कभी स्त्रियों ने विज्ञापनबाजी के खिलाफ आन्दोलन किया था, क्या वे कवियों के खिलाफ नहीं करेंगी ? क्यों नहीं उनसे कहतीं कि यह क्या मचा रखा है ? हमारा यह क्या उपयोग है ? हम क्या केवल 'छुईमुई' हैं ? हम क्या तुम्हारे ड्राइंगरूम के गुलदस्ते हैं ? क्या केवल कुम्हला जाने का नाम नारीत्व है ? क्या नारी का कर्म केवल सिंगार करना और तुम्हें देखकर लजा जाना है ? उदयनारायण तिवारी ने ठीक ही पूछा है—

"नीरज साहब का झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई या गोवा के मोर्चे पर प्राणोत्सर्ग कर देनेवाली उस लड़की के बारे में क्या खयाल है ?"

राजपूत जब युद्ध के लिए तैयार होता तो उसकी पत्नी उसे तिलक करके तलवार हाथ में देती थी और कहती थी कि या तो जीतकर आना या युद्धभूमि में प्राणों की बलि चढ़ा देना। और मुगल राज्य के अन्तिम समय मे बादशाही फौज रणभूमि में जाती तो साथ में 'हरम' भी चलता था। हमारे काव्य की जय-यात्रा में जो 'हरम' साथ चल रहा है, वह हमें कहाँ ले जायगा ? हिन्दी के मूर्धन्य गीतकार बच्चन की कविता की दो-एक पंक्तियों का मुलाहजा फरमाइए—"हमने पास बिस्तर कर लिया था ! जानती हो, क्या कर गुजरने के लिए" या "कर दिया मजबूर तुमने !"

कवि पर जिम्मेदारी है कि वह जन-रुचि का परिष्कार करे। यह कहना गलत है कि जनता समझती नहीं है। हम ही जनता को नहीं समझते। हमने अपने ऊपर नट, गायक और मेमने का 'रोल' ले लिया है। तो जनता जाति की शक्ति हुंकारती भी है। हमने तो केवल घुटन के गीत सुनाये ! हमारी आधी कविता का स्रोत तो यह है कि 'उसका' पिता उसे हमसे मिलने नहीं देता—इसलिए हम घुट रहे हैं ! और आधी का विषय है, उस न मिल सकनेवाली के सलमासितारे ! बस प्रेम-गीत हो गया ! नर भी प्रसन्न, नारी भी प्रसन्न ! ताली, 'वंसमोर' और फिर एक प्याला काव्य-वारुणी ! इस किस्म का क्षयग्रस्त प्यार हमें नहीं चाहिए, बीमार आदमी के प्यार के गीत हमें नहीं चाहिए। हमें स्वस्थ आदमी का स्वस्थ प्यार गीतों में ढालकर देना होगा ! नारी को गुलदस्ता बनाने से काम नहीं चलेगा। इस पतनशील प्रवृत्ति को रोकना होगा।

हिन्दी में मंच शरीफ पर रंग जमाने के लिए जो ये सस्ते गीत लिखे जा रहे हैं, उससे अच्छी प्रतिभाएँ नष्ट हो रही हैं। जिनमें अच्छा लिखने की क्षमता है, वे भी रंगमंचीय सफलता के लिए स्वरमय हल्का-फुल्का लिखते हैं। और जो अच्छी कविता होती है, उसे कोई सुनता नहीं। अतएव, केवल रंगमंचीय गीतों की इस बाढ़ की

जाँच करनी होगी, उसमें जो कूड़ा-करकट होगा, उसे कूड़ा-करकट कहना होगा। कवि-सम्मेलन की ताली किसी भी आलोचना-शास्त्र में समीक्षा-पद्धति नहीं मानी गयी।

पीढ़ियों का संघर्ष*

पुरातन और नवीन का संघर्ष सब देशों और कालों में होता है।

हिन्दी में इस समय हो रहा है, इसमें चिन्तनीय या नाक-भौं सिकोड़ने की सुविधा देनेवाला कुछ नहीं है। सतत् परिवर्तनशील, इसीलिए प्रगतिशील मानव समाज में युगानुकूल नये आदर्शों की प्रतिष्ठा होती है, नवीन मूल्य सामने आते हैं। इसमें कुछ बिगड़ता है, तो कुछ बनता भी है।

एक पीढ़ी पूज्य होती जाती है, उसे मन्दिर में बिठाना पड़ता है, कभी-कभी जल और पुष्प अर्पित करना पड़ता है। दूसरी पीढ़ी कर्म के क्षेत्र में आ जाती है। बूढ़ा किसान अपने जवान बेटों को हल लेकर खेत जाते हुए देखता है, तो उसकी छाती गर्व से फूल उठती है और चिलम की फूंक के साथ उसके मन से बेटों के लिए आशीर्वाद निःसृत होता है।

लेकिन अगर तारुण्य से दीप्त बेटों को खेत पर जाते देखकर नष्ट-यौवन बूढ़े के मन में शूल चुभने लगे और वह केवल अपनी सत्ता और अस्तित्व बनाने के लिए उनके खेत में जाकर अड़ंगा डाले, नवीन बीज और नवीन खाद डालने से रोके, 'हमारे समय में'---कहकर बार-बार उन पर हीनता आरोपित करे तो बूढ़े के प्रति बेटों के मन में खीझ पैदा होगी ही।

और अगर बेटे भी केवल इस कारण कि किसान बूढ़ा हो गया है, उसका मजाक उड़ायें, उसके पुरातनपने पर फब्तियाँ कसें, उसे निपट मूर्ख समझें, तो बूढ़ा भी खीझ पड़ेगा।

हिन्दी काव्य में यह दुतरफा खीझ इस समय चल रही है। खूब जोर से चल रही है, मजे में चल रही है। छायावादी खेत में कुछ लोगों ने एक खास किस्म के बीज बोये थे, वे उगे भी और 25-30 सालों तक खेत हरे-भरे रहे। लेकिन युग तो रुक नहीं सकता। मनुष्य की विकासमुखी प्रवृत्ति को कोई रोक नहीं सकता। नवीन पीढ़ी आयी और उसने दूसरे किस्म के बीज बिखराये। बस यहीं झगड़ा शुरू हो गया।

* **वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 9, जनवरी 1957**

एक ओर दुराग्रह !

दूसरी ओर उद्धतता !

अनेक छायावादी कवियों को जानता हूँ, जो रात को एकान्त में बैठकर नयी कविता लिखने की कोशिश करते हैं और जब नहीं बनती, तो सबेरे उठकर लोगों से कहते हैं—"नयी कविता सब कूड़ा-करकट है।"

और अनेक नवीन कवियों को भी जानता हूँ जो यह समझते हैं कि विगत पीढ़ी को बुरा कहने और गाली देने से ही वे युगप्रवर्तक के रूप में स्वीकार कर लिये जावेंगे।

साहित्य में बुढ़ापा सफेद बालों या झुरियों का नाम नहीं है। साहित्य में बुढ़ापे का अर्थ है नवीन चेतना ग्रहण करने की शक्ति का लोप, अपनी मान्यताओं और मूल्यों को बदलने की भीरुता, 'आज' के बदले विगत 'कल' में ही जीने का मोह, प्रतिभा का शैथिल्य ! यह सब न हो, तो साहित्य में बूढ़ा आदमी 'परिपक्व' कहलाता है। अपनी अपरिवर्तनशील प्रवृत्ति के कारण अनेक लोग राह में जाकर चट्टान की तरह डट गये और खुद ही चिल्लाये —'गतिरोध हो गया ! गतिरोध हो गया !!' भले आदमी, तुम्हीं तो राह में अड़ गये हो, तुम्हीं चिल्लाते हो कि राह बन्द हो गयी है। जिसे चलना है, वह आखिर तुम्हें लाँघकर ही तो जायगा। तब तुम चिल्लाओगे, 'हमें लात मारते हैं ! हमारा अपमान करते हैं ये !!'

साफ बात है—काम कर सकते हो, चल सकते हो, तो चलो। अन्यथा देवता बनकर मन्दिर में बैठो, हम कभी-कभी आकर अक्षत, पुष्प चढ़ायेंगे, आरती भी कर देंगे। लेकिन अगर तुम भक्तों को इकट्ठा कर राह चलनेवालों पर पत्थर फिकवाओगे, तो तुम्हें कौन पूजेगा ?

जिन्हें देवता मान लेने में कोई देर नहीं थी, उनमें से कुछ ने वास्तव में पत्थर-बाजी की और करवायी। 'अखाड़ा', 'महन्ती', 'धूनी', 'दादावाद' आदि शब्द कोरी कल्पना के नहीं हैं, ये सब चीजें हिन्दी में हैं और इन सबके कारण बड़ा आक्रोश जहाँ-तहाँ देखने में आता है।

रेडियो पर, सम्मेलन में, कान्फ्रेन्सों में, पुरस्कारों में सब जगह 'नास्ति' को 'अस्ति' का भ्रम पहनाने के लिए लोग डटे रहते हैं। समझ में नहीं आता है कि हर समय, हर उत्सव पर रेडियो पर भावहीन, शिथिल तुकबन्दी पढ़ने का मोह कुछ बुजुर्गों को क्यों जकड़े रहता है, जबकि वे स्पष्ट देखते हैं कि श्रोता उन्हें केवल संकोचवश सह लेते हैं ? वे सिर्फ आशीर्वाद क्यों नहीं देते ?

दूसरी तरफ का नज्जारा भी बड़ा मजेदार है। अनेक नवीन रचनाकारों को लगता है कि अब तक जो लिखा जा चुका है वह बिल्कुल निरर्थक है, रद्दी है। उससे कुछ सीखने का नहीं है, उसमें कोई प्राणवान तत्व नहीं है। इसे मूर्खता के सिवा और क्या कहा जाय ? कुछ वर्ष पहिले तुलसीदास को एक-दो वजनदार नये दिमागों ने 'बुर्जुआ' कह दिया। बस, कई वर्षों तक वे बुर्जुआ रहे आये। इस बीच प्रगतिशीलों ने तुलसी को पढ़ा नहीं, क्योंकि बुर्जुआ को क्या पढ़ना ? चलो छुट्टी मिली।

और अभी-अभी फिर से कुछ बड़ों ने कहा कि तुलसी तो 'प्रोग्रेसिव' हैं। बस, अब तुलसी 'प्रोग्रेसिव' हो गये। पूर्ण-कण्ठ (Full throated) प्रोग्रेसिव कहने लगे—"तुलसी के बराबर 'प्रोग्रेसिव' कौन है? उन्होंने कहा है—जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।।' अत्याचारी को नर्क भेज देने का आह्वान है यह !"

एक वर्ग और है जिसे बुरा मान लिया गया है—वह वर्ग जिसने 'पेट' अथवा 'फैट' (Fat) के लिए सरकार अथवा शोषक वर्ग से समझौता कर लिया है, अथवा जो कहीं राज्यसभा, कमीशन, डेलीगेशन आदि की सदस्यता का मुकुट अब अपनी साधना के सिर पर रखना चाहता है। 'पेट' की मजबूरी उपहास और घृणा की अपेक्षा सहानुभूति के ही योग्य है। 'फैट' और पद की लोलुपता की मजबूरी पर अवश्य प्रहार होना चाहिए और वे हो भी रहे हैं—गद्य में भी और पद्य में भी। पर इसमें भी एक कलात्मकता होनी चाहिए। वर्ड्सवर्थ और राबर्ट सदे के 'राजकवि' हो जाने पर क्रमशः टेनीसन और बायरन ने अच्छी तीखी कविताएँ लिखी थीं, जो अभी भी उनकी सर्वोत्तम रचनाओं में मानी जाती हैं। क्या हम जो गालियाँ लिख रहे हैं, उनमें यह क्षमता है?

पीढ़ियों के अवश्यम्भावी संघर्ष में वैचारिक संघर्ष व्यक्तिगत घृणा और द्वेष के स्तर पर आ रहा है, यह बात ज़रा चिन्तनीय है। विगत पीढ़ी में एक प्रकार की खीझ है, जो अक्षमता तथा मूल्य-परिवर्तन से उपजी है और वर्तमान पीढ़ी में क्रोध है, जो मार्ग की बाधाओं के कारण प्रकट हुआ है। इन दोनों सीमान्तों पर स्थित लोगों से अलग अनेक ऐसे व्यक्तित्व हैं, जिनमें दृष्टि की उदारता है, और जो साहित्य में नवीन विचार, नवीन शिल्प-शैली का विकास स्वाभाविक और अनिवार्य मानकर नवीन धारा के प्रति सहानुभूति और सहयोग की दृष्टि रखते हैं। ऐसे तरुण भी हैं जो नवीन के विकास के लिए पुरातन को गाली देना या उसे निरर्थक और खोखला मानना जरूरी नहीं समझते। इनसे ही साहित्यिक सद्भावना के रक्षण की आशा है।

ढलवाँ साहित्य*

जैसे एक साँचे में ढले गहने होते हैं, वैसा ही कुछ साहित्य विशेष प्रकार के साँचों में ढलकर बनता है।

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक 10, फरवरी 1957

साँचे में सुभीता होता है—सुनार को सोचने का काम नहीं करना पड़ता। साँचे में नुकसान भी है—एक किस्म का माल ढलता है, कारीगर की कला-प्रतिभा व्यर्थ चली जाती है, बदलती जनरुचि उसी के माल को कुछ दिनों बाद नापसन्द करने लगती है।

हर भाषा के साहित्य में साँचे बन जाते हैं, जिनमें ढलकर कृतियाँ आने लगती हैं। छायावादी युग में 'किसी' अलक्ष्य को पुकारने, प्रेम-निवेदन करने का एक ढांचा था। बादलों के उस पार अन्तरिक्ष के परदे में कोई बैठा हुआ, प्रेम की डोर से मन को खींचता हुआ, शायद ही किसी को दिखता हो—'हिये की आँखों' से भी ! मगर साँचा तैयार था—लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार शब्द लाकर उसमें डालते—कविता तैयार !

इन दिनों साँचे बड़े जोर से काम में लाये जा रहे हैं। एक प्रयोगवाद का साँचा है। अछूते प्रतीकों द्वारा अब तक कवियों द्वारा विस्मृत भाव व्यक्त किये जायँ, यह तो ठीक है लेकिन केवल 'विचित्र' बनने के लिए सर्कस के खेल किये जावें, तो अच्छा नहीं लगता। एक कविता देखी थी—

> मेरा मन भावना की 'पेरेम्बुलेटर' में घूमता है,
> आशा के कपोल चूमता है,
> कामना की दुलहिन-संग रमता है।

मन बच्चा है तो कोई हर्ज नहीं। 'पेरेम्बुलेटर' का अर्थ बच्चा-गाड़ी होता है, यह शायद कवि महोदय की आराम करने की जगह हो। आशा के कपोल बच्चे को चूमते देख हम चौंके, पर बाद में मन को इस बात पर जारी किया कि बच्चे को माता-पिता सिखा देते हैं—'बेटा, चूमा लो !' मगर जब 'पेरेम्बुलेटर' के बच्चे को दुलहिन के संग 'रमते' देखा, तो अक्ल गुम हो गयी। फ्रॉयड इस 'केस' का अध्ययन कर सकता था ! उन असंख्य ढलवाँ रचनाओं में से एक है यह, जिनमें महज एक यान्त्रिक क्रिया की तरह प्रतीक फिट किये जाते हैं।

दूसरा एक ढांचा और है—प्रगतिवादी ढांचा ! अनेक लोग प्रगतिवाद को केवल ढाँचा मानकर चल रहे हैं। सामाजिक यथार्थ को सच्चे मानवी संवेदन के साथ बहुत कम ग्रहण करते हैं। शेष ने 'शार्टकट' अपना ली है। 'हंस' के शान्ति अंक में रूमानिया, बलगेरिया, रूस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि की जो कथाएँ छपी हैं, उनको हेर-फेर के साथ कई लेखकों के नाम से छपा मैंने देखा है। फिर कृष्णचन्द का एक ढांचा भी हिन्दी में कुछ लोगों ने अख्तियार कर लिया है—काश्मीर की लड़कियों के रूप और 'जोबन' को खूब रँगकर लिखा और फिर उसमें किसी पर्यटक की एकाध बदमाशी मिला दी ! बस प्रगतिशील हो गया। हिन्दी के कई लेखकों में मैंने यह कोरी रूमानियत देखी है। यह ढाँचा होता है, आत्मा गायब ! कई यथार्थवादी लेखक यथार्थ जीवन में प्रवेश किये बिना, जनजीवन से सीधा और संवेदनात्मक सम्पर्क स्थापित किये बिना, एक साँचे पर ढलाई कर रहे हैं। इनमें 'मनुष्य' कहीं नहीं दिखता। कुछ समझते हैं कि सुर्ख मेहँदी, सुर्ख सूरज,

लाल कमीज, सुर्ख धरती आदि लिख देने से यह प्रगतिवाद कहलाने लगेगा। या किसी से किसी की प्रेमिका को 'सुर्ख रूमाल' भेंट दिलवाने-मात्र से ही क्रान्ति हुए बिना नहीं रहेगी। इन रचनाओं में ठप्पेदार शब्दों के सिवा कुछ नहीं रहता। जीवन-तत्व गैर-हाजिर! संवेदना लुप्त!!

रूस और चीन के लेखकों के सामने यह प्रश्न है कि क्रान्तिकालीन और उसके पूर्वकालीन साहित्य की तुलना में आज का साहित्य क्यों हीन है? टालस्टाय, गोर्की, चेखव और लू-शुन क्यों नहीं हैं? इसलिए तो नहीं कि उनका सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से था, अब कोरे साँचों से। अमेरिकन और पश्चिमी यूरोप के उपन्यासों में दूसरा सांचा दिखता है—एक तो हर आदमी का लक्ष्य व्यक्तिगत स्वार्थ और सुख होता है। इस व्यक्तिगत स्वार्थ और सुख के पीछे ये दौड़ते फिरते हैं और अपनी इच्छा के लिए कुछ भी भला-बुरा कर सकते हैं, किसी की भी बलि चढ़ा सकते हैं। डी. एच. लारेन्स के उपन्यास 'सेण्टमार' में नायिका, उपद्रवी घोड़े की उष्णता व जीवनी-शक्ति पर मुग्ध हो, उसे अपने पति की सवारी के लिए ले आयी है, जिससे वह उसके करीब रहे। मन में विचार आता है कि यदि इसने पति को मार डाला तो? 'कोई बात नहीं' वह सोचती है। आदमी पशु है न!

जीवन को चित्रित करने के लिए जीवन देखना पड़ता है, समझना पड़ता है। मानव-जीवन गणित के सूत्रों पर नहीं चलता, वह मनोविज्ञान के नियमों से भी बँधा हुआ नहीं है। साँचों में ढला हुआ साहित्य प्राणहीन होता है।

हिन्दी कवि-सम्मेलन*

हिन्दीभाषी क्षेत्रों के कवि-सम्मेलन अपनी रोचकता, बाहुल्य, समय और हल्कापन, असमयता, वजनदारी आदि के कारण प्रसिद्ध है। हर मौके पर, हर उत्सव में, हर जगह होते हैं। कोई हफ्ता नहीं गुजरता है, जब कवि-सम्मेलन सुनने को न मिलता हो।

अब इस सम्बन्ध में हिन्दी के कवियों, आलोचकों और श्रोताओं में भी विचार होने लगा है।

सहयोगी 'हिन्दुस्तान' में अनेक हफ्तों से धारावाहिक रूप से कवि-सम्मेलनों के सम्बन्ध में साहित्यिकों तथा कवियों के विचार प्रकाशित हो रहे हैं। इनमें बड़ी मजेदार बातें सामने आ रही हैं—एक कवि ने इस बात को स्पष्ट रूप से कह दिया

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 12, अप्रैल 1957

है कि कवियों को पहिले पैसा दे देने से वे मन से कविता पढ़ते हैं और एक संयोजकजी ने लिखा है कि किसी कवि-सम्मेलन में किन्हीं कवि की नारियों के प्रति कुरुचिपूर्ण चेष्टाएँ देखकर एक राजपूत तलवार खींचकर मारने दौड़ा और भाग खड़े होनेवालों में 'दिनकरजी' भी थे। कुछ कवियों ने इस बात की शिकायत की है कि सम्मेलन हो जाने के बाद संयोजक कवियों की बिल्कुल भी परवाह नहीं करते—'रहिमन भाँवर के परे नदी सिरावत मौर।' एक कवि मित्र ने सुनाया कि एक जगह जब वे कवि-सम्मेलन के लिए पहुँचे, तो उन्होंने संयोजकों से कहा कि उनके कमरे में किसी कवि को न ठहराया जाय, क्योंकि उनकी आदत सवेरे 4 बजे उठकर दण्ड-बैठक लगाने की है। संयोजक बोले, "तो आप करिए; दूसरा आदमी सोया रहेगा।" वे बोले, "नहीं, मेरी आदत है कि दण्ड-बैठक के बाद जो भी सामने हो, उससे जोर करता हूँ।" कवि-सम्मेलन समाप्त होने पर जब संयोजक ने मुँह नहीं दिखाया, तो वे उन्हें खोजते पहुँचे और कहा, "पैसे दीजिए और स्टेशन तक पहुँचाने का प्रबन्ध कीजिए, वरना सवेरे के दण्ड-बैठक का उपयोग आप पर करता हूँ।" उनका कहना है कि संयोजकजी ने घबड़ाकर पैसे दे दिये।

कितनी ही घटनाएँ हैं जिनसे मालूम होता है कि लोग कवि-सम्मेलन कला के प्रसार की दृष्टि से या सांस्कृतिक दृष्टि से नहीं कराते, वरन् सस्ते मनोरंजन के लिए बुलाते हैं। इतना सस्ता हो गया है यह प्रोग्राम कि लोग यह सोचने लगे हैं कि चाहे जब कवियों को इकट्ठा करा सकते हैं। जो लिखता है, वह तो झख मारकर सुनायेगा, ऐसा लोगों का ख्याल है।

कवि-सम्मेलन क्यों होते हैं, इस सम्बन्ध में कवियों का यह कहना है कि कविता का जनता में प्रसार होना चाहिए, समाज का सांस्कृतिक स्तर उठना चाहिए। वह ठीक हो सकता है; वैसे हमें अनुभव है कि यह दृष्टि 100 में से 1 की हो तो हो। शेष के लिए कवि-सम्मेलन टकसाल है, सुनाने की लोलुपता की तुष्टि का साधन है। कुछ कवियों की जीविका है।

उधर श्रोताओं की दृष्टि से इसका महत्त्व यह है कि इतने कम दाम पर न सिनेमा देखा जा सकता है न नाच! अपवादों की बात मैं नहीं कर रहा।

होता यह है कि कवि और श्रोता में एक व्यावसायिक सम्बन्ध हो गया है। संयोजक सोचते हैं कि हमने दाम दिये हैं, हम काम लेंगे। कवि सोचता है कि पैसे मिलें तो कहीं भी मजदूरी करने में क्या हर्ज है। कवि के साथ एक मजबूरी और भी है—मंच और माइक के आकर्षण से उनकी शक्ति काफी क्षीण हो गयी है।

परिणाम सामने है—कवि की इज्जत को जितना इस व्यावसायिक काव्य-पाठ ने कम किया है, उतना किसी ने नहीं। तरह-तरह के अपमान, अवहेलना और उपहास सहने पड़ते हैं। दूसरा एक कुपरिणाम यह हुआ है कि स्टेज की कविता अलग किस्म की होती जा रही है और मुद्रित कविता अलग। कहा हुआ शब्द क्षण में कान पर से निकल जाता है, इसलिए मंचीय कविता बहुत आसान और कर्णप्रिय होती है। कई बार तो सुरीली मूर्खता सबसे अधिक जमती है। अच्छी कविता की

बड़ी दुर्गति हो रही है। रंगमंचीय सफलता काव्य-रचना की कसौटी बन गयी है। अच्छे स्वर से निरर्थक शब्दों को गानेवाले कवि समाज में जाने जाते हैं, पर अच्छा लिखनेवाले, लेकिन मंच पर न कहनेवाले श्रेष्ठ कवियों को भी लोग नहीं जानते !

प्रयोगवादी कवि मंच पर कम ही आते हैं। तो क्या इनमें बहुत श्रेष्ठ लिखनेवाले लोग भी समाज के लिए अज्ञात रह जावेंगे ?

एक और बात होती है—मंच पर पढ़नेवाले कवियों में बड़ी घृणित स्पर्धा, मार-काट, निन्दा और निम्नस्तरीय उखाड़-पछाड़ मची रहती है। 'मैंने उसे उखाड़ दिया'—अक्सर सुनने को मिलता है।

आदतन या व्यावसायिक मंचीय काव्य-पाठ के बारे में लोगों का कुछ अच्छा खयाल नहीं है।

लेकिन कवि-सम्मेलन बन्द करने की सलाह हम नहीं देते। उनसे बड़ा काम हो रहा है। यह सही है कि जिस समाज के लिए कवि लिखता है, उस तक काव्य पहुँचता है। जरूरत इस बात की है कि कवि-सम्मेलन का सस्तापन ज़रा कम हो, कवि ज़रा पठन-लोलुपता को रोकें, व्यवसाय के मामले में मारवाड़ी न बन जायें। इस बात का जरूर खयाल रखें कि वे जनता को क्या दे रहे हैं—तो कवि-सम्मेलन में एक 'डिगनिटी' आ सकती है। श्रोताओं को बहुत मूर्ख समझकर 'गाना' और 'गाली' सुनने के योग्य ही उन्हें मानना, बड़ी गलती है। अच्छी चीजें सुनने-समझने की क्षमता भी हमारे समाज में आ रही है। इसलिए जो कविताएँ पढ़ी जावें, वे इतनी हल्की न हों कि 'फिलिमयाँ' हो जावें या गाली हो जावें। कवि-सम्मेलनी कवि इस बात का भी तो खयाल रखें कि वे मंच से पढ़ रहे हैं, वह अगर छपी तो कैसी लगेगी।

जैसा भी चल रहा है, वैसा ही चला तो आगे चलकर दो प्रकार के कवि अलग-अलग हो जायेंगे—मंच के कवि और छापे के कवि ! सवाल यह उठेगा कि इन दोनों में कौन कवि है और कौन अभिनेता या गायक ? कवियों को और जागरूक पाठकों, श्रोताओं को इस बात पर गम्भीरता से विचार करना होगा।

साहित्य और राज्य-संरक्षण*

(परिमल का आयोजन)

सरकार और साहित्य के सम्बन्ध को लेकर पिछले कुछ काल से हिन्दी लेखकों में जो हलचल मची है, उसका स्पष्ट और संस्थाबद्ध रूप 'परिमल' की 3, 4, 5, मई को

* वसुधा, वर्ष : 2, अंक : 1, मई 1957

होनेवाली संगोष्ठी में प्रकट हुआ है।

सामन्ती युग के 'राज्याश्रय' ने प्रजातन्त्र में 'राज्य-संरक्षण' का रूप ले लिया है और ऐसा मालूम होता है कि इस देश के लेखकों के स्वतन्त्र चिन्तन और अभिव्यक्ति पर संकट आनेवाला है और इस आसन्न संकट से रक्षा करने के लिए व्यूह-रचना हो रही है। सोचा जाता है, राज्य द्वारा लेखकों की स्वतन्त्रता का अपहरण निम्न प्रकार से होता है—

1. रेडियो या सचिवालय में नौकरी,
2. सरकारी पुरस्कार,
3. सरकारी प्रकाशन,
4. सरकारी सम्मान आदि।

स्वातन्त्र्य-रक्षा की चिन्ता तब से अधिक दिखायी देती है, जब से रेडियो पर चुन-चुनकर साहित्यकारों को नियुक्त किया जाने लगा या विभिन्न राज्यों और केन्द्र में सांस्कृतिक पदों का निर्माण करके उनमें उन्हें फिट किया जाने लगा।

'परिमल' ने यह उचित ही किया कि इस सम्बन्ध में एक वृहत् संगोष्ठी का आयोजन किया है, जिसमें प्रचार के अनुसार कई भाषाओं के साहित्यकार भाग लेनेवाले हैं। इससे भी अधिक समझदारी की बात यह की है कि कोई प्रस्ताव पारित न करने का निश्चय करके केवल विचार-विनिमय तक ही कार्यक्रम को सीमित रखा है। किसी प्रस्ताव को पारित कर फिर उसमें से अपने को छुड़ाकर लाभ ले लेने की प्रवृत्ति हममें पुरानी है। साहित्य-सम्मेलन के रेडियो से असहयोगवाले निश्चय को तब एकदम तोड़ दिया--- जब कुछ लेखक बन्धुओं को रेडियो पर नौकरी मिल गयी।

संगोष्ठी के आयोजन के समय हम एक-दो बातें इस सम्बन्ध में कहना चाहेंगे। पहली बात तो यह है कि इस प्रकार के आन्दोलन में जितने लोग भाग लेते हैं, वे किस उद्देश्य से प्रेरित होकर ऐसा करते हैं? प्रयोजन क्या है? क्या वे कलाकार की स्वतन्त्रता पर आसन्न संकट से विडोलित हैं? क्या वे इसी तरह चिन्तन और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य में विश्वास करते हैं? क्या वे साहित्य के विराट हित की दृष्टि से ऐसा करते हैं या किसी दल या ग्रुप को आगे बढ़ाने के लिए नारे का उपयोग कर रहे हैं? उनका संघर्ष राज्य की नीति से है अथवा कुछ उन लोगों से जिन्हें राज्य ने पद, पुरस्कार और सम्मान दे दिया है?

संयोजकों के लिए ये प्रश्न बहुत महत्त्व रखते हैं। गलत कण्ठों से निकला अच्छा नारा भी अहितकर होता है। हमें अनेक लोग ऐसे मिलते हैं, जो अमुक या तमुक लेखक के रेडियो पर चले जाने की बड़ी आलोचना करते हैं, क्योंकि खुद उनको अभी पद मिलने में देर है; वैसे वे कोशिश में लगे हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो विरोधी स्वर उठाकर अपनी कीमत बढ़ाते हैं, सौदे में अपनी स्थिति को मजबूत बनाते हैं। कितने उदाहरण दें उन लोगों के, जो रात-दिन राज्य और 'बिके हुए' लेखकों की निन्दा करते थे, और आज वे मजे में ऊँचे पद पर बैठे हैं। कितने ऐसे हैं जो 'घर फूंकने' की

बात करके अब तिमंजिले के चक्कर में हैं।

हमारा यही प्रयोजन है कि सवाल तो सही है, पर संयोजकों को, आन्दोलन-कर्ताओं को यह छानबीन जरूर करनी चाहिए कि इसमें उन कण्ठों का स्वर भी तो नहीं है, जिनके मालिकों को राज्य से लाभ मिलने में देर है। गलत कण्ठों से यह नारा न लगे, तभी कुछ लाभ हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि अब ऐसे क्षेत्रों का निर्माण हो गया है जिनमें राज्य लेखकों का सहयोग चाहता है। सरकार सांस्कृतिक कार्य करना चाहती है, उसका फर्ज है। इस कार्य में वह लेखकों, कवियों, कलाकारों का सहयोग चाहती है। यदि नहीं करेगी, तो उसकी आलोचना होगी। यदि वह लेखकों को द्रव्य देकर कार्य में उनसे सहायता लेगी, तो उसकी निन्दा होगी। हमसे एक कवि ने पूछा, "सरकार पंचवर्षीय योजना कार्यान्वित कर रही है। यह योजना भारतीय जनता के जीवन को सुखी बनाने के लिए है। अगर मैं योजना के बारे में गीत लिखता हूँ, गाता हूँ, तो क्या जनसेवा नहीं करता? और जो यह नहीं करते, क्या वे देश की जनता के प्रति सच्चे हैं?" हमारे जवाब से उसे सन्तोष नहीं हुआ। जवाब कुल यह था कि भाई, अगर तुम्हें बहुत ईमानदारी से इस प्रकार की प्रेरणा अन्तःकरण में हुई हो, तो-लिखो। अगर, सरकार गीत पर पुरस्कार देती है, इसलिए अगर लिखोगे तो यह 'रिटेल सेल' के सिवा कुछ और नहीं है।

रेडियो पर और सरकारी पदों पर काफी ऊँची दर पर राज्य लेखकों को स्थापित कर रहा है। कुछ लोगों की ओर से दी जानेवाली यह दलील मिथ्या है कि नौकरी अलग चीज है, उसका प्रभाव हमारे स्वतन्त्र चिन्तन और लेखन पर नहीं पड़ता। सरकार इतनी बेवकूफ़ नहीं है कि स्पष्ट बन्धन पर प्रतिमास मिलनेवाला वेतन, आगे तरक्की के चांसेस, शासकों की प्रसन्नता आदि कुछ ऐसी चीजें हैं जो परोक्ष रूप से ही सही, उपचेतन में ही सही, यह भावना मन में बनाये रखती हैं कि मैं सरकार से वेतन पाता हूँ। यह चेतना, यह भावना कलम में झिझक जरूर पैदा करती है। यही असत्य के साथ समझौता होता है। समझौते से भयंकर, विनाशक चीज कलाकार के लिए दूसरी नहीं। समाज-सत्य को सामाजिक सन्दर्भ में लेखक जिस रूप में अनुभूत करता है, उस रूप में उसे निःसंकोच प्रकट करने में झिझक पैदा न हो। जहाँ असत्य है, पाखण्ड है, मिथ्याचार है; वहाँ कला नहीं। राजनीति और समाज-नीति में समझौते की गुंजाइश है, साहित्य और कला के क्षेत्र में समझौता आत्मघात का लक्षण है।

प्रमाण में उन अनेक लोगों की रचनाएँ सामने रख लीजिए, जो उच्च पद पाने के बाद लिखीं। उनमें वह तेज, वह स्पष्ट अभिव्यक्ति, वह बखिया-उधेड़ जीवना-लोचन नहीं हैं, जो फाकामस्ती के वक्त की रचनाओं में थी। इनमें से अनेकों को तो मूल्य बदल गये हैं। अब वे 'फाइन लिटरेचर' लिखते हैं; वे ऊबड़-खाबड़पन को असांस्कृतिक मानते हैं, कटु सामाजिक वास्तविकता और उसके कारणों को उनके सही घृणित रूप में प्रकट करना उन्हें ओछापन लगता है; उनके सौन्दर्यबोध के स्तर

बदल गये हैं। इसका कारण है, वे रंगीन पेण्टवाले ड्राइंगरूम में बैठते हैं, वही लिखते हैं, वही सुनाते भी हैं। किसी समय के कुछ 'आगलगाऊ' प्रगतिवादी अब सरकार के फायर ब्रिगेड में काम कर रहे हैं।

इसीलिए यह सवाल सरकार की अपेक्षा साहित्यकार से अधिक सम्बन्ध रखता है। सरकार, वह चाहे किसी देश की हो, स्थितिवादी होती है। कलाकार, किसी भी देश का हो, वर्तमान से आगे बढ़कर अधिक उन्नत भविष्य के दर्शन करता है। स्थिति और प्रगति का यह संघर्ष ही सरकारी नौकरियों, पुरस्कारों और सम्मानों के पानेवाले में होता है। कभी-कभी यह कसमसाहट व्यक्त हो उठती है—भवानी मिश्र की उस कविता में दिल की कसमसाहट झलकती है जिसमें वे कहते हैं कि अब तो निरर्थक लिखने के दिन गये, सार्थक लिखने का आग्रह है। मनचाहा लिख सकने की स्वतन्त्रता के अपहरण के समय ईमानदार आत्मा का आर्तनाद है यह! सरकार पुरस्कार देती है; जिस प्रकार के ग्रन्थों पर पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकार के ग्रन्थ लिखें, तभी पुरस्कार मिलेगा। रेडियोवाले धीमी बात को पसन्द करते हैं इसीलिए बात धीमी कहें। वर्ग-संघर्ष के बिना सच्चा समाजवाद नहीं आ सकता ऐसा हमारा विश्वास है, पर 'भूदान' पर लिखने से पैसे मिलेंगे; इसलिए दो-चार लिख दो। इस प्रकार के समझौते की वार्ताएँ कितने लोगों के मन में चला करती हैं। सिर से कफन बाँधनेवाले बिरले होते हैं।

आर्थिक हीनता बड़ी मजबूरी होती है। आर्थिक लोभ उससे भी बड़ी मजबूरी। खुद को और बाल-बच्चों को भूखा मरता देख कोई समझौता करे, तो वह कुछ हद तक क्षम्य है। पर जो फट्टी की जगह कारपेट, साइकिल की जगह कार, सूती की जगह रेशमी पाने के लिए समझौता करे, वह कदापि क्षम्य नहीं है। वह व्यापारी है, कलाकार नहीं।

लेखन से अर्थ की प्राप्ति होती है, केवल इसीलिए लेखन व्यापार नहीं हो जाता। कपड़े के व्यापारी पर सत्य के अन्वेषण की कोई जिम्मेदारी नहीं है, मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य के लिए उसे चिन्ता नहीं, कपड़ा बेचने के लिए उसे आन्तरिक प्रेरणा नहीं मिलती, कपड़ा बेचना यश नहीं दिलाता। कपड़ा बेचना उसकी आत्माभिव्यक्ति नहीं है। साहित्यकार की स्थिति दूसरी है। इसलिए लेखन, व्यापार कतई नहीं है—वह जीविका का साधन हो सकता है, लेकिन वह बहुत अंशों में तपस्या है। इसलिए जिसे आत्मा पर बन्धन महसूस होते हैं तो वह छोड़कर चला जाय। प्रेमचन्द को फिल्मी वातावरण में जब घुटन मालूम हुई, तो हजारों को लात मारकर चले आये, समझौता नहीं किया। जो अपने और समाज के प्रति ईमानदार है, उसके लिए रास्ता सीधा है। रास्ता कठिन उन लोगों के लिए है, जो प्राप्ति करके त्याग का रूपक साधना चाहते हैं, जो भीतर बेईमानी करके बाहर से ईमानदार दिखना चाहते हैं, जो अपने समझौते को तर्क से न्यायसंगत और सत्य सिद्ध करना चाहते हैं, जो कमरे में 'सरेण्डर' कर आते हैं, और बाहर आकर गर्दन ऐंठकर चलने लगते हैं; जो पतन को दण्डवत् सिद्ध करना चाहते हैं; जो एक मुट्ठी में स्वर्ण

लेकर दूसरे हाथ से भस्म दिखाते हैं।

ऐसे लोगों के लाभ के लिए ऐसी संगोष्ठी का उपयोग न होने पाय, इसकी सावधानी बरतना चाहिए। जो बात हो ईमानदारी से हो। व्यक्तियों की अपेक्षा प्रवृत्ति और नीति ही अधिक ध्यान में रहे।

इस प्रकार के सामाजिक संकट का उपयोग अनेक निहित स्वार्थ के लोग अपने घृणित हितों के लिए करने लगते हैं। राजनीति में यह आम बात है, मगर अब यह प्रवृत्ति साहित्यकारों में भी आने लगी है। किसी सामाजिक महत्त्व के प्रश्न को उठाकर फिर उससे किन्हीं लोगों को नीचे खींचना या अपने लिए सीढ़ी बनाना, आम रिवाज हो गया है। इस संगोष्ठी के प्रयोजन के सम्बन्ध में कुछ मित्रों ने व्यक्तिगत रूप से और कुछ लेखकों ने पत्र लिखकर शंकाएँ व्यक्त की हैं। इन लोगों ने जैसे हमें सचेत किया है। इस बात को यहाँ नहीं कहना अपने प्रति और 'परिमल' वाले मित्रों के प्रति बेईमानी होगी। अतएव हमारा उनसे आग्रह है कि अपने कार्यों और वक्तव्यों द्वारा, किन्हीं क्षेत्रों में व्याप्त इस धारणा को निराधार सिद्ध करें। आयोजन की महत्ता, शुचिता और उपादेयता की दृष्टि से यह और जरूरी है। यह आयोजन लेखक की स्वतन्त्रता की सिद्धि के लिए एक छोटा-मोटा यज्ञ ही है। यज्ञ की वेदी पर बैठे पुरोहित स्नानादि करके पवित्र होकर बैठते हैं। इस साहित्यिक यज्ञ के पुरोहित भी स्नान करके ही बैठे होंगे, ऐसी आशा है। पर यदि कोई शंका करें, तो उन्हें फिर से उसके सामने नहा लेने में कोई हर्ज नहीं। वैसे तो हर आयोजन शंका की दृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि सत्य-असत्य की पहिचान कठिन हो गयी है। इसीलिए सत्य को भी प्रचार चाहिए, अन्यथा वह मिथ्या मान लिया जाता है। 'परिमल' वाले इस बात को समझें कि उक्त संगोष्ठी के निर्णयों और विचारों की बहुत-सी उपादेयता उनकी अपनी प्रवृत्ति और नियति और व्यवहार पर निर्भर है।

हमारा विश्वास है कि यह गोष्ठी सरकार, प्रकाशक वर्ग तथा साहित्यिक मठाधीशों द्वारा उत्पीड़ित, शोषित और अपमानित साहित्यकारों के अधिकारों के आन्दोलन का सूत्रपात करेगी। हमें आशा है कि उस बहुप्रचारित 'निरीहता' के फतवे की धज्जियाँ उड़ेंगी, जो फतवा कब से शोषकों के हाथ में लेखकों के शोषण का जरिया रहा है। लेखक को अपने लेखन से सम्मानपूर्वक जीवनयापन का हक मिलेगा; उसकी कृतियों के साथ शासन, प्रकाशक और जन-समाज न्याय करेंगे, कण्ठ-रोधक सरकारी दबाव से लेखक को मुक्ति मिलेगी।

हम उक्त संगोष्ठी के विचारों की उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे। 'परिमल' द्वारा उठाये गये अन्य प्रश्नों पर हम आगामी अंकों में लिखेंगे।

'भारतीय कविता-1953'*

(हिन्दी की एक पूरी पीढ़ी का ब्लैकआउट !)

साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित सन् 1953 की भारतीय कविताओं का संग्रह हमारे सामने है। भारत की 14 भाषाओं में 19 3 में लिखित कविताओं का यह संग्रह तीन साल बाद 1956 में छपा है। अकादमी सरकारी संस्था है। जहाँ मन्त्री की हर छींक के सचित्र प्रकाशन की प्रतिदिन सुविधा रहती है, वहाँ साहित्य का प्रकाशन 3 साल ले लेता है। बहरहाल, संग्रह छपा तो। न छापते तो हम क्या कर लेते ?

हिन्दी अनुवाद सहित इन भाषाओं के संकलन का कार्य उस भाषा के एक या अधिक काव्य-अधिकारी व्यक्ति को सौंपा गया था और यह माना जाना चाहिए कि संकलनकर्त्ता ने सन् 1953 में प्रकाशित प्रतिनिधि रचनाओं को चुनकर इस संग्रह में शामिल किया।

अकादमी ने इन संकलन-कर्त्ताओं की बौद्धिक ईमानदारी, सन्तुलित न्यायदृष्टि, साहित्यिक सदाशयता और पूर्वाग्रहविहीन विवेक का भरोसा किया होगा और जिम्मेदारी कितनी बढ़ जाती है, जब किसी बड़े आदमी को दुनिया के सामने अपनी मातृभाषा के प्रतिनिधि काव्य को प्रस्तुत करने का कार्य दिया गया है। उसे राग-द्वेष, संकीर्ण मत-मतान्तर, प्रादेशिक भावना, मैत्री व दलबन्दी आदि से ऊपर उठकर यह काम करना होता है, क्योंकि एक भाषा के प्रतिनिधित्व का सवाल है।

कई भाषाओं के संकलनकर्त्ताओं ने यह उत्तरदायित्व निबाहा। असमिया, उड़िया, बंगला आदि के काव्य को पढ़कर उन भाषाओं की नवीन प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है।

पर सबसे खराब संकलन हिन्दी का---संकलनकर्त्ता हैं श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' एम. पी.। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कोई अन्य भाषा का निष्पक्ष विद्वान यदि इस महाग्रन्थ को पढ़े, तो वह यही कहेगा कि भारत की भाषाओं में सबसे घटिया कविता हिन्दी में लिखी जाती है, हिन्दी कविता का विकास रुक गया है, वह युग से बहुत पीछे पड़ गयी है, उसमें प्राणवान बहुत कम लिखा जा रहा है, उसमें नवतेज के दर्शन नहीं होते।

'दिनकर' जी जब से कवि से एम. पी. हो गये हैं, उनकी दृष्टि ही बदल गयी है। इस संकलन में तीन कवि बिहार के हैं—वे स्वयं, जानकीवल्लभ शास्त्री और रामदयाल पाण्डे! बिहार के तीन कवियों की 'मेजारिटी' क्यों न होगी ? राष्ट्रपति ही उनके हैं। हम प्रान्तीयता की भावना प्रगट नहीं कर रहे हैं, संकलनकर्त्ता के मन में व्याप्त इस संकीर्णता को उघाड़ रहे हैं।

* वसुधा, वर्ष : 2, अंक : 2, जून 1957

शेष कवि हैं—मिलिन्द, महादेवी, बच्चन, अंचल, अज्ञेय, पन्त, नवीन।

हिन्दी खण्ड को पढ़कर यही समझा जायगा कि हिन्दी में 'अज्ञेय' के बाद कुछ नहीं लिखा गया। 'अज्ञेय' के बाद की सृजनशील पीढ़ी में जो तेजवान काव्य लिखा जा रहा है, उसका कोई नमूना इसमें नहीं। एक पूरी-की-पूरी पीढ़ी को उड़ा दिया गया है। काव्य की एक पीढ़ी का पूर्ण 'ब्लैकआउट' कर दिया 'दिनकर' जी ने। जरा 'भारत ज्योति' (12 मई) का यह रिमार्क देखिए—

In Hindi only those poets, belonging to the 'High Command' group of Hindi Literature are represented, the new generation is almost forgotten.

छायावादी दलदल में फँसे हुए, अस्पष्ट, असामाजिक, परम्पराग्रस्त काव्य को ही हिन्दी का काव्य बनाकर 'दिनकर' ने हमारी भाषा और साहित्य के प्रति अपराध किया है। कोई अन्य भाषा-भाषी इसे पढ़ेगा तो हमारी लघुता और गतिहीनता पर हँसेगा। हिन्दी के अधिकार की खिल्ली उड़ायगा।

इस संकलन में 1953 की कविताओं का संग्रह नहीं किया गया, कवि संग्रहीत किये गये हैं। दिनकरजी जैसे बड़े आदमी मुंह-देखा व्यवहार करेंगे, ऐसी उम्मीद नहीं थी। बड़े-बड़े नामधारी कवियों को छाँटा, मित्रों को छाँटा, नित्य सम्पर्कवालों को छाँटा, और उनकी जैसी-तैसी रचनाएँ इकट्ठी कर दीं। जो लोग दूर सृजन कर रहे हैं, जो दिल्ली नहीं आ पाते, जो दिनकरजी से सम्पर्क नहीं कर सकते, जिन्होंने अपना प्रचार नहीं करवाया है, जो गरीब हैं, पीड़ित हैं, संघर्ष में क्षत-विक्षत हैं और जो हिन्दी के वास्तविक गौरव हैं—उन्हें कौन देखेगा? वे बड़े नहीं हैं, इसलिए बटोरने में नहीं आते! जो बड़े हैं, उनमें से अधिकांश घटिया लिख रहे हैं। स्वयं दिनकर, बच्चन, अंचल, पन्त की इस संकलन की कविताओं की उनकी पहिले की कविताओं से तुलना करके देख लीजिए। जो नयी पीढ़ी तेजवान काव्य लिख रही है, वह गाँवों, कस्बों, छोटे नगरों में पड़ी है, बड़ों से उसकी रसाई नहीं है, वह दिल्ली, 'ट्रिप' नहीं लगाती। उसे बटोरने की उदारता, आत्मबल और न्याय-बुद्धि संकलनकर्त्ता में नहीं है।

हम जानते हैं कि हिन्दी में किसी भाषा से घटिया काव्य नहीं लिखा जा रहा। हिन्दी कविता कहीं आगे है—सौ-दो सौ ऐसी रचनाएँ तो हम ही दिनकरजी को दे सकते हैं, जो हिन्दी को गौरव दे सकती हैं, मगर वे लोग दिनकरजी की पीढ़ी के नहीं हैं।

'दिनकर' जी के ठीक पीछे हिन्दी में एक पीढ़ी काव्य-साधना कर रही है। 'दिनकर' जी इससे परिचित नहीं हों, ऐसी बात नहीं है। इस कविता से उन्होंने कभी नाराजी जाहिर की है, कभी प्रसन्नता भी जाहिर की है, कभी इसे उपदेश भी दिया है। मगर इस ढेर-सी कविता में उन्हें सन् 1953 में एक भी नहीं मिली, जिसे हिन्दी के प्रतिनिधित्व के लिए वे चुनते। अन्य भाषाओं के संकलनकर्त्ताओं ने यह उदारता बरती है।

उड़िया में एक एम. ए. के छात्र अमियचरण गोहाई की कविता संकलित है। महेन्द्र बरा नवतरुण कवि हैं। जी. एस. शिवरुदम, निरंजन भगत, हसमुख पाठक, शरच्चन्द्र मुक्तिवोध आदि कितने नयी धारा के कवि हैं, जिन्हें संकलनकर्त्ताओं ने संग्रह में शामिल किया है। पर हमारी इस राष्ट्रभाषा के संकलनकर्त्ता एम. पी. कवि को यह समझ में नहीं आता कि जितना आँखों से दिखता है, जितना सम्पर्क से घिरा है, उतना ही हिन्दी का क्षेत्र नहीं है। इतने बड़े आदमी से ऐसे छोटेपन की उम्मीद नहीं थी।

वर्तमान तरुण पीढ़ी के काव्य में जो तेज, असन्तोष, विद्रोह प्रगट हो रहा है, वह सरकार के पास के, सरकारी संस्था के आदमी को प्रिय नहीं होता। दिनकरजी की स्थिति इस मामले में प्रकाशन विभाग के अफसर-सरीखी हो गयी। सरकार को नया तेज सहन नहीं होता, 'दिनकर'जी को भी वह नहीं हुआ।

हिन्दी की सजग, सृजनशील, प्राणवान नवीन पीढ़ी के प्रति किया गया यह अन्याय बहुत-बहुत निन्दनीय है। ऐसे कृत्य से दुनिया के सामने हमारी भाषा और साहित्य के मुख पर लांछन लगता है।

राजनैतिक नेताओं की तरह बड़े-बड़े साहित्यकार जगह-जगह अपने 'कम्पू' गाड़े बैठे हैं और जब इन्हें 'चांस' मिलता है, तो बहुमतवाली पार्टी के मन्त्रिमण्डल बनाने-जैसा व्यवहार करते हैं—अपनी पार्टी के लोग मन्त्रिमण्डल में, शेष निष्कासित! इसके विरुद्ध जब विद्रोह उभरता है, तो बुजुर्ग लोग उसे तरुणों की अशिष्टता और उद्दण्डता कहते हैं।

बख्शीजी पर राजमद का प्रहार*

सत्ता प्रतिभा को किस तरह खरीदकर, उससे काम लेकर उसका हर तरह से शोषण कर, उसका पूरा सत निचोड़कर फिर किस तरह उसे फेंक देती है, इसका एक उदाहरण बख्शीजी से हाल ही में किया गया खैरागढ़ राज-परिवार का घृणित व्यवहार है।

मध्यप्रदेश के अन्तर्गत खैरागढ़ राज्य के राज-परिवार ने बख्शीजी की प्रतिभा, शिक्षण-योग्यता, लेखन-कुशलता और सज्जनता का जीवन-भर उपयोग किया। राज-परिवार के बच्चों को उनसे पढ़वाया, अपने भाषण लिखवाकर, उनको अपने मुंह से दुहराकर सामाजिक और राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी कीं, पहिले अँगरेज और

* वसुधा, वर्ष : 2, अंक : 3, जुलाई 1957

अब देशी नेताओं के अभिनन्दन-पत्र लिखवाये। बख्शीजी ने, जिनका व्यक्तित्व किसी राजा से कम नहीं है, खैरागढ़ को, वहाँ रहकर गौरव प्रदान किया। राज-परिवार के प्रति उनका ममत्व इस सीमा तक पहुँच गया था कि उन्होंने अपनी नवीन पुस्तक रानी पद्मावती (स्वास्थ्य मन्त्राणी, मध्यप्रदेश) को अभी कुछ दिन पहिले ही समर्पित की है। उनसे बार-बार यह कह दिया गया था कि जिस मकान में वे रहते हैं वह उनके नाम कर दिया जायेगा। इस आश्वासन पर उन्होंने उस पुराने मकान की स्वयं मरम्मत करायी। यह मकान राजा की ओर से याचक को दान नहीं है, राज-परिवार की वर्षों तक सेवा करने के पारिश्रमिक का एक अंश ही है। आखिर कलाकार को इच्छित और अनिच्छित रूप से कितने अवसरों पर झूठे मान-पत्र और पाखण्डपूर्ण भाषण लिखने पड़े होंगे। राज-परिवार के सब बच्चों को भी उन्होंने अपने बच्चों की तरह पढ़ाया है।

अब वे लगभग 57 वर्ष के हो चुके हैं। इस बुढ़ापे में उनसे मकान खाली करने को कहा जा रहा है और यह व्यवहार इतना घृणास्पद हो रहा है कि सुना है आम सरमायादार वसूली-कुर्की में जोर-जबर करने के लिए जिन 'नरपुंगवों' का उपयोग करते हैं, वे बख्शीजी के यहाँ मकान खाली कराने के लिए भेजे गये।

राज-परिवार का काम अब निकल गया। रानी पद्मावती अब मध्यप्रदेश की स्वास्थ्य-मन्त्राणी हो गयीं। अब वे भोपाल में रहती हैं, अब भाषण लिखवाने के लिए बख्शीजी की जरूरत नहीं है। इसलिए अब बख्शीजी जावें, मकान रहा आवे। अब मकान का उपयोग बख्शीजी से ज्यादा हो गया है।

कहते हैं महाकवि गेटे की मृत्यु के बाद तीन शहरों में तीव्र विवाद खड़ा हो गया था—हर शहर का दावा था कि महाकवि उसका था। पर इन तीनों शहरों की सड़कों पर गेटे वर्षों भूखा, ठोकरें खाता फिरता रहा था। मृत्यु के बाद सम्मान करने की हमारी आदत है।

लेखक और समाज के सम्बन्ध की ये रोमाण्टिक कल्पनाएँ अब अर्थहीन हो गयी हैं। ह्रासग्रस्त, पतनशील वर्ग-संस्कृति में लेखक का शोषण उसकी विपन्नता की रोमाण्टिक कल्पना में भुलाया नहीं जा सकता। यहाँ लेखक को मजबूर होना पड़ता है कि वह लिखने के सिवा अन्य जरिये से जीविका कमाय। लिखने से उसे जीविका नहीं मिलती और उसकी इस स्थिति का लाभ उठाकर धन और राज्य की सत्ता उसकी प्रतिभा का अपने हित में शोषण करती है—राजा-रानी उससे भाषण लिखवाते हैं; पैसेवाले अपने पिता का जीवन-चरित्र लिखवा लेते हैं, अपने नाम से साहित्य रचवाते हैं, स्वागतगीत और अभिनन्दन-पत्र लिखवाते हैं, अपना प्रकाशन कराते हैं और काम निकल जाने पर उसे अलग कर देते हैं—बुढ़ापे में विपन्नता में जिन्दगी घसीटने के लिए।

मध्यप्रदेश में बख्शीजी के प्रति किये गये इस अन्याय के प्रति जो रोष उमड़ा है, वह जन-आन्दोलन का रूप ले रहा है। ऐसी खबरें आ रही हैं। रानी मन्त्राणी हवा का रुख देख सकेंगी, ऐसी आशा है।

हिन्दी सत्याग्रह*

भाषा के अधिकार के लिए नेताओं को सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ना पड़े, यह स्थिति बड़ी अशोभन है। जनमानस में एकता उत्पन्न करनेवाली भाषा तब विभेद पैदा करती है, जब वह राजनैतिक और साम्प्रदायिक पैंतरेबाजी के काम में लायी जाती है।

पंजाब में आर्यसमाज द्वारा चलाये जा रहे हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन का रूप बड़ा चिन्तनीय हो गया है। हिन्दी को लेकर उठनेवाले इस प्रकार के संघर्षों का प्रमुख कारण भारत सरकार की हिन्दी-नीति और तत्सम्बन्धी शैथिल्य है। भारत सरकार ने अपनी हिन्दी-नीति को स्पष्ट प्रगट किया होता, राज्यों के सामने अपनी नीति को साफ-साफ रखा होता, हिन्दी के क्रमिक विकास के लिए उचित प्रयास किये होते, तो ऐसी स्थितियाँ नहीं आतीं।

भाषा-प्रेम पंजाब में भाषा-प्रेम न रहकर हठवाद हो गया है। वर्तमान आन्दोलन में पंजाब में राजनैतिक क्षेत्र के प्रतिद्वन्द्वी दल, तथा हिन्दू-सिख साम्प्रदायिकता के पोषक दलबन्दी करके बेचारी हिन्दी की आड़ में लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं।

एक ओर सरकार की संकीर्णता है—हिन्दी की अवहेलना से उसका साम्प्रदायिक अहं तुष्ट होता है। दूसरी ओर आर्यसमाज है, जो हिन्दी को राष्ट्र-भाषा से अधिक शायद एक सम्प्रदाय की भाषा मानता है। दोनों ओर संकीर्णता और हठधर्मी। इस समाज में जो असंख्य विभेदक प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं उनमें एक हिन्दी भी जोड़ी जा रही है।

एक ओर राज्य सरकार को अपनी हठधर्मी, संकीर्णता त्यागकर राष्ट्र-भाषा को उचित स्थान देना चाहिए, दूसरी ओर हिन्दी के आन्दोलनकर्ताओं को यह समझना चाहिए कि भाषा की सही सेवा यह है कि उसका प्रचार किया जाय, उसके साहित्य की अभिवृद्धि की जाय। 'धर्मयुद्ध' घोषित करने में भाषा और संस्कृति जैसी चीजों की रक्षा नहीं होती। ये शक्तियाँ हिन्दी के प्रचार में लगें, तो अच्छा। इस आग में साम्प्रदायिक तत्वों के हाथ सेंकने से एक तो देश की एकता को हानि होगी, दूसरे हिन्दी के हित को भी धक्का पहुँचेगा।

* उपरोक्त अंक में प्रकाशित दूसरा सम्पादकीय।

'कन्टेम्परारी हिन्दी लिटरेचर' : 'अज्ञेय' का निबन्ध*

साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित उक्त अंग्रेजी पुस्तक में, आधुनिक हिन्दी साहित्य पर एक लेख स. ही. वात्स्यायन का भी है, जिसमें भारतेन्दु युग से लेकर आज तक के हिन्दी साहित्य की चर्चा की गयी है।

सरसरी निगाह से इस निबन्ध को पढ़ जाने के बाद जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं उनमें सबसे पहिली यह है कि लेखक बड़े आत्मसचेत ढंग से आरम्भ और अन्त में यह स्वीकारते हैं कि अपने युग का सही और निष्पक्ष मूल्यांकन करना मुश्किल काम है। इतने सचेत व्यक्ति से यह अपेक्षित था कि वह पक्षपात, बेईमानी, संकीर्णता, राग-द्वेष और आत्मश्लाघा की ओर ढुलने के लिए मन के हर प्रयास को रोकता। पर एक नजर में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'अज्ञेय' ने इनसे बचने की नहीं, वरन् इन्हें खुलकर खेलने की छूट देने का प्रयास किया है। उन्होंने इस लेख में कुछ पूर्व-स्थापित और सर्वमान्य तथ्यों को छोड़कर कुछ नयी ही स्थापनाएँ की हैं। नयी स्थापनाओं से हमें विरोध नहीं, किसी को भी क्यों होगा; परन्तु नयी स्थापनाओं के द्वारा विवाद खड़ा करने का उचित फोरम यह नहीं था। अकादमी ने उन पर जो विश्वास रखा, उसका उन्होंने दुरुपयोग किया, साहित्य के एक वर्ग और गुट की हितसाधना के लिए उसका उपयोग किया। इस निबन्ध को लेकर हिन्दी में एक तूफान खड़ा हो गया है और अनायास ही अज्ञेय बहुचर्चित और विवादग्रस्त व्यक्ति बन गये हैं। अपने आपको इस प्रकार का उछाल दे देना भी इस लेख का उद्देश्य रहा होगा, जो सफल हो रहा है। आगामी किसी लेख में 'अज्ञेय' इस चतुर्दिक निन्दा का अभिलेख भी कर सकते हैं और यह कह सकते हैं कि इस युग में 'अज्ञेय' के खिलाफ बड़ा आन्दोलन हुआ। यह बात इस ढंग की होगी—एक आदमी चौराहे पर खड़े होकर गाली बके और आसपास के लोग उसे चपतयायें, तो वह दूसरे दिन से कहने लगे, 'भई, मेरे विरुद्ध बड़ा आन्दोलन हुआ !' इस लेख में आधुनिक हिन्दी साहित्य के सांगोपांग विकास की सामान्य और सीधी-सच्ची रूपरेखा प्रस्तुत करने की ही उनसे अपेक्षा की जाती थी, परन्तु उन्होंने इसका उपयोग प्रतिपक्षियों पर, वैचारिक मतभेद रखनेवालों पर प्रहार करने के लिए तथा अपनी और अपने गुट की अतिरंजित प्रशंसा करने के लिए किया। यही नहीं, उन्होंने जान-बूझकर स्थितियों, आन्दोलनों और साहित्य-साधकों को एक गलत और पूर्णरूपेण व्यक्तिगत दृष्टिकोण में रखकर गलत-सलत निष्कर्ष निकाले।

दूसरी प्रतिक्रिया यह होती है कि हिन्दी-साहित्य, हिन्दी-कविता ही है। पूरा

* वसुधा, वर्ष : 2, अंक : 4, अगस्त 1957

लेख मुख्यत: हिन्दी-कविता की विभिन्न धाराओं से सम्बन्धित है और साहित्य के अन्य अंगों पर यों ही कलम फिसल गयी है, ताकि 'शेखर : एक जीवनी' के उल्लेख और प्रशंसा की भूमिका बन जाय और इस सिलसिले में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भी प्रशंसा हो जाय। जैनेन्द्र को इतना उछालकर इसलिए दिखाया गया है कि उन्होंने ही वात्स्यायन का 'अज्ञेय' नामकरण संस्कार किया था और अपने साहित्यिक बचपन में वे जैनेन्द्र की अँगुली पकड़कर चले थे। (अतएव गुरुदक्षिणा : मार्फत साहित्य अकादमी)।

तीसरी प्रतिक्रिया : हिन्दी ने निराला, जैनेन्द्र और अज्ञेय के सिवा चर्चा के योग्य और कोई साहित्यकार नहीं उत्पन्न किये। 'निराला' के प्रति उनकी यह यकायक जागी आसक्ति हमारे ख्याल से एक इलहाम है और वह सम्भवतः इसलिए की गयी है क्योंकि उनकी कविता और व्यक्तित्व हर हिन्दीभाषी के लिए श्रद्धा की वस्तु है। जहाँ तक विरोधी आन्दोलनों का सवाल है, व्यक्ति रूप में 'निराला' सदैव पूजित हुए हैं और उनके तथा पन्त के विरुद्ध द्विवेदी युग के आलोचकों का जो प्रतिकूल रुख था वह नयी काव्य शैली 'छायावाद' के प्रति था। 'अज्ञेय' भूल गये कि 'प्रसाद' भी 'सरस्वती' के खाने से बाहर रहकर 'इन्दु' निकालकर, समय-समय पर निबन्धों के द्वारा अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर जीवित रह सके। दरअसल यह आन्दोलन पुरानों का नये के प्रति शंका की दृष्टि से उत्पन्न था! जैनेन्द्र की पीठ पर तो प्रेमचन्द ने हाथ रक्खा था और अपने गुरु का प्रत्याख्यान करने के बावजूद जैनेन्द्र प्रेमचन्द के मुक्त आशीर्वाद के पात्र रहे! उनकी 'सुनीता' आदि के 'चोली-दामन उतारवाद' का अवश्य विरोध हुआ जो आन्दोलन नहीं, एक सम्भावनायुक्त कलाकार की पतनशील 'न्यूरोटिक' भावना की आलोचना मात्र थी। जैनेन्द्र का हमने एक व्याख्यान नागपुर में सुना। प्रो. विनयमोहन शर्मा ने उनका परिचय देते हुए 'सुनीता' इत्यादि उपन्यासों की कुछ प्रवृत्तियों से अपनी असहमति व्यक्त कर उन्हें यह कहने को उकसाया कि यदि उनका 'वश चले तो वे आज अपनी कृतियों को अस्वीकृत कर दें।' जैनेन्द्र को व्यर्थ ही 'हीरो' बनाने का प्रयास कहाँ तक समीचीन है? इस युग में व्यक्ति के विरुद्ध यदि सबसे बिकट और योजनाबद्ध आन्दोलन हुआ तो 'उग्र' के, जिसमें बनारसीदास चतुर्वेदी ने नेतृत्व देकर एक सामाजिक संकट का हल्ला कर परले सिरे की साहित्यिक बेईमानी की। गाँधीजी का हवाला देकर उन्होंने 'उग्र'-जैसी महान् प्रतिभा को निरादृत करने का जो प्रयत्न किया, उससे सबसे बड़ा घाटा यदि किसी को हुआ तो हिन्दी साहित्य को ही। गाँधीजी के 'चाकलेट' पर प्रशंसा-पत्र को बीस बरस तक चतुर्वेदीजी में ही हजम करने का माद्दा था। 'अज्ञेय' ने बड़ी सफाई से 'उग्र' को छोड़ दिया और स्वयं 'हीरो' बन गये। हमारे विचार से अज्ञेय का Stature इतना बड़ा कभी रहा ही नहीं कि उनके विरुद्ध योजनाबद्ध आन्दोलन करने की आवश्यकता किसी को पड़े।

चौथी बात जो एकदम नजर में आती है वह यह कि हमें इस लेख के प्रकाश में हिन्दी साहित्य की बारहखड़ी फिर से पढ़नी पड़ेगी, हमें सीखना पड़ेगा कि हिन्दी

में रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, हरिऔध कोई कभी नहीं हुए। हमारे जमाने के नन्ददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि आलोचकों के उल्लेख का तो कारण ही नहीं था, क्योंकि आलोचना को 'अज्ञेय' साहित्य का अंग नहीं मानते। ('त्रिशंकु' की बात दूसरी है !)

पाँचवीं बात जो एकदम ध्यान पकड़ती है वह यह कि आधुनिक हिन्दी की समस्त साहित्य-सर्जना के प्रेरणा-केन्द्र तीन हैं—'प्रतीक' पत्रिका, 'परिमल' संस्था और 'अज्ञेय' व्यक्ति ! बार-बार अज्ञेय ने इन तीनों का ढोल पीटा है और यह समझाने का प्रयास किया है कि प्रयोगवाद और नयी कविता को 'अज्ञेय' ने जन्म दिया, 'प्रतीक' ने गोद में लिया और 'परिमल' ने Manner सिखाये। इस लेख में 'अज्ञेय' ने स्पष्ट लिखा है कि नयी कविता को 'प्रयोगवाद' नाम स्वयं उन्होंने दिया, जबकि 'अज्ञेय' स्वयं एकाधिक बार कह चुके हैं कि 'प्रयोगवाद' नाम ही गलत है और उन्हें 'प्रयोगवादी' कहना 'कवितावादी' कहना जैसा है। क्या 'अज्ञेय' और स. ही. वात्स्यायन—एक व्यक्ति के दो नामों का अन्तर ही विचारों में इतना अन्तर कर देता है !

नये कवियों के कुलगुरु 'अज्ञेय' स्वयं बन गये हैं। कोई हर्ज नहीं। पर अज्ञेय ने अभी दो सप्तक सम्पादित किये हैं जिनमें हिन्दी के 14 नये प्रतिनिधि कवि उन्होंने लिये हैं। ये कवि भिन्न होते हुए भी 'अन्वेषी' हैं, अतएव साथ हैं—ऐसा कुछ 'अज्ञेय' ने लिखा था। पर पहले सप्तक के दो ही कवि आज कवि रह गये हैं—'अज्ञेय' और 'गिरिजाकुमार माथुर'। द्वितीय सप्तक में भी भवानी मिश्र, शमशेर, नरेश मेहता जिनके आगे अन्य गिनाये गये कवि बौने लगते हैं, इस लेख में नामोल्लेख के लायक भी नहीं रहे हैं। प्रथम तार सप्तक के शक्तिवान कवि गजानन मुक्तिबोध की 'अज्ञेय' ने निर्लज्जता से अवहेलना कर दी है। 'अज्ञेय' द्वारा मान्य तार सप्तकों के इन प्रतिष्ठित कवियों का स. ही. वात्स्यायन ने नवीन काव्य के प्रसंग में नाम भी नहीं लिया। तो कौन प्रवंचक है—तार सप्तकों के सम्पादक 'अज्ञेय' या इस लेख के लेखक स. ही. वात्स्यायन ?

पूरा लेख निष्पक्ष पर्यवेक्षण बिल्कुल नहीं है—कुछ ऐसे आवेग में लिखा है, जैसे 'अज्ञेय' प्रतिपक्षियों पर प्रहार कर रहे हैं। मुख्य रूप से प्रगतिवादी लेखकों पर उन्होंने अपना क्रोध उतारा है, दूसरा नम्बर उनका है जो जरा भी सामाजिक दायित्व समझते हैं ! 'अज्ञेय' की सारी खीझ इसमें प्रकट हो रही है। प्रगतिवादी सम्मेलनों में जब वे बैठते थे, जब उन्हें मजबूरन अपने को 'पंक्ति को दे देना' पड़ा था तब संस्था के भीतर उनकी 'सेबोटेज' करने की गतिविधियों के कारण उनका संघर्ष प्रगतिवादियों से हुआ था। तब का घनीभूत क्रोध उन्होंने इसमें निकाल लिया है। प्रगतिवादियों के नाम को साफ उड़ा दिया है। जिनका नामोल्लेख न करना उनकी बेईमानी के बस की बात नहीं थी, उन पर छींटाकशी करके व्यक्तित्व को बिगाड़-कर प्रस्तुत किया है। यशपाल और नागार्जुन को 'परपीड़कवाद' का आरोप लगाया है, (जबकि अज्ञेय स्वयं 'मेसाकिस्टिक' : आत्मरुग्णता की प्रवृत्ति के शिकार हैं)।

यशपाल और नागार्जुन ने समाज के दुख-दर्द को संवेदन के साथ ग्रहण किया है, अन्याय और अत्याचार और शोषण को अपने सत्य—नग्न रूप में प्रकट किया है। इसे 'अज्ञेय' 'परपीड़न' कहते हैं। शायद पृथ्वी से रस ग्रहण करना पौधे का 'परपीड़न' है। गमले में रोपे पौधे 'अज्ञेय' यह क्या जानें कि अपने पौधे को त्याग-कर, जनसमाज में मिलकर उससे शक्ति, प्रेरणा और संवेदन ग्रहण करना सबके वश की बात नहीं है! काश्मीर की घाटी में कहीं 'नर-मादा' को बिठाकर सेक्स की गुत्थियाँ गूंथना और बात है।

और इसी जोश में वे यह घोषणा भी कर गये कि प्रगतिवाद मर गया। कैसे मर गया? क्या कान्फ्रेन्स नहीं होती इसलिए मर गया मालूम होता है? यदि वे पिछले कुछ वर्षों का साहित्य पढ़ते होते, तो जानते कि यद्यपि प्रगतिवादी 'हाईकमाण्ड' दुर्बल हो गया हो, 'आफिशियल प्रगतिवाद' कमजोर पड़ गया हो, पर पहले से अधिक व्यापक, स्वस्थ और शक्तिवान प्रगतिशील साहित्य रचा जा रहा है। समाज-जीवन में अधिक गहरे पैठकर, सामाजिक यथार्थ को अधिक सच्चे रूप में ग्रहण कर आज का साहित्यकार रचना कर रहा है। अनेक उच्च कोटि के प्रयोगवादी कवि आज सामाजिक दायित्व को स्वीकार करते हैं और नयी शैली में प्रगतिशील विचारों को गुम्फित करते हैं।

'अज्ञेय' ने अपने निष्कर्ष पहिले निकालकर रख लिये हैं, उनसे 'फिट' होने के लिए तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा है। प्रेमचन्द के बारे में कहते हैं कि उन्होंने पात्रों को Individuate किया – याने उनके पात्र व्यक्ति हैं। प्रेमचन्द जैसे समाज-सचेत लेखक को 'अज्ञेय' अपने जैसे व्यक्तिवादी की कोटि में रख रहे हैं। प्रेमचन्द के पात्र सामाजिक होते हुए, समाज के विभिन्न अंगों के प्रतिनिधि होते हुए भी, मौजूदा ढाँचे में अपने व्यक्तिगत विकास की पूरी सुविधा और स्वतन्त्रता पाते हैं। यही प्रेमचन्द की बड़ी विशेषता है और इसमें प्रेमचन्द अद्वितीय हैं। पर 'अज्ञेय' उन्हें अपनी पंक्ति में बिठाने को आतुर हैं।

इसी पूर्वाग्रह के कारण उन्होंने वर्तमान हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति को 'व्यक्तित्व की खोज' कहा है। यह 'अज्ञेय' की तथा और दो-चार की प्रवृत्ति हो सकती है, पर समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की खोज हमारी प्रवृत्ति नहीं है, यह निश्चित है। व्यक्तित्व की खोज कहाँ की जायेगी? समाज के भीतर ही न? तो फिर समाज के सर्वांगीण संस्कार और उन्नयन पर ही तो व्यक्तित्व बनेगा।

एक श्रेय अज्ञेय को अलबत्ता देना पड़ेगा—उन्होंने अपने व्यक्तित्व की खोज कर ली है। इस कदर निर्लज्जता से अपनी प्रशंसा बिरले ही कर पायेंगे। यह हर मानते हैं कि समकालीन हिन्दी साहित्य की चर्चा 'अज्ञेय' के बिना अधूरी होगी, पर लेख में उन्होंने सब सीमाएँ तोड़ दीं। ऐसा ज्ञात होगा कि हिन्दी में सबसे बड़ा व्यक्तित्व 'अज्ञेय' का है अपने को ब्राउनिंग और लारेन्स की तुलना में खड़ा करना, नयी कविता का अपने को जनक साबित करना, 'निराला' और जैनेन्द्र के साथ स्वयं खून लगाकर शहीद बन जाना है।

लेख असंगतियों से भरा पड़ा है। एक जगह कहते हैं कि समस्त हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना से प्रेरित है और फिर आधुनिक युग का लक्ष्य व्यक्तित्व की खोज बताते हैं। व्यक्तित्व की बात 'अज्ञेय' ने बार-बार उठायी है। दरअसल वह सब-कुछ जो साहित्य में व्यक्त होता है, उसमें साहित्यकार का व्यक्तित्व केवल एक माध्यम का कार्य करता है। समाज ने इत्तिफाक से अपने आपको व्यक्त कराने के लिए 'अ' को न चुन यदि 'ब' को चुन लिया और इसमें यदि 'ब' का दिमाग आसमान पर चढ़ जाय, तो नुकसान उसी का होगा—वह यह कि आगे चलकर समाज उसका विश्वास नहीं करेगा, उसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बनायेगा। इसलिए कलाकार का व्यक्तित्व इसमें गौण हो जाता है—रेडियो सेट का कोई 'एरियल' अगर अपने को ब्राडकास्टिंग स्टेशन मान ले, तो उस एरियल को हम 'अज्ञेय'वादी कह सकते हैं। परन्तु यह तर्क उनकी समझ में नहीं आयगा, जो युग न जीकर क्षण जीते हैं, समाज के वृहत्तर भू-भाग न बन 'नदी के द्वीप' बनने के आकांक्षी हैं।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी को केवल 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक के रूप में मान्यता मिली है (शायद भट्टनी से 'अज्ञेय' अभिभूत हो गये), द्विवेदीजी के श्रेष्ठ निबन्ध, उनकी समीक्षा, आदियुग और मध्ययुग के साहित्य सम्बन्धी उनकी शोध—यह सब लेखक भुला गये। 'अंचल' का नाम कविता के प्रसंग में नहीं बल्कि केवल उपन्यासों के सन्दर्भ में लिया है, और नरेश मेहता के साथ कोष्ठक में बन्द कर दिया गया है। (तुक कौन-सी है?)। वृन्दावनलाल वर्मा और रांगेय राघव-जैसे ऐतिहासिक उपन्यासकारों को 2-4 शब्दों में निपटा दिया गया है। (अपने लिए 'स्पेस' बचाना था)।

'अज्ञेय' का यह लेख हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में केवल भ्रम फैलायगा। चिन्ता इसलिए अधिक बढ़ जाती है कि यह अंग्रेजी पुस्तक अहिन्दी-भाषियों के लिए है। साहित्य अकादमी जैसी जिम्मेदार संस्था को इतनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक के सम्बन्ध में सावधानी बरतना था।

अभी हाल में ही सन् 1953 की 'भारतीय कविता' में इसी 'रेवड़ी बांट' जीवन-दर्शन की हमने निन्दा इसी स्तम्भ में की थी। हमें लगता है यह सरकारी संस्था, कर-दाता का पैसा केवल भ्रान्तियाँ उत्पन्न करने और प्रियपात्रों को लाभान्वित करने में बहा रही है।

हिन्दी-कमीशन की रिपोर्ट*

आजकल किसी कार्य को नहीं करने का सबसे आसान और प्रचलित तरीका है—कमीशन और कमेटी बिठा देना। नि:शस्त्रीकरण से लेकर शहर की सफाई तक के मामले कमीशन और कमेटी के दलदल में फँसे हुए हैं।

भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय ने 2 वर्ष पूर्व स्व. खेर की अध्यक्षता में एक हिन्दी-कमीशन का गठन किया था, जिसका प्रतिवेदन इसी मास संसद के समक्ष रखा गया।

दो वर्षों के परिश्रम, परीक्षण, विचार और अर्थ-व्यय के उपरान्त जो निष्कर्ष इस कमीशन ने निकालकर दिये हैं, वे कोई भी राहगीर राष्ट्रपति के कान में कह सकता था। कमीशन के कार्य का उपहास हम नहीं कर रहे हैं और न उसको कोई लघुता प्रदान कर रहे हैं। बात यह है कि वे निष्कर्ष इतने पूर्व-परिचित और निश्चित हैं कि कमीशन के बिना भी जाने जा सकते थे और कमीशन ने भी इतने कार्य के पश्चात् उन्हें ही जाना। दिल्ली कहाँ है, यह सामान्य आदमी जानता है, पर इसे जानने के लिए कोई यात्री-दल विश्व में भ्रमण करता फिरे और फिर खोजते-खोजते दिल्ली पहुँच जाय, तो इसके परिणाम होंगे—श्रम और धन का अपव्यय अथवा दिल्ली को जानने में विलम्ब। यही बात इस कमीशन के कार्य के सम्बन्ध की है।

कमीशन ने कहा क्या है? यही कि सन् 1965 में हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ले सकती है, यह अभी निश्चित नहीं कहा जा सकेगा और यह कि प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में होनी चाहिए। यह भी कहा गया है कि सन् '65 में हिन्दी का राजभाषा के रूप में प्रयोग होना सरकार के इस दिशा में कार्यों की गति पर अवलम्बित है। ये ऐसे तथ्य हैं जिन्हें शिक्षामन्त्री से लेकर सामान्य नागरिक तक जानता था।

पर शिक्षामन्त्रालय के अब तक के हिन्दी-सम्बन्धी कार्य को देखते हुए यह आशंका होती है कि संविधान में उल्लिखित उक्त भाषा-सम्बन्धी मुद्दे के प्रति यह मन्त्रालय पूर्णरूप से सचेत और शायद सच्चा भी नहीं है। राष्ट्रभाषा के नियमन, प्रसार और समृद्धि के बारे में इस मन्त्रालय की अजगर-गति से यह आशंका होती है कि सन् 1965 तक शेष काम भी पूरा हो जायगा या नहीं। विभिन्न विषयों की, शासकीय, विधि-सम्बन्धी शब्दावली का निर्माण, उच्चस्तर की टेकनीकल पुस्तकों की रचना, माध्यमिक और उच्चशिक्षा-स्तर पर हिन्दी का अनिवार्य अध्ययन आदि अत्यन्त आवश्यक कार्य भी अभी नहीं हो पा रहे हैं।

और इसी ढुलमुल नीति का परिणाम है, पंजाब का हिन्दी आन्दोलन तथा दक्षिण में फिर से सिर उठानेवाला हिन्दी-विरोधी मोर्चा। पंजाब में हिन्दी और गुरुमुखी को लेकर जो संकीर्ण साम्प्रदायिक गुटबन्दी हो गयी है वह अत्यन्त भयानक

* वसुधा, वर्ष : 2, अंक : 5, सितम्बर 1957

है। साम्प्रदायिक-राजनैतिक दल हिन्दी के प्रश्न को वही रूप दे रहे हैं, जो रूप वे गोरक्षा आन्दोलन को देते रहे हैं। जनसंघ और हिन्दू महासभा के पत्र जिस प्रकार से इस आन्दोलन का प्रचार कर रहे हैं, वह पूर्णरूप से साम्प्रदायिक है। पंजाब सरकार की हठधर्मी, जो संघ सरकार के शैथिल्य से प्रोत्साहित हुई, इस अशोभन काण्ड का कारण है। आज से वर्षों पूर्व जो निर्णय लागू कर देना चाहिए थे, वे अभी तक नहीं हो पाये। राज्यभाषा और राष्ट्रभाषा के प्रयोग तथा अध्ययन के क्षेत्र पहिले ही निश्चित हो जाने चाहिए। पर वे अभी तक नहीं हुए। परिणामस्वरूप जहाँ-तहाँ विघटक शक्तियाँ कार्यरत हो गयी हैं।

अब सरकार ने बड़े विश्वास के साथ कहा है कि सन् 1965 में हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ले लेगी। इस घोषणा की पूर्ति के लिए जो आवश्यक तैयारी है, उसकी गति अगर नहीं बढ़ी तो यह केवल एक भ्रामक गर्वोक्ति होकर रह जानेवाली है। क्या हम आशा करें कि सरकार सचाई से इस ओर काम करेगी अथवा पण्डित नेहरू की एकता की अपील के बल पर इसी तरह टालमटूल करती रहेगी?

पुस्तक की भूमिका*

पुस्तक के साथ भूमिका का प्रकाशन आम चलन है। यह भूमिका किसी ऐसे व्यक्ति से लिखायी जाती है, जो उस विषय का मान्य विद्वान हो, उसकी बात का वजन हो और जिसके न्याय-विवेक पर भी लोगों का विश्वास हो। भूमिका के अनेक प्रयोजन होते हैं—वह पाठक को आगे पढ़ने और विषय-वस्तु को ग्रहण करने के लिए उसकी मानसिक तैयारी करती है; पुस्तक की विशेषताओं को दृष्टि-केन्द्र में लाती है, उसका मूल्य निर्धारित भी करती है। वह पाठक को दिशा-संकेत करने के लिए होती है:

भूमिका का महत्त्व इसीलिए बढ़ जाता है। भूमिका-लेखक पर पाठक भरोसा करता है। पुस्तक पर किसकी भूमिका है और उसमें क्या कहा गया है, इससे पाठक उसे खरीदने-नहीं खरीदने, पढ़ने-नहीं पढ़ने का निर्णय करता है; उसमें उसे क्या मिलेगा, इसका भी आभास उसे होता है। बहुत अंश में न होता हो, पर होना स्वाभाविक है। जाग्रत, सुसंस्कृत पाठक भूमिका को बड़ा महत्त्व देता है।

हिन्दी में इस जिम्मेदारी को न भूमिका-लेखक समझते हैं, न लेखक। हिन्दी में भूमिका एक सिफारिश होती है, एक प्रकार का विज्ञापन होता है, क्रय-शील माल

* वसुधा, वर्ष : 2, अंक : 6, अक्तूबर 1957

का जैसे विज्ञापन किया जाता है, बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा की जाती है, कल्पित गुणों का आरोप किया जाया है। लेखक किसी बड़े आदमी के पास जाता है; ऐसे के पास जाता है, जिससे उसके सम्बन्ध अच्छे हों और उससे भूमिका लिखने को कहता है। भूमिका-लेखक अक्सर इसे अपना सौभाग्य मानता है और खूब बढ़ा-चढ़ाकर तारीफ कर देता है। आप एक शीर्षस्थ कवि और एक तुकबन्द की भूमिकाओं में समानता पायेंगे—एक व्यक्ति हिमालय-सी ऊँची और टीले-सी नीची पुस्तकों की एक-सी भूमिका लिखता है।

भूमिका के कुछ बने-बनाये 'रेडीमेड' ढाँचे होते हैं, उन्हें जगह-जगह फिट कर दिया जाता है।

जैसे किसी नौकरी के लिए किसी बड़े आदमी के पास टेस्टीमोनियल (प्रमाण-पत्र) लेने जाते हैं, और वह लिख देता है–'He bears good moral character.' (उसका नैतिक आचरण अच्छा है), वैसे ही भूमिका-लेखक रस्म-अदायगी के लिए कुछ 'यों ही' वाक्य लिख देते हैं। टेस्टीमोनियल देनेवाला माँगनेवाले से ही कभी कह देता है कि तुम्हीं लिख लाओ, दस्तखत मैं कर दूंगा। ऐसे ही कुछ भूमिकाएं भी टाली जाती हैं। इनसे कृति के बारे में आपको कुछ ज्ञान नहीं हो सकता। आप अगर पुस्तकों की भूमिका देखें, तो आपको यह आभास होगा कि हर लेखक सर्वश्रेष्ठ है, हर कृति उत्तम और युगान्तरकारिणी है। सफेद झूठ और काले झूठ के साथ यह भूमिका-झूठ भी होता है।

कोई भी आदमी किसी भी विषय की भूमिका लिख देता है। मनोवैज्ञानिक से आप रसायन-शास्त्र की भूमिका लिखवा सकते हैं। वह मना नहीं करेगा। जबसे नेताओं ने भूमिका लिखने का काम ले लिया है, तबसे भूमिकाओं की और दुर्दशा हो गयी है। राजनायक हर विषय का प्रकाण्ड पण्डित होता है; यह अपने यहाँ मान लिया गया है। इसके सिवा एक लाभ यह भी है कि उससे भूमिका लिखवाने से सरकारें पुस्तकें खरीद लेती हैं। इस प्रकार की भूमिकाएँ बड़ी हास्यास्पद होती हैं।

हमारे यहाँ भूमिका-लेखन ज्यादा सम्मान का काम समझा जाता है—कुछ लोगों का ख्याल है कि वे बिना कुछ सृजन किये, केवल भूमिका-लेखन के द्वारा अपनी साहित्यिक प्रतिष्ठा कायम रख सकेंगे। भूमिका-लेखन के लिए लालायित रहनेवाले भी कितने ही बड़े लोग हैं। हमने तो ऐसा भी सुना है कि कोई ऐसे भी हैं जो इसे धन्धे के रूप में करते हैं। छोटे लेखक से कहा कि मैं तुम्हारी भूमिका लिखूंगा, तो तुम्हारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी, इसलिए पैसा दो। और बड़े से कहेंगे कि अपनी पुस्तक की भूमिका तुमसे लिखवाऊँगा, तो तुम्हारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी, इसलिए मुझे पैसा दो।

एक बार हमसे एक मित्र ने कहा—तुमने 'वेल ऑफ लोनलीनेस' पढ़ा है? जरूर पढ़ लेना; हेवलाक एलिस की भूमिका है। उस दिन लायब्रेरी में शेक्सपियर पर पुस्तकें देखते-देखते नज़र पड़ी 'डेवलपमेण्ट ऑफ शेक्सपीरियन इमेजरी'—एक जर्मन प्रोफेसर की; प्रथम पृष्ठ पर ही छपा था—'Foreward by Dover Wilson।' कहा—अच्छी होगी, डोवर विल्सन की भूमिका है।

क्या हिन्दी की पुस्तकों को इस विश्वास के साथ हम ग्रहण कर सकते हैं ? क्या हम किसी पुस्तक पर हिन्दी के शीर्षस्थ आलोचक की भूमिका देखकर उसे उठा सकते हैं ? और क्या हम धोखा नहीं खावेंगे ? सौ में से नब्बे मामलों में हमें धोखा होगा, क्योंकि हमारा भूमिका-लेखक जिम्मेदारी नहीं समझता। वह यह भी नहीं जानता कि उसकी भूमिका को कोई 'सीरियसली' लेगा।

भूमिका-लेखन के लिए हर समय हर विद्वान तैयार रहता है। अगर वह तारीफ न करे, तो उससे लिखावे कौन ? भूमिका लिखने को बड़ा भारी सम्मान जो वह मानता है ! याद आता है कि बर्नार्ड शॉ ने एक बार सी. ई. एम. जोड़ सरीखे आदमी की पुस्तक की भूमिका लिखने से इन्कार कर दिया था, हालाँकि इसके कारण अद्भुत थे; जैसे यही कि 'फिर तुम्हारी पुस्तक को कोई नहीं पढ़ेगा, मेरी भूमिका ही सब पढ़ेंगे।' हिन्दी में महालेखक भी, पेम्फलेट तक की भूमिका लिख देगा।

आजकल एक प्रवृत्ति और देखने में आ रही है। भूमिका-लेखक पुस्तक की भूमिका लिखते-लिखते दूसरी साहित्य-धाराओं के सम्बन्ध में गैरजिम्मेदारी से मन का क्रोध निकालता है। भूमिका साहित्य-धाराओं के खण्डन-मण्डन के लिए उपयुक्त स्थल नहीं है। उसमें प्रस्तुत पुस्तक और विशेष साहित्य-धारा की विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है, उसकी प्रशंसा भी की जा सकती है, पर अप्रासंगिक रूप से दूसरी विधाओं और धाराओं को निन्दित करने से भूमिका की महत्ता ही कम होती है।

इधर शायद इन्हीं सब कारणों से भूमिका लिखाने की ओर से लोग उदासीन होते जाते हैं। वे समझते हैं कि भूमिका से पुस्तक का कोई मूल्य बढ़नेवाला नहीं है। भूमिका-लेखक का नाम पढ़कर कोई भी पुस्तक को नहीं उठायेगा।

हिन्दी के भूमिका-लेखकों को अपनी जिम्मेदारी समझनी चाहिए। फार्म की खाना-पूरी करके 'केरेक्टर सर्टिफिकेट' प्रदान नहीं करना चाहिए। 'धर्म-संकट' और 'मुँहदेखी' के झमेले में सत्य की ओर से इतने उदासीन नहीं होना चाहिए। भूमिकाओं में आस्था घट रही है। कुछ काल में भूमिका के 4-6 पृष्ठ व्यर्थ के खर्च के सिवा और कुछ नहीं होनेवाले हैं।

भारतीय भाषाओं का रेडियो-कवि-सम्मेलन*

26 जनवरी, गणतन्त्र दिवस को अखिल भारतीय आकाशवाणी केन्द्र, दिल्ली से एक विराट कवि-सम्मेलन होता है, जिसमें संविधान में उल्लिखित चौदह भाषाओं

* वसुधा, वर्ष : 2, अंक : 10, फरवरी 1958

के 'प्रतिनिधि कवि' भाग लेते हैं। इस सन्दर्भ में प्रतिनिधि कवि वह कवि है जिसे रेडियो-अधिकारी उस भाषा का प्रतिनिधि कवि मानते हैं। ये कवि रेडियो से कविता-पाठ करते हैं और भाषाओं की कविताओं का अनुवाद हिन्दी के कवि प्रस्तुत करते हैं। राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री के द्वारा इस आयोजन का उद्घाटन होता है, इसलिए शासकीय और सांस्कृतिक दृष्टियों से इसका आयोजन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इस वर्ष भी यह आयोजन हुआ और हमने सुना भी। हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार और आकाशवाणी के डाइरेक्टर जनरल श्री जगदीशचन्द्र माथुर आई.सी.एस. ने डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद को भारत के 'हृदयपति' निरूपित करते हुए और प्राचीन काल के नरपतियों के दरबारी कवि-सम्मेलनों से इस आयोजन की भिन्नता सप्रयास सिद्ध करते हुए, राष्ट्रपति से उद्घाटन की प्रार्थना की। माथुर साहब ने कुछ सोचकर ही 'केसवदास के भाल लिख्यो विधि रंक को अंक बनाया सँवारो' वाली दरबारी काव्यात्मक भटैंती से इस सम्मेलन की भिन्नता पर जोर दिया होगा। गत वर्ष तो हमें इस आयोजन को सुनते समय ऐसा लग रहा था कि हम मध्ययुग के किसी राजा के दरबार में ही बैठे हैं, क्योंकि हिन्दी के दो प्रसिद्ध कवियों ने प्रधानमन्त्री की प्रशस्ति में ही कविताएँ पढ़ी थीं।

भारत के 'हृदयपति' राष्ट्रपति के उद्घाटन के बाद जो कविताएँ पढ़ी गयीं, उन्हें सुनकर ज़रा भी समझदार आदमी को ऊब और क्षोभ का अनुभव हुआ होगा। पढ़नेवाले कवि सब प्रतिष्ठित थे, बीसों वर्षों की कलम-मँजाई या घिसाई का जिन्हें अभ्यास था। रेडियो ने बड़ी सावधानी से 40 वर्ष के इस पारवाले किसी कवि को काव्यपाठ तो क्या, अनुवाद करने के लिए भी नहीं फटकने दिया था। पर इन वयोवृद्ध, अभ्यास-सिद्ध कवियों की कविताओं में अधिकांश नितान्त पोची, निस्तेज, भावहीन, सारहीन और ओजहीन थीं, जबकि विषय सबका ही एक था—'राष्ट्रीयता।' उड़िया, पंजाबी की कविताएँ सामान्यतया ठीक थीं, मलयालम की कविता अच्छी थी पर 'दिनकर' के अनुवाद, स्वर और पाठ ने उसे और उठा दिया था। पन्तजी की कविता—'यह धरती कितना देती है' बहुत अच्छी थी। इनके अतिरिक्त शेष कविताएँ एक-सी थीं। नेपाली की वम्बइया फिल्मी धुन के बावजूद, मुकुल के स्वर-लालित्य के बावजूद, बच्चन की भूमिका के बावजूद किसी भी कविता ने प्रभावित नहीं किया। आखिर इसका क्या कारण है? इन कवियों ने अच्छी कविताएँ भी लिखी हैं, उनमें क्षमता भी है, पर इस अवसर पर भावहीन शब्द-जाल रचने का क्या कारण है?

26 जनवरी गणतन्त्र-दिवस है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इस विराट कवि-सम्मेलन के आयोजनकर्ता रेडियोवाले कवियों को हुक्म भेजते हों कि राष्ट्रीयता पर कविताएँ रचकर पढ़ो और कविगण 'आर्डर' के मुताबिक माल बना लाते हों? या इस पर्व पर आयोजन होने के कारण, बिना 'रेडियो' के स्पष्ट कहे ही कवियों के अन्तर्मन में यह बन्धन रहता हो कि कविता राष्ट्रीयता पर ही होना चाहिए। अन्यथा

इस एकरसता का कारण क्या हो सकता है ? इन कवियों के प्रति अनादर प्रगट नहीं कर रहे हैं, पर कविताएँ सुनते समय हमें यह लगा कि इनमें सच्चे संवेदन का अभाव है। कवि ने राष्ट्रीयता की भावना की सच्ची अनुभूति के बिना ही ये रचनाएँ रेडियो के लिए लिख दी हैं—और इस प्रकार एक रस्म अदा कर दी है। 'गंगो-जमन,' हिमालय, पंचनद, वेद-पुराण, राम और कृष्ण के नामोल्लेख से राष्ट्रीयता की भावना अब जाग्रत नहीं होती। स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्र में जो सांस्कृतिक जन-जागरण आ रहा है; देश का जो नव-निर्माण हो रहा है, उसे आत्मसात करके, उससे स्फूर्त होकर भारतीय जनता की निर्मात्री शक्ति और चेतना को अभिव्यक्ति देना राष्ट्रीय भावना है, अब। शासन में, समाज के एक वर्ग में, जो भ्रष्टाचार, अनाचार शोषण और बेईमानी व्याप्त है, उसके विरुद्ध जनता का संघर्ष भी राष्ट्रीय भावना है। गरीबी, भुखमरी और पतनशील प्रवृत्तियों से जो हम लोहा ले रहे हैं, वह भी राष्ट्रीय भावना है। विश्व की शोषित मानवता के पक्ष में जो हमारी आवाज उठती है, वह भी राष्ट्रीयता है। रेल, पुल, नहर, बिजली, कारखाने, कृषि और उद्योग के द्वारा देश को समृद्ध बनाने का संकल्प भी राष्ट्रीय भावना है। इस भावना को शब्द देना कवि का कर्म है। लेकिन ऐसा करने के लिए पहिले कवि को अपने आप में इस सत्य को अनुभूत करना होगा। स्वयं प्रेरणा ग्रहण करनी होगी। इलाहाबाद के विगत मास हुए साहित्यकार-सम्मेलन में यह मत व्यक्त किया गया था कि साहित्यकार को भी राष्ट्र-निर्माण में पूर्ण योगदान करना है। इन्जीनियर पुल का निर्माण करता है; कवि को जनता की चेतना का निर्माण करना चाहिए। कोई इन्जीनियर रद्दी माल लगाकर गैर-जिम्मेदारी से कच्चे पुल का निर्माण करे, तो वह जिस अपराध का भागी होगा, उसी अपराध का भागी वह कवि भी होगा, जो राष्ट्रीयता की सच्ची भावना की अनुभूति के बिना रस्म-अदाई के लिए ओजहीन राष्ट्रीय काव्य रचेगा।

हिन्दी-पत्रिकाएँ*

'वसुधा' इस अंक के साथ तृतीय वर्ष में प्रवेश कर रही है। पिछला अंक मार्च-अप्रैल का संयुक्तांक था। संयुक्तांक बन्द होने के पहिले का अंक माना जाता है। एक-दो संयुक्तांक और फिर अन्तिम अंक; हिन्दी-पत्रिकाओं की यही गति है; दुर्गति ही है। उन पत्रों की बात अलग है, जिन्हें रईस निकालते हैं। यह उनका शौक है। जैसे

* वसुधा, वर्ष : 3, अंक : 1, मई 1958

पटियाला-नरेश पहलवान पालते थे, वैसे ही रईस पत्र-पत्रिका पालते हैं। इनसे अवश्य ही हिन्दी की और देश की सेवा होती है, जैसे पटियाला-नरेश के पहलवानों के कारण भारत के टोटल बल में एकाध यूनिट की वृद्धि होती थी।

आज घाटा सहे बिना कोई हिन्दी-पत्रिका नहीं चल सकती—कहानी की और फिल्मी पत्रिकाएँ अपवाद हैं। साधनहीन हम-जैसे अनेक लोग हैं, जो खून-पसीने से पत्रिकाएँ निकालते हैं। कुछ समय निकलती हैं और फिर ठप्प हो जाती हैं। हमारे देखते-देखते 'कलयुग' जन्मा और समाप्त भी हो गया। बनारस से मात्र दो आने में निकलता है, 'कवि'—दुबला-पतला, झिलमिल कागज पर सादा पेम्फलेट-जैसा, मगर हिन्दी कविता की बड़ी सेवा कर रहा है। अगर उसके पास साधन होते, तो और कितना अच्छा निकलता।

घोर संकट के बीच हम भी दो साल 'वसुधा' निकाल ले गये। कुछ लोग हैं, जो दम बांधे रहे। अप्रैल में बन्द होने की स्थिति आ ही गयी थी। हमने यहाँ और अन्यत्र बिखरे हुए मित्रों को 'गंगाजल' मुँह में डालने की सूचना दी, पर उनमें से अनेक ने इसके बदले 'मृत्युंजय' की पुड़िया दी। उनके इस उत्साह से हम लोग भी, जो यहाँ दफ्तर में बैठकर पत्रिका निकालते हैं, उत्साहित हुए और यह अंक प्रेस में गया।

कहानी और फिल्म की पत्रिकाओं के सिवा लगभग सब मासिक पत्रिकाएँ घाटे में चलती हैं। हमें कुछ वैसा घाटा नहीं हुआ, क्योंकि घाटा उसे होता है जिसके पास कुछ होता है। हमें क्या घाटा! साथियों के खून-पसीने से, मेहनत से और सामर्थ्य के अनुसार जब-तब थोड़े-बहुत खर्च से ही निकलती रही है। जिन लोगों ने ग्राहक बनाकर और बनकर, आर्थिक सहायता देकर, विज्ञापन द्वारा 'वसुधा' की सहायता की है उनका हम पुनः आभार मानते हैं। जिन लेखक मित्रों ने रचनाएँ देकर सहायता की है उनके भी हम बहुत आभारी हैं।

हिन्दीवाले अब बड़े अभिमानी हो गये हैं। उनके अभिमान को चोट लगेगी यदि कह दिया जाय कि इस विशाल हिन्दी-भाषी क्षेत्र में रहनेवाले लोग पत्र-पत्रिका खरीदकर नहीं पढ़ते। बिना खरीदे भी बहुत कम पढ़ते हैं। क्यों पढ़ें? उनकी भाषा तो राजभाषा है। खरीदकर पढ़ने की आदत रुचि और संस्कार से सम्बन्ध रखती है। यह तर्क कि कैसे खरीदें, बेचारे गरीब हैं, बिल्कुल मिथ्या है। अन्य भाषावाले मध्यवर्गीय व्यक्ति महीने में एक-दो पत्रिकाएँ खरीदकर पढ़ते हैं, यह हमने स्वयं देखा है पर हिन्दी-भाषी प्रथम वर्ग का व्यक्ति भी बहुत कम खरीदकर पढ़ता है। इनके बजट में मनोरंजन और फिजूलखर्ची का भी स्थान न हो ऐसी बात नहीं। रुपयेवाली फिल्मी पत्रिका तो मजे में खरीदते पाये जाते हैं। यह ठीक है कि मनोरंजन होता है, पर क्या मनुष्य को मनोरंजन के आगे कुछ और अपेक्षित नहीं है?

पर यह बड़ा पुराना रोना है। हमसे पहिले भी बहुत 'लोग' रो चुके हैं, हमसे बादवाले चाहे न रोयें।

'वसुधा' बन्द कर देते पर हमें जहाँ-तहाँ से जो मत और पत्र मिलते रहे हैं

उनसे इस विश्वास को बल मिलता है कि 'वसुधा' का प्रकाशन चालू रखें। बन्द होने की खबर फैलने पर हमें अनेक मित्रों ने जो लिखा उससे और आस्था दृढ़ हुई कि इसका प्रकाशन लाभकारी है। इन्हीं विश्वासों के बल पर हम तीसरे वर्ष में कदम रख रहे हैं।

हमारी सब पाठकों और लेखकों से प्रार्थना है कि वे ग्राहक बनकर-बनवाकर, विज्ञापन देकर-दिलवाकर तथा अन्य प्रकार से आर्थिक सहायता सुलभ करके-करवा-कर, 'वसुधा' के प्रकाशन में योग दें।

हिन्दी-विरोध*

हिन्दी के विरोध में पंजाब, दक्षिण और बंगाल के कुछ नेताओं ने जो पिछले दिनों प्रचार किया है, उसके सम्बन्ध में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं ने तथा समर्थकों ने बहुत कुछ कह-सुन लिया है। पिछले किसी अंक में जब हमने इस समस्या पर विस्तार से प्रकाश डाला था तब सहयोगी 'कल्पना' ने लिखा था कि हम भी भाषा की समस्या को अन्ततः विधान की समस्या ही मानते हैं। हमारे लेख से अजाने ही यह ध्वनित हो गया हो, यह हो सकता है। हमारा प्रयोजन यह नहीं था। विधानसभा ने चूंकि बहुमत से स्वीकार कर लिया और निर्णय विधान में अंकित कर लिया गया है इसी कारण, केवल विधान की रक्षा के लिए, हिन्दी की स्थिति का निर्वाह हो, यह हमारा तर्क नहीं है और न यह तथ्य हिन्दी का एकमात्र समर्थक ही है। विधान में केवल हिन्दी के अधिकार को, उसकी सुलभता और संघ में उसकी सर्वोपरि उपयोगिता को स्वीकृत किया है। हिन्दी के समर्थन में कई बार लिखी और कही जा चुकी बातों को दुबारा कहने से कोई लाभ नहीं।

हिन्दी के समर्थकों का पहिला कर्त्तव्य तो यह है कि हिन्दी-भाषी प्रान्तों की सरकारों से कहें कि अविलम्ब अपने राज्यों में हिन्दी का व्यवहार आरम्भ करें। इन प्रान्तों में हिन्दी का व्यवहार शासन के कार्यों में तथा उच्चशिक्षा में पूर्णतः हुए बिना अहिन्दी-भाषियों से हिन्दी के उपयोग के लिए कहना वेमानी लगता है। इन राज्यों की सरकारें पहिले अपने यहाँ अंग्रेजी की जगह हिन्दी को प्रतिष्ठित करके बतलावें। कुछ सरकारों ने यह आरम्भ कर दिया है और कुछ पानी में कूदने के पहिले तैरना सीख लेने की फिकर में हैं। उपयोग करने से ही धीरे-धीरे भाषा का विकास होगा, यह इन राज्यों को समझना चाहिए।

* उपरोक्त अंक में प्रकाशित दूसरा सम्पादकीय।

इधर अन्य भारतीय भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद खूब हुआ है। यह परस्पर सहयोग-सद्भावना के लिए तथा हिन्दी की समृद्धि और दिशा-निर्देश के लिए बहुत अच्छा है। पर इस अति उत्साह से एक गलतफहमी फैल रही है। अहिन्दी-भाषी कुछ यों समझने लगे कि हिन्दी काफी रंक है, इसलिए हमारे लेखकों के अनुवाद से उसकी कमी पूरी की जा रही है। यह धारणा काफी पढ़े-लिखे लोगों में भी बनती जा रही है। सामान्य सुशिक्षित साहित्यिक बंगाली सज्जन से शरच्चन्द्र और ताराशंकर की बात हम करते हैं तो वह प्रेमचन्द और यशपाल की बात नहीं करता, क्योंकि बंगला में एक तो काफी अनुवाद नहीं हुए और न काफी इनका प्रचार हुआ। हिन्दी के मूर्धन्य लेखक का उससे कुछ परिचय नहीं, वह बात नहीं कर सकता। इस पर वह तनिक भी लज्जित नहीं होता बल्कि गर्व का अनुभव करता है कि उसकी भाषा ने हिन्दी को इतना दिया और उसके लेखक हिन्दी में इतने पढ़े जाते हैं। यह भ्रम तुरन्त निवारणीय है। अन्य भाषाओं और हिन्दी में परस्पर आदान-प्रदान की प्रक्रिया में सन्तुलन होना चाहिए। हिन्दी से काफी संख्या में अन्य भाषाओं में अनुवाद नहीं हो रहे हैं, यह बात हिन्दी की स्थिति के विषय में हीन भावना ही को जन्म दे रही है। आज जब बिना हिन्दी पढ़े हुए अनेक लोग हिन्दी के विरुद्ध अधिकारपूर्वक बोल रहे हैं तब हमारी अकादमियाँ और राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति-जैसी संस्थाओं का यह विशेष कर्तव्य है कि अच्छी हिन्दी पुस्तकों का अन्य भाषाओं में अनुवाद करावें।

नेहरूजी का वक्तव्य और उर्दू*

कुल्लू जाने से पहिले पण्डित नेहरू ने कांग्रेस कमेटी के सामने एक भाषण दिया जिसमें केन्द्रीय और राज्य-शासन के प्रति विभिन्न मुद्दों पर अपना असन्तोष व्यक्त किया। घबड़ाये हुए कांग्रेसजनों ने इस भाषण के अक्षर-अक्षर को असाधारण चिन्ता के साथ सुना और पढ़ा और इसे अपने ऊपर अभियोग-पत्र मानकर पण्डितजी की उन बातों पर विचार करने में सन्तुलन ही खो दिया। इस भाषण में पण्डितजी ने उर्दू के प्रति अन्याय की जो लम्बी शिकायत की उसका गलत अर्थ लेकर एक तूफान खड़ा हो गया। पण्डितजी ने उर्दू के महत्त्व को प्रतिपादित किया, उसकी अवहेलना पर क्षोभ प्रकट किया और उसे 'रीजनल स्टेट्स' देने की सिफारिश की। इसका सम्बन्ध अधिक उत्तरप्रदेश से है। बहुत पहिले उत्तरप्रदेश में उर्दू को राज्य की शासकीय भाषा

* वसुधा, वर्ष : 3, अंक : 2, जून 1958

बनाने के लिए जोरदार माँग पेश की गयी थी, जिसे साम्यवादी दल का समर्थन भी प्राप्त था। अब पण्डितजी के भाषण के बाद उर्दू के सम्बन्ध में पक्ष-विपक्ष फिर से बन गये और संघर्ष तीव्र हो गया। उर्दू-समर्थक दल ने उक्त भाषण के शब्दों से वह अर्थ निकाला जो उनमें नहीं था। 'रीजनल स्टेटस' देने का अर्थ यह नहीं होता कि उसे राज्य के शासन की भाषा बनाया जाय। पण्डितजी का यह प्रयोजन कदापि नहीं रहा होगा। उनका कहना सम्भवतः यह था कि उत्तरप्रदेश में उर्दू का प्रचलन अधिक है, अतएव उसके प्रचार-प्रसार और साहित्य-रचना के लिए अधिक सुविधा देना चाहिए। पर उर्दू-समर्थकों ने इसका यह अर्थ निकाल लिया कि उत्तरप्रदेश में शासकीय कार्यों में हिन्दी के स्थान पर उर्दू को एकदम प्रतिष्ठित कर देना चाहिए। बस, एक आन्दोलन खड़ा हो गया। पंजाब से मास्टर तारासिंह उर्दू-सम्मेलन में आये और उर्दू-आन्दोलन का नेतृत्व करने लगे। मास्टर तारासिंह ने अभी पंजाब में हिन्दी के खिलाफ गुरुमुखी के आन्दोलन में भाग लिया था और अब उत्तरप्रदेश में हिन्दी के खिलाफ उर्दू के आन्दोलन का नेतृत्व करने आ गये। इस बीच उर्दू की संस्थाओं द्वारा मन्त्रिमण्डल के पास माँग पेश की गयी और भाषागत विवाद का प्रश्न फिर गरमा उठा। हिन्दी-समर्थक मुख्यमन्त्री सम्पूर्णानन्द ने इस विवाद को फिर से उठाये जाने और उर्दू पर अनावश्यक बल देने के कारण इस प्रश्न पर त्याग-पत्र देने का इरादा प्रकट कर दिया था। मन्त्री चरणसिंह ने मौलाना आज़ाद का वह पत्र बताया जिसमें स्व. मौलाना ने लिखा था कि उर्दू क्षेत्रीय शासन की भाषा नहीं हो सकती।

उत्तरप्रदेश में भाषागत विवाद समाप्त हो गया था, उसे पण्डितजी के इस उत्साहातिरेकपूर्ण वक्तव्य ने फिर जीवित कर दिया है। उर्दू के महत्त्व को कोई अस्वीकृत नहीं करता। उर्दू हिन्दी से मिलकर भाषा में एक विशेष रवानी, बाँकपन, ओज और ग्रेस लायी है। लिपि के अतिरिक्त आम उर्दू जबान और सरल हिन्दी में कोई विशेष फर्क नहीं रह गया। असल में यह संघर्ष दो सीमान्तों पर स्थित नेताओं के बीच में है—वाराणसी और काशी की लड़ाई है। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने बनारस का अति प्राचीन नाम वाराणसी पसन्द किया था, जबकि पण्डित नेहरू का सुझाव था कि अधिक प्रचलित और अपेक्षाकृत नवीन नाम काशी ठीक होगा। इस विषय पर कुछ वाद-विवाद भी हुआ था। कठिन संस्कृतनिष्ठ अप्रचलित शब्दों से बोझिल हिन्दी से पण्डित नेहरू का विरोध है। उधर प्रदेश शासन के अन्तर्गत ऐसी भाषा के पनपने की प्रतिक्रिया ही पण्डितजी के उस वक्तव्य में प्रकट हुई है। उस वक्तव्य का यह अर्थ लगाना कि उर्दू को उत्तरप्रदेश की शासकीय भाषा बना दिया जाय, गलत है। उत्तरप्रदेश की ही क्यों, भारत की प्रमुख भाषा के रूप में उर्दू को विकास की सब सुविधाएँ मिलनी चाहिए। लेकिन किसी प्रदेश में उर्दू राजभाषा हो जाय, यह न तो व्यावहारिक है और न उचित। लेकिन पण्डित नेहरू के वक्तव्य की चिनगारी से आग सुलग गयी। उसमें हाथ सेंकने के लिए मास्टर तारासिंह आदि नेता तैयार हो ही गये और विघटन की शक्तियों को एक और सूराख मिल गया।

सरकारी पुरस्कार*

पिछले दिनों उत्तरप्रदेश सरकार ने हिन्दी पुस्तकों पर इनाम बाँटे। हाल ही में मध्यप्रदेश की शासन साहित्य परिषद ने लेखकों से पुस्तकें और पाण्डुलिपियाँ पुरस्कार देने के लिए विचारार्थ माँगी हैं। हर साल जब इनाम बँटते हैं, तो पत्रों में पुरस्कार-वितरण की पद्धति और पुरस्कार-प्राप्त पुस्तकों और लेखकों की आलोचनाएँ होती हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि सब इनाम घटिया रचनाओं पर मिल जाते हैं। हाँ, यह निश्चित है कि कई उच्चकोटि के ग्रन्थों की अवहेलना हो जाती है।

सबसे पहिले तो यह देखना चाहिए कि विचारार्थ पुस्तकें मँगाने की यह पद्धति ठीक है या नहीं। इसके लिए सरकारों को स्थिर मत होना पड़ेगा कि पुरस्कार उच्च-कोटि के सृजन पर देना है या जो 6 प्रतियाँ भेज सकें उनमें से कुछ को देना है। ऐसे रचनाकार भी तो होंगे जो उच्चकोटि का साहित्य-सृजन करते हैं, पर अपनी पुस्तक को 'इम्तहान' के लिए सरकार के पास नहीं भेजते।

विगत वर्षों में प्रकाशित ग्रन्थों को देखा जाय, तो कई कृतियाँ ऐसी मिलेंगी, जिन्हें पुरस्कृत होना चाहिए था, पर राज्य-सरकारों के पास उनकी 6 प्रतियाँ आयी नहीं और साथ में लेखक की शपथ नहीं आयी कि यह मेरी ही लिखी हुई है। इस प्रकार की प्रथा को निबाहने की और पुस्तकें पेश करने की जिनकी इच्छा नहीं है, ऐसे भी लेखक हैं। सरकारों की दृष्टि में क्या ये पुस्तकें नहीं आनी चाहिए। साहित्य-रचना को प्रोत्साहन देने का कार्य जिला-कचहरी के कार्य से कुछ तो भिन्न होगा—जिला-कचहरी में ऐसा चल सकता है कि जिसकी दरखास्त आये उसके केस पर ही विचार होगा। क्या राज्य सरकारें प्रकाशकों के सहयोग से ऐसी एजेन्सी नहीं कायम कर सकतीं जिससे समस्त प्रकाशित साहित्य सरकार की नजरों में आ सके और लेखकों को परीक्षा-कार्थियों की तरह पुस्तकें पेश न करनी पड़ें।

इनामों में जो धाँधलियाँ होती हैं, उनकी चर्चा जहाँ-तहाँ होती ही है। हम तो सरकार द्वारा प्रकाशित विषयों की विज्ञप्ति देखकर बता सकते हैं कि किस विषय को किस पुस्तक पर इनाम देने की गुंजाइश निकालने के लिए समाविष्ट किया गया है। इनाम देने के लिए पहिले बड़े नाम छाँट लिये जाते हैं। फिर बड़े अन्य, जिनकी मोटाई काफी हो और जिनकी छपाई, गेट-अप अच्छे हों। नयनाभिराम कवर को भी एकदम इनाम मिलता है। फिर उनका नम्बर आता है, जिन्होंने पुरस्कारार्थ प्रचार काफी कर लिया है। उत्तरप्रदेश की पुरस्कार की लिस्ट देखने से ये तीनों कोटि के ग्रन्थ पकड़ में आ जावेंगे। बचे हुए ग्रन्थ अपने 'मेरिट' पर पुरस्कृत हुए माने जावें।

* उपरोक्त अंक में प्रकाशित दूसरा सम्पादकीय।

भाग्य को अन्धा माना गया है। पुरस्कार-वितरण में भी अन्धापन काफी देखने में आता है—'जैसे उर्दू पुस्तक पर हिन्दी का इनाम।'

पाण्डुलिपियों पर इनाम देने में बड़ा सुभीता होता है। अप्रसूत पुत्र का बीमा कराने की तरह है—यह। वैसे यह बहुत उचित है कि जिस अच्छे सृजन का प्रकाशन होने की सुविधा नहीं हो पायी, उसे पुरस्कृत किया गया। पर इसमें सुभीता यह भी तो है कि गुप्तदान की तरह इसमें किसी को कुछ ज्ञान नहीं होता। चाहे जिसे आप इनाम दे दीजिए, कोई कुछ कह नहीं सकता, क्योंकि पुस्तकें छपी तो हैं नहीं। पिछली बार, 2-3 वर्ष पूर्व, जिन कविता-पुस्तकों की पाण्डुलिपियों पर मध्यप्रदेश सरकार ने इनाम दे दिया था, वे तो अभी तक छपी नहीं दिखीं।

दुराग्रह*

उत्तरप्रदेश विधानसभा में राज्यपाल के भाषण की भाषा पर जो विवाद हुआ, उसने सोचने के लिए बाध्य किया। राज्यपाल श्री गिरि अपना भाषण अंग्रेजी में देनेवाले थे। उन्होंने असमर्थता जाहिर की कि वे हिन्दी में कुशलता से अपने विचार प्रगट नहीं कर सकते, अतएव उन्हें अंग्रेजी में बोलना पड़ रहा है।

इस पर विधानसभा में समाजवादी दल के नेता ने माँग की कि राज्यपाल को भारत की विधान-मान्य राजभाषा हिन्दी में ही भाषण करना चाहिए। राज्यपाल ने जब इस माँग को स्वीकार नहीं किया, तब श्री राजनारायण ने तथा उनके दल के अन्य सदस्यों ने व कुछ और सदस्यों ने राज्यपाल के भाषण के समय सभा-भवन त्याग दिया। इसके पहिले गरमा-गरम बहस हो चुकी थी।

इस विवाद में कांग्रेस दल की, और विशेषकर हिन्दी के बड़े हिमायती डॉ. सम्पूर्णानन्द की, बड़ी मनोरंजक स्थिति हो गयी। विरोधी दल द्वारा यह प्रश्न उठाये जाने के कारण और विवाद का विषय गवर्नर का भाषण होने के कारण कांग्रेस दल को मजबूरन अंग्रेजी भाषा में राज्यपाल के भाषण का समर्थन करना पड़ा।

इस विवाद में कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें समझ लेना चाहिए। प्रश्न तो यह कि क्या राज्यपाल गिरि इतने वर्षों में भाषण पढ़ सकने लायक हिन्दी नहीं सीख सकते थे? और हिन्दी जिनकी शासन की भाषा हो, उस राज्य के सर्वोच्च वैधानिक पद पर आसीन होकर क्या यह उचित है कि वे दूसरी भाषा में ही भाषण करें? गिरि

* वसुधा, वर्ष : 3, अंक : 4-5, अगस्त-सितम्बर 1958

ी भाषागत कमजोरी तो वे और उनके निकटस्थ लोग जानें, हमें इसमें कहीं हिन्दी ा सीखने का थोड़ा हठ जरूर दिखता है।

लेकिन राजनारायण का विरोध जिस प्रकार व्यक्त हुआ, उससे हिन्दी का अहित ही अधिक होगा। हिन्दी की समस्या को (किसी भी भाषा या साहित्य-संस्कृति की समस्या को) राजनैतिक तरीके से हमेशा नहीं सुलझाया जा सकता। समाजवादी दल के कार्यक्रम में हिन्दी का प्रचार प्रमुखता रखता है और यह बड़ी प्रशंसनीय बात है कि जब कांग्रेस भाषा के मामले में बहुत अस्थिर नीति लिये है; प्रजासमाजवादी दल की कोई नीति ही नहीं है और साम्यवादी दल कभी 'अल्पसंख्यकों की भाषा' का नारा लगाकर समस्या को उलझाता है, तब समाजवादी दल ने स्पष्ट रूप से हिन्दी-प्रचार का प्रोग्राम बनाया; प्रसार की कोशिश भी की और आन्दोलन भी चलाया।

परन्तु गवर्नर के भाषण की भाषा का जैसा विरोध राजनारायण ने किया, वह राजनैतिक दुराग्रह और हठधर्मी अधिक है, हिन्दी का समर्थन कम। विरोधी-दल को सत्ताधारी दल के कार्यों में हमेशा उन मुद्दों की खुर्दबीनी तलाश रहती है जिन पर विरोध किया जा सके। कई बार—इस शाश्वत विरोध की भावना के कारण—जनहित के कार्यों में भी मतभेद हो जाता है। लगता है, हिन्दी के इस समर्थन के पीछे दलगत विरोध की भावना अधिक थी। राजनारायण और उनके दल के सदुद्देश्य पर हम शक नहीं करते, पर राज्यपाल के भाषण के इस प्रकार के बायकाट से हिन्दी-समर्थकों पर दुराग्रह और असहनशीलता का आरोप और पुष्ट होता है। राज्यपाल का भाषण एक वैधानिक महत्त्व रखता है; फिर राज्यपाल दक्षिण भारतीय हैं। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के विरोध ने अहिन्दी भाषियों के हाथ में एक और प्रबल तर्क दे दिया जिसका उपयोग हिन्दी के विरुद्ध होगा। मजे की बात है कि 'हिन्दीवालों' के व्यवहार-बर्ताव के कारण बेचारी हिन्दी की हानि होती है।

बेपढ़ी समीक्षा*

हिन्दी में आलोचना की दुर्गति के सम्बन्ध में तीसरा लेख इसी अंक में जा रहा है। समसामयिक साहित्य पर लिखनेवाले से यह अपेक्षा होती है कि वह अपने समय के प्रकाशित साहित्य से परिचित हो और धारणाएँ तथा वर्गीकरण में कच्चापन और जल्दबाजी न बरते। हिन्दी का समीक्षक इस झंझट से बरी है। हमारे सामने एक

* उपरोक्त अंक में प्रकाशित दूसरा सम्पादकीय।

पुस्तक है—'हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास।' लेखक हैं—रामबहोरी शुक्ल और भगीरथ मिश्र। दोनों साहित्य के पण्डित और माने हुए विद्वान हैं। इस पुस्तक में आधुनिक लेखकों का जो वर्गीकरण किया गया है और कुछ प्रमुख स्कूल कायम करके कुछ लेखकों को 'भरती' किया गया है, वह मनोरंजक है। पढ़िए--

प्रसाद स्कूल--प्रसाद स्कूल के प्रमुख लेखक हैं—राजा राधिकारमणसिंह, रायकृष्ण दास, चण्डीप्रसाद हृदयेश, विनोदशंकर व्यास, सियारामशरण गुप्त, उग्र, सुमित्रानन्दन पन्त, मोहनलाल महतो वियोगी, वाचस्पति आदि।

प्रेमचन्द स्कूल—प्रेमचन्द स्कूल के प्रमुख लेखक हैं—सुदर्शन, कौशिक, चतुरसेन, ज्वालादत्त शर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, गंगाप्रसाद मिश्र।

जैनेन्द्र स्कूल--जैनेन्द्र स्कूल के प्रमुख लेखक हैं--इलाचन्द्र जोशी, अंचल, रांगेय राघव, पहाड़ी, लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी, व्रजेन्द्रनाथ गौड़ आदि।

अज्ञेय स्कूल—अज्ञेय स्कूल के प्रमुख लेखक हैं--कमलाकान्त वर्मा, प्रभाकर माचवे, माखनलाल चतुर्वेदी, धर्मवीर भारती आदि।

यशपाल स्कूल—यशपाल स्कूल के प्रमुख लेखक हैं—उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जानकीवल्लभ शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतराय आदि।

अत्यन्त कौतुकमय वर्गीकरण है यह। अज्ञेय स्कूल में माखनलाल चतुर्वेदी हैं, जबकि जब अज्ञेय का 'स्कूल' खुल रहा था, तब माखनलाल का 'कालेज' चल रहा था। क्या माखनलाल अपना 'कालेज' बन्द करके अज्ञेय के 'स्कूल' में दाखिल हो गये?

अभी हाल ही में महाकोशल के साहित्य और साहित्यकारों पर एक लेख छपा है। विशेषकर महाकोशल के लोग तथा साहित्यिक इस लेख को पढ़कर जानेंगे और फिर चकित होंगे कि यहाँ नर्मदाप्रसाद खरे के बाद कवि-लेखक पैदा ही नहीं हुए। सूचीपत्रों में हमारा विश्वास नहीं है फिर भी दस-पन्द्रह नाम हम गिना सकते हैं।

ऊपर जिस पुस्तक का उल्लेख किया गया है, उसके लेखकों ने 'रत्नाकर' के बाद पढ़ना छोड़ दिया और लेख के लेखक ने नर्मदाप्रसाद खरे के बाद।

पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहीं लिखा है कि हिन्दी में जो पढ़ता है, वह आलोचना नहीं लिखता और जो आलोचना लिखता है, वह पढ़ता नहीं है। हमारा खयाल है कि हिन्दी का सब काम बड़ा वैज्ञानिक है। 'डिवीज़न आफ लेबर' हो गया है।

साहित्य सम्बन्धी चर्चा। सैद्धान्तिक विचार-विमर्श। साहित्यिक प्रश्नों और विवादों पर अभिमत। संगठन के अधिवेशनों में दिये गये भाषण। संगठन की समस्याओं पर सदस्यों को सीधा सम्बोधन। गश्तीपत्र। अन्य भाषण।

—सम्पादक-मण्डल

'वसुधा' में साहित्य-सम्बन्धी चर्चा तथा भाषण आदि

साहित्यकार का साहस

पं. सुन्दरलाल ने 'विशाल भारत' के प्रथम अंक (जनवरी, सन् 1928) में लिखा था—

"लोकमान्य के कारावास के विरोध में एक सभा की गयी थी। मुख्य वक्ता था इन पंक्तियों का लेखक और सभापति थे पण्डित बालकृष्ण भट्ट। श्रोताओं की संख्या लगभग सौ के रही होगी, जिसमें आधे स्कूलों व मुहल्ले के लड़के थे और आधे में थोड़े-से हिम्मतवाले बड़ी उम्र के लोग, और शेष पुलिसवाले। वक्ता ने लोकमान्य की जीवनी पर व्याख्यान दिया और अन्त में उनके कारावास पर दुख प्रकट करते हुए अपना स्थान लिया। भट्टजी उठे। वह सदा अपनी सामान्य भाषा में ही बोला करते थे। अत्यन्त सरल स्वभाव, किन्तु भरे हुए हृदय से पूर्व वक्ता की बात को एक प्रकार काटते हुए भट्टजी कहने लगे —

'का तिलक-तिलक करत हौ? अपने देश के लिए गये हैं। फिर आय जइहैं। हमको दुख उन लोगन का है जो फिर कभी हमसे आयकर न मिलिहैं, जो बिन खिले ही मुर्झाय गये। हमको दुख खुदीराम बोस का है…'

लेखक खुदीराम बोस का नाम सुनते ही कुछ डरा। उसने पीछे से बूढ़े भट्टजी को सावधान करने के लिए हल्के से उनका पल्ला खींचा। भट्टजी तुरन्त पीछे को लौट पड़े और चिल्लाकर बोले, 'हमरा पल्ला काहे खींचत हौ? सच तो कहित हैं।' फिर श्रोताओं की ओर मुंह करके कहने लगे, 'हमरा पल्ला खींचत हैं? हमसे कहत हैं, न कहो? कही काहे न? हिये में तो लगी आग; कही काहे न?'

भट्टजी के भाषण की रिपोर्ट अधिकारियों तक पहुँची। शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर ने उन्हें आगाह करने के लिए बुला भेजा। अभी डाइरेक्टर के कमरे में कुर्सी पर बैठे कुछ मिनट ही हुए थे और डाइरेक्टर साहब ने असली विषय की ओर रुख ही किया था कि भट्टजी फौरन 'राम-राम, राम-राम! हमका अस नौकरी न चाही!' कहते हुए उठ खड़े हुए और बिना इजाजत चिक उठाकर बाहर निकल आये। फिर डाइरेक्टर साहब की ओर रुख न किया। इस स्पष्ट वक्तृत्व के मूल्य में भट्टजी को कायस्थ पाठशाला की प्रोफेसरी से हाथ धो डालने पड़े। उनके जीवन के अन्तिम छह वर्ष बड़े ही जबरदस्त आर्थिक कष्ट के साथ बीते…"

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : तीन, जुलाई 1956

स्व. पं. बालकृष्ण भट्ट की सत्यनिष्ठा, दिलेरी, आत्माभिमान और देशभक्ति की एक झलक इस घटना से मिलती है।

पुरातन काल से कलाकार को राजसिंहासन के आसपास परिक्रमा करने के लिए बाध्य करने का प्रयास किया गया है, उसके कण्ठ को राजभय से अवरुद्ध करने की कोशिश की गयी है, उसके मुँह में लोभ के ताले जड़ना चाहा है!

अनेक कलाकारों ने असत्य से समझौता किया है, अन्याय का समर्थन किया है।

फिर अनेक कलाकार ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने सत्य के लिए जीवन की आहुति दे दी, जो टूट गये, पर झुके नहीं। अकबर ने जब गोस्वामीजी को मनसबदारी 'आफ़र' की, तो सन्तकवि ने उत्तर दिया—

हम चाकर रघुवीर के, पटौ लिखौ दरबार।
अब 'तुलसी' का होंहिगे, नर के मनसबदार॥

अंग्रेज काल में भारत में देशभक्ति की बात करना राजद्रोह था। उस समय हिन्दी के कितने ऐसे कवि थे, जिन्होंने क्रान्ति का आह्वान किया? कितने स्वातन्त्र्य का उद्घोष कर जेल गये? बहुत थोड़े।

इस युग में जब सारे देश में इतना बड़ा तूफान आया था; जब चालीस कोटि नर-नारी स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के लिए कसमसा रहे थे; जब इतनी बड़ी क्रान्ति हो रही थी—तब कितने ही बड़े कवि गढ़वाल की शोभा देख रहे थे, पत्तों पर किरण का नर्तन देख रहे थे, रजनीगन्धा की सुगन्ध ले रहे थे; मेघों के साथ आसमान में घूम रहे थे, तरंगों का संगीत सुन रहे थे। अनेक इस कुतूहल में मग्न थे कि विद्युत में कौन चमकता है? कुसुम में कौन हँसता है? और पूर्वाकाश से प्रातःकाल कौन झांकता है? बड़ी विचित्र समाज-निरपेक्षता थी यह! जन-समाज इतने बड़े संघर्ष में से गुजर रहा है, और तुम आत्मकेन्द्रित!

स्वतन्त्रता के इस युग में यह खरीद कुछ कम नहीं चल रही है। कुछ माल बिकता जाता है—रेडियो के दलाल के मार्फत, सरकारी पदों के दलाल के मार्फत! कितने क्रान्तिवादी और जनवादी अब धीरे-धीरे शून्यवादी या 'ब्लाउजवादी' होते जा रहे हैं!

सरकारी पुरस्कार-योजना और टेक्स्ट-बुक योजना जैसे नये प्रलोभन हैं, जिनमें पुरस्कार देनेवालों को अच्छी लगनेवाली बात लिखने के लोभ में कितनी बार आत्मा की आवाज दबानी पड़ती है।

आजकल राजशक्ति और साहित्य का संघर्ष बहुत तीव्र होता जा रहा है। राजनेता सरकते हुए धीरे-धीरे साहित्य के मंच पर आसीन होते जाते हैं; कुछ 'पीछे के दरवाजे' से घुस आते हैं और कुछ तो राजशक्ति के बल पर ससैन्य आ धमकते हैं। लज्जा तो हमारे ही हिस्से पड़ी है कि हम जुलूस बनाकर, बाजे-गाजे के साथ साहित्य के मन्दिर में राजनीति की प्रतिमा स्थापित कर देते हैं। फिर नमन तो करते ही हैं, जो नहीं करते उन्हें बुरा कहते हैं।

उधर राजनीति अपने क्षेत्र में साहित्य को फटकने नहीं देती। आदरणीय

पदुमलाल बख्शी एक छोटा-सा चुनाव लड़ना चाहते थे—उन्हें राजनीति ने निकाल बाहर कर दिया ! पं. माखनलाल चतुर्वेदी जीवन-भर भारतीय स्वतन्त्रता के लिए लड़े; कभी प्रदेश कांग्रेस कमेटी के उपसभापति थे। पर राजनीति ने केवल भाषण देने के लिए उनका उपयोग किया ! बाकी के लिए जाति से बाहर !

जीवन की दरिद्रता और अभाव से तंग आकर अनेक साहित्यकार राजनीति की गोद में जाने को मजबूर होते हैं। फिर तो उसके स्तन-पान करके उसकी समस्त कूटनीति, अवसरवादिता, छल और प्रपंच सीख लेते हैं और उनके सत्य का स्वर उठ नहीं पाता। कुछ सम्पन्न होते हुए भी, ऊँचे पद और सम्मान और धन के लोभ में अपने को 'होलसेल' बेच देते हैं।

हमने अनेक साहित्य-समारोह देखे हैं, जिनमें 'पुच्छविषाणहीन' राजपुरुष पधारे हैं। तब उनके आसपास उज्ज्वल दन्तावलि को दिखाते हुए अनेक साहित्यकार ऐसे घूमते हैं कि लगता है उन्हें पछतावा होता है—'हाय रे ! आज अगर हमारी पूँछ होती तो हिलाने के काम आती !' रावण के दस सिरों में उन्हें एक ही लाभ दिखता है—दस बार सिज़दा करने का सुभीता उसे था।

जो नहीं समर्पण करते हैं—वे बहुत दुखी हैं। जीवन उनके लिए काँटों का जाल है। लेकिन वे ही धन्य हैं। उन्हीं की वाणी युग की वाणी है। उन्हीं की वाणी से समाज का नव-निर्माण होता है। साहित्य हमारे यहाँ व्यापार कभी नहीं रहा, वह धर्म रहा है। अभी भी वह धर्म है, एक mission है। इसमें मिटना पड़ता है। जो इसमें बनना चाहते हैं, वे बेहतर है कि आढ़त की दुकान खोलें। इसमें तो कबीर की तरह घर फूँककर बाहर निकलना पड़ता है; यह 'खाला का घर' नहीं है।

प्रतिनिधि चरित्र का सवाल*

हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की चर्चा होती है, लेकिन एक दिन हमारे मित्र एक बड़ा विचित्र प्रश्न कर बैठे। बोले, "हिन्दी को राष्ट्रभाषा आप बनाने का दावा करते हैं। ठीक है। लेकिन हिन्दी साहित्य में कोई राष्ट्रीय 'हीरो' है ही नहीं। जिस साहित्य को आप राष्ट्र का साहित्य बनाने जा रहे हैं, उसमें राष्ट्रीय स्तर पर कोई भी एक चरित्र नहीं है।"

हम परेशानी में पड़ गये। आखिर मैंने बात को और समझने की कोशिश की। पूछा, "भाई, राष्ट्रीय 'हीरो' से आपका तात्पर्य क्या है?"

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 4, अगस्त 1956

वे बोले, "ऐसे हीरो जैसे अंग्रेजी में हैं—फाल्सटफ, मालवोलियो, हेमलेट, पिकविक, सिडनी कार्टन, जीव्स। या बंगला के सव्यसाची, राजलक्ष्मी !"

मैंने कहा, "भाई, ऐसे तो आपको हर साहित्य में मिल सकते हैं। इसमें कठिनाई ही कौन-सी है ? यह बात अलग है कि किसी साहित्यकार की कलम से ये चरित्र अच्छी तरह उभरकर आये हों, और किसी साहित्यकार के प्रयास में फीके रहे हों। इन चरित्रों की विशेषता तो विश्वव्यापी है, वे किसी राष्ट्र के नहीं, प्रत्येक राष्ट्र में पाये जाते हैं।"

मेरे मित्र जैसे बात को पकड़ ही बैठे। तुरन्त ही बोले, "तभी तो और भी आवश्यक है कि ऐसे चरित्र हिन्दी में अवश्य ही होने चाहिए थे, पर हैं नहीं। बोलिए, आपकी हिन्दी में फाल्सटफ-सी जिन्दादिली और सिडनी कार्टन का त्याग कौन-से चरित्र में है ? अंकल वान्या-सी कठोर कर्त्तव्यनिष्ठा कहाँ है ? सव्यसाची-जैसी अद्‌भुत सामर्थ्य कहाँ है ?"

मैं एक क्षण द्विविधा में पड़ गया, क्योंकि हिन्दी की इतनी पुस्तकें पढ़ लेने के बाद भी मुझे फाल्सटफ और सिडनी कार्टन की तरह चरित्र नहीं मिले थे। बात को कुछ टालते हुए मैंने कहा, "देखिए, यह जरूरी नहीं है कि आप एक इकाई उठा लें और फिर चलें उसके आधार पर साहित्य की गहराई नापने। साहित्य कोई ठोस पदार्थ से निर्मित वस्तु तो है नहीं, कि आप उसकी लम्बाई-चौड़ाई नापने लगें। वह तो अनुभूति की अभिव्यंजना है, जो मानव-व्यापारों में ढलकर भाषा के माध्यम से व्यक्त होती है। जिसकी अनुभूति जैसी होगी उसकी अभिव्यक्ति भी वैसी ही होगी। शेक्सपियर की अनुभूति जो फाल्सटफ या हेमलेट में केन्द्रित होकर प्रगट हुई है, वैसी हमारे किसी साहित्यकार में हो यह आवश्यक नहीं है। हम किसी दूसरे चरित्र का भी उतनी ही केन्द्रित शक्ति से स्थापन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए हमारे प्रेमचन्द के होरी को ही लीजिए। वह कैसा है ? वह भी तो किसी भी समाज या राष्ट्र की दुर्विकार तथा दुर्नीति के बीच सशक्त आस्था का प्रतिनिधि बन सकता है।

मेरे मित्र ध्यान से सुनते रहे। फिर बोले, "देखिए, सीधे प्रश्न के लिए इतनी भूमिका क्यों ? होरी, जैसा आपने कहा, भारतीय किसान का प्रतिनिधि चरित्र है—यह माना। पर ऐसे आप कितने गिनाते हैं ? समस्त कथा साहित्य में आप 'होरी' को हमेशा 'शो केस' में रखे रहेंगे क्या ? चरित्र की क्या कहूँ ? ऐसा मालूम होता है कि हिन्दी में जैसे लेखकों की न सूझ है और न पैठ। मानवी अन्तर्द्वन्द्व की कौन कहे, बाह्य परिस्थितियों के संघर्ष की रेखाएँ तक बड़े-बड़े लेखकों को खींचना नहीं आता। किताबें लिखकर और छपाकर साहित्य भरना और साहित्यकार कहलाने का दम्भ करना हिन्दीवालों को बहुत आता है। मुझे तो···"

आगे की बात सुनने की जैसे मुझमें क्षमता ही न थी, इसलिए तुरन्त टोक बैठा, "भाई साहब, इस तरह सरपट 'रिमार्क' चलाना बहुत सरल है। आपने हिन्दी में पढ़ा ही क्या है ? अन्तर्द्वन्द्व की बात करते हैं। आपने 'नदी के द्वीप' पढ़ा है। अज्ञेय ने भुवन का जो चरित्र खींचा है, उसमें आपको उसका सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्व नहीं दिखा ?

क्या आपको 'गुनाहों के देवता' में चाँद और सुधा में कुछ नहीं दिखा ? क्या जैनेन्द्र को आपने पढ़ा है ?"

वह ठहाका मारकर हँस दिये। बोले, "इसे आप अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं? अरे साहब, यह सब तो हमारी कुण्ठित वासनाओं के दूत हैं। इनका द्वन्द्व अपने आप में नहीं है। इनका सारा जीवन तो समाज को धोखा देने का प्रयत्न मात्र है। इनके जीवन का लक्ष्य क्या है ? और लक्ष्य का समाज से क्या सम्बन्ध ? आत्म-तुष्टि के लिए सामाजिक नियमों की अवहेलना है उनकी उच्छृंखल वृत्ति में ! क्या यही उनका लक्ष्य है ? देखिए, सेक्स की समस्याओं की इनसे भी अच्छी रचनाएँ संसार में हैं, जिनके सम्मुख आपके अज्ञेय, और इलाचन्द्र फीके पड़ जायेंगे। जैनेन्द्र का नाम मैंने नहीं लिया, क्योंकि इस उम्र में भी उन्हें 'नारी' एक रहस्य ही प्रतीत होती है; और जिस लेखक को अभी तक स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के रहस्यों का उद्घाटन न हुआ हो, उससे किसी यथार्थ की कल्पना करना भूल होगी।"

मैं फिर बोला, "हर साहित्यकार की रचना उसकी समाज-व्यवस्था के आधार पर ही होती है। हमारा समाज जैसा था, उसके आधार पर ही साहित्य लिखा गया और फिर हिन्दी साहित्य अंग्रेजी साहित्य की तुलना में अभी है ही कितने वर्ष का ?"

वे बोले, "ठीक है, आपकी बात से सहमत हूँ कि हिन्दी अभी कुछ वर्षों की है, लेकिन आपका यह कहना गलत है। समाज तो प्रायः सभी ऐसे ही होते हैं। मनुष्यों की समस्याएँ भी यही होती हैं—सेक्स, धर्म, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ आदि। हर समाज के यही प्रश्न हैं। फिर समाज पर यह दोष उचित नहीं। अच्छा हो यदि आप समाज के स्थान पर यह कहें कि साहित्यकार अभी मँजे हुए नहीं हैं, उनमें दृष्टि नहीं है, यथार्थ को ग्रहण करने की उनमें क्षमता नहीं है। और न उन्होंने यह प्रयत्न किया है कि उनका साहित्य इतना लोकप्रिय हो जाय। आपके यहाँ सबसे अधिक लोकप्रिय सम्भवतः तुलसी की रामायण, कबीर, सूर और मीरा के पद तथा आल्हा हैं। अब बतलाइए, इनमें से कौन-सी वस्तु है आपके आधुनिक साहित्यकारों की।"

मैं कुछ धीमे स्वर में बोला, "प्रेमचन्द की भी रचनाएँ हमारे यहाँ काफी लोकप्रिय हैं।" मुंह की बात छीनकर वे बोले—"हाँ, कुछ इसलिए कि उन्होंने समाज की कुछ समस्याओं को उठाया और उन्हें जनसाधारण की भाषा में बाँधने का प्रयत्न किया। पर, आपके साहित्यिक मर्मज्ञों ने उनका क्या सम्मान किया ? उनकी रचनाओं को क्या मूल्य दिया ? कालेज और यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर प्रेमचन्द के उपन्यासों को आदर्शवादी और प्रचारवादी कहकर ताक में रख देते हैं। अब बतलाइए कौन है आपका वह साहित्यकार, जिस पर कितने भी आक्षेप लगाइए, लेकिन जार्ज बर्नार्ड शॉ की तरह अथवा टाल्सटाय की तरह खड़ा रह सके। इन दो व्यक्तियों का नाम मैंने आपके सामने इसलिए ले दिया है कि शॉ के समान प्रोपेगेण्डिस्ट और टाल्सटाय के समान आदर्शवादी लेखक सम्भवतः आपको और दूसरा न मिलेगा।"

उनके चुप होने के बाद मेरे मन में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और यशपाल का नाम आया और मैंने धीरे-से कहा, "देखिए, साहित्य के क्षेत्र अलग हैं। मैं मानता हूँ हिन्दी में नाटक अच्छे नहीं हैं, इसलिए 'शॉ' का मुकाबला कठिन है और जहाँतक आदर्श का प्रश्न है, वह तो भारतभूमि की उपज ही है। मैथिलीशरणजी के काव्य में आप भारतीय संस्कृति की झलक पाते हैं और उग्र तथा यशपाल में आप 'शॉ' की टक्कर का व्यंग, उनकी-सी बौद्धिकता और प्रचारात्मकता भी।"

वे बोले, "मैथिलीशरण गुप्त को भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि कवि मानते हैं? माफ कीजियेगा, वे केवल हिन्दू संस्कृति के प्रतिनिधि हैं—राष्ट्रकवि होने अथवा 'भारत भारती' लिख देने से ही उनमें भारतीयता नहीं आ जाती। सच बात यह है कि वे बुन्देलखण्डी परिवार के कवि हैं और गाँधीवाद के निर्बोध शिशु। मैं उनकी रचनाओं में बड़ा एकांगीपन पाता हूँ, जो उनकी काव्य-शैली की 'मोनोटोनी' से ही स्पष्ट है। और, जहाँ तक यशपाल का प्रश्न है, वे विचारों से मार्क्सवादी और भावनाओं से फ्रायडियन हैं, ऐसी स्थिति में जिस केन्द्रित अनुभूति की आप बात करते हैं, वह कहाँ?"

मैं जैसे अपने-आपमें पकड़ गया। बात को टालते हुए बोला, "देखिए, साहित्य की रचना बहुत कुछ पाठकों के ऊपर भी होती है। अंग्रेजी और पश्चिमी भाषाओं के सम्मुख बड़े प्रबुद्ध पाठक हैं, इसलिए लेखक भी बड़े प्रबुद्ध होते हैं।"

"जी हाँ, पर पाठक तो अपने आप में नहीं पैदा होते। आपके यहाँ क्या 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' अथवा कुशवाहा कान्त के पाठकों की संख्या कम है। जब इनके पाठक हैं, तो क्या आपको प्रबुद्ध पाठक नहीं मिल सकते?"

मैंने कहा, "उन पाठकों की बात छोड़िए।"

"जी, छोड़ दी। क्योंकि ऐसे साहित्य के पाठक भी उन देशों में बहुत हैं। तब फिर क्या कारण है?"

अनायास ही परास्त-सा होकर जैसे पूछ बैठा, "बताइए, क्या कारण है?"

और वे तपाक-से बोले, "जी, अब कहता हूँ कि आप हिन्दीवालों में अभी विश्व-व्यापी और राष्ट्रीय कौन कहे, अपने देश की अनुभूति ही नहीं है और न आप इस ओर अग्रसर हुए हैं। यदि आपकी क्षेत्रीय अनुभूति और युगीन चेतना ही पैनी हो जाय, तो उच्चकोटि की रचनाएँ बन सकती हैं। तभी आप ऐसे चरित्रों का निर्माण कर सकते हैं। क्या आपने प्रेमचन्द के होरी में यह नहीं देखा? अथवा अभी निकले रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' में यह नहीं पाया। और कौन कहे, आप वृन्दावन-लाल के ऐतिहासिक नाटकों को श्रेय क्यों देते हैं? क्या इसीलिए नहीं? फालसटफ, शेक्सपियर के युग में सरायों और दरबारों में घूमनेवालों का प्रतिनिधि है। पिकविक इंग्लैण्ड के उदीयमान 'पेटी बुर्जआ' समाज का अगुआ है, और सिडनी कार्टन हर व्यक्ति के उच्च आत्मत्याग की भावना का प्रतिनिधि। आप वह सब हर जगह पायेंगे। क्या हार्डी केवल इसलिए सफल नहीं हुआ कि उसने 'वैसेक्स' के जीवन के कण-कण से अपना परिचय जोड़ा? और इसी तरह बाल्ज़ाक, जोला, फ्लावेयर,

अनातोले, दॉस्तोवस्की, अर्नेस्ट टेलर, टाल्सटाय आदि सभी कलाकारों ने अपने आस-पास के जीवन और अपने युग से ऐसा परिचय जोड़ा कि वे उनमें साकार हो बैठे। हिन्दीवालों में यह भावना कहाँ ? विचार कहीं और भावना कहीं ? विचारों से गाँधीवादी, मार्क्सवादी, तो भावनाओं से फ्रायडियन अथवा कट्टर धर्मपरायण। राष्ट्रीयता पर लिखते हैं पर मराठी, गुजराती और बंगाली के भेदों से परे नहीं। जब तक अपने आप में यह छल-कपट चलता रहेगा, तब तक ऊँचा साहित्य लिखना पत्थर पर दूब उगाना है। इस धरती की धूल में पहले लोटना सीखिए।''

वे भावावेश में बोल रहे थे और मैं चुप था।

नर-नारी पात्र*

पिछले दो अंकों में हिन्दी उपन्यासों के पुरुष और नारी पात्रों की चर्चा हो चुकी है। गत अंक में गोरखनाथ ने अति आधुनिक उपन्यासों की नायिकाओं के सम्बन्ध में बड़े तीखे विचार प्रकट किये हैं। मेरा विश्वास है, उनका इरादा यह कहने का नहीं है कि हिन्दी में नारी-चरित्रों का निर्माण हुआ ही नहीं है। असल में जिस प्रकार के नारी पात्रों के रूपों से वे असन्तुष्ट हैं, उनकी चर्चा उन्होंने की है। यह स्तम्भ शिकायतों और आलोचनाओं से भरा रहता है, तो गलतफहमी हो सकती है कि हिन्दी में कुछ अभिनन्दनीय है ही नहीं। मैं सोचता हूँ, ऐसा समझने की भूल कोई समझदार आदमी तो नहीं करेगा।

पात्रों की बात ही आगे बढ़ाता हूँ। पात्रों के सृजन में हमारे यहाँ कुछ लोग बने-बनाये 'फर्मे' (साँचे) से काम लेते हैं, याने कोई दर्शन, नैतिक सिद्धान्त या राजनैतिक प्रयोजन उनके मन में पहले बन जाता है और तब उसे सिद्ध करने के लिए या उसका उदाहरण देने के लिए वे कुछ पात्र बटोर लेते हैं। गणित के सूत्र पर वे पात्रों को चलाते हैं। इस प्रकार के 'फर्मे' हमारे यहाँ हैं—एक है 'मार्क्सवादी फर्मा' जिसमें हर बार हलकू की माँ को कोई जमींदार ठोकर मारकर प्राण ले लेता है या हलकू की स्त्री की अस्मत लूट लेता है। इन कहानियों में न कहीं हलकू नजर आता है, न उसकी माँ, न उसकी स्त्री ! इनकी जगह एक ढांचा दिखता है। न हलकू के साथ हम रो पाते हैं, न हम अत्याचारी पर क्रोध कर पाते हैं। इस साँचे पर केवल हंस पाते हैं।

दूसरा 'फ्रॉयडवादी ढांचा' होता है। इस साँचे के कलाकार की दृष्टि में पुरुष

*वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 6, अक्टूबर 1956

केवल 'नर' है और स्त्री केवल 'मादा' और अगर वे पास आते हैं, तो पशुवर्ग की तरह केवल प्रजनन-क्रिया के लिए ! इनकी नारियाँ मानवी नहीं होतीं, 'सेक्स' की गुड़िया होती हैं, जिन्हें लेखक मनमाना नचाता है।

तीसरा सहअस्तित्ववाला साँचा—याने मार्क्सवादी—फ्रॉयडवादी ढाँचा ! इसकी छटा आप यशपाल, कृश्नचन्दर, मुल्कराज आनन्द और अहमद अब्बास तक में पा लीजिए। एक हाथ में 'केपिटल' और दूसरे में 'कोकशास्त्र' लेकर इनके पात्र ऐसे घूमते हैं कि अचरज होता है, इन्हें आदमी कहें तो कैसे !

कुछ पात्र मनुष्य नहीं होते, वे चलते-फिरते 'एनसाइक्लोपीडिया' होते हैं—इन्हें न प्रेम की अनुभूति होती है, न करुणा की। इनके पास केवल बुद्धि होती है, तर्क होता है, और ये बेचारे इस बात का डंका पीटने का काम करते हैं कि देखो, हमारे निर्माता के पास इतना ज्ञान है।

एक दूसरे प्रकार के वे पात्र हैं जो मनोग्रन्थियों और कुण्ठाओं के वैज्ञानिक 'इलस्ट्रेशन्स' हैं, उन्हें आप जान गये, तो मनोविज्ञान की जानकारी आपकी अपटुडेट हो गयी। मनुष्य को आप न जान पायें, तो लेखक की बला से।

साँचे का साहित्य इसी प्रकार दुर्गतिग्रस्त होता है। उसके लेखक एक खाली पिंजड़ा लिये रहते हैं, जिसके भीतर का तोता कभी का उड़ गया है। आप पिंजड़े को तोता नहीं समझेंगे, तो आपको नासमझ का खिताब मिलेगा।

मानव-चरित्र रचने के लिए मानव को देखना पड़ता है, मानव को समझना पड़ता है, उसके सुख, दुख, आशा, आकांक्षा, द्वन्द्व, कुण्ठा सबको देखना होता है। जन-जीवन का बारीक अवलोकन करना होता है और साथ ही संवेदनात्मक दृष्टि रखनी पड़ती है। जिस समाज को, जिस जाति को, जिस वर्ग को चित्रित करना है, उसे सचाई से पहिले समझकर तब उसका चित्रण करना होता है। उसी में से महती प्रवृत्तिवाले महान् पात्रों का जन्म हो सकता है। तीन महीने समुद्र के किनारे रहकर मछुओं के जीवन का सही चित्रण नहीं हो सकता, और 6 महीने सिनेमा स्टुडियो के आसपास चक्कर लगाकर सिनेमा-संसार का जीवन सच्चे रूप में कागज पर नहीं उतर सकता।

इसका कारण है तपस्या की कमी। अपने कमरे में बैठकर समस्त समाज को नहीं देखा जा सकता। कालिदास ने रेल और मोटर से विहीन उस युग में भारत-भ्रमण किया था, अन्यथा मेघदूत में प्रकृति के वे विभिन्न रूप न उछलते। प्रेमचन्द ने जाने-पहिचाने किसान-मजदूर और मध्यवर्ग के चित्र अंकित किये थे। उच्चवर्ग के चित्र अंकित करने में वे भी सफल नहीं हो पाये। प्रो. मेहता और मालती के प्रेम के अंकन में भी प्रेमचन्द उतने सफल नहीं हुए, क्योंकि इस वर्ग के प्रेम का अतिरंजित आदर्शवादी और बुद्धिवादी रूप ही वे प्रस्तुत कर पाये। महान् कलाकार भी जब जीवन का सच्चा रूप न जानने के कारण चित्रण में कमी ले आता है, तब साल में 4 दिन गाँव में 'पिकनिक' करके शहराती लेखक ग्रामीण जीवन का चित्र किस साहस से उतारता है? हार्डी 'वेसेक्स' के जिले से बाहर नहीं गया, पर उस स्थान

के निवासियों का उसे इतना गहरा अध्ययन था, उनकी भावनाओं की उसे ऐसी परख थी, उनके जीवन का उसने इतने पास से निरीक्षण किया था कि उसका हर पात्र बोलता है। चेखव और गोर्की ने रूसी जीवन को आत्मसात किया था। हाल ही प्रकाशित रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' की सबसे बड़ी खूबी यह है कि उसका चित्र पूर्ण रूप से सत्य है। पूर्णिया जिले के उस अंचल के जीवन के कितने उजले 'स्नेपशाट्स' हैं !

जीवन को न देख सकने के कारण लेखक की रचनाओं में एकरूपता आती है। एक लेखक 15 साल से एक ही प्रकार के आदमियों में रह रहा है, उन्हीं में उठता-बैठता है। ताजगी कहाँ से लाय ? वही आदमी, वही दिनचर्या, वही क्रिया-प्रतिक्रिया। एक ही 'सेटअप' उसके भीतर संवेदना हमेशा उत्पन्न नहीं कर सकता। हाँ, अगर उसके पास विभिन्न अनुभवों का अक्षय भाण्डार हो, तो बात अलग है। आजकल एक ही प्रकार की कहानियों और उपन्यासों के सृजन का यह बड़ा भारी कारण है।

हमारे यहाँ लेखक को घूम-फिर सकने की, जीवन को देख सकने की सुविधा नहीं है। नौकरी करके पेट जिसे पालना पड़ता है, वह स्त्री-बच्चों को देखे या जीवन देखने जाय ? माम के हर उपन्यास में एक ताजगी देखने में आती है। एक उपन्यास से बिल्कुल भिन्न स्तर के, भिन्न प्रकार के पात्र दूसरे उपन्यास में मिलेंगे। यहाँ तक कि विभिन्न भू-भाग के निवासी मिलेंगे। उसे सुविधा है। पर यदि हमें देश-विदेश घुमाई की सुविधा नहीं है, तो हमारे समाज को संवेदनात्मक दृष्टि से देख सकने की सुविधा तो है।

हल्का साहित्य*

एक प्रोफेसर मित्र मिले। बगल में हल्का-फुल्का जासूसी उपन्यास दबाये थे। मुझसे न रहा गया। पूछ ही बैठा, "अजीब शौक है आपका। अब तक जासूसी उपन्यास पढ़ते रहते हो—कुछ अच्छा पढ़ा करो, तो विद्यार्थियों का भी हित होगा।" तुरन्त बोले, "मेरे लिए नहीं है, पत्नी को इसे पढ़ने का बड़ा शौक है।" पर, उनके चेहरे से यह आशय जरूर निकल रहा था कि यदि मैं आगे कोई बहस छेड़ूँ तो वे उस जासूसी उपन्यास के पक्ष में न जाने कितनी दलीलें पेश कर देंगे। कुछ दिन के बाद जब उनकी पत्नी से मिला तो उन्होंने कहा कि उन्हें जासूसी उपन्यास पढ़ने का शौक तो

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 7, नवम्बर 1956

प्रोफेसर साहब से शादी होने के बाद ही हुआ है; उसके पहिले तो वे कुछ दूसरे अच्छे उपन्यास पढ़ा करती थी। उपन्यासों के सम्बन्ध में जब विवाद आगे छेड़ा, तो मालूम हुआ कि धुरन्धर प्रोफेसर की पत्नी ने कुशवाहा कान्त, आवारा आदि के दर्जनों उपन्यास पढ़ लिये हैं। उनके मित्र जो एक डॉक्टर हैं, उन्होंने भी पूरी पेंगुएन की 'क्राइम और मिस्ट्री सीरीज़' खत्म कर डाली थी, और इस दम्पति के साथ बहस में शरीक हो गये। बोले, "थकावट के बाद यदि कोई चीज जी-भरकर आनन्द देती है, तो वह है यही उपन्यास या ऐसा ही कोई लिटरेचर। हिन्दी के जासूसी तो मैं नहीं पढ़ता, क्योंकि बड़े नीचे स्तर के होते हैं और फिर उनमें कुछ सेक्स की बड़ी बेतुकी और अवैज्ञानिक घटनाएँ अंकित की जाती हैं, इसलिए मैं अंग्रेजी के ही विशेष रूप से पढ़ा करता हूँ।" मैंने कहा, "इसके अतिरिक्त भी आपको कुछ पसन्द आता है?"

"हाँ, आता क्यों नहीं," डॉक्टर ने कहा, "वुडहाउस और सामरसेट माम, आगाथा क्रिस्टी आदि बहुत अच्छे लगते हैं पर. इन्हें तो मैं केवल सफर में पढ़ता हूँ। आराम और फुर्सत के घण्टों में, विशेषकर सोते समय, जासूसी ही अच्छे लगते हैं।"

मैंने पूछा, "इसके अतिरिक्त क्या आपको क्लासिक्स अच्छे लगते हैं या नहीं— जैसे डिकेन्स, थैकरे, ह्यूगो, स्टेण्डाल, फ्लावेयर, ज़ोला, दॉस्तोवस्की, टाल्सटाय, गोर्की आदि?"

"हाँ, इनमें से कुछ को पढ़ा है। कुछ फ्रांस के रूमानी लेखक ही अच्छे लगे, पर छोटी कहानियों के रूप में—सच कहूँ तो बाल्ज़ाक की कहानियाँ 'ड्रोल स्टोरीज़' ही सबसे अच्छी लगीं। दॉस्तोवस्की और टाल्सटाय तो बहुत बड़े उपन्यास लिखते हैं। डिकेन्स कम-से-कम थैकरे से अच्छा लगता है। उसके चरित्र-चित्रण की जोड़ नहीं। और फिर वैसे जब पढ़ने को कुछ न हो तो कुछ भी पढ़ लेता हूँ।" डॉक्टर साहब की बात मुझे ऐसे मालूम हुई कि बिल्कुल एक साधारण पाठक की बात है। यह कोई बड़े प्रबुद्ध पाठक होते तो निश्चय ही उनकी रुचि कुछ और विषय पर ही होती, पर सवाल यह है कि प्रोफेसर और डॉक्टर यह पढ़ता है तो दूकानदार, अच्छा पढ़ा-लिखा आदमी, क्या पढ़ता होगा? कालेज के छात्र-छात्राएँ, जैसा मेरे उस प्रोफेसर मित्र की ग्रेजुएट पत्नी की रुचि से पता चलता है, कुशवाहा कान्त और फिल्म-फेयर पढ़ते हैं। तो यह सब साहित्य-रचना किस बलबूते पर हो रही है? और पुस्तकें कैसे इतनी छपती रहती हैं?

बात मन को खाये जा रही थी कि आखिर यदि इस स्तर की किताबों की ही रुचि बढ़ रही है, तो 'हमारे ऊँचे साहित्य' का क्या होगा? एक बार कुछ प्रकाशकों से मुठभेड़ हो गयी। एक ने कहा, "मैं पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ दूसरा छापता ही नहीं। इसलिए बिक्री का सवाल ही नहीं उठता। एक किताब दो-चार साल चल गयी, हजारों कमा लिये।"

दूसरे बोले, "मैं तो केवल सस्ता, अधिकांश कामुक साहित्य ही तैयार करवाता

हूँ। चार लेखक रख छोड़े हैं, प्रत्येक को डेढ़ सौ रुपया देता हूँ।"

तीसरे बोले, "अच्छी पुस्तकें छापता हूँ, तो लेखक से पैसे पेशगी ले लिये। यदि कोई ख्याति-प्राप्त लेखक हुआ तो अपने पैसे से ही छाप दी और बाद में कमीशन देते रहे, पर फिर भी कविता तो मैंने छापना ही बन्द कर दिया।"

उनकी बात सुनकर एकदम याद आया कि रामविलास शर्मा को किस तरह अपनी कविता-पुस्तक छपवाने के लिए प्रकाशक को एक आलोचना की पुस्तक लिखकर देने का वचन देना पड़ा था। पर, क्या लोग आलोचना की पुस्तकें पढ़ते और खरीदते हैं? उन्हीं प्रकाशक महोदय से यह मालूम हुआ कि ऐसी पुस्तकें स्कूल, कालेज के वाचनालयों में चल जाती हैं, बस!

कहने का तात्पर्य यह कि अपने यहाँ पुस्तकों की भरमार तो खूब है—जासूसी और कामुक उपन्यास पाठकों के लिए और पुस्तकालयों में आलोचनात्मक साहित्य, क्योंकि व्यक्तिगत रूप से हर पाठक पर कौन नजर रखता है? पुस्तकालयों पर सभी की नजर रहती है—ठीक वैसी ही जैसी किसी अजायबघर पर। बाहर से कोई आया, तो हम अपने वाचनालय और पुस्तकालय दिखला देते हैं, ताकि उन्हें विश्वास हो कि हमारा बौद्धिक स्तर क्या है? ऐसी ही घटना याद है—एक कालेज का निरीक्षण हुआ। पुस्तकालय देखा तो कुछ अच्छी-अच्छी पुस्तकें थीं, संख्या में कम। तो निरीक्षकों ने कह दिया कि पुस्तकालय कालेज के योग्य नहीं। और दूसरे कालेज में सैकड़ों पुस्तकें थीं—संख्या में अधिक, पर तत्वहीन! निरीक्षकों ने कहा कि पुस्तकालय-कालेज क्या विश्वविद्यालय के योग्य हैं। पुस्तकों की संख्या और उनकी तत्वहीनता का आज अधिक महत्त्व है, बजाय उनके वास्तविक मूल्य के। कालेज और स्कूल के पुस्तकालयों में जाकर देखिए तो अच्छी पुस्तकों को ले जानेवाला कोई नहीं। इतना ही नहीं, कुछ अच्छे लेखकों की बड़ी-बड़ी ख्यातिप्राप्त पुस्तकें भी लोगों को पढ़ने का समय नहीं। एक पुस्तकालय में जाकर कुछ पुस्तकें निकालकर देखा—तो उनके पाठकों का अनुपात कुछ इस प्रकार था (पुस्तकालय के सदस्यों की संख्या 500 के लगभग थी)—

गोदान	प्रेमचन्द	2%
लालरेखा	कुशवाहा कान्त	40%
गुनाहों का देवता	धर्मवीर भारती	15%
सूरज का सातवाँ घोड़ा	धर्मवीर भारती	2%
नदी के द्वीप	अज्ञेय	10%
शेखर : एक जीवनी	अज्ञेय	10%
मानसरोवर (कहानी)	प्रेमचन्द	2%
तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ	यशपाल	5%
दिव्या	यशपाल	1%
अशोक के फूल	हजारीप्रसाद द्विवेदी	1%
कला और संस्कृति	वासुदेवशरण अग्रवाल	1%

समीक्षा शास्त्र	दशरथलाल ओझा	2%
बीस कवियों की आलोचना		5%
साहित्य परीक्षा-उपयोगी पुस्तक		4%

इन आँकड़ों से पता चलता है कि साधारण पढ़े-लिखे लोग किस तरह की रचनाओं में रुचि रखते हैं। यह आँकड़े एक कालेज के पुस्तकालय के हिन्दी विभाग की पुस्तकों के हैं—यदि आप अन्य साहित्य-विभाग के आँकड़े भी देखें तो पता चलेगा कि इससे भी गयी-बीती स्थिति है। अंग्रेजी विभाग के सम्बन्ध में कुछ जानकारी हासिल करने के लिए जब कुछ किताबें उठायीं, तो मालूम हुआ कि सबसे अधिक वे पुस्तकें पढ़ी गयी हैं, जिनका परिचय कुछ इस ढंग का हो—'विश्व में तहलका मचा देनेवाली महान् रोमांचकारी पुस्तक, जिसका पहला 50000 का संस्करण केवल दो माह के भीतर ही बिक गया।' इसके बाद उसमें लिखा हो—'वह गूंगी थी, लेकिन उसमें जीवन की एक लालसा थी, जिसे एक दर्जन पुरुष भी तृप्त न कर सके—प्रेम, उन्माद और तप्त उच्छ्वासों की बेजोड़ कहानी'—आदि-आदि।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त मुझे एक पुस्तक के पाठकों की संख्या को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह पुस्तक थी एक फ्रांसीसी कलाकार के जीवन पर लिखा गया एक उपन्यास। इसने मुझे कुछ इस ओर आतुर बना दिया कि मैं देखूं, क्या और भी कोई जीवनी-प्रधान उपन्यासों का पठन हुआ है, अथवा नहीं। आन्द्रे मोरॉं, हावर्ड फास्ट और इरविंग स्टोन के लिखे कुछ जीवनी-प्रधान उपन्यास को देखा तो प्रतीत हुआ कि लोगों ने अवश्य कुछ पढ़ा है, पर अपनी हिन्दी में ऐसे उपन्यास कितने हैं? किसी महापुरुष के जीवन को केन्द्र मानकर कितने उपन्यास लिखे गये हैं? यहाँ तो यदि कोई जीवनी-प्रधान उपन्यास हैं तो कुछ लेखकों की स्वयं की जीवनी ही उनमें उतरती दिखायी देती है और विशेष कुछ नहीं। फिर पाठकों की रुचि हो भी तो कैसे? वैसे यहाँ कई राजनेता, लेखक और कलाकार हैं, जिनका जीवन वास्तविक उपन्यास की वस्तु है। अभी उस दिन स्वर्गीया श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के सुपुत्र से बात हो रही थी, तो उन्होंने जब अपनी माँ के जीवन का उल्लेख किया तो लगा कि जैसे सचमुच ही एक उपन्यास का कथानक हो। ऐसे ही 'निराला' पर रामविलास शर्मा की पुस्तक पढ़ते समय भी लगा था। ऐसे और न जाने कितने हैं। पर लिखता कौन है? और लिखता नहीं, तो पढ़नेवाले कहाँ से पैदा हों? जासूसी उपन्यासों की भी यदि अभिरुचि अधिक परिष्कृत करना है, तो क्या रफी अहमद किदवई पर कोई उपन्यास नहीं लिखा जा सकता? जीवनी के पाठक कम हैं, लेकिन जीवनी को उपन्यास में ढाला जाय, तो उसके पाठक सचमुच में अधिक हो सकते हैं। 'झाँसी की रानी' पर लिखा वृन्दावनलालजी वर्मा का उपन्यास कितना लोकप्रिय है। ऐसे ही गुजराती में मुंशीजी का पृथ्वीवल्लभ। यह बात अवश्य है कि इन रचनाओं में अभी उतनी प्रामाणिक सत्य-परिणति नहीं जितनी अन्य अंग्रेजी या फ्रेंच में लिखे गये जीवनी-प्रधान उपन्यासों में

है, पर इनके पाठकों की कमी नहीं। जहाँ तक अन्य प्रकार की पुस्तकों के पठन का सवाल है, उसमें सबसे अधिक संख्या पाठकों की तो उन किताबों की है, जो लोगों को यह बताती हैं कि वे धनी कैसे बन सकते हैं? नेता कैसे बन सकते हैं? वक्ता कैसे बन सकते हैं? अथवा मित्र कैसे बना सकते हैं? और औरतों को कैसे मोहित किया जाय? डेल कार्नेगी की How to win friends and influence people' प्रायः हर अंग्रेजी पढ़ने और समझनेवाले ने पढ़ी है और इसी की बराबरी करती है—'यौवन का आनन्द', 'विवाहित जीवन', 'वेश्या की कहानी' अथवा 'रंगीन रातें' आदि। कहने का तात्पर्य यह कि जब साहित्यिक रचना की सफलता पाठकों के बीच केवल उनकी हल्की वृत्ति की उत्तेजना में ही रह गयी—तो प्रेमचन्द, टालसटाय, गोर्की, व्हिटमैन और डिकेन्स जैसों का क्या होगा? वे जीवित कैसे रहेंगे? और उनके बच्चे...?

रुचि और साहित्य*

'वसुधा' के पिछले अंकों में एक ही प्रश्न बार-बार उठ रहा है और वह है पाठकों की रुचि और साहित्य के निर्माण का। दीपावली अंक में मैंने कुछ आँकड़े दिये थे जिनको लेकर कुछ प्रश्न उठाये गये और उन प्रश्नों का उठाया जाना स्वाभाविक ही था। 'गोरखनाथ' और 'एकलव्य'जी ने उसके आधार पर कहा कि मैं उन आंकड़ों में उलझकर पथभ्रष्ट-सा हो गया हूं। पर, बात ऐसी नहीं है। आँकड़ों के उपस्थित करने का अभिप्राय यह नहीं था कि मैं पाठकों की रुचि की निन्दा करना चाहता हूँ अथवा साहित्य-निर्माताओं की, पाठकों की शोचनीय अवस्था पर लाचारी प्रकट करना चाहता हूँ, वरन् उसका उद्देश्य केवल यह था कि वस्तुस्थिति का परिचय पाकर हम अपना (पाठकों एवं साहित्य-सेवियों का) आत्म-परीक्षण कर लें। उसी के प्रसंग में मैंने हिन्दी में जीवनी-प्रधान उपन्यासों की कमी की ओर भी इंगित किया था और यह चिन्ता व्यक्त की थी कि यदि हिन्दी साहित्य में कुशवाहा कान्त जैसे हल्की, सीमित एवं एकांगी अनुभूतियों के लेखक की लोकप्रियता बढ़ती है, तो फिर आगे क्या होगा? आधुनिक समाज की व्यस्त और त्रसित जिन्दगी की भी रेखा उसमें खिचकर आयी थी, ऐसा भी मेरा अनुमान है। इन सब विषयों की चर्चा में मैंने यह कदापि नहीं सोचा था कि 'एकलव्य'जी आधुनिक समाज की 'विशेषज्ञता-ग्रसित' विचार-प्रणाली का उपयोग साहित्य के निर्माण-क्षेत्र में उपस्थित करेंगे और

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 10, फरवरी 1957

इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि हर व्यक्ति साहित्य के योग्य नहीं, अथवा साहित्य के विभिन्न रूप केवल चन्द ही व्यक्तियों के लिए हैं। कवि-सम्मेलन की रसिकता में हमारे काव्य का हल्का अंग ही उभरकर आये, पर इसमें तो सन्देह नहीं है कि कवि-सम्मेलन में उपस्थित व्यक्तियों को काव्य से प्रेम है—वे कवि को सुनना चाहते हैं (और फिर उनके लिए कवि का अर्थ केवल गायक ही क्यों न हो जाय)। सभी व्यक्ति एक ही रचना की एक ही-सी प्रशंसा नहीं कर सकते। आई.ए. रिचर्ड्स इस विषय में काफी प्रयोग कर चुके हैं।

किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सर्वश्रेष्ठ एवं प्रिय रचनाओं की कसौटी न बनायी जाय। रचनाएँ सर्वप्रिय रही हैं और रचयिता भी माने गये हैं तथा साहित्य के मूल्यांकन के नियमों का भी प्रतिष्ठापन किया गया है। यह सब सम्भव हुआ है, किसी विशेष विचार-स्थापन के बल पर, और आज हम उस विशेष बल का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। केवल सतह को देखकर ही गहराई का अन्दाजा लगा रहे हैं। पाठक और लेखक के बीच समस्या उलझाकर साहित्य का मूल्यांकन करना गलत होगा, क्योंकि दोनों की स्थिति एक-सी है और दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रजातन्त्र में जैसे सब बराबर होते हुए, शासक वर्ग उत्तरदायी होता है, वैसे ही पाठक और लेखक बराबर होते हुए भी लेखक उत्तरदायी है—अपने पाठकों के निर्माण के लिए, उनके विचारों के लिए और उनकी रुचि के लिए। दोनों एक ही समाज की उपज हैं और दोनों के मानसिक कलेवर में भी अन्तर है तो केवल उनके निर्माण में वांछनीय सामग्री के अनुपात में। इस बात को और स्पष्ट इस ढंग से किया जा सकता है—पाठक और रचनाकार एक ही समाज की उपज हैं। उनके जीवन-यापन की क्रियाएँ एक हैं। उनके सामाजिक अनुभव एक हैं और उनके अभि-व्यक्तिकरण की चाह भी एक ही-सी है और कुछ हद तक उनका माध्यम भी एक है। (माध्यम की बात स्पष्ट कर दूँ। आँखों को सुन्दर लगनेवाली वस्तु एक चित्र-कार अथवा शिल्पकार ने देखी और उसके साथ ही देखी किसी कलाहीन व्यक्ति ने—चित्रकार या शिल्पकार ने उसे ज्यों-का-त्यों अन्य और व्यक्तियों को दिखाने के लिए बनाकर तैयार कर लिया पर कलाहीन व्यक्ति वैसा कुछ नहीं कर पाया। इससे यह अर्थ नहीं हुआ कि वह सुन्दर मूर्ति अपने-आपमें उसके इन्द्रिय लोक से बाहर चली गयी। वह वैसी ही वहाँ उपस्थित है और वह उसको उसी ढंग से प्रदर्शित करने का उपाय करता है—सफलता-असफलता का प्रश्न नहीं है।) इस सबके अतिरिक्त अन्तर यदि कहीं दोनों में है, तो वह है केवल उनकी अनुभूतियों की तीव्रता में, उनके अभिव्यक्ति के प्रकाश में। इसके आगे रचयिता बढ़कर 'कल्पना' को अपने साथ गाँठ बाँधकर ले आता है, ठीक उसी तरह जैसे पाणिग्रहण कर कोई विश्व-सुन्दरी को ले आये और अन्य अपने में विश्व-सुन्दरी को लेने की क्षमता रखते हुए भी हाथ मलता रह जाय। साधारण पाठक और साहित्य-निर्माता की बनावट में अन्तर केवल इतना है। पर जब उन्हें पाठक और साहित्यकार के रूप में देखते हैं तो जैसे हमारे अन्तर की सीमा ही नहीं मिलती। हर साहित्य में लेखक अपने पाठकों

को मूर्ख समझता है — सम्भवतः उतना ही मूर्ख या नादान जितना कोई नानी अपने छोटे नाती-पोतों को कहानी सुनाते समय समझती है।

दूसरा दुर्गुण जो हमारे लेखक वर्ग में आता है वह है कि अपनी अनुभूतियों, विशेषतः अपने जीवन के अनुभवों को (चाहे वे कितने ही कम हों) सबसे बढ़कर समझते हैं। समाज के या बाह्य जगत के अनुभव उन्हें प्राप्त होते हैं, वे समझते हैं कि उनकी निजी अनुभूति ही एकमात्र अनुभूति है; ऐसी किसी दूसरे की नहीं हुई। सामाजिक यथार्थ पर वे अपनी निजी अनुभूति का कुछ ऐसा ताना-बाना खींचते हैं कि समाज का निरपेक्ष सत्य कुहासे में फँस जाता है और तब फिर खुलकर सभी को 'चार अन्धे और एक हाथी' का खेल खेलने का अवसर प्राप्त होता है। ऐसा साहित्यिक चाहे आदर्शों का प्रतिपादन करे अथवा अनैतिकता की व्यूह-रचना, वह कुछ दिनों तक पाठकों को तुष्ट कर चला जाता है। पता नहीं यहाँ पर टी. एस. इलियट का मत कैसा रहेगा, पर कहे बिना रहा नहीं जाता कि उसने शेली-जैसे कवि को पोप की तुलना में हीन ठहराया है। कहने का अर्थ यह कि टिक वही पाता है, जो अपनी निजी तथा कथित अनुभूतियों और अभावों से ऊपर उठकर आता है। यहाँ हो सकता है कुछ लोग 'स्वान्तःसुखाय' का प्रश्न उठाकर तुलसी की निजी अनुभूतियों की बात करें, पर, उन्हें पहिले तुलसी का 'निज' देख लेना चाहिए, जिसका विस्तार 'सिया-राममय' है और सियाराम तुलसी के मन में है अर्थात् उनका निज, विश्व का निज बन गया। सामाजिक यथार्थ का यह रूप विदेह है, जो किसी सन्त की ही उपलब्धि हो सकती है, लोकवासी लेखक-समुदाय की नहीं। इस लोक-वासी समुदायी लेखक के लिए तो समाज के यथार्थ को अपने में ढालकर ऐसा बनाना होगा, जैसा तुलसी ने राम को अपने में ढाला था, तभी वह सर्वसाधारण को ग्राह्य होगा।

साहित्य का निर्माण कोई ईंट-गारे की इमारत नहीं है, जो कोई भी विशेषज्ञ डिप्लोमा लेकर तैयार कर सकता है; यह तो एक भागीरथ प्रयास है, जिसके लिए उत्साह, आत्मा की उज्ज्वलता और पुण्य की धरोहर आवश्यक है। गंगा को पृथ्वी पर लाने की सभी की इच्छा है पर भगीरथ बनने का प्रयास कोई नहीं कर रहा है। उनकी परिकल्पनाएँ, उनके जप-तप बस बादलों की चन्द बूंदें ही आसमान से जमीन पर ला पाते हैं। सम्भवतः इन्हें ही वे गंगा के छींटे समझ रहे हैं।

साहित्य और कला का रसास्वादन ही एक ऐसी चाह है मनुष्य की, जो कैसी भी विकलांग सामाजिक परिस्थिति में उसके हृदय में रहेगी और बराबर वह उसको भावी जीवन की प्रेरणा देती रहेगी। यह बात अलग है कि इस एटमी व्यवसाय के युग में कुछ लोग अपने प्रच्छन्न स्वार्थों और मन्तव्यों की सफलता के लिए उसको भी व्यवसाय की पूंजी बनाने का प्रयत्न करें। तब निस्सन्देह ही उसकी कुछ हानि हो सकती है किन्तु वह चिरस्थायी नहीं हो सकती, क्योंकि मानस की अनुभूतियों का अस्तित्व निरपेक्ष होता है जिसमें सभी तरह की सापेक्ष धारणाएँ बिखरती रहती हैं। इसकी प्रगति और परम्पराएँ वैज्ञानिक सत्यों की खोजों की तरह विकट और कठिन

परीक्षणों के बीच से गुजरती हैं। मानवी आत्मा का सत्य गतिमान होता है, इसलिए वह विरोधों के बीच आगे बढ़कर नवनिर्माण करता चलता है। साहित्य जब इस राह को पकड़कर चलता है तब उसमें पाठक और लेखक का गत्यावरोध टूट जाता है और स्वस्थ धारा-प्रवाह आता है।

नामदेव ढसाल की कविता और अश्लीलता का प्रश्न*

नामदेव ढसाल की कविता 'भूख' के कुछ शब्दों और मुहावरों को लेकर यह आलोचना हो रही है कि ये 'अश्लील' हैं। मैं कुछ दिनों के लिए रायपुर में हूँ। मेरी साहित्यिक मित्रों से चर्चा होती ही है। इन चर्चाओं में यह बात भी उठी कि क्या ये अंश अश्लील हैं। मैंने इन कविताओं को पढ़ा है 2-3 बार। नामदेव ढसाल दलित कवि हैं। ये कविताएँ, घोर त्रास और क्रोध की कविताएँ हैं, जिन्हें वही कवि लिख सकता है जिसने भूख की पीड़ा को भोगा है। एक छोटा-सा नार्वेजियन उपन्यास है —हंगर। जेम्स हेन्सन का उपन्यास है यह, जिस पर नोबल पुरस्कार दिया गया था। मुझे उपन्यास की याद आती है — भूख में पेट में कैसी पीड़ा होती है, पिण्डलियों की नसें कैसे चटखती हैं, सिर कैसे भन्नाता है—और दुनिया के प्रति भूखे आदमी की दृष्टि कैसी हो जाती है—इसका वास्तविक और मार्मिक चित्रण है, जो वही कर सकता है जिसने भूख का त्रास भोगा है। नामदेव ढसाल की तरह हेन्सन को क्रोध नहीं है। इसका कारण यह है कि हेन्सन में वर्ग-चेतना नहीं है, वर्ग-घृणा भी नहीं है, वह नहीं जानता कि किन्हीं शोषकों द्वारा भूखा मारा जा रहा हूँ। ढसाल में वर्ग-चेतना है। वह जानता है कि मुझे भूखा रखने की जिम्मेदारी किन पर है। वह उनसे घृणा करता है। हेन्सन अपनी भूख को अपनी नियति मानकर उसके सामने लाचार होकर मिमियाता है। मगर ढसाल अपनी भूख को एक सामाजिक षड्यन्त्र का, एक साजिश का फल मानता है। वह भूख की पीड़ा का तो वर्णन करता है, पर उसके सामने लाचार होकर मिमियाता नहीं, भूख को ठेठ गाली देता है—भूख, तेरी माँ···!

यह गाली 'भूख' नाम की फीलिंग को नहीं है, दूसरों को भूखा रखनेवाले वर्ग के लिए है। यही झंझट है। ढसाल-जैसे तमाम कवि दलित वर्ण के हैं, अछूत हैं, हरिजन हैं। लोकतन्त्र और समता के इस जमाने में वे रूढ़ियों के अत्याचारों की

* सितम्बर, 1982

स्मृतियों और आज भी उन पर हो रहे अत्याचार की वास्तविक चोटों से बौखलाकर, क्रोधित होकर, सच्ची और त्रासद गहरी अनुभूति और अभिव्यक्ति-क्षमता लेकर उठ खड़े हुए हैं और इस अन्यायी व्यवस्था में शब्दों की चिनगारी से आग लगा देना चाहते हैं।

उनकी भाषा कैसी होगी। भाषा विषय, अनुभूति और संस्कार और परिवेश के अनुसार होती है। दो दलित आदमी जब लड़ते हैं, तब विश्वविद्यालय के हिन्दी और संस्कृत विभाग से भाषा नहीं लाते। वे यह नहीं कहते—यदि आप क्षमा करें तो मैं आपकी परमपूज्यनीया माताजी से भाषा सम्भोग करूँगा। यह भाषा उनकी नहीं है। इस भाषा में घृणा और क्रोध व्यक्त नहीं होते। इस भाषा से लड़ाई का वातावरण भी नहीं बनता। इस भाषा से लड़ाई नहीं हो सकती। सदियों से इस वर्ग की अपनी भाषा बनी है—प्रेम को, पीड़ा को, क्रोध को व्यक्त करने की। यह उनका भाषा-संस्कार है। यह उनके परिवेश की भाषा है। वे जब गहरे कहीं चोट खायेंगे तो बेसाख्ता यह भाषा उनके मुँह से निकलेगी। दलित कवि भी, यदि वह सच्चा है, उसकी अनुभूति गहरी है, उसे वास्तविक क्रोध है, तो अपनी कविता में वह इसी भाषा का प्रयोग करेगा, जो उसके संस्कार की, परिवेश की भाषा है। इस भाषा के बिना उसकी कविता झूठी और बनावटी हो जायेगी। वह बेअसर होगी। उसे जिस भाषा में काव्यानुभूति हुई है, उसी में वह कविता लिखेगा।

नामदेव ढसाल ने जिन गालियों का प्रयोग किया है, वे अश्लील हैं। अश्लील क्या है, यह तय करना कठिन काम है। 'लेडी चेटरलीज लवर' अश्लील है या नहीं, इसे तय करने में इंग्लैण्ड की अदालतों को 30 साल लग गये। भारत में भी डी. एच. लारेन्स के इस उपन्यास पर जस्टिस छागला का लम्बा फैसला है, जिसमें अश्लीलता का विवेचन है। अब 'लेडी चेटरलीज लवर' बाल साहित्य जैसी-लगती है, क्योंकि बेहिसाब किताबें छप गयी हैं जो सेक्स के विवरण के मामले में उससे कहीं ज्यादा खुली हैं, जैसे 'टापिक और कैंसर' और अमेरिकी विश्वविद्यालयों के परिसरों में बनने और छपनेवाला साहित्य। फिर हमारे देश में 'कुमारसम्भव' के कुछ प्रसंगों और जयदेव के 'गीत गोविन्द' के सम्भोग-प्रसंगों को क्या कहा जायेगा। ये क्या इसलिए अश्लील नहीं हैं कि यह देवी-देवता के बीच का मामला है!

नामदेव ढसाल की कविता में आयी ये गालियाँ अश्लील कतई नहीं हैं। अधिक-से-अधिक इन्हें शास्त्रीय पवित्रतावादी 'फूहड़' कह सकते हैं। पुराने सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से फूहड़पन दोष है, पर वह वर्जित नहीं है। पर उस सौन्दर्यशास्त्र के धुर्रे उड़ गये हैं। नया सौन्दर्यशास्त्र आ गया है। अब अभिजात वर्ग के शयनकक्ष का सौन्दर्यशास्त्र नहीं चलता। सड़क की गन्दी बस्तियों का, भुखमरों की झोंपड़ियों का, अधपेटे, अधनंगे मजदूरों का, गन्दी नालियों और चकलाघरों का नया सौन्दर्यशास्त्र चल रहा है। इस वर्ग की छटपटाहट, पीड़ा और क्रोध को व्यक्त करने में नपुंसक अभिजात भाषा सक्षम नहीं है। इसके लिए जीवन्त, खड़ी, ठेठ और चुटीली भाषा चाहिए। वह भाषा चाहिए जिसे यह वर्ग रोजमर्रा की जिन्दगी में बोलता है।

कृष्णा सोबती की एक कहानी है---'यारों के यार।' इस कहानी में एक दफ्तर के क्लर्क लंच की छुट्टी में एक जगह इकट्ठे होते हैं और खुलकर बातें करते हैं—'बॉस' को खूब गाली देते हैं। उसकी खूबसूरत सेक्रेटरी को लेकर मजाक करते हैं---"क्यों सूरी उस्ताद, क्या लो कट ब्लाउज पहनने से टाइपिंग अच्छा होता है।" डटकर गालियों का प्रयोग करते हैं। जिसने लंच टाइम में क्लर्कों की बातें सुनी हैं, वह जानता है कि वे इसी भाषा में बातें करते हैं। गुबार निकालते हैं। अफसरों की माँ-बहिन करते हैं। उनकी बीवियों के स्केण्डल उड़ाते हैं।

इस कहानी पर भी एतराज उठे थे कि इसमें भद्दी गालियों का प्रयोग लेखिका ने किया है। इस मसले पर राजकमल प्रकाशन में गोष्ठी भी हुई। निष्कर्ष यह निकला कि छुट्टी में क्लर्क वही भाषा बोलते हैं जो लेखिका ने लिखी है। वैसा ही वातावरण होता है। अगर लेखिका उन शब्दों का और उन गालियों का प्रयोग नहीं करती, तो कहानी झूठी पड़ जाती। लेखिका रामकथा नहीं लिख रही थी। क्लर्कों की जिन्दगी के, छुट्टी के, स्वतन्त्रता के, मस्ती के एक घण्टे का चित्रण कर रही थी, जो उन गालियों के बिना हो नहीं सकता।

ऐसा ही एतराज राही मासूम रजा के उपन्यास 'आधा गाँव' पर उठा था। गाँव के जिन लोगों की वह कथा है वे गाली में ही बात करते हैं। उनकी बातों को गाली के बिना लिखा ही नहीं जा सकता। लिखा जाये तो वह झूठा चित्रण होगा।

एक बात इस सम्बन्ध में विचारणीय है। क्या इन शब्दों और मुहावरों में गाली का कोई सेन्स है। भोपाल की पुरानी गलियों में बिना गाली के बात ही नहीं होती—'माँ के···किधर जा रिये हो!'

बेटा बाप से कहता है—'अब्बा, वो माँ का···टिकिट बाबू आ रिया है। अपने पास टिकिट नहीं है। दोनों की माँ···जायगी!' खाली स्थानों में कौन शब्द हैं, सब समझते हैं। पर यह क्या गाली है। नहीं, यह कहने की 'मेनरिज्म' है।

अभी संयोग से मेरे मित्र भाऊ समर्थ नागपुर से आ गये। वे दलित लेखकों के साथ हैं। संघर्ष करते हैं। पिट भी चुके हैं। उनसे ढसाल की इन कविताओं पर बात हुई। उन्होंने कहा—महाराष्ट्र में भी ढसाल तथा उनके साथियों पर उच्च वर्ण के साहित्यकार हमला करते हैं। हर मराठी साहित्य-सम्मेलन में ये दलित लेखक सरदर्द पैदा करते हैं। वे झूठे, पतनशील आभिजात्य को एक चुनौती हैं। उनमें तेज है, शक्ति है, सच्चाई है, निर्भयता है। वे बहुत जेनुइन हैं। मराठी साहित्य यदि इस समय जीवन्त है, तो इन दलित लेखकों के दम पर। इन पर हमले उच्च वर्ग और वर्ण का सुनियोजित षड्यन्त्र है। मरे और सड़े हुए साहित्य के सर्जक इनसे घबड़ाते हैं, क्योंकि उन्हें खुद अपनी बदबू सताने लगी है। वे इन लेखकों को दबाना चाहते हैं। अमरावती मराठी साहित्य-सम्मेलन में तो मारपीट की नौबत आ गयी थी। 2-4 धप्प मुझे भी पड़े। इन प्राणवान लेखकों को ही सही समझ के बुद्धिजीवी का समर्थन मिलना चाहिए। ढसाल तो इनका नेता है।

अध्यक्षीय भाषण

राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासंघ का यह दूसरा अधिवेशन इस समारोह के साथ शुरू हो रहा है। यह पहला सार्वजनिक आयोजन है, इसलिए कुछ बातें कह देना मैं जरूरी समझता हूं। हमारे संगठन में 'प्रगतिशील' विशेषण लगा है। मगर यह संगठन कोई सम्प्रदाय, कोई 'कास्ट' नहीं है। प्रगति से किसी को एतराज नहीं है। प्रगति की परिभाषा में जरूर मतभेद है। इस शब्द के साथ छल भी बहुत होता है। जब हम प्रगति की बात करते हैं, उसके लिए संगठन बनाते हैं, घोषणापत्र जारी करते हैं, तब इसके साथ दो बातें जुड़ी हुई होती हैं—एक तो यह कि यथास्थितिवादी और प्रतिगामी शक्तियों का अस्तित्वबोध हमें है और उनकी पहचान भी हमें है। राजनीति, धर्म, दर्शन, अर्थतन्त्र, संस्कृति, समाजतन्त्र सबमें ये शक्तियाँ हैं। ये देशी भी हैं और अन्तर्राष्ट्रीय भी। ये साधनसम्पन्न हैं, ताकतवर हैं। ये शक्तियाँ, चाहे वे किसी रूप में हों, मनुष्य को जहाँ का तहाँ रखकर या पीछे ले जाकर अपने स्वार्थ के लिए अन्यायी व्यवस्था को बरकरार रखने की कोशिश करती हैं। चाहती हैं कि आम आदमी इसी गर्हित अर्थतन्त्र, समाजतन्त्र में जकड़ा रहे, मनुष्य-विरोधी संस्कारों, विश्वासों, परम्पराओं, कर्मकाण्डों का गुलाम बना रहे। इन शक्तियों से हमारा सीधा टकराव है। इसमें कहीं किसी समझौते की गुंजाइश नहीं है।

दूसरी चीज उस मूल बात के साथ यह उठती है कि हम प्रगति करके किस दिशा में ले जाना चाहते हैं। प्रगति की हमारी कल्पना क्या है ? यों प्रगति का कोई खम्भा नहीं गड़ा हुआ है, जिसे जाकर छूना है और जिसके आगे नहीं जाना है। प्रगति एक चिरन्तन प्रक्रिया है। जैसा है उससे बेहतर लाने की कोशिश है। अभी हमारी जो कल्पना है वह हमारे मेनिफेस्टो—घोषणापत्र में है और वह केवल हमारी नहीं, सबकी कल्पना है। सभी चाहते हैं कि ऐसी व्यवस्था हो जिसमें मनुष्य दुखी न हो। समाज में अन्याय, अत्याचार, शोषण न हो। छीन-झपट न हो। मनुष्य मुक्त हो, विवेकशील हो, अन्धविश्वासों को छोड़कर वैज्ञानिक दृष्टि अपनाये। इसके साथ ही दुनिया के देशों में भाईचारा हो। युद्ध का खतरा समाप्त हो। हथियारों की दौड़ खत्म हो। शान्ति हो और सारी दुनिया के लोगों का जीवन-स्तर सुधरे।

इन बातों से कोई इन्कार नहीं करता। जो इन्कार करेगा, वह 'पागल' कहलायेगा। मगर अब कहा जायेगा कि यह तो मानवतावाद है। वास्तव में यह मानवतावाद है और हम मानवतावादी हैं। लेकिन वह कौन-सा मानव है, जिसका 'वाद' हम चलायें। पीटनेवाला भी मानव है और पिटनेवाला भी मानव है। तो क्या

* 26 अक्टूबर, 1980

हम एक को पीटने का सुभीता दें और दूसरे को पिटने का सुख समझायें ? या पीटने-वाले का पीटना रोकें, जिससे उसे भी चैन मिले और इधर पिटनेवाले को भी चैन मिले। दोनों मानव हैं। हम क्या करें ? क्या हम पीटनेवाले मानव की भुजाओं को ताकत दें, या उन्हें तोड़ दें। एक वायवी मानवतावाद होता है। भावात्मक और रूमानी मानवतावाद होता है। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के बाद 19वीं सदी और बीसवीं सदी के आरम्भ में भी मानवतावादी लेखक और चिन्तक हुए हैं। मशीनें लगने, विकट उत्पादन होने, समाज में नये सम्बन्ध बनने से वे चौंके हुए भी थे। वे इस नयी सभ्यता से तालमेल नहीं बिठा पा रहे थे और कुछ तो किसी कल्पनालोक 'यूटोपिया' की तलाश में थे या प्रकृति में लौट जाने की सिफारिश करते थे। प्राचीन भारत के जीवन में भी उन्होंने एक यूटोपिया खोज लिया था। इस औद्योगिक सभ्यता में बहुसंख्यक कामगारों की दुर्दशा से भी वे द्रवित थे। कारलाइल और रस्किन इनकी दरिद्रता से सचमुच दुखी थे। लिखा भी है कि मेन्चेस्टर के कारखानों में इतना अधिक और इतना अच्छा कपड़ा बनता है पर उसे बनानेवाले मजदूर फटे, घटिया और गन्दे कपड़े पहनते हैं। यह मानवतावाद है। इससे द्रवित हुआ जा सकता है, उद्वेलित हुआ जा सकता है, पर यह वैज्ञानिक नहीं है। अर्थतन्त्र में ही समाज-व्यवस्था की, मानवी सम्बन्धों की वैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है, कारण खोजे जा सकते हैं। हम मानवतावादी हैं मगर वैज्ञानिक मानवतावादी हैं। मनुष्य के जीवन से हमारा सरोकार है, इसलिए हम यथार्थवादी हैं, मगर वैज्ञानिक यथार्थवादी हैं क्योंकि हम जीवन के प्रति केवल भावात्मक प्रतिक्रिया न करके उसकी वैज्ञानिक व्याख्या और विश्लेषण करते हैं। शुभकामना से अर्थशास्त्र के नियम नहीं बदलते, विलाप से अन्याय समाप्त नहीं होता, क्योंकि वहाँ हृदय है ही नहीं।

शुरू में जिन प्रतिगामियों और यथास्थितिवादियों की चर्चा मैंने की है वे जिस वर्ग के हैं या जिसके रक्षक हैं, उसका कहना है कि मानवतावादी जरूर हो लेखक। सब आदमियों को होना चाहिए। वे मानते हैं कि लोग दुखी हैं। इनके दुखों का खूब वर्णन करो, ऐसा कि पढ़नेवाले रो पड़ें। यह अच्छी बात है। यह अच्छा साहित्य भी है। दुख पर रोओ, मगर उसके कारणों को मत खोजो। दुख के कारण तो बुद्ध ने भी खोजे थे और पाया था कि दुख का एक कारण संचय भी है। मगर ये लोग कहते हैं कि दुख के कारण तो हम बता देते हैं—प्रारब्ध-पूर्व जन्म के कर्म, बुरा जमाना। साथ ही यह भी कहते हैं कि सभी किसी-न-किसी तरह दुखी हैं, जैसे जैनेन्द्रकुमार कहते हैं कि समाज में हर एक शिकार भी है और शिकारी भी। यानी दुख देनेवाला बेचारा दुख देने को मजबूर है। आगे झंझट तब खड़ी होती है जब हम दुख देनेवाले की पहचान बनाते हैं, उसे आइडेण्टिफाई करते हैं। वे चाहते हैं, दुख देनेवाला आइडेण्टिफाई न किया जाये। यहीं हमारा मानवतावाद अलग होता है कि हम दुख के कारण खोजते हैं और दुख देनेवाले को आइडेण्टिफाई करते हैं।

यह व्यवस्था जिसमें हम जी रहे हैं, जिसकी शिकायत करते हैं, जिसे बदलना भी चाहते हैं, क्योंकि वह अमानवीय है, वह अमानवीकरण पर ही टिकी है। मशीन

अमानवी है। मगर उसे चलानेवालों का भी अमानवीकरण किया जाता है। बड़ी तरकीब से मनुष्य को सम्वेदनहीन, इनसेन्सिटिव बनाया जाता है। अगर मनुष्य इनसेन्सिटिव हो गया, अपनी गरिमा खो चुका तो वेरहमी से शोषण भी किया जा सकता है और अगर किसी देश की आबादी पर बम बरसाये जायें तो कोई खास एतराज न हो। लेखन के माध्यम से भी अमानवीकरण की प्रक्रिया चलती है। मनुष्य की संवेदनाएँ नष्ट की जाती हैं, उसके विवेक को भोथरा किया जाता है, रुचियों को गलत जगह मोड़ा जाता है और मनुष्य-मनुष्य के प्राकृतिक सम्बन्धों को विकृत किया जाता है। यह अमानवीकरण की, डीह्यूमनाइजेशन की प्रक्रिया लगातार चालू है। इस तरह के साहित्य को प्रचारित किया जाता है, उस पर परिचर्चाएँ आयोजित की जाती हैं, कृत्रिम विवाद खड़े किये जाते हैं। दो महीने पहले हिन्दी की एक लेखिका के एक उपन्यास को लेकर यह प्रचार हो चुका है। हिन्दी में सन् 60 से 70 तक युवा कवियों की एक पीढ़ी थी, जिसने ऐसी कविताएँ लिखीं, जिसमें स्त्री-पुरुष के प्रकृत सम्बन्धों को विकृत किया गया। सेक्स के प्रति यह बीस्टली एटीट्यूड है। यह अमानवीकरण है जो विद्रोह और क्रान्तिकारिता के नाम से चलाया जाता है। वेहिसाब बिकनेवाला अपराध, हिंसा, आतंक और सेक्स-विकृति का लेखन भी अमानवीकरण के लिए है।

मगर ये लोग बड़े चतुर हैं। जमाने के तेवर देखकर छद्म क्रान्तिकारी और छद्म विद्रोही साहित्य भी लिखवाते हैं। मनुष्य के झूठे संघर्ष का झूठा साहित्य भी लिखवाते हैं। यानी अगर विद्रोह चाहिए, क्रान्ति चाहिए तो वह भी हमारी दूकान पर मिलती है। इधर सांस्कृतिक क्षेत्र में देश में ऐसी ताकतें हैं, संगठन हैं, जो भारतीय संस्कृति का नारा बुलन्द करते हैं। पर इनकी संस्कृति का अर्थ है पुरातनवाद, जड़ मानव विरोधी संस्कारों, परम्पराओं और मान्यताओं की स्थापना। संस्कृति मनुष्य को जकड़ती नहीं, मुक्त करती है। संस्कृति वह जीवन-मूल्य है, जिसे अपनी विकास-यात्रा में मनुष्य-समाज विकसित और अंगीकार करता है। संस्कृति मनुष्य का उदात्तीकरण करती है। उसे क्षुद्रता से ऊँचा उठाती है। संस्कृति कोई गाय नहीं है। संस्कृति भी शक्ति है। ज्याँ पाल सार्त्र ने कहा है –'कल्चर इज़ व्हाट डिफाइन्स मेन व्हेन ही लिबरेट्स हिमसेल्फ फ्राम स्लेवरी एण्ड आप्रेसन।' पर ये भारतीय संस्कृति का प्रचार करनेवाले, जो विचार और संगठन में फासिस्ट हैं, संस्कृति को बेड़ी के रूप में प्रयुक्त करते हैं। बाहर से भी संस्कृति को खतरा है। धन और टेक्नॉलाजी में सम्पन्न देश अविकसित और विकासशील जातियों की संस्कृति पर हमला करते हैं और सांस्कृतिक उपनिवेशवाद स्थापित करने की कोशिश करते हैं। इसलिए जातीय संस्कृति की रक्षा भी हमें करनी है। ये बाहरी और भीतरी शक्तियाँ अस्थिरता, डिस्टेबिलाइजेशन की कोशिश भी करती हैं। अस्थिरता की बात राजनीति के सन्दर्भ में की जाती है। पर ये जीवन-मूल्यों में, साहित्य और संस्कृति के मूल्यों में भी अस्थिरता पैदा करके मूल्यहीनता की स्थिति बनाना चाहते हैं।

हमारे देश में इस समय जो हालात हैं, उन्हें सभी जानते हैं। दरिद्रता है, शोषण

है, भ्रष्टाचार है, साम्प्रदायिकता है, जातिवाद है। इनकी चर्चा सभी करते हैं। वास्तविकता यह है कि आज परिवर्तन की माँग बहुत है। यहाँ-वहाँ सुधार से काम नहीं चलेगा। पूरा ही परिवर्तन चाहिए। इसमें जो बाधक हैं उन्हें जानना चाहिए कि इतिहास जब आगे बढ़ता है तब उसके पहिये को पकड़कर रोकनेवाले के हाथ टूट जाते हैं। हम लेखक इस परिवर्तन के संघर्ष में भागीदार हैं। हमें सामाजिक जीवन का यथार्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से चित्रण करके साक्षात्कार कराना है और परिवर्तन की चेतना को जगाना है। हमें सही मूल्यों की स्थापना करनी है।

हमने संगठन इसीलिए बनाया है। हम किसी लेखक को फुसलाते या पटाते नहीं हैं। लेखक जन्म से और आज के जीवन-संघर्ष से गुजरकर अपने-आप प्रगतिशील बनते हैं, शिक्षित वे चाहे बाद में होते हों। संगठन की जरूरत है। आपसी मेल-जोल होता है। समस्याओं पर चर्चा होती है। विचार-विनिमय होता है। एक प्रकार का बौद्धिक और मूल्यगत अनुशासन रहता है। इस संगठन को हम लगातार विस्तार देते हैं और जो लेखक हमारे मूल विश्वासों और मान्यताओं से सहमत हैं, उन्हें साथ लेते हैं।

विदा लेते हुए*

मध्यप्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ का यह तीसरा अधिवेशन है। पुनर्गठित प्रगतिशील लेखक संघ के सतना सम्मेलन से जो प्रेरणा मिली थी, उससे इन बीच के वर्षों में प्रगतिशील चेतना, रचना और संगठन के रूप में बहुत कार्य हुआ है। नयी प्रतिभाएँ सहज ही आकर्षित होकर हमारे संगठन में आती हैं। बहुत उपयोगी काम क्षेत्रीय और प्रादेशिक रचना-शिविरों के द्वारा हुआ है। इन शिविरों में नये लेखकों को सैद्धान्तिक प्रशिक्षण मिला है, रचना-प्रक्रिया पर उनकी दृष्टि बनी है, उनकी प्रतिबद्धता पक्की हुई है और उन्हें रचना की प्रेरणा मिली है। जैसे-जैसे संगठन का विस्तार होगा वैसे-वैसे शिविरों का अधिक आयोजन होगा और नये-नये रचनाकारों में आरम्भ में ही वह कन्फ्यूजन नहीं रहेगा, जो वर्षों के सैद्धान्तिक और वैचारिक शिक्षण से मिटता है।

हमें इस बात से सन्तोष, गर्व और सार्थकता का अनुभव होता है कि एकाधिक कार्यक्रम ऐसे हैं, जो मध्यप्रदेश इकाई ने आरम्भ किये हैं और जिनसे दूसरे प्रदेशों के

* नवम्बर 1982 में जगदलपुर (म. प्र.) में आयोजित मध्यप्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ के तीसरे अधिवेशन में दिया गया अध्यक्षीय भाषण।

हमारे साथियों को प्रेरणा और दिशा-निर्देश मिले हैं। इस सिलसिले में वरिष्ठ लेखकों के सम्बन्ध में 'महत्त्व' के आयोजन भी अभूतपूर्व हैं। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, शमशेर, भीष्म साहनी और त्रिलोचन शास्त्री के व्यक्तित्व और कृतित्व पर जो आयोजन हुए और जो उनके सम्बन्ध में ग्रन्थ प्रकाशित हुए, उनसे इन वरिष्ठ लेखकों के साहित्य का विधिवत मूल्यांकन हुआ। इन आयोजनों से नये लेखकों को बहुत कुछ सीखने को मिला।

पुस्तक क्लब की योजना भी बहुत अच्छी है। इससे कम मूल्य पर उत्तम प्रगतिशील साहित्य उपलब्ध हो सकेगा। अभी शरद बिल्लौरे की कविता-पुस्तक ही निकली है। आगे अधिक पुस्तकें प्रकाशित होंगी।

पिछले दो वर्षों में हमारे संगठन का बहुत विस्तार हुआ है। कस्बों तक में हमारे संगठन की शाखाएँ खुल गयी हैं। तथाकथित पिछड़े इलाकों में यह आन्दोलन अधिक व्यापक और तीव्र है। इसका कारण हमारे संगठन के साथियों की सक्रियता तो है ही, इन क्षेत्रों के लोगों का वास्तविक जीवन-संघर्ष और बेहतर जीवन की उत्कट कामना भी है। इन 2-3 वर्षों में इतना काम हुआ है कि लेखकों तक सीमित रहनेवाला हमारा कार्य अब जन-आन्दोलन-जैसा हो गया है और देश-विदेश के हर जन-संघर्ष में भागीदार बन गया है। अपने स्वास्थ्य और पाँव की असमर्थता के कारण मैं न तो कहीं जा सका और न पर्याप्त काम कर सका। मैं अपने तमाम साथियों का अभिनन्दन करता हूँ, जो उत्कट विश्वास और लगन के साथ कार्य में लगे हैं।

हमारा कार्य सफलता और लोकप्रियता के जिस स्तर पर पहुँच गया है, स्वाभाविक है कि आगे चुनौतियाँ आयेंगी। हमारे संगठन पर आक्षेप और प्रहार होंगे, उसकी प्रतिष्ठा घटाने तथा उसमें टूटन पैदा करने के प्रयत्न भी होंगे। जाहिर है कि इस तरह के प्रहार दक्षिण पन्थ की तरफ से पहले से हो रहे हैं और अब वे बढ़ते जा रहे हैं। दक्षिणपन्थियों के पास न सच्चे लेखक होते हैं, न ठोस सच्चा साहित्य। इसलिए उनके प्रहार का तरीका फासिस्टी होता है। ये तरीके हैं--झूठा प्रचार, चरित्र-हनन, आतंकवाद, मिथ्याचार, गलतबयानी। ये मूल्यों की लड़ाई नहीं लड़ते, क्योंकि वे स्वयं मूल्यहीन होते हैं। इनकी कोशिश साहित्य के द्वारा प्रसारित होनेवाली उस जन-चेतना को रोकने और बदनाम करने की होती है, जिससे मनुष्य अन्याय और शोषण से संघर्ष के लिए संगठन और कटिबद्ध होता है।

ये दक्षिणपन्थी तो साफ दिखते हैं। पर, हमला छद्म वामपन्थियों की तरफ से भी है। इनका नारा है कि जनता के लेखकों का सम्बन्ध किसी पार्टी विशेष से नहीं होना चाहिए। सवाल उठता है—क्या विचारधारा 'आइडियालॉजी' से भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिए? बिना आइडियालॉजी के न राजनैतिक पार्टी सार्थक होती है, न लेखकों का संगठन। इस देश में कई विचारधाराएँ हैं, जिनमें से हर एक के हिमायती यह मानते हैं कि केवल हमारी विचारधारा से इस देश की जनता का भला होगा। इनके संगठन हैं, जो सब 'जन' और 'जनवाद' के नाम से चलते हैं। अकाली एक फासिस्टी सिख राज्य में सिखों का भला मानते हैं, तो आर. एस. एस. एक फासिस्टी

हिन्दू राष्ट्र में भारतवासियों का कल्याण मानते हैं। किन्हीं का विश्वास लोकतान्त्रिक समाजवाद में है और किन्हीं का इन्दिरा गाँधी के कांग्रेसवाद में। कम्युनिस्ट पार्टियों का विश्वास वैज्ञानिक समाजवाद में है और गाँधीवादियों का गाँधीवादी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में। ये सब उसी भारतीय 'जन' के नाम से उसी के कल्याण के लिए काम करते हैं। यदि इन सबको मिला दिया जाय ?—एक लेखक संगठन में अटलबिहारी वाजपेयी, सन्त भिण्डरावाले, देवकान्त बरुआ, मौलाना अताउल्ला, प्रो. इरफान हबीब, भीष्म साहनी, दया पवार, कानू सान्याल, पुरी के शंकराचार्य, जामा मस्जिद के इमाम सब ले लिये जायें, तो उस लेखक संगठन का क्या होगा ? जनता के ये सभी हैं, मगर कौन किस जनता का है और उसके तरीके क्या हैं ? इसलिए यह नारा निरर्थक नहीं, सार्थकता की शैतानी का है कि जनता के सब लेखक इकट्ठे हों। हमारे कुछ मित्र जिनके अलग संगठन हैं, सिर्फ एक कसौटी लिये बैठे हैं कि सरकार के लेखक के सम्बन्ध कैसे हैं। कौन-सी सरकार ? किसकी सरकार ? उसका चरित्र क्या है ? कार्यक्रम क्या हैं वह किस कीमत पर लेखक का सहयोग चाहती है ? ये प्रश्न विचारणीय हैं। अन्धे की तरह चलने से तमिलनाडु में रामचन्द्रन की सरकार से असहयोग करनेवाला जनता का क्रान्तिकारी लेखक माना जायगा, बिहार में जगन्नाथ मिश्र की सरकार से लड़नेवाला और बंगाल में ज्योति बसु की सरकार का विरोधवाला। यह बहुत कन्फ्यूजन की बात है। बिना एक ठोस विचारधारा के लेखक-संगठन सार्थक नहीं हो सकता। और, वह विचारधारा वैज्ञानिक और वामपन्थी ही हो सकती है। हमारे कुछ मित्र आपातकाल में लेखकों की भूमिका की बात लेकर बखेड़ा खड़ा करते हैं। आज 6 साल बाद कोई कुछ भी कह सकता है। पर 1975-76 की ऐतिहासिक परिस्थितियों को देखते हुए लेखकों ने अपने निर्णय लिये थे। बाद में पुनः विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे हों कि तब जो रोल किया, वह गलत था। पर मैं जानता हूँ कि ऐसे लेखक भी हैं कि जिन्होंने, 1975-76 में आपातकाल और 20 सूत्री कार्यक्रम को क्रान्ति कहा था और अब खतरा नहीं है, तो कहते हैं कि वह इन्दिरा गाँधी का फासिस्ट कदम था और धिक्कार है उन लेखकों को जिन्होंने तब समर्थन किया था। इन्हें अपने दोमुँहेपन का अहसास नहीं है और ये अपने को नहीं धिक्कारते !

खतरा एक प्रकार के छद्म क्रान्तिकारियों और समझौतावादी साहित्यिक सर्वोदयवादियों से भी है। ये हमारे संगठन में तोड़फोड़ की कोशिश में लगे हैं। ये प्रगतिशील लेखकों का चरित्र-हनन तक करते हैं। इनमें से बहुतेरे यह नहीं जानते और मानते कि जनक्रान्ति जनता के विचारधारा पर आधारित क्रान्तिकारी संगठन के सतत सचेत और सुनियोजित संघर्ष से होती है न कि स्टण्ट और विवेकहीन दुस्साहसिकता से। हमारा मेनिफेस्टो इस सम्बन्ध में बिल्कुल स्पष्ट है।

खतरा वामपन्थी उग्रवादियों से भी है। लेनिन ने इसे 'शिशुरोग' कहा था। बंगाल, बिहार और आन्ध्र में इस उग्रवाद और दुस्साहसिकता के बहुत प्रयोग हो चुके हैं। लेखन में यह उग्रवाद घातक ही होता है, क्योंकि क्षणिक उत्तेजना के सिवा

इससे किसी ठोस क्रान्तिकारी चेतना का निर्माण नहीं होता। इस वामपन्थी उग्रवाद में चमत्कार होता है क्षणिक, लेखक में एक करिश्मा दिखता है, वह आकर्षित भी करता है, पर अन्ततः यह उग्र मुद्रा निरर्थक ही नहीं, घातक होती है। इससे सच्चे प्रगतिशील साहित्य पर छींटाकशी होती है और दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावाद को लाभ होता है। आप लोगों को शायद पता हो कि कुछ वामपन्थी उग्रवादी गुटों को तो सी. आई. ए. चलाती है।

आज देश में विकल्प की तलाश हो रही है। जैसे 1960 के आसपास सवाल उठा था—'हू आफ्टर नेहरू', आज दो सवाल खड़े हैं –'हू आफ्टर इन्दिरा' और 'व्हाट आफ्टर इन्दिरा', कांग्रेस (इ) का विकल्प क्या ? दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी दल—जैसे भारतीय जनता पार्टी, जनता पार्टी, चरणसिंह का लोकदल आदि घोर दक्षिण-पन्थी विकल्प बनाने में लगे हैं। इन्दिरा के बाद उनकी आधी-सी पार्टी भी टूटकर इनमें मिल जायगी। इस समय जरूरत है, वामपन्थी एकता की—एक वामपन्थी लोकतान्त्रिक मोर्चे की। साहित्य में मैं न चिरन्तन वाम की बात करता हूँ न संयुक्त मोर्चा बनाने की। मेरा आग्रह है कि वामपन्थी विचारधाराओं में विश्वास करनेवाले, छद्म वामपन्थी नहीं, एक संगठन में आयें। छोटे-बड़े मतभेद दूर कर लिए जायेंगे। हमारा एक महत्त्वपूर्ण काम और है—ऐसे बहुत लेखक हैं, छोटे शहरों, गाँवों, कस्बों में हैं जिनकी कोई आइडियालॉजीकल शिक्षा नहीं है, मगर जो वास्तविक जीवन-संघर्ष में सक्रिय हैं। अपने युग की ट्रेजडी को भी भोग रहे हैं। इनके अनुभव और अनुभूति सच्ची है। इनकी रचनाओं में शास्त्रीय दृष्टि से चाहे भूल हो, कहीं व्याकरण की गलती हो, संश्लिष्टता की कमी हो, मगर ये रचनाएँ सच्ची और ताकतवर हैं। हमें इन लेखकों को खोजना चाहिए, उनसे सम्पर्क करना चाहिए और उन्हें विचारधारा तथा रचना-संस्कार देना चाहिए।

यह अधिवेशन बस्तर के जगदलपुर में हो रहा है, इसका एक महत्त्व है। यह आदिवासियों का क्षेत्र है, जिनकी अपनी संस्कृति और जीवन-पद्धति है। सदियों से इन आदिवासियों का शोषण हो रहा है। सरकारी अफसर हो या नेता या समाज सेवक – जो भी यहाँ आता है, इनका शोषण करता है। पर, कठोर जीवन-संघर्ष और शोषण के बावजूद ये आदिवासी अपना आत्मसम्मान और अस्मिता बनाये हुए हैं। वन-सम्पदा और खनिज-सम्पदा से भरपूर इस क्षेत्र में विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं। इन आदिवासियों में राजनैतिक चेतना भी विकसित हुई है और यहाँ से एक साम्यवादी विधायक चुने गये हैं। आदिवासियों में जागृति आयी है, न्याय के लिए संघर्ष की भावना बढ़ी है और उनके अपने बीच से नेतृत्व पैदा हुआ है—जैसा छोटा नागपुर, सन्थाल परगना आदि में हुआ है और हो रहा है। जब आदिम जाति जागती है, तब शासन तथा शोषकों द्वारा 'नक्सलवाद' का हौआ खड़ा करके हत्याएँ की जाती हैं और आतंक पैदा किया जाता है। यह बात यहाँ भी चलायी जा रही है कि बस्तर में नक्सलवादियों की गतिविधियाँ बढ़ गयी हैं। जगदलपुर में सम्मेलन करने से हमारा सम्पर्क आदिम जीवन के नये स्पन्दन से होगा।

एक संस्कृति से हमारा साक्षात्कार होगा। मैं इस क्षेत्र के साथी साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं को इस सम्मेलन के आयोजन के लिए बधाई देता हूँ।

मैं अपने सब सहयोगी लेखकों को धन्यवाद देता हूँ। मुझे पूरी आशा है कि हमारा संगठन और बढ़ेगा तथा ताकतवर होगा। इन शब्दों के साथ मैं अध्यक्ष पद से मुक्त होता हूँ। कबीरदास ने काफी जतन से 'चदरिया ओढ़ी' फिर भी कहीं-कहीं फट गयी हो, तो मेरे स्थान पर आनेवाले अधिक सक्षम साथी उसे रफू कर लेंगे।

मेरी कैफियत*

मैं लेखक छोटा हूं, मगर संकट बड़ा हूं। एक तो बड़ा संकट मैं आचार्यों, समीक्षकों और साहित्य के नीतिकारों के लिए हूँ, जिनके लिए वर्गीकरण जरूरी है और जो तय नहीं कर पाते कि इस आदमी को किस खाते में डाल दिया जाय। परेशान होकर इन्होंने मुझे व्यंग्य लेखक, व्यंग्यकार, व्यंग्यशिल्पी आदि कहना शुरू किया, तो कई दूसरे व्यंग्य लेखक और प्रबुद्ध पाठक उनके सिर चढ़ बैठे कि अब व्यंग्य को साहित्य की विधा भी मानो। दूसरे, मैं संकट उनके लिए भी हूँ जो राजनैतिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक, व्यावसायिक या किन्हीं दूसरे रूपों में मानव-विरोधी हरकतें करते हैं और जिन पर मैं कसकर लगातार हमला करता हूँ।

मैं दूसरे महायुद्ध की समाप्ति और भारत को स्वाधीनता प्राप्ति के समय पैदा हुआ लेखक हूँ। अपने देश में आजादी के बाद मोहभंग होने में बहुत साल नहीं लगे। जिन मूल्यों के लिए हम आजादी की लड़ाई लड़े थे, उनका तेजी से मिटना मैंने देखा और भोगा है। शासक वर्ग का नैतिक पतन, भ्रष्टाचार, दोगलापन, पाखण्ड, मिथ्याचार, छल, कपट, फरेब, स्वार्थपरता—नंगे होकर सामने आये। विचारधारा और सिद्धान्तविहीन राजनीति और गन्दे गठबन्धन, दुराचरण, अवसरवादिता, पदमोह, सत्ता का उन्माद मैंने इन वर्षों में देखा है। इस देश का आदमी लगातार ठगा गया। अकाल में—अकाल-राहत-कार्य से और बाढ़ में—बाढ़-राहत-कार्य से भी ठगा गया।

व्यक्ति और समाज में भयानक विसंगतियाँ और अन्तर्विरोध पैदा हुए। मानव सम्बन्ध टूटने लगे। एक वर्ग का अमानवीकरण हुआ। शोषण बढ़ा। गरीब और गरीब होता गया और शासक आँकड़े निकालने में लगे रहे कि कितने प्रतिशत गरीबी-रेखा के नीचे जीते हैं। काला धन्धा, काला काम, काला धन, काला आचरण

* साहित्य अकादमी दिल्ली के 1983 के पुरस्कार वितरण पर पढ़ा गया वक्तव्य।

सम्मान पाने लगे। सदाचार और ईमानदारी मूर्खता करार दिये गये। समाज में दुराचरण पर 'धिक्कार' की जो शक्ति थी, वह भी क्षीण होती गयी। जिन दुष्कर्मों पर आत्मा विद्रोह करती थी वे चुपचाप स्वीकार किये जाने लगे। सब कहीं टूटन, बिखराव, मूल्यहीनता और अमानवीकरण। पुनरुत्थानवादी, प्रगतिविरोधी, पुरोगामी शक्तियों की प्रबलता, धर्मान्धता, भाग्यवाद, कर्मकाण्ड, साम्प्रदायिक द्वेष, फासिस्टवाद का लगातार बढ़ना, लोकतान्त्रिक भावना का कमजोर होना, सर्वत्र शंका और अविश्वास और असुरक्षा--यही 'विकलांग श्रद्धा का दौर' है।

उधर दुनिया में दूसरे महायुद्ध के बाद से ही शीतयुद्ध, हथियारों की होड़, एक से बढ़कर एक घातक परमाणु अस्त्रों के अम्बार। तीसरे दुनिया के नवस्वाधीन गरीब विकासशील देशों का नव-साम्राज्यवादियों द्वारा शोषण, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा लूट। विश्वव्यापी साम्राज्यवादी युद्धोन्मादी शक्तियों द्वारा लोकतन्त्र का नाश, सरकारें पलटना, हत्याकाण्ड और व्यापक तौर पर अमानवीकरण। मजहब के नाम पर चलनेवाली बर्बर तानाशाही और राजशाही। मनुष्य की अस्मिता भंग हो रही है। मानव गरिमा का नाश हो रहा है। हर आदमी दुनिया में असुरक्षित महसूस करता है। हर आदमी डरा हुआ है। अरबों आदमी भूखे हैं, मगर उनकी रोटी का पैसा हथियारों में लग रहा है। किसी भी दिन—जानकर, अनजाने भूल से या एक्सीडेण्ट से विश्वयुद्ध शुरू हो सकता है और तब चन्द घण्टों में न मनुष्य जाति रहेगी, न उसकी सभ्यता और संस्कृति। मेरी नजर अपने घर से लेकर वियतनाम, निकारागुआ, नामीबिया तक है। मैं सिर्फ दिल्ली नहीं वाशिंगटन, मास्को, बीजिंग के तेवर भी देखता हूँ। हर देश की अपनी नियति होती है, पर अब विश्व की एक सामूहिक नियति भी है, जिससे बचा नहीं जा सकता।

मैं इसलिए लिखता हूँ कि एक तो मैं स्वयं मनुष्य को, अपने समाज को और दुनिया को समझना चाहता हूँ। मैं इसलिए लिखता हूँ कि व्यक्ति और समाज आत्मसाक्षात्कार और आत्मालोचन करे और अपनी कमजोरियाँ, बुराइयाँ, विसंगतियाँ, विवेकहीनता, न्यायहीनता त्याग कर जैसा वह है, उससे बेहतर बने। अन्धविश्वासों, झूठी मान्यताओं, अवैज्ञानिक आग्रहों और आत्मघाती रूढ़ियों से मुक्त हो। वह न्यायी, दयालु, संवेदनशील हो। दासता और परमुखापेक्षिता से मुक्त हो। मानव गरिमा की प्रतिष्ठा हो। मुक्तिबोध ने कहा है—जैसी दुनिया है उससे बेहतर चाहिए। सारा कचरा साफ करने को मेहतर चाहिए। व्यंग्य लेखक 'सिनिक' नहीं होता, न निराशावादी और न मानसिक रोगी। डाक्टर कैंसर के रोगी को बताय कि उसे कैन्सर है, तो वह स्वस्थ मानसिकता का है। पर अगर कैन्सर के रोगी को डाक्टर राग जैजैवन्ती सुनवाने लगे, तो डाक्टर जरूर मानसिक रोग से ग्रस्त है। मैं जानता हूँ, कई लेखक इस देश में कैन्सर से बीमार समाज को राग जैजैवन्ती सुनाते हैं।

वास्तव में मैं जो लिखता हूँ, वह विनोद या हास्य नहीं है। वह व्यंग्य है और लोगों का कहना सही है कि वह कठोर होता है। पर इस व्यंग्य का उत्स कटुता में

नहीं, करुणा में है। व्यंग्य मानव-सहानुभूति का बहुत ऊँचा रूप है। यह हास्य नहीं है, रुदन है, मगर अरण्य-रुदन नहीं है। मैं दुखी और बेचैन आदमी हूँ। कबीरदास ने कहा है--

सुखिया सब संसार है खावै और सोवै,
दुखिया दास कबीर है जागै और रोवै।

प्रगतिशील लेखक संघ की शाखाओं को पत्र*

प्रिय मित्रो और साथियो,

कुछ महीने पहले मैंने आपको सीधा पत्र लिखा था। मुझे प्रसन्नता है कि अनेक सदस्य मुझसे सम्पर्क रखते हैं और मुझे संगठन की गतिविधियों तथा समस्याओं की जानकारी मिलती रहती है।

इन महीनों में हमारा संगठन बढ़ा है। सामान्य लोगों में हमारे संगठन के प्रति रुचि जागी है और वे अपनापन महसूस करते हैं। हमारी पत्रिकाएँ अच्छी निकल रही हैं और पुस्तकों का प्रकाशन भी बढ़ा है। अब अच्छा लिखनेवाले नये लेखक को पुस्तक के प्रकाशन के लिए वैसा संघर्ष नहीं करना पड़ता जैसा मुझे या मेरे साथी लेखकों को 30-35 साल पहले करना पड़ा था। यह हमारे संगठन की ताकत है तथा हमारे लेखकों की रचनाओं का गुणात्मक स्तर है कि व्यावसायिक प्रकाशक भी आकर्षित हो रहे हैं।

इकाइयों के हमारे साथी यह महसूस करते होंगे कि व्यक्तिगत रूप से कोई भी जरूरी पुस्तकें और पत्रिकाएँ खरीदकर नहीं पढ़ सकता। कारण आर्थिक है। मैंने पहले पत्र में ही सुझाव दिया था कि कुछ ऐसी व्यवस्था हर इकाई में हो कि सरकारी रूप से पुस्तकें और पत्रिकाएँ खरीदी जायें और पढ़ी जायें। अध्ययन और साहित्य की ताजा स्थितियों की जानकारी आवश्यक है।

मेरा एक सुझाव और है। हर इकाई अध्यक्ष और सचिव के नाम से बैंक में संयुक्त खाता खोले। इस खाते में हर महीने कुछ धन डाला जाय। बड़ी रकम पर जोर नहीं है। सदस्य छोटी रकम ही दें पर हर महीने दें। फिर उन लोगों से भी पैसा लें जो चाहे सदस्य न हों, पर हमसे निकटता अनुभव करते हैं। ये सहर्ष देंगे। मैं अपने अनुभवों से जानता हूँ कि देनेवाले बहुत हैं —लेनेवालों की ही कमी है। हम तो शहर में किसी परिचर्चा के दौरान वहीं नागरिकों से बिना संकोच के पैसा

* 25 अगस्त, 1983

इकट्ठा कर लेते थे। बैंक में जमा यह पैसा आपको आयोजन के समय काम आयगा। बाहर से किसी लेखक को बुलायेंगे तब खर्च की झंझट नहीं होगी। रचना-शिविर आप इससे आयोजित कर सकेंगे। अभी ऐन मौके पर हड़बड़ी होती है। ऐसी रिपोर्ट मिली है कि कहीं तो बाहर से बुलाये गये लेखक को वापसी का किराया तक नहीं दिया गया। जो सुझाव मैं दे रहा हूँ उससे आपको काम करने में सुभीता होगा। आप कोष अवश्य बनायें।

इधर एक प्रवृत्ति देखने में आयी है। कुछ साथी लेखक पढ़ते-लिखते तो खूब हैं, पर संगठन में रुचि नहीं लेते। कार्यक्रमों में नहीं आते। यह गलत है। फिर यह भी होता है कि आमने-सामने आलोचना नहीं करते, पीठ-पीछे निन्दा करते हैं, अफवाहें फैलाते हैं, चरित्र-हनन तक करते हैं। निन्दा अत्यन्त नीच कर्म है। कायर ही निन्दा करते हैं। आत्मविश्वासी आलोचना करते हैं। निन्दा निन्दक की आत्मशक्ति का नाश करती जाती है। इन प्रवृत्तियों से गुट बनते हैं, गैर-जिम्मेदारी की बातें होती हैं, परस्पर द्वेष पैदा होता है और संगठन कमजोर तथा बदनाम होता है। इसलिए इकाई के लोग बैठकर परस्पर खुलकर आलोचना तथा आत्मालोचना करें—पीठ-पीछे निन्दा नहीं। अभी हमने जबलपुर में राज्य-नेतृत्व के कुछ सदस्यों की बैठक की जिसमें खुलकर आलोचना और आत्मालोचना हुई, जिससे कई समस्याएँ हल हुईं।

यह भी देखा जाता है कि कुछ लोग अपने को प्रादेशिक इस या उस नेता से सम्बद्ध बताते हैं और इस तरह गुट पैदा करते हैं। मैं साफ कह देना चाहता हूँ कि आपकी निष्ठा संगठन और विचारधारा के प्रति होनी चाहिए, व्यक्ति नेताओं के प्रति नहीं। यदि कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति इस प्रकार की व्यक्तिगत आस्था पैदा करने की पहल करें, तो उसे आप निरुत्साहित करें। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिगत मधुर सम्बन्ध न रखें।

कोई गलतफहमी हो, कोई शिकायत हो तो उसे व्यक्तिगत बातचीत या पत्राचार से दूर कर लें। उसे लेकर दुष्प्रचार नहीं करते फिरें। हमारे संगठन का चरित्र दूसरा है, उद्देश्य निश्चित हैं। हम ढीलमपोल—सब चलता है—की रीति पर काम नहीं कर सकते। सबकी सहमति से प्रदेश की कार्यकारिणी या कार्यकारी समिति सोच-समझकर नीति निर्धारित करती है, कार्यक्रम तय करती है। इकाइयाँ इस पर अमल करें। कोई मतभेद या सुझाव हों तो सीधे हमें लिखें। केन्द्रीय नेतृत्व की आलोचना, शिकायत, सन्देह सभी हमें आप लिख सकते हैं।

हर क्षेत्र में एक संयोजक है। क्षेत्रीय संयोजक की जिम्मेदारी इकाइयों में सहयोग तथा अनुशासन कायम करने की है। इसलिए इकाइयाँ क्षेत्रीय संयोजक से सम्पर्क रखें।

हमारे कार्यक्रमों में रचना और चर्चा-शिविरों का बड़ा महत्त्व है। अब मौसम अच्छा आ रहा है। आप अपने आसपास की इकाइयों के एक या दो दिवसीय शिविर आयोजित करें। इनमें सैद्धान्तिक और रचना-प्रक्रिया पर चर्चा के सिवा रचनाएँ लिखी भी जायेंगी। शिविरों की जिम्मेदारी प्रदेश सचिव डॉक्टर मलय पर है। आप

उनसे यथाशीघ्र सम्पर्क करें।

महासचिव ने 'स्वीकार' कार्यक्रम आयोजित करने के लिए पहले ही लिखा था। वे कुछ निर्देश और दे रहे हैं। 'स्वीकार' कार्यक्रम अभिनन्दन-कार्यक्रम नहीं है। यह विशिष्ट लेखकों के मूल्यांकन का कार्यक्रम है।

भोपाल इकाई की पत्रिका 'इसलिए' को संगठन की मुखपत्रिका बनाने का निर्णय कार्यकारिणी ने ले लिया है। अभी यह त्रैमासिक ही होगी। 'इसलिए' के अधिक से अधिक ग्राहक बनायें। यह भी याद रखें कि पहल, आकण्ठ, साम्य, सम्बद्ध, यात्रा, यथार्थ हमारी सहयोगी पत्रिकाएँ हैं। 'इसलिए' के सम्बन्ध में राजेश जोशी, भोपाल से सम्पर्क करें।

जिस इकाई का सम्बद्धता शुल्क नहीं भेजा गया, उसे तुरन्त कोषाध्यक्ष, प्रभार चौबे, चौबे कालोनी, रायपुर को भेजें। घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करके महासचिव ज्ञानरंजन को भेजें। नयी इकाई खोलें तो यह कार्यवाही पहले करें। पदाधिकारियों के पते कोषाध्यक्ष, कार्यकारी अध्यक्ष और महासचिव को भेजें। नयी इकाई क्षेत्रीय संयोजक की सहमति और जानकारी से खोलें।

नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, शमशेरबहादुर सिंह पर जो पुस्तकें 'महत्त्व' कार्यक्रम के सन्दर्भ में प्रकाशित की जानी हैं, उनका सम्पादन यथा-शीघ्र किया जाना चाहिए।

एक विशेष बात मुझे कहनी है। हम पढ़ते-लिखते, चर्चा करते तो हैं। जरूरी है कि हम अपने आसपास पर ध्यान देते रहें। देश में विघटनकारी, साम्प्रदायिक शक्तियाँ सक्रिय हैं। आप यदि अपने कार्यक्षेत्र में इस सम्बन्ध में चौकन्ना रहें तो इनकी खतरनाक हरकतों को पकड़कर जिम्मेदार लोगों तथा प्रशासन का ध्यान उन पर आकर्षित कर सकते हैं। आप स्वयं इन प्रवृत्तियों से लड़ सकते हैं। इस सम्बन्ध में आम लोगों को सही नजरिया दे सकते हैं। इससे वातावरण नहीं बिगड़ेगा और वारदातें रुकेंगी। इन शक्तियों पर कड़ी नजर रखना लेखकों का दायित्व हो गया है। दूसरे, कुछ देशी और विदेशी एजेन्सियाँ विभिन्न नामों से कल्याण और विकास के कार्यों में लगी हैं। इन्हें विदेशों से धन मिलता है और देशी धन भी। इनकी विशिष्ट कार्यशैली है। ये ग्राम-कल्याण, ग्राम-शिक्षा, ग्राम-विकास के कार्य करती हैं। इनके केन्द्र ग्रामों में हैं। जब परोपकारी अधिक होने लगें, तो चिन्ता होती है। आप इन कल्याणकारी एजेन्सियों की गतिविधियों पर विशेष ध्यान दें। ये कौन लोग हैं? विचार क्या हैं? कार्य-पद्धति कैसी है? इनके उद्देश्य क्या हैं? क्या कार्य करते हैं? इनका प्रभाव क्या पड़ रहा है? ऊपर से देखकर इन चीजों को समझा नहीं जा सकता। बारीकी से देखना होगा। इनकी कार्यप्रणाली जटिल और सूक्ष्म होती है। यदि इनकी गतिविधियों पर आपको शंका है, तो आप रिपोर्ट तैयार करें और एक प्रति हमारे पास भेज दें। हम इन्हें बेनकाब करेंगे, तथा शासन को भी सचेत करेंगे। आप समझ ही रहे होंगे कि मेरे यह लिखने के कुछ ठोस आधार हैं।

कवि शरद बिल्लौरे को, जो युवावस्था में ही हमें छोड़ गये थे, इस वर्ष का 'भारतभूषण अग्रवाल' पुरस्कार उनके काव्य-संग्रह 'तय तो यही हुआ था' पर मिला है। इस काव्य-संग्रह से हमने अपने 'बुक क्लब' में प्रकाशन शुरू किया था। शरद बिल्लौरे तो नहीं रहे पर हम सब गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

'बुक क्लब' की दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जहाँ से सदस्यता-शुल्क नहीं आया, शीघ्र भेजें, ताकि तीसरी पुस्तक जल्दी प्रकाशित की जा सके।

आगामी अक्टूबर-नवम्बर के अवकाश में 'अध्ययन वृत्त' का एक कार्यक्रम बनाया गया है। महासचिव ने आपको सूचित कर दिया होगा। आप लोग इसे सफल और सार्थक बनायें।

मेरा निवेदन, कि संगठन को बढ़ायें, मगर अविश्वसनीय और गैर-जिम्मेदार लोगों को दूर रखें। लेखन और अध्ययन तीव्रगति से चलायें।

आपकी किसी प्रकार की कठिनाई में सहायक होने में मुझे प्रसन्नता होगी।

सस्नेह आपका
हरिशंकर परसाई
अध्यक्ष

'पंचतन्त्र'-संगोष्ठी का उद्‌घाटन भाषण*

अध्यक्ष महोदय, सचिव, साहित्य परिषद्,
विद्वज्जनो, तथा भाइयो और बहनो,

आज आप लोग 'पंचतन्त्र' के सम्बन्ध में विचार करने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं। पंचतन्त्र जीवन-विवेक सिखाने और नीति-बोध करानेवाला प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें कथा के माध्यम से तत्व-चिन्तन होता है और नीति तथा विवेक की शिक्षा दी जाती है। पंचतन्त्र के सिवा, हितोपदेश, कथा-सरित्सागर, बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी आदि में भी कथा को ही विवेक, बोध और नीति की शिक्षा का माध्यम बनाया गया है। मूल उद्देश्य विष्णु शर्मा का या अन्य मनीषियों का, कथा कतई नहीं है। कथा माध्यम है, शैली है। इसलिए कि सम्प्रेषण का रोचक माध्यम कथा होता है। पठनीयता किसी भी लेखन की जरूरी शर्त है। अगर रुचिपूर्वक कोई चीज पढ़ी ही नहीं जायगी तो उसमें भरा हुआ ज्ञान पोथी में ही सड़ता रहेगा। लोककथाएँ भी इसीलिए इतनी लोकप्रिय हैं कि वे रोचकता के साथ सहज ही ज्ञान

* वर्ष, 1983

प्रदान कर देती हैं।

दुनिया की सभी जातियों ने आरम्भ से ही तत्व-चिन्तन और जीवन-बोध के लिए कथा का सहारा लिया है। परन्तु भारत में इस प्रकार के साहित्य का अपार भण्डार है जिसे ग्रीक ले गये, अरब ले गये, दूसरी अनेक जातियाँ ले गयीं। इन जातियों का प्राचीन बोध-साहित्य बहुत अंशों में भारत की प्राचीन बोध-कथाओं की नकल है। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो 'ईसप्स फेबल्स' हितोपदेश और पंचतन्त्र की तुलना में बहुत छोटी पड़ती हैं। कथा-बोध का यह सिलसिला वेदों से ही शुरू होता है। फिर उपनिषदों में भी कथा का सहारा लिया गया है। जीवन, मृत्यु और मृत्योपरान्त नियति के विषय में चिन्तन के लिए भारतीय मनीषी ने नचिकेता की कथा का माध्यम लिया है। फिर पुराण हैं, जिनमें कुछ अंश इतिहास, लेकिन ज्यादा अंश कल्पना है। 'माइथालॉजी' दुनिया की हर जाति की है, पर भारतीय माइथालॉजी भी सबसे सम्पन्न और उसकी फन्तासी आश्चर्यजनक है। मैं यह जातीय गौरव को स्फीत करने के लिए नहीं कह रहा हूँ। यह तथ्य है। वैसे बाइबिल में भी कथाएं हैं, जिनसे बोध कराया जाता है। इस्लाम के प्रचार के लिए भी कथाएँ व फन्तासी है। मैं कहानी लिखता हूँ। मुझे यह कठिनाई बराबर आती है कि जो मैं कहना चाहता हूँ, वह मेरे इन पात्रों में से कोई नहीं कह सकता। तो क्या करूँ? क्या मैं कहानी के बीच में निबन्ध का टुकड़ा डाल दूं। पर इससे कथा-प्रवाह रुकेगा। तो फिर क्या एक और पात्र निर्मित करूँ जो मेरी बात कह दे। पर यह अस्वाभाविक और अविश्वसनीय हो जायगा। अभी मैंने कहानी लिखी जिसका नायक डॉक्टर आफ साइंस है, आधुनिक है। वेशभूषा, रहन-सहन पश्चिमी है। मगर वह बाहर बैठक में गेलीलियो और आइन्सटीन के चित्र लगाये है और भीतर हनुमानजी, तथा सत्य साईं बाबा के। शनिवार को वह हनुमान के दर्शन करने जाता है। वह मानता है कि उसे डॉक्टरेट हनुमानजी की कृपा से मिली और प्रोफेसर वह सत्य साईं बाबा की कृपा से हुआ है। वह जातिवादी है। आधुनिकता और मध्ययुगीनता उसमें साथ-साथ है और वह एक सांस्कृतिक बौद्धिक विकृति हो गया है। इस बात को मैं कहानी में कैसे कहूँ? मैंने ठीक विष्णु शर्मा की शैली अपनायी कि कथा को अभी स्थिर रहने दो। 'जैसा कि कहा गया है'—की भूमिका से। 'पंचतन्त्र' में विष्णु शर्मा सदियों के मानव जाति के अनुभव और निष्कर्ष के आप्त वचन-जैसे कथा के बीच में डालते जाते हैं। जैसे—अतिथि के आने पर जिस गृह का स्वामी उपेक्षा-पूर्वक इधर-उधर दिशाओं की ओर देखने लगता है, उस घर में अथिति के रूप में जानेवाले व्यक्तियों को सींग-रहित बैलों के समान ही समझना चाहिए। (हिरण्यक ताम्रचूड़ कथा) या किसी विश्वस्त ग्राहक को दूकान की ओर आते हुए देखकर व्यापारी सन्तुष्ट होकर सोचता है कि आज तो लूटने का अच्छा मौका मिला। वह उस ग्राहक के आगमन से इतना प्रसन्न होता है जैसे उसके घर में पुत्र उत्पन्न हो गया हो। (मित्रभेद)। इसमें कथा स्थिर है। अप्रत्याशित और चामत्कारिक अन्त इस कथा का होगा, जिसमें अन्तिम सूत्र मिलेगा। पर बीच-बीच में ये वक्र वक्तव्य

कथाकार देता जाता है।

मैंने दुहरे व्यक्तित्ववाले विज्ञान के आधुनिक आचार्य की कहानी में वेखटके अपना वक्तव्य इसी तरह डाल दिया, क्योंकि मुझे लगा कि पूरे यथार्थ को और उसके निष्कर्ष को कहानी के (Well made story) 'फार्म' में नहीं कहा जा सकता। कहानी के इस फार्म को तोड़ना ही पड़ेगा। मैंने यह अपना वक्तव्य उस कहानी में डाल दिया—

आधुनिकता, वैज्ञानिकता उन्होंने ऊपर से पूरी तरह ओढ़ ली है। मगर भीतर उनकी आत्मा में अपनी जाति ने जो कुसंस्कारों, अन्धविश्वासों, मिथ्याचारों, रूढ़ियों की विष्टा हजारों सालों से जमा की है, वह रखी है। रासायनिक विधि से उन्होंने उस विष्टा को ताजा रखा है। वरना विष्टा जिसे 'मैला' कहते हैं बहुत अच्छा खाद है, जो गोभी-जैसी अच्छी फसल देता है। अगर ये पुनरुत्थानवादी आधुनिक अपने अतीत के इस मैले को आत्मा में न रखते, वह आम मनुष्य की चेतना के खेतों का खाद बन जाता, तो स्वस्थ विश्वास, वैज्ञानिक दृष्टि, तर्कपूर्ण जीवन-मूल्य की फसल आ जाती। मगर ये अधूरे मिथ्या आधुनिक बुद्धिवादी उस मैले को खाद नहीं बनने दे रहे हैं !

यहाँ 'पंचतन्त्र' में विष्णु शर्मा की शैली है। हितोपदेश में निष्कर्ष अन्त में होता है। मगर महाकाव्यों में कथा के चलते इस तरह के सैद्धान्तिक या नीति सम्बन्धी वक्तव्य चलते रहते हैं। इसके लिए कवि-मनीषी स्थिति उत्पन्न करता है। महाभारत में जब द्रौपदी दाँव पर लगायी जाती है, तब वह क्रुद्ध, वाचाल हो उठती है और भीष्म तथा द्रोणाचार्य से पूछती है—बताइए, क्या स्त्री सम्पत्ति है जिसे पति जुए के दाँव पर लगा दे। व्यास को इस प्रश्न का निर्णायक उत्तर चाहिए। सयाने ज्ञानी हतप्रभ होते हैं। भीष्म आखिर कहते हैं—स्त्री पति की सम्पत्ति नहीं होती, पर अनुगामिनी होती है। इसी तरह महाभारत में यज्ञ-प्रसग है जो कथा के लिए अनावश्यक है, पर युधिष्ठिर के मुख से व्यास को तत्व-बोध कराना है, इसलिए वे चार पाण्डवों के गायब होने की घटना रचते हैं और यक्ष से पाँच प्रश्न करवाते हैं। धर्म क्या है ? इस अन्तिम प्रश्न का उत्तर धर्मराज भी नहीं जानते। यह क्या धर्म की व्याख्या हुई। भीष्म को सूर्य के उत्तरायण होने तक शर-शैया पर लिटाये रहने का कथा से कोई मतलब नहीं है। यह प्रसंग ही भीष्म के माध्यम से ज्ञान, विवेक, नीति और धर्म की व्याख्या के लिए है।

तुलसीदास इस मामले में सबसे ऊँचे और अद्भुत हैं। जितना जीवन-विवेक रामचरितमानस में है, उतना मेरी दृष्टि से किसी महाकाव्य में नहीं है। हर अर्द्धाली का आधा हिस्सा नीति और जीवन-बोध का है। वर्षा हो रही है। राम और लक्ष्मण बैठे हैं। दूसरा कवि घहराते बादल, चमकती बिजली, हरियाली का वर्णन करता पर तुलसीदास इस प्रसंग को ज्ञान और बोध के काम में लाते हैं—

दामिनि दमक रह न घन माहीं,
खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं।

हरियाली छायी है। आँखों को तृप्ति देती है। आल्हादकारी दृश्य है। मगर तुलसीदास कहते हैं—

हरित भूमि तृन संकुल, सूझि परहिं नहिं पन्थ,
जिमि पाखण्ड विवाद तें, लुप्त होहिं सद्ग्रन्थ।

जीवन की हर स्थिति, हर प्रसंग, हर समस्या में आचरण का एक सूत्र तुलसीदास ने दिया है—

परहित सरस धरम नहिं भाई,
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।

और—

नमन नीच की अति दुखदाई।

मैं 'पंचतन्त्र' पर लौटता हूँ। कौन विष्णु शर्मा थे। वह राजा कौन था जिसने अपने मूर्ख पुत्रों की शिक्षा का कार्य विष्णु शर्मा को सौंपा था? कहाँ था वह राज्य? क्या वह राजा ऐतिहासिक वास्तविकता था? क्या पंचतन्त्र सामन्तवाद की शिक्षा देता है या लोक-शिक्षण करता है? इन प्रश्नों के उत्तर आप विद्वान खोजेंगे। मेरी दृष्टि में यह पूरी फेन्टेसी है---नाम से लेकर स्थान तक। इसमें पाटलिपुत्र दक्षिण में बताया गया है। इसमें जनपद भी हैं और राजा भी है।

पर इस तरह के साहित्य से तत्कालीन जीवन के बारे में जानकारी मिल जाती है। मैं चकित रह गया जब पढ़ा कि ऋग्वेद की एक ऋचा में उषा के आह्वान में ऋषि ने कहा है—हे उषा, तू अन्धकार का ऋण की तरह नाश कर! याने वैदिक काल में कम्बख्त महाजन सूदखोर बैठ गया था और ऋणी उससे इतना त्रस्त था। राजा वैदिक काल में भी होता था पर उसका निर्वाचन होता था। बाद में गण बने। पूर्ण सामन्तवाद की स्थापना सम्भवतः महाभारत काल में हुई। शुद्ध सामन्तवाद Dynastic feudalism! पहले कुल और गोत्र के व्यक्ति को मारना वर्जित था। अर्जुन ने कृष्ण से यही कहा था कि वह मेरे गोत्र का है, वह मेरा चचेरा भाई है, वह मेरा मामा है, वे मेरे पितामह हैं। इन्हें कैसे मारूँ? कृष्ण ने कहा कि होने दे, तू इन्हें मार और राज कर। मैं इन्हें पहले ही मार चुका। तू तो—'निमित्त मात्रं भव सव्य साचिन'। फिर कृष्ण ने सारे छल, प्रपंच, कपट, षड्यन्त्र, अनीति, अधर्म के आचरण किये और पाण्डवों से करवाये। पूर्ण सामन्तवाद के लिए यह सब जरूरी है। पर कौरवों ने नीति-विरुद्ध कुछ नहीं किया।

आप लोग पंचतन्त्र के काल की समाज व्यवस्था, राजतन्त्र आदि की व्याख्या करेंगे। मुझे तो पढ़ते-पढ़ते 'क्षपणक कथा' में यह कथन पकड़ में आ गया—'यदि तुझे एक वर्ष में नर्क जाना है तो तू मठाधीश बन जा और यदि तीन महीने में नर्क जाना है तो तू पुरोहित बन जा।' मैं ब्राह्मण का बेटा हूँ। दुख होता है कि पंचतन्त्र के समय में ही ब्राह्मण देवता ने अपनी कितनी दुर्गति कर ली। कायिक श्रम त्यागा, उत्पादन कुछ नहीं सीखा, चरण स्पर्श कराये, आशीर्वाद दिया और दान-दक्षिणा पा ली। पौरोहित्य की जटिल टेकनीक बनाकर उस पर एकाधिकार कर लिया।

कालान्तर में यह ब्राह्मण देवता भ्रष्ट हुआ, दीन हुआ, भिखमंगा हुआ। मठ भ्रष्टाचार का अड्डा तभी हो गया था। और पौरोहित्य ऐसा पाप हो गया था जिससे तीन महीने में ब्राह्मण देवता नर्क पहुँच जाते हैं।

पंचतन्त्र, हितोपदेश, कथा-सरित्सागर, बैताल पच्चीसी लोक में फैले। वे बहुत आभिजात्य-साहित्य कभी नहीं माने गये। अभिजात वर्ग के हित साधक चिन्तकों ने इन्हें 'क्लासिक' भी नहीं माना। ये वास्तव में लोक-साहित्य की कोटि में आते हैं और आभिजात्य तथा सामन्त वर्ग ने इन कथाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखा, क्योंकि एक तो इनमें लोकतत्व है, दूसरे इनमें सजावट नहीं है, तीसरे ये सामन्त वर्ग का हित-साधन सायास नहीं करतीं। वैसे इन कथाओं में राजनीति, कूटनीति और सामन्ती मूल्य भी मिलेंगे पर जिस सामन्त को राजनीति के छल-छन्द सीखना होगा, वह कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' पढ़ेगा। प्रजा का अज्ञान और अन्धविश्वास ! पंचतन्त्र नहीं पढ़ेगा। ये लोक-साहित्य के संस्कृत कथाग्रन्थ दबाये भी गये होंगे। इन्हें साहित्य मे प्रतिष्ठा भी नहीं मिली। इनके साथ वैसा ही सलूक हुआ जैसा चार्वाक के पदार्थवादी 'लोकायत' दर्शन के साथ हुआ। नये मार्क्सवादी चिन्तक भी 'लोकायत' पर विशेष ध्यान दे रहे हैं। कबीरदास को भी कई शताब्दी तक कवि नहीं, गाली देनेवाला गँवार और ऊट-पटाँग रहस्यवादी माना जाता रहा है। जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कबीर की कविताओं का अनुवाद छपवाया—'हण्ड्रेड पोएम्स आफ कबीर' और लिखा कि मैंने कबीर से बहुत सीखा है, साथ ही आचार्यद्वय क्षितिमोहन सेन और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब कबीर तथा अन्य सन्त कवियों पर काम किया, तब कबीरदास प्रतिष्ठित हुए।

'पंचतन्त्र' के साथ भी ऐसा हुआ है। आप विद्वज्जन यहाँ इस ग्रन्थ पर विचार करेंगे तो इसका वास्तविक मूल्यांकन होगा।

एक प्रश्न है कि क्या इन कथाओं को आधार बनाकर इसी शैली में समकालीन जीवन को लिखा जा सकता है? मुझसे एक वयोवृद्ध राजनेता ने पूछा कि मैं 'पंचतन्त्र' के आधार पर आधुनिक जीवन को लिखूँ तो कैसा रहे ? मैंने कहा—जरूर लिखिए। आप जीवन-भर राजनीति में रहे हैं। आप 'प्रपंचतन्त्र' लिख डालिए।

मेरी जानकारी में बहुत लोगों ने 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश' आदि की शैली पर वर्तमान जीवन सन्दर्भ में कथाएं लिखी हैं। गुजराती में विनोद भट्ट ने बैताल छब्बीसी लिखी है। 'नया पंचतन्त्र' नाम से भी कई लोगों ने कथाएँ लिखी हैं। मैंने भी इन कथाओं का बहुत प्रयोग किया है।

मैंने बैताल पच्चीसी को आगे बढ़ाने की कोशिश की थी, पर मैंने अभी तक 3 कथाएँ ही लिखी हैं। मैं आपको बैताल की अट्ठाईसवीं कथा सुना देता हूँ—

[कथा-पाठ]

इस वक्तव्य और कथापाठ के साथ मैं औपचारिक रूप से इस 'पंचतन्त्र'-संगोष्ठी का उद्घाटन करता हूँ। आप एकत्र विद्वान इस ग्रन्थ पर अधिकारपूर्वक विचार करेंगे।

पुस्तकों पर लिखी गयी भूमिकाएँ

मेरी एक बात और*

भूमिकावाले पन्नों को झट उलटाकर पहिली कहानी पर कूद पड़ने की जिन्होंने आदत डाल ली है, वे भी इसे पढ़ें; नहीं तो 1।।) (डेढ़ रुपये) की किताब में से लगभग 1। =) (एक रुपया छः आने) की कहानियाँ ही पल्ले पड़ेंगी—और हमारा क्या बिगड़ेगा ? इसे मिलाकर कुल 15 रचनाएँ हैं, इस पुस्तक में।

कहानियों को लिखकर फिर एक लम्बी भूमिका में कहानियों को खुद समझाऊँ या किसी महिमा-मण्डित साहित्यकार से समझवाऊँ, तो पढ़नेवाले की बुद्धि पर भरोसा खोकर ही यह सम्भव है और जिस कहानी को व्याख्या की आवश्यकता पड़ जाये, वह शायद कहानी होने से इन्कार भी कर दे। वैसे कहानी के बाल में अगर खाल होती होगी, तो वह तो पुस्तक प्रकाशित होने पर खींची ही जायेगी—आलोचक भाइयों द्वारा।

मेरी बात बहुत सीधी है। इत्र और साहित्य को साथ रखकर बेचनेवाली चौराहे की दूकान की पट्टी पर मैं रोज घण्टे-दो घण्टे बैठकर सामने सड़क पर से सतत प्रवहमान जन-जीवन को देखता हूँ—इस नियमितता से बैठता हूँ कि 'मैं खोई हुई वह चीज हूँ, जिसका पता तुम हो' वाली बात 'फिट' हो जाती है।

सामने से लोग निकलते हैं—तरह-तरह के ! लम्बे बालों को झटके के साथ पीछे फेंक, मटककर, नागिन-सा बल खाता हुआ साइकिल चलानेवाला नाजुक बाबू, 'शोभा ही के भार' से जिसके पाँव 'सधे' नहीं पड़ते ऐसी वह तरुणी; सारे संसार के दुख को अपने भीतर भरकर आँखों के झरोखों से दिखानेवाला वह बूढ़ा; 'हलो पार्टनर' कहकर ठीक चौराहे पर दोस्त के हाथ पर हाथ मारकर अट्टहास करनेवाला वह कॉलेज का विद्यार्थी-- और तरह-तरह के लोग !

लेकिन एक दिन ! एक आदमी आकर वहाँ खड़ा हो गया और बोला, "भैया, दुनिया में दो ही तरह के आदमी होते हैं—हँसनेवाले और रोनेवाले !"

मैंने कहा, "और जो न हँसते हैं, न रोते हैं ?"

वह बोला, "वे आदमी थोड़े ही हैं।"

मैं बोला, "उन्हें लोग देवता कहते हैं।"

वह बोला, "देवता होते होंगे तो हों, मगर आदमी नहीं होते।"

* हँसते हैं···रोते हैं, प्रथम संस्करण—मई 1953

बात बहुत ज्ञान से भरी उक्ति-जैसी शायद नहीं है। और तात्विक विवेचन को फिलहाल छोड़ दें, तो मैं देखता हूँ कि आँखों के सामने से जो इतने लोग निकल जाते हैं तो कोई हँसता है, कोई रोता है। हंसने और रोने के संयोग से ही बना हुआ तो मनुष्य दिखता है।

हँसता हुआ मुख दुर्लभ है। हम इसी उम्मीद से यहाँ बैठे रहते हैं कि दस-पाँच वास्तव में प्रसन्न मुख दिख जावें—दुखाक्रान्त इस भीड़ में।

सच्ची हँसी बड़ी अच्छी चीज है और जिन्हें मन के दुख की बीमारी हो वे मेरा यह नुस्खा नोट कर लें—वे किन्हीं ऐसे आदमियों की हँसी में स्नान कर लें जो निश्छल, निःस्वार्थ, निर्मल हँसी हँस रहे हों—रोग दूर हो जायेगा।

लेकिन एक खास किस्म के मरीज भी होते हैं जिन्हें निज का कोई दुख नहीं होता पर जो इसलिए दुखी हैं कि वे देखते हैं, दूसरे सुखी हैं। इनका मर्ज ला-इलाज है।

बात यह है कि दूसरे के दुख में दुखी होना आसान है; दूसरे के सुख में सुखी होना बहुत मुश्किल है।

तो आदमी को मैंने जैसे हँसते और रोते देखा, वैसा ही उतारा है, इन कहानियों में। आदमी की वास्तविक जिन्दगी को कहीं छोड़ा नहीं है। थोड़ी उड़ान भरी है, तो उस पंछी-सी जो दाना बीनने उड़ जाता है पर फिर नीड़ में लौट आता है। उस परिन्दे-सी नहीं जो उड़ जाता है तो उड़ जाता है और घोंसले की सुध नहीं रहती। केवल नीले आसमान की रंगीनी से लुभाकर हरी-भरी जमीन छोड़ देने की मूर्खता हमसे करते नहीं बनती।

और साफ कहूँ तो यह कि इन कहानियों में अनेक पात्र ऐसे हैं जिनकी कहानियाँ मैं तब लिखना चाहता था जब वे इस संसार में न हों—शिष्टता का तकाजा है। मगर मैं बरसों इन्तजार करता रहा, पर उन्होंने मरने का नाम नहीं लिया। मजबूर होकर मैंने कहानियाँ लिख दीं। और अब मैं चाहता हूँ वे कम-से-कम हजार वर्ष जियें।

अब आप हँसने और रोने की बात पढ़ें। यह बात अभिमान होने से बच जायेगी अगर मैं कहूँ कि जहाँ मैंने हँसाना चाहा है, वहाँ आप जरूर हँसेंगे और जहाँ रुलाना चाहा है वहाँ जरूर रोवेंगे—याने दिल रोवेगा, आँखें चाहे न रोवें क्योंकि वे कम्बख्त धोखेबाज भी तो होती हैं।

और क्या कहूँ? कहानियाँ सब अच्छी हैं; बहुत अच्छी हैं। शैली के मामले में मैं किसी की नकल करने से साफ बच गया हूँ। पदचिन्ह अगर कहीं किसी के दिख गये हैं, तो उनको बचाकर निकला हूँ कि कहीं मेरे पैर उन पर न पड़ जावें!

भाषा जैसी बोलता हूँ, वैसी ही लिखी है।

बस!

"मैं आपनि दिसि कीन्ह निहोरा!"

एक रिवाज*

हिन्दी में एक आम रिवाज है। हम शोर मचाते हैं—हमारे यहाँ इस चीज का अभाव है और उस चीज का। इस पार्श्व-संगीत के साथ हर पुस्तक इस दावे से फेंकी जाती है कि लो अभागो, इससे अभाव की पूर्ति हो गयी। मेरी यह पुस्तक किसी अभाव की पूर्ति नहीं करती।

पुस्तक इस दावे के साथ भी उछाली जाती है कि यह चीज एकदम नयी है; देखो और चौंधियाओ। ये निबन्ध बिल्कुल नये नहीं हैं। हिन्दी में निबन्ध की अत्यन्त समृद्ध परम्परा है; कहानी से पुरानी।

(यहाँ मैं आलोचक को समय देता हूँ कि वह पुस्तक यह कहकर फेंक दे कि न यह नयी चीज़ है, न किसी अभाव की पूर्ति करती है।)

अँगरेजी में 'पर्सनल एस्से' होता है। हिन्दी में ऐसे निबन्धों को 'आत्मपरक' निबन्ध कहकर काम निकाला जा रहा है। पर मेरे ये निबन्ध मेरी आत्मा की परिक्रमा नहीं करते—मेरी आत्मा में न मन्दिर है, न प्रभु-प्रतिमा ! कुछ ने इन्हें 'ललित निबन्ध' कहा, तब दूसरों ने रोका कि यह बूर्जुआ नाम है। (लालित्य भी बुर्जुआपन है !) 'कृति' में इन्हें 'खाता-वही' में डाला गया। गुण-भेद से कतराकर आकार-भेद से 'लघु निबन्ध' भी कहा जाता है। कुछ ने इन्हें 'हास्य निबन्ध' कहकर छुट्टी पायी। अब मन में यह अभिमान सिर उठाये कि यह विशेष चीज है, जिसका नाम तक होना बाकी है—इसके पहिले यह बात समाप्त करता हूँ।

पिछले 5-6 वर्षों में लिखे गये निबन्धों में से 21 यहाँ संग्रहीत हैं। 'भूत के पाँव पीछे' नहीं देना चाहता था, पर शीर्षक अच्छा है। पुस्तक के नाम की सुविधा के लिए इसे शामिल किया गया। 'सुनो भई साधो' बहुत लोकप्रिय हुआ, पर मुझे इस विषय से स्वयं अरुचि हो गयी है। इसमें कवियों का मजाक है, जो घिसता जा रहा है। जैसे कुछ सा[illegible] पहिले स्त्रियों का मजाक। इस विषय को मैंने हमेशा के लिए छोड़ दिया।

प्रूफ़ देखने से लेकर आवरण बनवाने तक की जिम्मेद[illegible] भाई शरद जोशी ने निभायी। भाई अक्षयकुमार ने आरम्भ से अन्त तक इसे [illegible]ना ही काम माना। साथी लेखक के प्रकाशन में इस तरह सहायक होना, क्या [illegible] लेखक को शोभा देता है ? इन्हें क्या धन्यवाद दूं ?

श्री भाण्ड ने रूप-सज्जा दी और श्री रमेशचन्द्र सिंहल ने प्रकाशन की व्यवस्था की। 'चन्द्रा प्रिन्टर्स' के चन्द्रा बन्धुओं ने पुस्तक को 'भोगते' हुए रुचि से छापा। इन सबका आभारी हूँ।

लीजिए, अब पन्ना पलटकर देखिए, अपना 'पहिला सफेद बाल'।

* भूत के पाँव पीछे : 1954

अपनी बात*

यह तीसरा संग्रह है। पहिले 'सती का बेटा' नाम से प्रेस में गया था। पर यह 'बेटा' प्रेस को अनाथालय समझ बैठा। वहीं बस गया। यह डेढ़ साल पहिले की बात है। तब की बात और थी। फुसलाकर बाहर निकाला गया। अब वही कहानियाँ कुछ नयी रचनाओं के साथ नया नाम लेकर इस संग्रह में आयी हैं। इस संग्रह के आधार पर अगर यह निर्णय लिया गया कि इस बीच, मैं आगे बढ़ा या पीछे हटा, तो भूल हो जायेगी। इसकी कई रचनाएँ बिल्कुल हाल की हैं, अन्य वर्षों पहिले की।

पहिली दो पुस्तकों की समीक्षाएँ जहाँ-तहाँ हुईं। देखीं। समीक्षा-शास्त्र में कई प्रकार की आलोचना-पद्धतियाँ लिखी हैं। लिखी होंगी। हिन्दी में सबसे प्रचलित और लोकप्रिय पद्धति है—अपनों की प्रशंसा और परायों की निन्दा। यह बड़ी स्पष्ट, सरल और उलझनविहीन पद्धति है। इसके मानदण्ड भी स्थिर और शाश्वत् हैं। दोनों का शिकार हुआ।

समीक्षा के स्टेण्डर्ड की बात कहूँ, तो किसी-किसी पत्र की समीक्षा पढ़कर मुझे ऐसा लगा, कि शायद कम्पोजीटर से समीक्षा करा दी है।

एक समीक्षक ने पुस्तक के 10 हजार वाक्यों में से एक वाक्य ढूंढ़कर कहा—देखो, यह वाक्य शिथिल है। समुद्र में खूब गहरा गोता लगाकर मुट्ठी में कीचड़ भर लाये और शान से दिखा दी। कुछ ने बिना पढ़े कहा कि धन्य है; श्रेष्ठ है!

लेकिन कुछ आलोचनाएँ अच्छी, निष्पक्ष और स्पष्ट हुईं। इनमें बुरा भी कहा गया और भला भी।

अपनी कहानियों के बारे में कुछ कहने में डर लगता है। पहिले संग्रह के वक्तव्य को पढ़कर कुछ विद्धज्जनों ने कहा था कि उसमें मेरा अहंकार दहाड़ रहा है। मैंने खुद अपनी कहानियों को 'अच्छा' कह लिया था।

अन्तिम कहानी का नाम संग्रह का नाम है—'तब की बात और थी।' इस कहानी के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है, अन्य कहानियों से अधिक प्रिय भी यह नहीं है। पर शीर्षक बहुत अच्छा है। भावात्मक कहानी है। मुझसे पूछा गया कि कहानी की नायिका जिस पुरुष को चाहती थी, उसे फिर तुनककर त्याग क्यों देती है? यह क्या कोरी भावुकता नहीं है? भावुकता तो है। व्यावहारिक दृष्टि से वह नादान भी लगती है। पर उसमें मैंने वह चीज देखी, जिसे शरत की राजलक्ष्मी ने अभया में 'आग' कहा है। कहानी की नायिका को मैं जानता हूँ। उसके आत्म-सम्मान ने मुझे आकर्षित किया, उसकी 'आग' से मैं अभिभूत हुआ। मैंने कहानी लिख दी, यद्यपि विवाह करने के लिए समझानेवालों में, मैं सबसे वाचाल था।

'बाबू की बदली' कहानी की नायिका के सम्बन्ध में कई स्त्रियों ने ही मुझसे

* तब की बात और थी, प्रथम संस्करण—जून, 1956

कहा कि यदि छल, कपट से बाध्य हो बाबू की पत्नी का अफसर से शरीर-सम्पर्क हो गया, तो क्या उसे मर जाना चाहिए था ? क्या आप स्त्री की गुलामी का समर्थन करते हैं ? क्या स्त्री केवल पुरुष की भोग्या है ? क्या पर-पुरुष से अनिच्छापूर्वक सम्बन्ध हो जाने से ही स्त्री अपवित्र हो जाती है ? आपने इस स्त्री से समर्पण क्यों कराया ? क्या वह प्रतिकार नहीं कर सकती थी ? क्या वह अफसर का गला नहीं घोंट सकती थी ?

इतने सारे सवाल। मैंने कहा कि मैं नारी की गुलामी का समर्थक नहीं। अनिच्छापूर्वक ही क्यों, इच्छापूर्वक भी अगर नारी का सम्पर्क अन्य पुरुष से हो जाय, तो भी वह एक हद तक क्षम्य है। परस्त्रीगामी पुरुष का भी तो कुछ बिगड़ता नहीं। पर कहानी की नायिका अगर प्रतिकार कर देती, तो व्यक्ति के इस प्रतिकार से हम सन्तोष का अनुभव-भर कर लेते। बड़े पद और धन के प्रभाव से मातहतों की स्त्रियों की इज्जत लूटना, बड़े परिमाण में एक सामाजिक बुराई है, जिसका अन्त व्यक्ति के प्रतिकार से नहीं होगा। हर आदमी के हाथ में बन्दूक दे देने से क्रान्ति नहीं हो जायेगी। ऐसी सामाजिक बुराई के लिए सामाजिक करुणा और सामाजिक रोष को जगाना होगा, संगठित सामाजिक संघर्ष करना होगा। बाबू की पत्नी के बलिदान में यही प्रयोजन है।

यह भी कहा गया है कि मेरा व्यंग्य बड़ा कटु होता है। होता तो है। पर चट्टान-सी बुराई पर अगर कोई सुनार की छोटी हथौड़ी से प्रहार करे, तो यह उसकी नासमझी ही कही जायेगी। चट्टान पर तो लुहार के घन का भरपूर हाथ ही पड़ना चाहिए। सामाजिक बुराइयों के प्रति मैं बहुत कटु हूँ। शेर को 'टायगन' से जिस दिन मारना सम्भव हो जायगा, उस दिन फिर सोचूंगा कि क्या करूँ।

अपनी रचनाओं के बारे में कुछ और कहना नहीं चाहता। संग्रह में कहानियाँ, रेखाचित्र, लघुकथाएँ, प्रतीक-कथाएँ, Fables सब हैं।

मुझे तो ये सब महान् कलाकृतियाँ लग रही हैं; सबको अपनी ऐसी ही लगती हैं; कह देने और नहीं कह देने का फर्क है।

परम स्नेही भाई रामेश्वर गुरु ने इस पुस्तक के प्रकाशन की व्यवस्था की है। पहली पुस्तक भाई अर्जुन मनजी राठौर और दूसरी पुस्तिका भाई नत्थूलाल सराफ के प्रयत्नों से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का कवर विश्वनाथ ने बनाया है। इन सबको धन्यवाद दूं, तो शब्द कहाँ से लाऊँ।

1 जून, 1956
जबलपुर

भूमिका[1]

मैं आज भी नहीं समझ पाता कि 'तट की खोज' बहुत साल पहले मुझसे कैसे लिखा गया। यह एक ऐसी कहानी है जिसे लघु उपन्यास कहा जाता है। मूल घटना मुझे अपने कवि मित्र ने सुनायी थी। वे काफी भावुक थे। मेरी उम्र भी तब भावुकता की थी। कुछ रूमानी भी था। तार्किक कम था। तभी तगादा लगा था 'अमृत प्रभात' के दीपावली विशेषांक के लिए किसी लम्बी चीज का। जल्दी का मामला था। मित्र ने जो घटना सुनायी थी वह मेरे मन में गूंज रही थी। मेरी संवेदना कहानी की उस लड़की के प्रति गीली थी। मैंने दो रात जागकर इसे लिख डाला।

लिखकर पछताया। छपा तब और पछताया। और अब जब यह 'वाणी प्रकाशन' से प्रकाशित हो रहा है तब भी मैं पछता रहा हूँ। अब मैं इस रचना का सामना नहीं कर सकता। मेरी एक-तिहाई रचनाएँ ऐसी हैं जिनका सामना करते मैं डरता हूँ। बहरहाल 'तट की खोज' फिर से प्रकाशित होने दे रहा हूँ।

लेखकीय[2]

सात-आठ साल पहले मुंशी इंशाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' पढ़ते हुए मेरे मन में भी एक 'फेण्टेसी' जन्मी थी। वह मन में पड़ी रही और उसमें परिवर्तन भी होते रहे। अब वह 'रानी नागफनी की कहानी' के रूप में लिखी गई।

यह एक व्यंग्य-कथा है। 'फेण्टेसी' के माध्यम से मैंने आज की वास्तविकता के कुछ पहलुओं की आलोचना की है। 'फेण्टेसी' का माध्यम कुछ सुविधाओं के कारण चुना है। लोक-कल्पना से दीर्घकालीन सम्पर्क और लोक-मानस से परम्परागत संगति के कारण 'फेण्टेसी' की व्यंजना प्रभावकारी होती है। इसमें स्वतन्त्रता भी काफी होती है और कार्यकारण सम्बन्ध का शिकंजा ढीला होता है। यों इसकी सीमाएँ भी बहुत हैं।

मैं 'शाश्वत साहित्य' रचने का संकल्प करके लिखने नहीं बैठता। जो अपने युग के प्रति ईमानदार नहीं होता, वह अनन्त काल के प्रति कैसे हो लेता है, मेरी समझ से परे है।

1 तट की खोज : 1956
2 रानी नागफनी की कहानी : 1962

मुझ पर 'शिष्ट हास्य' का रिमार्क चिपक रहा है। यह मुझे हास्यास्पद लगता है। महज हँसाने के लिए मैंने शायद ही कभी कुछ लिखा हो और शिष्ट तो मैं हूँ ही नहीं। मगर मुश्किल यह है कि रस नौ ही हैं और उनमें 'हास्य' भी एक है। कभी 'शिष्ट हास्य' कहकर पीठ दिखाने में भी सुभीता होता है। मैंने देखा है—जिस पर तेजाब की बूँद पड़ती है, वह भी दर्द दबाकर, मिथ्या अट्टहास कर कहता है, 'वाह, शिष्ट हास्य है।' मुझे यह गाली लगती है।

खैर, अब 'रानी नागफनी की कहानी' पढ़िए।

कैफियत*

एक सज्जन अपने मित्र से मेरा परिचय करा रहे थे—यह परसाईजी हैं। बहुत अच्छे लेखक हैं। ही राइट्स फनी थिंग्ज़।

एक मेरे पाठक (अब मित्रनुमा) मुझे दूर से देखते ही इस तरह हँसी की तिड़-तिड़ाहट करते मेरी तरफ बढ़ते हैं, जैसे दिवाली पर बच्चे 'तिड़तिड़ी' को पत्थर पर रगड़कर फेंक देते हैं और वह थोड़ी देर तिड़तिड़ करती उछलती रहती है। पास आकर अपने हाथों में मेरा हाथ ले लेते हैं और ही-ही करते हुए कहते हैं—वाह यार, खूब मिले। मजा आ गया। उन्होंने कभी कोई चीज मेरी पढ़ी होगी। अभी सालों से कोई चीज नहीं पढ़ी; यह मैं जानता हूँ।

एक सज्जन जब भी सड़क पर मिल जाते हैं, दूर से ही चिल्लाते हैं—'परसाईजी नमस्कार! मेरा पथ-प्रदर्शक पाखाना!' बात यह है कि किसी दूसरे आदमी ने कई साल पहले स्थानीय साप्ताहिक में एक मजाकिया लेख लिखा था, 'मेरा पथ-प्रदर्शक पाखाना।' पर उन्होंने ऐसी सारी चीजों के लिए मुझे जिम्मेदार मान लिया है। मैंने भी नहीं बताया कि वह लेख मैंने नहीं लिखा था। बस, वे जहाँ मिलते हैं—'मेरा पथ-प्रदर्शक पाखाना' चिल्लाकर मेरा अभिवादन करते हैं।

कुछ पाठक यह समझते हैं कि मैं हमेशा उचक्केपन और हल्केपन के मूड में रहता हूँ। वे चिट्ठी में मखौल करने की कोशिश करते हैं! एक पत्र मेरे सामने है। लिखा है—कहिए जनाब बरसात का मजा ले रहे हैं न! मेढकों की जलतरंग सुन रहे होंगे। इस पर भी लिख डालिए न कुछ।

बिहार के किसी कस्बे से एक आदमी ने लिखा कि तुमने मेरे मामा का, जो फ़ॉरेस्ट अफसर हैं, मजाक उड़ाया है। उनकी बदनामी की है। मैं तुम्हारे खानदान

* सदाचार का तावीज : 1962

का नाश कर दूंगा। मुझे शनि सिद्ध है।

कुछ लोग इस उम्मीद से मिलने आते हैं कि मैं उन्हें ठिलठिलाता, कुलाँचें मारता, उछलता मिलूंगा और उनके मिलते ही जो मजाक शुरू करूँगा तो हम सारा दिन दाँत निकालते गुजार देंगे। मुझे वे गम्भीर और कम बोलनेवाला पाते हैं। किसी गम्भीर विषय पर मैं बात छेड़ देता हूँ। वे निराश होते हैं। काफी लोगों का यह मत है कि मैं निहायत मनहूस आदमी हूँ।

एक पाठिका ने एक दिन कहा—आप मनुष्यता की भावना की कहानियाँ क्यों नहीं लिखते?

और एक मित्र मुझे उस दिन सलाह दे रहे थे—तुम्हें अब गम्भीर हो जाना चाहिए। इट इज़ हाई टाइम!

व्यंग्य लिखनेवाले की ट्रेजडी कोई एक नहीं। 'फ़नी' से लेकर उसे मनुष्यता की भावना से हीन तक समझा जाता है। 'मजा आ गया' से लेकर 'गम्भीर हो जाओ' तक की प्रतिक्रियाएँ उसे सुननी पड़ती हैं। फिर लोग अपने या अपने मामा, काका के चेहरे देख लेते हैं और दुश्मन बढ़ते जाते हैं। एक बहुत बड़े वयोवृद्ध गाँधी-भक्त साहित्यकार मुझे अनैतिक लेखक समझते हैं। नैतिकता का अर्थ उनके लिए शायद गबद्दूपन होता है।

लेकिन इसके बावजूद ऐसे पाठकों का एक बड़ा वर्ग है, जो व्यंग्य में निहित सामाजिक-राजनीतिक अर्थ-संकेत को समझते हैं। वे जब मिलते या लिखते हैं, तो मजाक के मूड में नहीं। वे उन स्थितियों की बात करते हैं, जिन पर मैंने व्यंग्य किया है, वे उस रचना के तीखे वाक्य बनाते हैं। वे हालातों के प्रति चिन्तित होते हैं।

आलोचकों की स्थिति कठिनाई की है। गम्भीर कहानियों के बारे में तो वे कह सकते हैं कि संवेदना कैसे पिछलती आ रही है, समस्या कैसी प्रस्तुत की गयी—वगैरह। व्यंग्य के बारे में वह क्या कहे? अक्सर वह यह कहता है—हिन्दी में शिष्ट हास्य का अभाव है। (हम सब हास्य और व्यंग्य के लेखक लिखते-लिखते मर जायेंगे, तब भी लेखकों के बेटों से इन आलोचकों के बेटे कहेंगे कि हिन्दी में हास्य व्यंग्य का अभाव है), हाँ, वे यह और कहते हैं—विद्रूप का उद्घाटन कर दिया, परदाफाश कर दिया है, करारी चोट की है, गहरी मार की है, झकझोर दिया है। आलोचक बेचारा और क्या करे? जीवन बोध, व्यंग्यकार की दृष्टि, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परिवेश के प्रति उसकी प्रतिक्रिया, विसंगतियों की व्यापकता और उनकी अहमियत, व्यंग्य संकेतों के प्रकार, उनकी प्रभावशीलता, व्यंग्यकार की आस्था, विश्वास—आदि बातें समझ और मेहनत की माँग करती हैं। किसे पड़ी है?

अच्छा, तो तुम लोग व्यंग्यकार क्या अपने 'प्राफ़ेट' को समझते हो? 'फ़नी' कहने पर बुरा मानते हो। खुद हँसाते हो और लोग हँसकर कहते हैं—मजा आ गया, तो बुरा मानते हो और कहते हो—सिर्फ मजा आ गया? तुम नहीं जानते कि इस तरह की रचनाएँ हल्की मानी जाती हैं और दो घड़ी की हँसी के लिए पढ़ी

जाती हैं।

[यह बात मैं अपने-आपसे कहता हूँ, अपने-आपसे ही सवाल करता हूँ।] जवाब : हँसना अच्छी बात है। पकौड़े-जैसी नाक को देखकर भी हँसा जाता है, आदमी कुत्ते-जैसे भौंके तो भी लोग हँसते हैं। साइकिल पर डबल सवार गिरें, तो भी लोग हँसते हैं। संगति के कुछ मान बने हुए होते हैं—जैसे इतने बड़े शरीर में इतनी बड़ी नाक होनी चाहिए। उससे बड़ी होती है, तो हँसी आती है। आदमी आदमी की ही बोली बोले, ऐसी संगति मानी हुई है। वह कुत्ते-जैसा भौंके तो यह विसंगति हुई और हँसी का कारण। असामंजस्य, अनुपातहीनता, विसंगति हमारी चेतना को छोड़ देते हैं। तब हँसी भी आ सकती है और हँसी नहीं भी आ सकती—चेतना पर आघात पड़ सकता है। मगर विसंगतियों के भी स्तर और प्रकार होते हैं। आदमी कुत्ते की बोली बोले—एक यह विसंगति है। और वनमहोत्सव का आयोजन करने के लिए पेड़ काटकर साफ किये जायें, जहाँ मन्त्री महोदय गुलाब के 'वृक्ष' की कलम रोपें—यह भी एक विसंगति है। दोनों में भेद है, गो दोनों से हँसी आती है। मेरा मतलब है—विसंगति की क्या अहमियत है, वह जीवन में किस हद तक महत्त्वपूर्ण है, वह कितनी व्यापक है, उसका कितना प्रभाव है—ये सब बातें विचारणीय हैं। दाँत निकाल देना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है।

--लेकिन यार, इस बात से क्यों कतराते हो कि इस तरह का साहित्य हल्का ही माना जाता है।

—माना जाता है, तो मैं क्या करूँ? भारतेन्दु युग में प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त जो व्यंग्य लिखते थे, वह कितनी पीड़ा से लिखा जाता था। देश की दुर्दशा पर वे किसी भी कौम के रहनुमा से ज्यादा रोते थे। हाँ, यह सही है कि इसके बाद रुचि कुछ ऐसी हुई कि हास्य का लेखक विदूषक बनने को मजबूर हुआ। 'मदारी' और 'डमरू' 'टुनटुन'-जैसे पत्र निकले और हास्यरस के कवियों ने 'चोंच' और 'काग'-जैसे उपनाम रखे। याने हास्य के लिए रचनाकार को हास्यास्पद होना पड़ा। अभी भी यह मजबूरी बची है। तभी कुंजबिहारी पाण्डे को 'कुत्ता' शब्द आने पर मंच पर भौंककर बताना पड़ता है और काका हाथरसी को अपनी पुस्तक के कवर पर अपना ही कार्टून छपाना पड़ता है। बात यह है कि उर्दू-हिन्दी की मिश्रित हास्य-व्यंग्य परम्परा कुछ साल चली, जिसने हास्यरस को भड़ौआ बनाया। इसमें बहुत कुछ हल्का है। यह सीधी सामन्ती वर्ग के मनोरंजन की जरूरत में से पैदा हुई थी। शौकत थानवी का एक पुस्तक का नाम ही 'कुतिया' है। अज़ीमबेग चुग़ताई नौकरानी की लड़की से 'फ्लर्ट' करने की तरकीबें बताते हैं! कोई अचरज नहीं कि हास्य-व्यंग्य के लेखकों को लोगों ने हल्के, गैरजिम्मेदार और हास्यास्पद मान लिया हो।

—और 'पत्नीवाद' वाला हास्यरस! वह तो स्वस्थ है? उसमें पारिवारिक-सम्बन्धों की निर्मल आत्मीयता होती है?

—स्त्री से मजाक एक बात है और स्त्री का उपहास दूसरी बात। हमारे

समाज में कुचले हुए का उपहास किया जाता है। स्त्री आर्थिक रूप से गुलाम रही, उसका कोई व्यक्तित्व नहीं बनने दिया गया, वह अशिक्षित रही, ऐसी रही—तब उसकी हीनता का मजाक करना 'सेफ' हो गया। पत्नी के पक्ष के सब लोग हीन और उपहास के पात्र हो गये—खासकर साला; गो हर आदमी किसी-न-किसी का साला होता है। इसी तरह घर का नौकर सामन्ती परिवारों में मनोरंजन का माध्यम होता है। उत्तर भारत के सामन्ती परिवारों की परदानशीन दमित रईसजादियों का मनोरंजन घर के नौकर का उपहास करके होता है। जो जितना मूर्ख, सनकी और पौरुषहीन हो, वह नौकर उतना ही दिलचस्प होता है। इसलिए सिकन्दर मियाँ चाहे काफी बुद्धिमान हों, मगर जान-बूझकर बेवकूफ बन जाते हैं क्योंकि उनका ऐसा होना नौकरी को सुरक्षित रखता है। सलमा सिद्दीकी ने सिकन्दरनामा में ऐसे ही पारिवारिक नौकर की कहानी लिखी है। मैं सोचता हूँ सिकन्दर मियाँ अपनी नजर से उस परिवार की कहानी कहें, तो और अच्छा हो।

—तो क्या पत्नी, साला, नौकर, नौकरानी आदि को हास्य का विषय बनाना अशिष्टता है?

—'वल्गर' है। इतने व्यापक सामाजिक जीवन में इतनी विसंगतियाँ हैं। उन्हें न देखकर बीवी की मूर्खता बयान करना बड़ी संकीर्णता है।

और 'शिष्ट' और 'अशिष्ट' क्या है? अक्सर 'शिष्ट' हास्य की माँग वे करते हैं, जो शिकार होते हैं। भ्रष्टाचारी तो यही चाहेगा कि आप मुंशी की या साले की मजाक का 'शिष्ट' हास्य करते रहें और उस पर चोट न करें—वह 'अशिष्ट' है। हमारे यहाँ तो हत्यारे 'भ्रष्टाचारी' पीड़क से भी 'शिष्टता' बरतने की माँग की जाती है—'अगर जनाब बुरा न मानें तो अर्ज है कि भ्रष्टाचार न किया करें। बड़ी कृपा होगी सेवक पर।' व्यंग्य में चोट होती ही है। जिन पर होती है वह कहते हैं—'इसमें कटुता आ गयी। शिष्ट हास्य लिखा करिए।' मार्क ट्वेन की वे रचनाएँ नये संकलनों में नहीं आतीं, जिनमें उसने अमेरिकी शासन और मोनोपली के बखिये उधेड़े हैं। वह उसे केवल शिष्ट हास्य का मनोरंजन देनेवाला लेखक बताना चाहते हैं—'दी डिलाइटेड मिलियन्स!'

—तो तुम्हारा मतलब यह है कि मनोरंजन के साथ ही व्यंग्य में समाज की समीक्षा भी होती है?

—हाँ, व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखण्डों का परदाफाश करता है।

—यह नारा हो गया।

—नारा नहीं है। मैं यह कह रहा हूँ कि जीवन के प्रति व्यंग्यकार की उतनी ही निष्ठा होती है, जितनी गम्भीर रचनाकार की—बल्कि ज्यादा ही, वह जीवन के प्रति दायित्व का अनुभव करता है।

—लेकिन वह शायद मनुष्य के बारे में आशा खो चुका होता है। निराशावादी हो जाता है। उसे मनुष्य की बुराई ही दीखती है। तुम्हारी रचनाओं में देखो—

सब चरित्र बुरे ही हैं।

—यह कहना तो इसी तरह हुआ कि डॉक्टर से कहा जाये तुम रुग्ण मनोवृत्ति के आदमी हो। तुम्हें रोग ही रोग दीखते हैं। मनुष्य के बारे में आशा न होती, तो हम उसकी कमजोरियों पर क्यों रोते? क्यों उससे कहते कि यार तू ज़रा कम बेवकूफ, विवेकशील, सच्चा और न्यायी हो जा।

—तो तुम लोग रोते भी हो। मेरा तो खयाल था कि तुम सब पर हँसते हो।

—जिन्दगी बहुत जटिल चीज है। इसमें खालिस हँसना या खालिस रोना-जैसी चीज नहीं होती। बहुत-सी हास्य रचनाओं में करुणा की अन्तर्धारा होती है। चेखव की कहानी 'क्लर्क की मौत' क्या हँसी की कहानी है? उसका व्यंग्य कितना गहरा, ट्रेजिक और करुणामय है। चेखव की ही एक कम प्रसिद्ध कहानी है—'किरायेदार।' इसका नायक 'जोरू का गुलाम' है -- बीवी के होटल का प्रबन्ध करता है। अपनी नौकरी छोड़ आया है। अब बीवी का गुलाम तो उपहास का ही पात्र होता है न! मगर इस कहानी में यह बीवी का गुलाम अन्त में बड़ी करुणा पैदा करता है। अच्छा व्यंग्य सहानुभूति का सबसे उत्कृष्ट रूप होता है।

अच्छा यार, तुम्हें आत्म-प्रचार का मौका दिया गया था। पर तुम अपना कुछ न कहकर जनरल ही बोलते जा रहे हो। तुम्हारी रचनाओं को पढ़कर कुछ बातें पूछी जा सकती हैं। क्या तुम सुधारक हो? तुममें आर्यसमाजी-वृत्ति देखी जाती है।

—कोई सुधर जाये तो मुझे क्या एतराज है। वैसे मैं सुधार के लिए नहीं, बदलने के लिए लिखना चाहता हूँ। याने कोशिश करता हूँ—चेतना में हलचल हो जाये, कोई विसंगति नजर के सामने आ जाये। इतना काफी है। सुधरनेवाले खुद अपनी चेतना से सुधरते हैं। मेरी एक कहानी है 'सदाचार का तावीज़'। इसमें कोई सुधारवादी संकेत नहीं है। कुल इतना है कि तावीज़ बाँधकर आदमी को ईमानदार बनाने की कोशिश की जा रही है, (भाषणों और उपदेशों से)। सदाचार का तावीज बाँधे बाबू दूसरी तारीख को घूस लेने से इन्कार कर देता है मगर 29 तारीख को ले लेता है—'उसकी तनख्वाह खत्म हो गयी। तावीज़ बँधा है, मगर जेब खाली है।' संकेत मैं यह करना चाहता हूँ कि बिना व्यवस्था में परिवर्तन किये, भ्रष्टाचार के मौके बिना खत्म किये और कर्मचारियों को बिना आर्थिक सुरक्षा दिये, भाषणों, सर्कुलरों, उपदेशों, सदाचार समितियों, निगरानी आयोगों के द्वारा कर्मचारी सदाचारी नहीं होगा। इसमें कोई उपदेश नहीं है। सिर्फ विरोधाभासों को सामने लाया गया है और कुछ संकेत दिये गये हैं। उपदेश का चार्ज वह लोग लगाते हैं, जो किसी के प्रति दायित्व का कोई अनुभव नहीं करते। वह सिर्फ अपने को मनुष्य मानते हैं और सोचते हैं कि हम कीड़ों के बीच रहने के लिए अभिशप्त हैं। यह लोग तो कुत्ते की दुम में पटाखे की लड़ी बाँधकर उसमें आग लगाकर कुत्ते के मृत्यु-भय पर भी ठहाका लगा लेते हैं।

अच्छा यार, बातें तो और भी बहुत-सी करनी थीं। पर पाठक बोर हो जायेंगे। बस एक बात और बताओ—तुम इतना राजनीतिक व्यंग्य क्यों लिखते हो?

—इसलिए कि राजनीति बहुत बड़ी निर्णायक शक्ति हो गयी है। वह जीवन से बिल्कुल मिली हुई है। वियतनाम की जनता पर बम क्यों बरस रहे हैं? क्या उस जनता की अपनी कुछ जिम्मेदारी है? यह राजनीतिक दाँव-पेंच के बम हैं। शहर में अनाज और तेल पर मुनाफाखोरी कम नहीं हो सकती, क्योंकि व्यापारियों के क्षेत्रों से अमुक-अमुक को चुनकर जाना है। राजनीति—सिद्धान्त और व्यवहार की—हमारे जीवन का एक अंग है। उससे नफ़रत करना बेवकूफी है। राजनीति से लेखक को दूर रखने की बात वही करते हैं, जिनके निहित स्वार्थ हैं, जो डरते हैं कि कहीं लोग हमें समझ न जायें। मैंने पहले भी कहा है कि राजनीति को नकारना भी एक राजनीति है।

—अच्छा, तो बात को यहीं खत्म करें। तुम अब राजनीति पर चर्चा करने लगे। इससे लेबिल चिपकते हैं।

—लेबिल का क्या डर! दूसरों को देशद्रोही कहनेवाले, पाकिस्तान को भूखे बंगाल का चावल 'स्मगल' करते हैं। ये सारे रहस्य मुझे समझ में आते हैं। मुझे डराने की कोशिश मत करो।

ये निबन्ध*

पिछले सालों में लिखे गये निबन्धों में से 22 इस पुस्तक में जा रहे हैं। कहानी के साथ ही मैं शुरू से निबन्ध भी लिखता रहा हूँ और यह विधा अपनी प्रकृतिगत स्वच्छन्दता तथा व्यापकता के कारण मुझे बहुत अनुकूल भी प्रतीत हुई है। इसकी सम्भावनाओं का कितना उपयोग कर पाया हूँ, यह दूसरी बात है। इतना जरूर जानता हूँ कि निबन्ध लिखते हुए मुझे सार्थकता और सन्तोष का अनुभव हुआ है।

मुख्य रूप से मैंने कहानियाँ लिखी हैं; गो इसमें भी मतभेद है कि वे नये शास्त्रीय मान से कहानियाँ हैं भी या नहीं। बहुत बारीक समझ के कुछ लोगों ने कहा भी है कि वे 'चीजें' मन पर असर तो डालती हैं, याद भी रहती हैं, गूंजती भी हैं—मगर उनके कहानी होने में शक होता है। होता होगा। अपने पैर में जो जूता फिट न बैठे; उसे कोई जूता ही नहीं मानते। वे भूल जाते हैं कि कुछ जूते सिर के नाप के भी बनाये जाते हैं।

मगर यह निबन्ध-संग्रह है। इसे पाठकों के हाथों में देते मुझे न संकोच है, न

* बेईमानी की परत : 1963

झिझक। मैं पूरे विश्वास से दे रहा हूँ, क्योंकि इतने वर्षों में मैंने पाठक पर भरोसा किया है और उसने मुझ पर। एक खास तरह का पाठक 'आलोचक' कहलाता है। उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।

कहत कबीर*

संयोग कुछ ऐसा घटा। सन् 1961 में 'नयी दुनिया' जबलपुर के (तत्कालीन) सम्पादक और मेरे (दीर्घकालीन) मित्र (आगे की कौन जानता है?) मायाराम सुरजन ने, हम दोनों के मित्र श्रीबाल पाण्डे के साथ तय किया कि मैं उनके पत्र में प्रति सप्ताह व्यंग्य-स्तम्भ लिखूं।

नाम का सवाल उठा, तो मेरे सिर पर चढ़कर कबीरदास बोला। (पाप ही नहीं, पुण्य भी सिर पर चढ़कर बोलता है)। कबीर के सीधे, बेलौस, बखिया-उधेड़, चरबा-उतार, मस्ती और फक्कड़पन से भरे व्यंग्यों का मैं भक्त रहा हूँ। इतना ताकतवर कोई और हुआ नहीं क्योंकि और किसी ने न 'सीस काटकै भुंई धरा' न 'अपना घर फूंकिया, न 'बाजार में लिये लुकाठी' खड़ा हुआ—'सब ही भुलाने पेट का धन्धा !'

तो स्तम्भ का रूप यों निश्चित हुआ कि 'कबीर' हर सप्ताह साधुओं से बात करे। सप्ताह की कोई घटना का छोर पकड़कर उसमें निहित प्रवृत्ति को व्यापक आयाम देकर उस पर व्यंग्य किया जाय। स्थिति की पूरी 'एब्सर्डिटी' को उभारकर, उसे तर्कपूर्ण और न्यायसंगत बनाकर प्रस्तुत किया जाय, तो स्थिति पर पुरअसर व्यंग्य हो जाता है। इसी तरह छिपाकर किये जानेवाले मिथ्याचार को करनेवाले से प्रगट अधिकारपूर्वक और न्यायोचित ढंग से कराया जाय, तो भी प्रवृत्ति पर करारी चोट होती है। विकृति इतनी व्यापक हो जाय और उसे इतनी मान्यता मिल जाय कि उसका गोपन एक उपचार मात्र रह जाय, तो उसके विद्रूप को ऊपर ले आना चाहिए। ऐसी ही कुछ शैली मैंने इन स्तम्भों में अपनायी। नाम हुआ 'सुनो भई साधो' और वक्ता हुआ 'कबीर'। हर सप्ताह साधु इकट्ठे होते हैं और कबीर सप्ताह की किसी घटना को लेकर उनसे बात करता है—'साधो, तुमने सुना—'

यों ही जो स्तम्भ शुरू कर दिया, उसने आगे मुझे बाँध लिया। इसकी प्रभावकारी 'अपील' और विकट लोकप्रियता ने मुझे बाध्य किया कि इसे जिम्मेदारी से लिखूं। मैं इसे लेखन के माध्यम से अपने सामाजिक दायित्व की आंशिक पूर्ति के

* सुनो भई साधो : 1964

रूप में ग्रहण करने लगा। 'ऊँचे' लेखकों को यह दायित्व की बात गलत लगती है। उन्हें मुनाफाखोर सस्ता अनाज दे देता होगा, मुझे तो नहीं देता। लम्बी कतार में खाली थैले लिये मैं भी कहीं खड़ा हूँ।

'कबीर' के ये प्रवचन इन्दौर और रायपुर की 'नयी दुनिया' में भी उद्धृत होने लगे और बहुत पढ़े जाने लगे। यह स्तम्भ बहुत लोकप्रिय है और जितने प्रशंसक तथा दुश्मन इसने बनाये, उतने मेरे किसी और लेखन ने नहीं। इसकी चोट से बहुत लोग तिलमिलाते हैं और उनकी गालियाँ तथा धमकियाँ भी मुझे मिलती हैं। मगर जन-समर्थन मुझे हमेशा आश्वस्त कर देता है।

सामाजिक-राजनैतिक व्यंग्य-स्तम्भ के लेखन की पहिली शर्त लेखक की स्वतन्त्रता है। इस सम्बन्ध में 'नयी दुनिया' के तीनों संस्करणों में मुझे पूरी छूट है। जबलपुर 'नयी दुनिया', से मायाराम सुरजन के अलग होने के बाद भी श्री परमानन्द पटेल ने तथा उनके नये सम्पादक श्री मुन्दर शर्मा ने लेखकीय स्वतन्त्रता की कद्र की है और इस स्तम्भ के लिए आवश्यक सुविधा दी है।

इन व्यंग्य-चर्चाओं की रचना अनायास हो जाती है। मित्रों से सामाजिक-राजनैतिक विषयों और सामयिक घटनाओं पर चर्चा रोज ही होती है, मुख्यतः मेरे एक खुशमिजाज और मेधावान मित्र हनुमान वर्मा से। लोगों से बात करते-करते किसी स्थिति का विद्रूप मन में चमक उठता है और व्यंग्य की रेखाएँ खिंच जाती हैं। तब व्यंग्य के फ़िकरे निकलने लगते हैं। सुननेवाले अन्दाज लगाकर कह भी देते हैं कि अगले इतवार यही आ रहा होगा।

अब तक लगभग 150 किस्तें लिख चुका हूँ। हर हफ्ते अभी भी लिख रहा हूँ। मुझे सलाह मिली कि इनका संग्रह छपा दिया जाय। मेरे मित्र (आगे प्रकाशक) शेष नारायण राय ने यह दायित्व ले लिया। ये 36 किस्तें इस संग्रह में जा रही हैं। आगे और संग्रह भी होंगे।

पहिले मेरे मन में आया था कि इन स्तम्भों को अखबार के पन्नों में पड़ा रहने दूं और इन विषयों को निबन्धों का रूप दे दूं। फिर मैंने यह रूप-परिवर्तन का इरादा त्याग दिया। जब इसी रूप में संग्रह में जाने का तय हुआ, तब पहिले सोचा कि इन्हें फिर से लिख दूं, ताकि ये सुव्यवस्थित हो जायें। लेकिन यह इरादा भी त्याग दिया। मेरे आलस्य ने इन निर्णयों में कितना योगदान किया, मैं जानता हूँ। अब ये उसी मौलिक रूप में छप रहे हैं, जिसमें मैंने इन्हें लिखा था। इनकी अव्यवस्था और ऊबड़-खाबड़पन भी पढ़नेवालों को आकर्षक लगा है। जैसा कि स्वाभाविक है, इनमें अव्यवस्था है, बिखराव है, भाषा का ऊबड़-खाबड़पन है, पुनरुक्ति भी है। एक बात विभिन्न प्रसंगों में, विभिन्न अर्थ-समर्थन के लिए कई बार आ गयी है। कुछ प्रसंग, जैसे एकलव्य का अँगूठा और नारद का बन्दर का चेहरा, मेरी चेतना पर जमे रहे हैं और वे बार-बार आ गये हैं। कुछ उक्तियाँ मेरी दूसरी रचनाओं की भी अनायास आ गयी हैं। मैंने इन्हें रहने दिया है।

सवाल है—इस लेखन का मूल्य क्या होगा? पढ़नेवाले के लिए फिलहाल सवा

तीन रुपया। आलोचना करनेवाले के लिए, जो वह चाहे सो। साहित्यिक मूल्य में कुछ निश्चित नहीं होता। आज की गाली कल शायद सद्-साहित्य मान ली जाय। अधिकांश साहित्यालोचक जड़ और संकीर्ण दृष्टि तथा भोथरे संवेदन के होते हैं। वे एक परम्परा के गुलाम बन जाते हैं। मैं तो छोटा आदमी हूँ, पर उस मेरे पूज्य महाप्राण कबीरदास के व्यंग्यों की सैकड़ों साल तक क्या कद्र की गयी! उच्चवर्गियों और पण्डितों ने उसे गँवार ही माना। होली पर उत्तर भारत में जो गाली बकी जाती है उसे अभी भी 'कबीर' कहते हैं—'अरे रे रे सुनो हो कबीर'—याने कबीर की बात गाली-गलौज ही हुई! हमारे जमाने में एक उच्चवर्गीय महान् कवि रवीन्द्रनाथ ने उसके सामने सबको दिखाकर माथा झुकाया और उसके पदों का अँगरेजी में अनुवाद किया। ब्राह्मणों द्वारा निन्दित कबीर पर एक ऊँचे ब्राह्मण पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पुस्तक लिखकर उसकी महत्ता का प्रतिपादन करके, पहिले के ब्राह्मणों के पाप को धोया।

साहित्य-समीक्षा के प्रति मैं आत्म-रक्षा के खयाल से ही लापरवाह हूँ। पाठक को अलबत्ता मैं यह संग्रह बेझिझक और निःसंकोच दे रहा हूँ। उसने मेरा विश्वास किया है और मैंने उसका -और दोनों को अभी तक तो धोखा नहीं हुआ।

व्यंग्य क्यों? कैसे? किसलिए?*

मैं व्यंग्य लेखक माना जाता हूँ। व्यंग्य को लेकर जितना भ्रम हिन्दी में है, उतना किसी और विधा को लेकर नहीं। समीक्षकों ने भी इसकी लगातार उपेक्षा की है। अभी तक व्यंग्य की समीक्षा की भाषा ही नहीं बनी। 'मजा आ गया' से लेकर 'बखिया उधेड़ दी' तक कुछ फिकरे इस पर चिपकाकर समीक्षा की इतिश्री समझ ली जाती है। अक्सर विनोद, हास्य, मखौल से व्यंग्य को अलग करके नहीं देखा जाता। मेरी ही कोई रचना पढ़कर प्रबुद्ध पाठक भी कह देता है--बड़ा मजा आया, जबकि मैंने खिजाने के लिए वह चीज लिखी है।

आदमी कब हँसता है? इस सम्बन्ध में बड़ी दिलचस्प और विभिन्न धारणाएँ हैं। एक विचार यह है कि जब आदमी हँसता है, तब उसके मन में मैल नहीं होता। हँसने के क्षण-भर पहले उसके मन में मैल हो सकता है और हँसी के क्षण-भर बाद भी। पर जिस क्षण वह हँसता है, उसके मन में किसी के प्रति मैल नहीं होता। फिर जिसका हाजमा अच्छा हो वही हँस सकता है। कब्ज का मरीज मुश्किल से हँसता

* तिरछी रेखाएँ : 1967

है। फिर जब मनुष्य को चैन की (well being) अनुभूति होती है, तब वह हँसता है। बिना चैन की हँसी खिन्न हँसी होती है, जैसी पण्डित नेहरू की अन्तिम वर्षों में हो गयी थी।

आदमी हँसता क्यों है? परम्परा से हर समाज की कुछ संगतियाँ होती हैं, सामंजस्य होते हैं, अनुपात होते हैं। ये व्यक्ति और समाज दोनों के होते हैं। जब यह संगति गड़बड़ होती है तब चेतना में चमक पैदा होती है। इस चमक से हँसी भी आ सकती है और चेतना में हलचल भी पैदा हो सकती है। शरीर में कितनी बड़ी नाक हो इसका एक अनुपात मानस में बना हुआ है। पर अगर किसी की बहुत मोटी नाक हो तो लोग कहते हैं—अरे, यह तो नाक की जगह आलूबड़ा रखे हैं— और हँस पड़ते हैं। साइकिल पर एक आदमी बैठे, यह संगति है। दो को बरदाश्त कर लिया जाता है, पर एक साइकिल पर तीन सवार हों और वे गिर पड़ें तो उनकी चोट के प्रति सहानुभूति नहीं होगी, बल्कि दर्शक हँस पड़ेंगे— अच्छे गिरे साले! हमारे यहाँ कंजी आँख बुरी मानी जाती है। कंजी आँखवाले पर लोग हँसते हैं। कहावत है—

सौ में सूर सहस्र में काना,
सवा लाख में ऐंचकताना।
ऐंचकताना करे पुकार,
मैं कंजे से खायी हार।

पर कंजी आँखें पश्चिम में अच्छी मानी जाती हैं। आमतौर पर पतले ओंठ सुन्दर माने जाते हैं पर नीग्रो लोगों में अच्छे मोटे ओंठ भी अच्छे लगते हैं। भारत में किसी के नीग्रो-जैसे मोटे ओंठ हों तो लोग हँसेंगे, क्योंकि सौन्दर्यबोध की संगति बिगड़ती है।

लोग किसी भी बात पर हँसते हैं। हल्की, मामूली विसंगति पर भी हँस देते हैं। आदमी अगर घोड़े-सरीखा हिनहिनाये तो इस पर भी हँस देते हैं। दीवाली पर कुत्ते की दुम में पटाखे की लड़ी बाँधकर उसमें कुछ लोग आग लगा देते हैं। बेचारा कुत्ता तो मृत्यु-भय से भागता और चीखता है, पर लोग हँसते हैं।

पर व्यंग्य में जरूरी नहीं कि हँसी आये ही। मार्क ट्वेन ने लिखा है — यदि कोई भूखे कुत्ते को रोटी खिलाये तो वह उसे काटेगा नहीं। मनुष्य और कुत्ते में यही खास फर्क है। इस कथन से हँसी नहीं आती पर व्यंग्य की वह करारी चोट यह चेतना पर करता है कि पाठक पहले तो भौंचक रह जाता है और फिर सोचने लगता है।

व्यंग्य के साथ हँसी भी आती है, पर वह दूसरे प्रकार की होती है। मेरी ही एक लघुकथा है—संसद में एक सदस्य ने कहा कि अमुक जगह पुलिस की गोली से ग्यारह आदमी मारे गये। गृहमन्त्री इसका जवाब दें। गृहमन्त्री बड़ी शान्ति से उठे। जिन्हें रोज गोली चलवानी है वे कब तक अशान्त रहेंगे। गृहमन्त्री ने जवाब दिया— गोली का कारखाना जनता के पैसे से चलता है। जनता के पैसे से जो सामान बनता है, उसे जनता के ही काम आना चाहिए। अब जनतान्त्रिक असूल में यह बात पूरी

तरह संगत है। पर यह कितनी बड़ी विडम्बना पैदा करती है और संसदीय प्रणाली पर चोट करती है। इस लघुकथा से हँसी जरूर आती है पर यह हँसी और किस्म की होती है और सोचने को बाध्य करती है।

व्यंग्य लेखन एक गम्भीर कर्म है। कम-से-कम मेरे लिए। सवाल यह है कि कोई लेखक अपने युग की विसंगतियों को कितने गहरे से खोजता है। उस विसंगति की व्यापकता क्या है और वह जीवन में कितनी अहमियत रखती है। मात्र व्यक्ति की ऊपरी विसंगति—शरीर रचना की, व्यवहार की, बात के लहजे की, एक चीज है। और व्यक्ति तथा समाज के जीवन की भीतरी तहों में जाकर विसंगति खोजना, उन्हें अर्थ देना तथा उसे सशक्त विरोधाभास से पृथक करके जीवन से साक्षात्कार कराना दूसरी बात है। सच्चा व्यंग्य जीवन की समीक्षा होता है। वह मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करता है। अपने से साक्षात्कार करता है। चेतना में हलचल पैदा करता है और जीवन में व्याप्त मिथ्याचार, पाखण्ड, असामंजस्य और अन्याय से लड़ने के लिए उसे तैयार करता है।

जोनाथन स्विफ्ट कहता है—मैं मनुष्य को अपमानित करने और उसे नीचा दिखाने के लिए लिखता हूँ। परन्तु मार्क ट्वेन कहता है—मैं बुनियादी तौर पर एक शिक्षक हूँ। मेरा खयाल है, कोई भी सच्चा व्यंग्य लेखक मनुष्य को नीचा नहीं दिखाना चाहता। व्यंग्य मानव सहानुभूति से पैदा होता है। वह मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाना चाहता है। वह उससे कहता है – तू अधिक सच्चा, न्यायी, मानवीय बन। यदि मनुष्य के प्रति व्यंग्यकार को आशा नहीं है, यदि वह जीवन के प्रति कनसर्न्ड नहीं है तो वह क्यों रोता है, उसकी कमजोरियों पर। जो यह कहते हैं कि व्यंग्य लेखक निर्मम, कठोर और मनुष्य विरोधी होता है, उसे बुराई ही बुराई दिखती है, तो मैं जवाब देता हूँ कि डाक्टर के पास जो लोग जाते हैं उन्हें वह रोग बताता है। तो क्या डाक्टर कठोर है? अमानवीय है? अगर डाक्टर रोग का निदान न करे और अच्छा ही अच्छा कहे को रोगी मर जायेगा। जीवन की कमजोरियों का निदान करना कठोर होना नही है।

अच्छे व्यंग्य में करुणा की अन्तर्धारा होती है। चेखव में शायद यह बात सबसे साफ है। चेखव की एक कहानी है—बाबू की मौत। इस कहानी को पढ़ते-पढ़ते हँसी आती है पर अन्त में मन करुणा से भर उठता है। जिस बात पर कहानी का ताना-बाना चेखव ने बुना, वह यह है—

थियेटर में एक बाबू नाटक देख रहा है। उसके ठीक सामने उसका बॉस बैठा है। बॉस के चाँद है। बाबू को छींक आती है और उसे लगता है कि उसकी छींक के छींटे साहब की चाँद पर पड़ गये हैं। वह घबड़ाता है और इण्टरवल में साहब से माफी माँगता है—साहब माफ कर दीजिए। मुझसे गलती हो गयी। मैंने जान-बूझकर गुस्ताखी नहीं की। अब मज़ा यह है कि साहब की चाँद पर छींटे पड़े ही नहीं हैं। वह नहीं जानता कि बाबू माफी किस बात की माँग रहा है। वह उसे डाँटता है—क्या बक-बक लगा रखी है। भागो यहाँ से। इधर बाबू समझता है कि साहब ज्यादा

नाराज है। वह खेल छूटने पर फिर माफी माँगता है—साहब, मैं क्षमा चाहता हूँ। मुझे जुखाम हो गया है। मैंने जान-बूझकर वैसा नहीं किया है। साहब फिर उसे डाँटकर भगा देता है। तीन दिन तक यह क्रम चलता है। बाबू माफी माँगता है, पर साहब नहीं जानते कि माफी किस बात की माँग रहा है। वह अधिकाधिक खीजकर उसे भगाता है। इधर बाबू समझता है कि साहब को बड़े छींटे पड़े होंगे तभी नाराज है। यहाँ तक तो कहानी में एक कॉमिक का वातावरण रहता है। पर जब साहब उसे चपरासी से बाहर निकलवा देता है तब वह सोचता है—अब नौकरी गयी। मेरी बीवी है। तीन बच्चे हैं। इनका पालन कैसे होगा?

इसी घबराहट में वह घर आता है। कुर्सी पर बैठता है और उसके प्राण निकल जाते हैं।

कैसा करुण प्रसंग है। कहानी में चेखव ने इस कठोर नौकरशाही पर चोट की है जिसमें साहब अहंकार के कारण बाबू से पूछता तक नहीं कि तू माफी क्यों माँग रहा है। सिर्फ इतना पूछ लेता तो बाबू की जान नहीं जाती।

व्यंग्य के सम्बन्ध में कुछ बातें मैंने यहाँ कहीं, इस मकसद से कि व्यंग्य का मर्म समझने में इनसे कुछ सहायता मिलेगी।

सन्दर्भ*

'कल्पना' के सम्पादक मेरे बन्धु बदरीविशाल पित्ती ने लिखा था कि मैं उनकी पत्रिका में नियमित व्यंग-स्तम्भ लिखूं। कुछ असामान्य लगा। साहित्यिक पत्रिकाएँ ब्राह्मण होती हैं, व्यंग शूद्र वर्ण का माना गया है। उसने कभी ब्राह्मण को नहीं छुआ। साहित्यिक पत्रिकाओं को उठाकर देख लीजिए। मुझे लगा बदरीविशाल अछूतोद्धार के काम में जुट गये हैं। या शूद्र का रुतबा बढ़ गया है। जो भी हो, मुझे खुशी है कि यह स्थिति आ गयी है कि अध्यात्म और धर्म की पत्र-पत्रिकाओं में भी कुछ व्यंग आने लगा है। पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग का स्तम्भ अनिवार्य-सा हो गया है। इस शुभ स्थिति को लाने में 'कल्पना' का योगदान मानना पड़ेगा। जो न मानेगा, उसे ठीक कर दिया जायगा।

'और अन्त में' शीर्षक के नीचे मैंने ये पत्र सम्पादक को लिखे थे। इनमें मुख्यतः साहित्यिक और साधारणतः सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्रों की गतिविधियों पर व्यंग हैं। फैलाव इनमें काफी है।

* और अन्त में : 1968

सम्पादक के नाम पत्र के रूप में व्यंग नयी बात नहीं है। हमारे पुरखे द्विवेदीयुग में यह कर गये हैं। वे हम लोगों से कम भी डरते थे।

और अन्त में —आशा है, यह व्यंग-संग्रह सुधी जनों को सदाचारी बनायेगा, उनका हाजमा ठीक करेगा और उनके दिमाग को तरावट देगा।

लेखकीय[1]

विभिन्न समयों पर लिखे गये मेरे रेखा-चित्रों का यह संग्रह प्रेस में जा रहा है। मनुष्य एक जटिल प्राणी है। उसके वाह्य और अन्तर को समझना बड़ा कठिन कार्य है। उसके सबको दिखनेवाले बाह्य रूप के भीतर कितनी जटिलताएँ भरी पड़ी हैं। उसके आशा, निराशा, भ्रम; अहंकार, स्वार्थ, त्याग, क्रोध और करुणा—इन्हें समझना एक दिलचस्प अध्ययन है। घोर निराशा के बावजूद मैंने मनुष्य की दुर्दम जीवनी शक्ति को प्रज्वलित देखा है। मैंने जिन्दगी-भर भ्रम की चादर ओढ़े अपने गम को महसूस करते आदमी देखे हैं। मैंने आत्मवंचना के रंगीन महल में आदमी को आनन्द से जिन्दगी गुजारते देखा है। जीवन की सार्थकता की खोज हर आदमी करता है। सार्थकता की इस खोज में मनुष्य की जिन्दगी कितने रंगीन रूप लेती है।

मैंने इन रंगों को रेखाओं से बाँधने का प्रयत्न किया है। ये रेखा-चित्र व्यक्ति के कम, उसके चरित्र के ज्यादा हैं।

पाठकों के हाथ इन्हें पहुँचाने का भार बन्धुवर नर्मदाप्रसाद खरे ने लिया है। उनका मेरे प्रति स्नेह साधारण से ज्यादा अवधि तक टिक रहा है।

लेखक की ओर से[2]

इस संग्रह में मेरे ताजा व्यंग्य हैं।

व्यंग्य पर मैं पहले बहुत कुछ लिख चुका हूँ। व्यंग्य की प्रतिष्ठा इस बीच साहित्य में काफी बढ़ी है—वह शूद्र से क्षत्रिय मान लिया गया है। व्यंग्य, साहित्य में ब्राह्मण बनना भी नहीं चाहता क्योंकि वह कीर्तन करता है।

1. बोलती रेखाएँ : 1970
2. वैष्णव की फिसलन : 1973

संग्रह में अन्त के तीन लेख ज़रा भिन्न किस्म के हैं। एक निबन्ध होशंगाबाद के इस बार के जल-प्रलय पर एक-दूसरे दृष्टिकोण से लिखा है। मैं नर्मदा-पुत्र हूँ। इस नदी के किनारे पैदा हुआ। वहीं मेरी ननिहाल है। 1926 के भयंकर पूर में, जब मैं दो साल का था, लगभग डूब गया था, पर मेरी माँ एकदम पानी में घुसी और बेहोशी की हालत में मुझे किनारे ले आयी। वह भी डूब जाती। वह प्रसिद्ध केवट-लड़की सरस्वती जिसने अपनी डोंगी से दो सौ पचास मनुष्यों को बचाया, उसमें यह संकल्प और बल इसी मातृ-भाव से आया होगा। उसका सम्मान हो रहा है। रुपये भी मिल रहे हैं। इस आज की मत्स्यगन्धा को कोई बूढ़ा शान्तनु नहीं मिला। पर बैंक में काफी रुपये हो जाने पर कोई जवान शान्तनु मिल जायेगा।

जहाँ पैदा हुआ, वहीं डूबकर मर रहा था। फिर मेरे भाई की ससुराल होशंगाबाद में ही है। प्रलय के समय उसकी पत्नी वहीं थी। तो एक गहरे लगाव के कारण मैंने उस क्षेत्र को देखकर यह लेख लिखा--जिसमें मानवी गहराई और ऊँचाई दोनों हैं।

दूसरा लेख है--'लेखक, संरक्षण और असहमति'। मैंने एक परिचर्चा शुरू की थी, जिसमें बारह लेखकों ने भाग लिया। सवाल विचारणीय है। इसीलिए इसे दे रहा हूँ कि बुद्धिजीवी और सोचें, और बहस करें।

तीसरा लेख 'मानस चतुश्शती' पर उठे विवाद पर मेरी प्रतिक्रिया है।

ये गम्भीर, विचारणीय लेख हैं--पर अपने स्वभाव के कारण इनमें जगह-जगह व्यंग्य भी आ गया है।

एक बात जरूरी कहना है।

लेखक, बुद्धिजीवी सोचता है--समस्याओं पर। चिन्तन आगे बढ़ता है। इस संग्रह में कुछ रचनाएँ हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक को लगेगा कि लेखक अधिक उग्र हो रहा है। शायद अतिवादी हो रहा है--सोचने में। इस संग्रह की कहानी 'अकाल-उत्सव' पढ़कर कई लोगों ने मुझसे कहा कि संसदीय लोकतन्त्र पर से आपका विश्वास उठ रहा है। आप सोचते हैं शायद, कि संसदीय लोकतन्त्र से न्यायपूर्ण, समतावादी समाज की स्थापना नहीं होगी--तभी आप उस कहानी में भूखे लोगों को संसदभवन के पत्थर उखाड़कर खिलवाते हैं।

जवाब मैं अभी नहीं दूंगा।

इतिहास एक हद तक समय देता है। मेरा खयाल है--हमें तीन सालों से ज्यादा समय नहीं है।

बहरहाल, मैं नेता नहीं, लेखक हूँ--समाज से संलग्न लेखक। इसलिए विनम्रता से यह पुस्तक प्रेमी पाठकों (अब वे पचीस-तीस साल पहले के 'प्रेमी' नहीं, बड़े काँइयाँ हो गये हैं) के हाथों में रख रहा हूँ।

1533, नेपियर टाउन, जबलपुर
7.12.1973

कैफियत*

कुछ चुनी हुई रचनाएँ इस संग्रह में हैं। ये 1975 से 1979 तक की अवधि में लिखी गयी हैं। 2-4 पहले की भी हो सकती हैं। पिछले सालों में मैंने लघुकथाएँ अधिक लिखी हैं। वे इस संग्रह में हैं।

पिछले 5 सालों में दो घटनाएँ महत्त्वपूर्ण हुईं—1975 से राजनीतिक उथल-पुथल और 1976 में मेरी टाँग का टूटना। राजनीतिक विकलांगता और मेरी शारीरिक विकलांगता। 1974 से 'सम्पूर्ण क्रान्ति' नाम से गैरकम्युनिस्ट दलों का आन्दोलन चला। जून 1975 में आपातकाल लगा। 1976 के अन्त में आपातकाल उठा और मार्च 1977 में आम चुनाव हुआ। कांग्रेस हारी। 5 गैरकम्युनिस्ट गुटों के गठबन्धन से 'जनता पार्टी' बनी और मोरारजी भाई के नेतृत्व में केन्द्रीय सरकार बनी। इसे इन लोगों ने 'दूसरी आजादी' कहा। जनता सरकार ने पिछली सरकार के कार्यों की जाँच के लिए जाँच कमीशन बिठाये। सम्पूर्ण क्रान्ति, आपात्काल, जनता पार्टी सरकार, जाँच कमीशन के बारे में मेरे अपने विचार रहे। ये विचार मैंने खुलकर प्रकट किये। बहुत लेखक दूसरे विचार रखते हैं। कौन सही है, कहा नहीं जा सकता।

मैंने इस सन्दर्भ में लिखी कुछ रचनाएँ इस संग्रह में दी हैं। 'तीसरी आजादी का जाँच कमीशन' के अन्तर्गत तीन रचनाएँ ऐसी हैं। जाँच कमीशन का काम रोज सघन प्रचार के साथ जिस तरह होता वह हास्यास्पद हो गया था। इस दौर में चरित्रहनन भी बहुत हुआ। वास्तव में यह दौर राजनीति में मूल्यों की गिरावट का था। इतना झूठ, फरेब, छल पहले कभी नहीं देखा था। दगाबाजी संस्कृति हो गयी थी। दोमुँहापन नीति। बहुत बड़े-बड़े व्यक्तित्व बौने हो गये। श्रद्धा सब कहीं से टूट गयी। इन सब स्थितियों पर मैंने जहाँ-तहाँ लिखा। इनके सन्दर्भ भी कई रचनाओं में प्रसंगवश आ गये हैं। आत्म-पवित्रता के दम्भ के इस राजनीतिक दौर में देश के सामाजिक जीवन में सबकुछ टूट-सा गया। भ्रष्ट राजनीतिक संस्कृति ने अपना असर सब कहीं डाला। किसी का किसी पर विश्वास नहीं रह गया था—न व्यक्ति पर, न संस्था पर। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का नंगापन प्रकट हो गया। श्रद्धा कहीं नहीं रह गयी। यह विकलांग श्रद्धा का भी दौर था। अभी भी सरकार बदलने के बाद स्थितियाँ सुधरी नहीं। गिरावट बढ़ ही रही है। किसी दल का बहुत अधिक सीटें जीतना और सरकार बना लेना, लोकतन्त्र की कोई गारण्टी नहीं है। लोकतान्त्रिक स्पिरिट गिरावट पर है।

मेरी टाँग का टूटना भी एक व्यक्तिगत आपातकाल था, जो मेरी मानसिकता पर छाया रहा। इस मानसिकता से मैंने एक से अधिक निबन्ध और कहानियाँ

* विकलांग श्रद्धा का दौर : 1980

लिखीं। इस दुर्घटना के सन्दर्भ भी कई जगह आ गये हैं। राजनीतिक और व्यक्तिगत विकलांगता की प्रतिक्रियास्वरूप जिस अभिव्यक्ति की प्रेरणा हुई, मैंने उसे पुनरावृत्ति की परवाह किये बिना, प्रकट कर दिया है।

एक लम्बी फैंण्टेसी मैंने धारावाहिक शुरू की है – रिटायर्ड भगवान की कथा। इसकी भूमिका एक अलग निबन्ध ही है, जो इस संग्रह में दे दिया गया है।

लेखक का निवेदन

हिन्दी 'करण्ट' की पहली सालगिरह पर 'माटी कहे कुम्हार से' का संग्रह पुस्तकाकार में प्रकाशित हो रहा है।

एक साल पहले जब 'करण्ट' का हिन्दी संस्करण शुरू हुआ था, तब लेखकों को दो जातियों में बाँट दिया गया था। जनता पार्टी और सरकार के अन्धे समर्थकों ने अपने को 'ब्राह्मण' और मुझ-जैसे कई इनसे असहमत लेखकों को 'चाण्डाल' करार दे दिया था। अब इन 'ब्राह्मण' क्रान्तिकारियों की गत देखकर पहले हँसी आती है और फिर दया। ऐसा है जैसे चन्दन-छाप लगाये पण्डितजी रण्डी के यहाँ पकड़े गये हों। हम जानते हैं, इन्होंने इन्दिरा गाँधी के घटिया-से-घटिया चमचों की कितनी बेशर्मी से चापलूसी की थी। सत्ता पलटते ही, वे पलट गये। उनका अवसरवाद क्रान्ति-कर्म हो गया। दूसरों के वुद्धि-विवेक, कायरता और बेईमानी कहे जाने लगे। उनकी कायरता नैतिकता हो गयी।

लाजिमी था कि जो घोर प्रतिक्रियावादी और फासिस्टी ताकतें सत्ता में आ गयी थीं, उनकी देशघाती नीतियों और कार्यों का डटकर विरोध किया जाये। ये जो सत्ता में आ गये हैं, वे एकाएक स्वर्ग से 1977 में नहीं टपके थे। हम पचीसों सालों से इन्हें और इनके राजनैतिक चरित्र को जानते थे। यह सत्ता भारतीय प्रेस से समर्पण करवा रही थी। प्रधानमन्त्री और सूचनामन्त्री का दावा झूठा है कि प्रेस अब स्वतन्त्र है। अभिव्यक्ति के माध्यम स्वतन्त्र हैं। यह सरासर गलत है। 1974 तक प्रेस को जो स्वतन्त्रता थी, उससे बहुत कम अब है। मैंने 1975 तक कांग्रेस और उसकी सरकार की कटुतम आलोचना की है। हजारों छपे हुए पन्ने सबूत हैं। पर अब इन नये सत्ताधीशों की आलोचना करता हूँ, तो इनके तेवर अलोकतान्त्रिक होते हैं।

ऐसी हालत में जरूरत थी, ऐसे पत्रों की जिनमें स्वतन्त्रता से लिखा जा सके।

* माटी कहे कुम्हार से : 1980

देश और लोकघाती शक्तियों का सही रूप जनता के सामने रखा जा सके। हिन्दी 'करण्ट' ने इस बड़ी जरूरत को पूरा किया। श्री अयूब मेरे पुराने मित्र हैं। असल में ये और मैं मध्यप्रदेश में एक ही भूमि के 'रतन' (?) हैं। भाई महावीर अधिकारी से पचीसेक साल के स्नेह और विश्वास के सम्बन्ध हैं। इन दोनों बन्धुओं ने अधिकार-पूर्वक खुद ही स्तम्भ का नाम तय कर दिया और घोषणा भी कर दी। मुझे भी अखाड़े की जरूरत थी। तो 'माटी कहे कुम्हार से' स्तम्भ शुरू हो गया।

मुझे जो पूरी स्वतन्त्रता लिखने की दोनों सम्पादकों ने दी है, उसके लिए मैं बहुत आभारी हूँ। इस स्वतन्त्रता के बिना मन से लिखना सम्भव नहीं।

इस स्तम्भ के छपने के बाद जो घोर गाली की चिट्ठियाँ मुझे आने लगीं उनसे मैं आश्वस्त हो गया कि लेखन सफल हो रहा है। ऐसे पत्र सम्पादकों को भी बहुत मिलते हैं। यह भी है कि समर्थन में भी बहुत पत्र मिलते हैं।

इस लेखन के बारे में मुझे गलतफहमी नहीं है। अनुभव ने सिखाया है कि लेखक का अहंकार व्यर्थ है। हम कोई युग-प्रवर्तक नहीं हैं। हम छोटे-छोटे लोग हैं। हमारे प्रयास छोटे-छोटे हैं। हम कुल इतना कर सकते हैं कि जिस देश, समाज और विश्व के हम हैं और जिनसे हमारा सरोकार है, उनके उस संघर्ष में भागीदार हों, जिससे बेहतर व्यवस्था और बेहतर इन्सान पैदा हो।

पाठक के हाथों इस संग्रह को इस आश्वासन के साथ सौंपता हूँ कि बुद्धि और विवेक ने जो कहा, वही लिखा है। डर और लोभ से कुछ नहीं लिखा गया।

पुस्तक के विषय में*

'दो नाकवाले लोग' सामाजिक जीवन के भीतर किन्हीं कारणों से महत्त्वपूर्ण हो गये व्यक्तियों की दोमुँही जिन्दगी को बेनकाब करनेवाली व्यंग्य-प्रधान लघुकथाओं का संग्रह है। 'अकाल-उत्सव', 'एक के भीतर दो आदमी', 'सड़े आलू का विद्रोह', और 'नम्बर दो की आत्मा' समवर्ती जीवन के भीतर पनप रहे खण्डित मध्यवर्गीय और अपर-वर्गीय छद्म को न केवल बेनकाब करनेवाली रचनाएं हैं, अपितु उस यथार्थ को भी प्रस्तुत करती हैं, जो व्यवस्था की अपनी नियति को व्यक्त करता है, जहाँ प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए ऐसा छद्म और दोमुँहापन जरूरी हो गया है।

आदर्श और आचरण के बीच के अन्तर्विरोध से कैसा हास्यास्पद चरित्र बनता है, इसके उदाहरण इस संग्रह की प्रत्येक लघुकथा के भीतर विद्यमान हैं। पाठक

* दो नाकवाले लोग : 1983

इनके माध्यम से स्वयं अपने उस परिवेश से परिचित होता है, जो आज के भारतीय जीवन की निरर्थक नियति है, यानी जिसे बदलना आदमी की सार्थक पहचान के लिए आवश्यक है।

भूमिका*

ये कुछ कहानियाँ, एक-दो निबन्ध, एक-दो फन्तासी इस संग्रह में हैं। इसकी अधिकतर कहानियाँ पहले 'एक लड़की पाँच दीवाने' नाम से पुस्तक रूप में आ चुकी हैं। किसी कारण पुस्तक का वह नाम मुझे अच्छा नहीं लगा। मुझे कुछ रचनाएँ और भी उसमें जोड़नी थीं। इसलिए अब जब यह संग्रह वाणी प्रकाशन से छप रहा है, तब मैंने इसका नाम 'दो नाकवाले लोग' कर दिया है।

पुस्तक के इस नाम-बदल में यह उद्देश्य नहीं है कि उस नाम से भी पुरस्कार ले लिया और इस नाम से भी ले लें। पुरस्कार न उस पर मिला था, न इस पर मिलेगा।

इन रचनाओं के बारे में मैं कुछ नहीं कहना चाहता। पाठक ही कहेंगे। मैं अक्सर लेखक मित्रों से कहता हूँ कि पाठक बड़ी तेजी से समझ में बढ़ रहा है। कहीं ऐसा न हो जाय कि पाठक आगे निकल जाय और हम लेखक पिछड़ जायें।

वाणी प्रकाशन के अशोक कुमार जरूर श्रेय के भागीदार हैं, जो मेरे पीछे पड़े रहे।

* **दो नाकवाले लोग** : 1983

'रिटायर्ड भगवान की कथा' नाम से परसाईजी ने एक लम्बी फन्तासी लिखने की योजना बनायी थी। इसका बहुत विस्तृत आयाम कल्पना में था—विश्व-राजनीति, शीतयुद्ध, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ नवसाम्राज्यवाद आदि। इसे सन् 1979 में 'कथा-यात्रा' मासिक में आरम्भ किया था। पर पत्रिका छठवें अंक के बाद बन्द हो गयी। इस कृति के केवल चार अध्याय प्रकाशित हो सके। परसाईजी इसे पूरी करेंगे। पर उपन्यास-अंश के रूप में हम वे चारों प्रकाशित अध्याय दे रहे हैं।

—**सम्पादक-मण्डल**

रिटायर्ड भगवान की कथा

उपन्यास-अंश

कथा-1
कुछ भूमिका जैसा

यह जो कथा मैं लिखना शुरू कर रहा हूँ और पूरी करने की कोशिश भी करूँगा, इसे उपन्यास मानने के लिए आचार्यों को परिभाषा बदलनी पड़ेगी। और वे परिभाषा बदलेंगे नहीं, क्योंकि उन बड़े-बड़े आचार्यों को ऊँची-ऊँची तनखाहें इसीलिए मिलती हैं कि वे चीजों की परिभाषाएँ न बदलने दें। वे आचार्य चाहे साहित्य के हों, इतिहास के, अर्थशास्त्र के, समाजशास्त्र के, न्यायशास्त्र के, जिन्दगी की किसी चीज की परिभाषा नहीं बदलने देने के लिए दिमाग-तोड़ मेहनत करते हैं, पुरस्कार प्राप्त करने का कष्ट उठाते हैं, सम्मान में माला पहनने का त्रास भोगते हैं। देश में यह सर्वव्यापी षड्यन्त्र चल रहा है कि नयी परिभाषा और नयी व्याख्या हो नहीं पाये, बल्कि परिभाषाहीन जीवन और व्याख्याहीन जड़ व्यवस्था चलने देने के लिए संसद, सर्वोच्च न्यायालय और योजना आयोग से लेकर नीचे तक प्रयत्न चल रहे हैं। जैसे इतिहास के आचार्यों को यह सिद्ध करने के लिए धन और यश दिया जाता है कि स्वर्णयुगवाला वह प्राचीन समाज एक द्वन्द्वहीन यानी फ्लेट समाज था, वही आदर्श समाज था, और आज का यह घोर पतित, द्वन्द्वपूर्ण समाज ! हाय ! पर ऐसे आचार्यों को बृहस्पति भी नहीं समझा सकते कि गुरु, द्वन्द्वहीन समाज नहीं होता। अगर होता, तो आप अभी भी जंगल में नंगे घूमते और वनबिलाव को पकड़कर कच्चा खाते। आचार्य को तो यह परम ज्ञान देना है न कि शोषक और शोषित में द्वन्द्व धर्म और संस्कृति के विरुद्ध है। समझे पापियो !

मगर मुझे साहित्य के आचार्यों की बात करनी चाहिए। ये रसवादी प्रकार के आचार्य हैं। ये रँडुए होकर भी अपने-आप हृदय में श्रृंगार रस न जाने कैसे पैदा कर लेते हैं ! इन्हें आलम्बन भी नहीं चाहिए शायद, क्योंकि आलम्बन और चेतना का द्वन्द्व होने लगता है। यह द्वन्द्व मार्क्सवादी आलोचकों को ही मुबारक हो ! पर रस सिद्धान्तवाले काइयाँ आचार्य के पास जब शोध-छात्राएँ आती हैं, तब वह तुलसीदास के हवाले से जानता है कि प्रभु 'उमा-रमन' के बाद ही 'करुणायतन' होते हैं। यही क्रम है रस परिपाक का। मेरे परिचित एक आचार्य ने क्रम में गड़बड़ कर दी, तो करुण रस के आलम्बन हो गये। उन्होंने सुन्दरी, पर मूढ़ छात्रा उमा का थीसिस लिखने का काम एक अत्यन्त तीव्रबुद्धि पर गरीब शोध-छात्र को दे दिया।

वह करुणायतन पहले हो गये। नतीजा यह हुआ कि वह युवा तीव्रबुद्धि छात्र ही 'उमा-रमन' हो गया! आचार्य टापते रह गये! ये पुरातन आचार्य कहेंगे कि यह जो मेरा लेखन है, इसमें धीरोदात्त तो कुछ नहीं है। देखते हैं, शायद कहीं 'हास्य' रस निकल आये। वैसे यह सब भ्रष्ट साहित्य है।

मार्क्सवादी आलोचक भी कम शास्त्रीय नहीं होते। एक मार्क्सवादी आलोचक ने लिखा था कि महादेवी वर्मा के काव्य में यह जो वेदना है, वह इसलिए है कि उन्हें पैसे की तंगी रहती है। मुझे मार्क्स पर दया आयी कि कबीर का वंश कैसे डूब रहा है! मार्क्स को शेक्सपियर बेहद पसन्द था। प्रयाग के ही एक दूसरे यथार्थवादी ने ठीक ही कहा, भैया, यह सब रोना, पीड़ा आध्यात्मिक नहीं, शुद्ध दैहिक है! यह परमात्मा के नहीं, पुरुष के लिए उत्कट आकांक्षा की पीड़ा है। अब झूंसी की तरफ जा रही है, तो 'पन्थ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला' हो ही गया है! कोई छोकरा नहीं मिला, जो गीता में चिट्ठी छिपाकर दूसरे मुहल्ले में किसी को दे आये, तो 'कैसे सन्देश प्रिय पहुँचाती' गीत हो गया! ये बड़े दुष्ट यथार्थवादी हैं।

हमारे मित्र प्रखर मार्क्सवादी आलोचक नामवरसिंह ने अभी कहीं कहा है कि मुझसे एक भूल हो गयी थी कि मैंने कह दिया था कि निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' हिन्दी की पहली 'नयी कहानी' है। साहित्य के इतिहास में पहली बार कोई आचार्य अपनी भूल मान रहे हैं। नामवरसिंह तो तब यह भूल करके रह गये, पर उन्होंने निर्मल को तो 'वर्ड वांचर' बना दिया। वह बार-बार भाषा के संकट की बात करते हैं और जंगल-जंगल घूमकर पक्षियों की भाषा टेप करते हैं। जो भाषा निर्मल ने 'इवॉल्व' की है, वह ऐसी कोमल है कि छू दो तो ख़ून झिरपने लगे। यह भाषा मुझे मोहित करती है। एक ही दिक्कत है। मुझे गाली देने का काम भी पड़ता है। तो मैं किस भाषा में गाली दूंगा। फिर ये मजदूर वगैरह अपने ईगो के लिए लड़ते हैं, जुलूस निकालते हैं, नारे लगाते हैं, गरमागरम तकरीरें करते हैं, ये क्या 'चीड़ों पर चाँदनी' की भाषा में बोलेंगे! इन्हें अपने काम की भाषा कौन देगा। मैं यह बात अपने एक साहित्यिक मित्र से कर रहा था। वहीं एक ठेठ मजदूर नेता बैठा था। उसने कहा—साहब, आप हमें भाषा देनेवाले कौन होते हैं! और, आप लोगों से भाषा मांगता कौन है। भाषा हम बनाते हैं। आप उसे सीखिए, वरना आपको कोई नहीं पूछेगा।

निर्मल की कहानियों का मैं प्रशंसक हूं। मैंने नामवरजी से तभी कहा था कि 'लन्दन की एक रात' छोड़कर बाकी कहानियों का संस्कृत में अनुवाद कर दिया जाये, तो किसी शोध-छात्र को डॉक्टरेट मिल जायेगी। वह सिद्ध कर देगा कि कालिदास का एक छोटा भाई निर्मलदास यशोवर्मा था, जिसने ये कहानियाँ लिखी हैं।

यह मैं क्या कर रहा हूं! पहले अध्याय में, भूमिका में, काण्ड में मंगलाचरण होना चाहिए, मगर मैंने अभी तक 'वन्दे वाणी विनायकौ' नहीं किया। यह भी नहीं

कहा कि 'काव्य विवेक एक नहिं मोरे।' तुलसीदास से तो किसी ने कुछ नहीं कहा, पर मुझसे कोई कह देगा, काव्य-विवेक नहीं है, तो क्यों स्टेशनरी बरबाद करता है! देखता नहीं, स्कूलों में लड़कों को कापियाँ नहीं मिल रही हैं। मैं मजबूर हूँ। जिन 'नाना पुराण निगमागम' से मेरा परिचय है, उन्हीं से अमृत-रस खींचूंगा। अलीबाबा चालीस चोर, गुलबकावली, किस्सा तोता-मैना वगैरह के सिवा कोई पुराण नहीं जानता। हिन्दी लेखकों की दुनिया को देखकर, इसके कौतुक देखकर कुछ लोग दुखी होते हैं, परेशान होते हैं, मैं नहीं होता। मजा लेता हूँ—'विधि के बनाये जीव जेते जहाँ लगि खेलत-फिरत जिन्हें खेलन-फिरन देहु।'

मुझे मजा आता है जब कोई लेखक मिलता है और साहित्य का नहीं, साहित्यकार का 'शास्त्रीय' विवेचन करता है। साहित्य का एक तीर्थक्षेत्र है। जो भी आदमी वहाँ से आता है, दो लेखकों की चर्चा जरूर करता है। दोनों प्रकाशक हैं। यह शोध का विषय है कि लेखक होने से प्रकाशक है, या प्रकाशक होने से लेखक है। सम्बन्ध आपसी मधुर हैं। सिर्फ लेखक होते, तो आपस में बोलचाल नहीं होने से काम चल जाता, पर प्रकाशक भी हैं, इसलिए देखा-देखी भी नहीं है। लोग चाहे जो कहते रहें, मुझे दोनों बड़े प्यारे लगते हैं – लवली! बड़े आत्मविश्वासी हैं। आत्मविश्वास कई तरह का होता है—धन का, बल का, विद्या का, पर सबसे ऊंचा आत्मविश्वास मूर्खता का होता है। मूर्खता के भी दर्जे हैं। अपढ़ता मूर्खता नहीं है। सबसे बड़ी मूर्खता है—यह विश्वास लबालब भरे रहना कि लोग हमें वही मान रहे हैं जो हम उन्हें मनवाना चाहते हैं। जैसे, हैं फूहड़, मगर अपने को बता रहे हैं फक्कड़ और विश्वास कर रहे हैं कि लोग हमें फक्कड़ मानते हैं। यह विश्वास परम मूर्खता है, आध्यात्मिक मूर्खता है यह। ये दोनों वरिष्ठ सुनामधन्य आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचे हुए हैं। अब यह कोई बात नहीं है कि ये स्वार्थी हैं। स्वार्थी कौन नहीं है! मैं भी स्वार्थी हूँ। जो आदमी दूसरे का नुकसान किये बिना अपना स्वार्थ साध ले वह ठीक-ठाक आदमी है। बुरा नहीं। जो दूसरे का नुकसान करके अपना भला साधे, वह जरूर बुरा आदमी है। वह और बुरा है जो अपना भला न होता हो तो भी दूसरे का बुरा करता है। और वह तो श्रेष्ठतम नीच है जो अपना नुकसान करके भी दूसरे का बुरा करता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण दिया है तुलसीदास ने—

पर अकाज लगि तनु परिहरहीं,
जिमि हिम उपल कृषी दल गरहीं!

दूसरे का काम बिगाड़ने के लिए अपने को नष्ट कर देंगे। जैसे ओले खुद चाहे गल जायें, पर फसल को चौपट कर देंगे।

ये दोनों उमदा आदमी हैं। एक-दूसरे से मिलते ही दम्भ से भरा अट्टहास करते हैं—यानी टुच्चे, तू ऐसा अट्टहास नहीं कर सकता! इन्हें अपने 'सेन्स ऑफ ह्यूमर' पर भी विश्वास है। ये पाँच मिनट तक यह कहकर अट्टहास करते रहेंगे कि शाम को मैं तीन आइसक्रीम खा गया। सामनेवाले का त्रास यह होता है कि वह भंगिमा धारण किये रहे कि मैं इस साल का सबसे बड़ा मजाक सुन रहा हूँ।

दूसरे खिसियाकर दुर्बल हँसी हँसते हैं—उस दीन बिल्ली की तरह जो रोटी के टुकड़े की गन्ध लेती रहती है। ये निन्दा के द्वारा अपना और मिलनेवाले का मनोरंजन करते हैं। निन्दा वे अट्टहास करनेवाले भी करते हैं, पर इस तरह कि मैंने फलाँ-फलाँ को ठोंक दिया। ये इस तरह निन्दा करते हैं कि फलाँ-फलाँ से मैं 'ठुक' गया। ये यह तेवर रखते हैं कि मैं सता सकता हूँ, इसलिए मुझे मानो! ये यह धजा बनाते हैं कि मैं सताया हुआ हूँ, इसलिए मुझे मान लो भैया! दोनों बड़े मजे में मौके-मौके से 'हाई ब्रो' और 'लो ब्रो' हो लेते हैं।

दोनों ही अच्छे हैं। केवल अपनी प्रतिध्वनि सुनते हैं। इनकी बैठक की दीवारों की मरम्मत हर साल होती है, क्योंकि इनकी ध्वनि से दीवारों में दरारें पड़ जाती हैं।

दोनों की आइडियालॉजी है। एक जब भुन्नाते हैं, तो मार्क्स सहम जाते हैं। बार-बार लिखते हैं—मैंने अमुक सन् में कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ दी थी। हुष्ट! इनके विचारों से बाला साहब देवरस खुश रहते हैं। कमाल यह है कि ये देवरस और राजेश्वर राव, दोनों से लाभ प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।

दूसरे सारे दावे कर लेते हैं। आइडियालॉजी के पक्के हैं—यानी एक बार मना करेगा, दो बार मना करेगा, पर जब सौ बार जाऊँगा, तो साला पिण्ड छुड़ाने के लिए दे ही देगा!

दोनों अच्छे लेखक हैं। शास्त्रोक्त लिखते हैं। एक का उपन्यास यह होता है—एक अधेड़ और बीमार आदमी की जवान और स्वस्थ बीवी है। वह सँभलती नहीं, तो वह अपने दोस्त की जवान लड़की पर डोरे डालता है। पर लड़की का एक युवा प्रेमी है। तो अधेड़ बीमार वीरतापूर्वक उस युवक से संघर्ष करता है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप वह लड़की और बीवी, दोनों युवक को समर्पित कर देता है, जिससे युवक को तपेदिक हो जाता है। इस कथा से क्या शिक्षा मिलती है! मनुष्य एक बीमार जानवर है।

दूसरे का भी जमा हुआ है। वह जानते हैं कि भारत में जमींदार हैं। जमींदार हैं, तो उसका नौकर भी होगा। नौकर है तो उसकी खूबसूरत बीवी भी होगी। अब खूबसूरत बीवी है तो जमींदार उसके साथ चोरी-छिपे सोता ही होगा। जब अक्सर उसके साथ होता है, तो किसी दिन नौकर देख ही लेगा। देख लेगा, तो उसे गुस्सा करना ही पड़ेगा। वह लाठी उठायेगा। जमींदार बन्दूक उठा लेगा। नौकर भागकर सड़क पर चिल्लायेगा। इस कथा से क्या शिक्षा मिलती है! फार्मूला जिन्दाबाद! मैंने अपने एक बहुत प्रबुद्ध दक्षिण भारतीय मित्र को उपन्यास पढ़ने दिया था। पढ़कर वह बोले 'वण्डरफुल'! मैं खुश हुआ। वह आगे बोले, "आई डोंट नो एनी अदर राइटर हू राइट्स ट्रैश विद सच जेनुइन एनथ्यूजियाज़्म!"

जड़-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण पय लर्हाहि परिहरि वारि विकार॥

दोनों में देखा-देखी नहीं है। पर किताबें दोनों को बेचना है। यहाँ मेल होता है।

हर साल एक विभाग पुस्तकों की हजार-डेढ़ हजार प्रतियाँ खरीदता है। इस खरीदनेवाली कमेटी के सचिव मेरे दोस्त। लेखक नहीं, यारबाश आदमी। मैं उनके घर बैठा गप्पें कर रहा था। तभी उनमें से एक का विजिटिंग कार्ड लेकर चपरासी आया। दो मिनिट बाद दूसरे का कार्ड आया। सचिव दोस्त ने कहा, "यार तुम लेखकों का भी अजब हाल है! सम्मान लेखक का चाहते हैं और घिघियाते बनिये की तरह हैं! ये दोनों लेखक किताब बेचने आये हैं।" मैं उठा। मैंने कहा, मेरा यहाँ रहना ठीक नहीं है। वे दोनों मेरे आदरणीय हैं। तुम उन्हें बुला लो। मैं दूसरे दरवाजे से खिसक गया।

यह मैं कोई द्वेषवश नहीं लिख रहा हूँ। इन दोनों ने मेरा कोई नुकसान नहीं किया है। बड़े प्रेम से मिलते हैं। आगे भी प्रेम रहेगा। यह लिख इसलिए गया कि मैं मनुष्य से प्यार करता हूँ। अद्भुत है मनुष्य! कैसा-कैसा होता है! हर एक का अध्ययन करना कितना दिलचस्प होता है! सियाराम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि जुग पानी!

वैसे तो चौरासी वैष्णवन की लम्बी वार्ता है। तिनकी कथा कहाँ ताइ कहिए फिर मैं कोई रामदास 'भितरिया' तो हूँ नहीं।

पर विधि के बनाये जीव मिल जाते हैं। चार-पाँच साल के लिए हिन्दी में कुछ क्रान्तिकारी, घोर विद्रोही कवि हो गये थे। ये इस सभ्यता से नाराज थे। व्यवस्था के प्रति विद्रोही थे। क्रान्ति करना चाहते थे। पर इनकी कविताएँ जुगुप्सा पैदा करती थीं। कालिदास, जयदेव, विद्यापति ने स्वस्थ स्त्री-पुरुष के सहवास का वर्णन किया है। इन कवियों की क्रान्ति भी स्तन और योनि पर ही होती थी। पर ये सिफलिस और गनोरिया के बिना क्रान्ति-कर्म की कल्पना ही नहीं करते थे!

यह वह समय था जब अमेरिका में हर्बर्ट मार्क्यूस के चेले-चेली होची मिन्ह, चे-गुएवारा के बड़े-बड़े चित्र लेकर जुलूस निकालते थे और इन्हीं क्रान्तिकारियों की छाया में भद्दे यौन-प्रदर्शन करते थे। नियो लेफ्ट! नव वाम!

तो तब के हिन्दी के एक क्रान्तिकारी कवि ने लिखा था--मैं पत्नी के मासिक-धर्म को चाटना चाहता हूँ। जी हाँ, यह क्रान्ति ही है। अभी वह कई साल बाद मोटी पत्नी और बच्चे के साथ मिल गये। पालतू हो गयी क्रान्ति! क्रान्ति की बिल्ली बासी रोटी खा लेती है! मुझसे उस शालीन स्त्री की तरफ नहीं देखा जाता था। यह आदमी इसके साथ 'वो' करने को कहता था। शायद किया हो।

एक कवयित्री भी थीं। उन्होंने लिखा था—मैं मनुष्य की अपेक्षा कुत्ते के साथ सम्भोग पसन्द करूँगी। वे भी अभी मिलीं। साथ में चौदह-पन्द्रह साल का बेटा था। मैं उस लड़के से डर रहा था, कहीं यह भूँककर काट न ले!

विधि के बनाये जीव हैं।

इस भूमिका में न जाने क्या-क्या कह गया! न समझे खुदा करे कोई। जो कथा आगे लिखूंगा, वह साहित्य कहलाने की बदतमीज कोशिश करेगी। इसलिए 'साहित्य' और 'कार' की सेवा में ये कुछ पवित्र शब्द अर्पित किये।

रिटायर्ड भगवान से भेंट आगे कराऊँगा। तब तक भक्तगण—'जब-जब होय धरम की हानी' जपते हुए 'धरम की हानी' का सिलसिला जारी रखें।

कथा-2
भगवान तरह-तरह के !

जो पाठक यह आशा कर रहे हैं कि मैं उन्हें रिटायर्ड भगवान की कथा सुनानेवाला ही हूँ, उन्हें थोड़ा और धीरज रखना पड़ेगा। भगवान चाहे ड्यूटी पर लगा हो या रिटायर हो गया हो, आखिर भगवान है, कोई रिटायर्ड क्लर्क तो है नहीं कि चाहे जहाँ तैयार मिल जाय। भगवान का मामला है। कहा है—'जनम-जनम मुनि जतन कराहीं, अन्त राममुख आवत नाहीं।' भगतजी जीवन-भर भगवान का भजन करते हैं। मरते वक्त परिवारवाले कहते हैं 'बाबा, राम-राम कहो।' और भगतजी 'राम' न बोलकर सट्टे का फिगर बोलते हैं। कहते हैं, 'यह लगा देना।' भक्त और भगवान का अजब रिश्ता है। जितनी कथाएँ हमें बतायी जाती हैं, उनमें ज्यादा उन पापियों की हैं, जो जीवन-भर पाप करते रहे, मगर मरते वक्त उनके मुख से 'एक्सीडेण्ट' से भगवान का नाम निकल गया, तो भगवान ने उन्हें स्वर्ग दे दिया। जिन्दगी भक्ति में बरबाद करनेवाले भक्त टापते रह गये ! वेश्या और डाकू तो एक बार नाम लेकर स्वर्ग-सुख लूटते हैं और नारद-जैसे भक्त को एक औरत तक नहीं मिलती। क्या भगवान पापी, व्यभिचारी, लुटेरे, हत्यारे से डरते हैं ! या चापलूसी-पसन्द हैं ! क्या वह हमारे नेताओं की तरह चमचों की अवहेलना करते हैं और विरोधी को पटाते हैं ! इन कथाओं से जो शिक्षा मिलती है, वह यह है कि जीवन-भर खूब पाप और मौज करो; बस, मरते वक्त भगवान का नाम ले दो। ये सब कथाएँ दुनिया में अत्याचार, पाप और अनाचार को प्रोत्साहन देने के लिए चलायी गयी हैं। सबसे ज्यादा अनैतिकता धार्मिक विश्वास ही फैलाते हैं। सुबह पाँच भिखारियों को मुट्ठी-मुट्ठी दाना देकर धर्म और भगवान, दोनों को निबटा दिया सेठजी ने और फिर दिन-भर अनाज बेचने आये किसानों का गल्ला कम तौला और कम दाम दिये। वह राममन्दिर के 'ट्रस्टी' हो गये। भगवान में बिल्कुल विश्वास वे ही नहीं करते हैं, जो भगवान की भक्ति का प्रचार करते हैं। वह जानते हैं कि वह नहीं है, पर उसके होने का भ्रम बनाये रखो और लूट चलने दो !

असल में रिटायर्ड भगवान की कथा मुझे एक आदमी ने सुनायी थी। उनका नाम है हरसेवक राम 'सेवक'। मैंने उनसे पूछा था कि आप वैसे ही हरसेवक हैं, फिर बाद में 'सेवक' और क्यों लगा रखा है ! उन्होंने कहा—'जोर' के लिए। इसका

अर्थ होता है। अब एक दत्तोपन्त ठेंगड़ी हैं—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के श्रमिक संगठन भारतीय मजदूर संघ के मन्त्री। वैसे दत्तोपन्त ही काफी है, फिर उन्होंने आगे ठेंगड़ी क्यों लगा रखा है! इसका अर्थ है। मालिकों से मिलकर मजदूरों को जो ठेंगा दिखाये, वह ठेंगड़ी, समझे!

इन हरसेवक राम 'सेवक' से मैं पाठकों का परिचय कराऊँगा। कथा यही सेवकजी सुनायेंगे।

मेरा तो किशोरावस्था तक भगवान से सरोकार रहा था। फिर हमारी 'वेव-लेंग्थ' ही गड़बड़ हो गयी। बचपन में माता-पिता के साथ हम भाई-बहन भगवान की आरती गाते थे—'जय जगदीश हरे, भक्तजनों के संकट पल में दूर करे।' हम गद्गद होते थे। भगवान ने हमारी सुन ही ली और संकट हरने लगे। जगदीश ने पहले हमारी माँ को मारा, फिर पिता को बीमार किया। उनका धन्धा चौपट किया। खाने का ठिकाना नहीं रहा। मैं बेकारी भोगता रहा। जबलपुर में नौकरी लगी, तब पिता दूर अस्पताल में पड़े थे। मैं बिना टिकिट रेल-यात्रा करके स्कूल में नौकरी पर हाजिर हुआ। कैसा आदर्श गुरु रहा मैं! पहली तनखाह मिलते ही तार आया कि पिता भी चल बसे। जगदीश हरे ने उन्हें मेरी तनखाह की एक रोटी भी नहीं खाने दी!

तभी से मैंने इस भगवान नाम की इलमत को छोड़ दिया। यह भावनात्मक रूप से छुटकारा हुआ। बुद्धि से तो बाद में मुक्त हुआ। मुझे ऐसा लगा कि कोई बुद्धिमान आदमी भगवान को मान ही नहीं सकता। हमारे जो प्राचीन ऋषि-मनीषी हुए हैं, वे ज्यादातर नास्तिक थे। गाँधीजी-जैसे बुद्धिमान आदमी का भगवान में विश्वास हो ही नहीं सकता। वह नास्तिक रहे होंगे। मगर वह जानते थे कि इस देश के आदमी ऐसे हैं कि बिना लँगोटी लगाये और रामधुन लगाये मेरे पीछे नहीं चलेंगे। मेरी बात नहीं मानेंगे। इसीलिए वह 'रघुपति राघव राजाराम' की धुन लगवाते थे। यह भक्ति नहीं, तरकीब थी।

अज्ञान और डर से पैदा हुआ 'आइडिया', जिसमें पहले प्रकृति के लाभकारी और विध्वन्सात्मक गुण आरोपित किये। फिर मनुष्य के गुण जोड़े, एक 'इमेज' बनायी। उसे संस्थागत, संगठनात्मक, साम्प्रदायिक कर दिया—इन्स्टीट्यूशनलाइज्ड किया और बदमाशियाँ चालू कर दीं। लड़ाई लड़वा दी, सिर कटवा दिये, लूट करवा दी, दंगे कराये, शोषण चालू रखा, युद्ध हुए, जेहाद बोले गये, क्रुसेड हुए, ज्ञान-विज्ञान की सही बात कहनेवालों का सिर काटा, जिन्दा जलाया, विवेक को उभरने नहीं दिया, न्याय होने नहीं दिया।

ब्रह्मवादी से पूछता हूँ तो वह कहता है—है वह ब्रह्म। न पैदा होता, न करता। आकारहीन है। गुणहीन है।

अच्छा, वह क्या करता है? वह कुछ नहीं करता। वह दया करता है? क्रोध करता है? नहीं। दुखी पर करुणा करता है? नहीं। अत्याचारी पर गुस्सा करता है? नहीं। किसी का भला करता है? नहीं। किसी का बुरा करता है? नहीं। बस

वह है, कण-कण में है। केवल वह है, और कुछ नहीं है।

अगर है भी, तो कमबख्त किस काम का।

रहस्यवादी, प्रेममार्गी की आत्मा उस प्रियतम से मिलने को तड़पती है। तड़पती है, तो आत्महत्या करके उसे मिला क्यों नहीं देता ! भेज दे आत्मा को ससुराल।

भक्तिमार्गी का मन इस शून्य में लगा नहीं। उसने साकार बना डाला। श्यामसुन्दर। मोहक रूप। कोटि मनोज लजावन हारे !

कई लोग दावा करते हैं कि उन्होंने उस भगवान को पा लिया ! पूछता हूँ—देखा तुमने, कैसा है वह ? जवाब मिलता है—वह दिखता नहीं है। अनुभव होता है। पूछता हूँ—कैसा अनुभव होता है ? ऐसा अनुभव होता है जैसे खुजली उठने का होता है ! क्या दाद खुजाने के परमानन्द-जैसी अनुभूति होती है उसे पाने पर ! नहीं जी, वह गूंगे का गुड़ है। कहा नहीं जा सकता उसका स्वाद !

मुल्ला से पूछो—अल्ला मियाँ कुछ करते हैं ? वह कहेगा—अल्ला मियाँ कुछ क्यों करेंगे ! खुदा से बड़ा कोई नहीं है। उस पर अक़ीदत रखो। जब हश्र का दिन आयेगा, तब वह बन्दों को जन्नत भेजेगा। वहाँ मौज करो। अरे बढ़िया हूरें मिलेंगी। यह हूर, अप्सरा हर धर्म की कल्पना में है। पुण्यवान आदमी जब जन्नत या स्वर्ग जायेगा, तब वहाँ खूबसूरत औरतें उसे भोग के लिए मिलेंगी। और पुण्यवती स्त्रियों को ? उन्हें सुन्दर युवा पुरुष भोग के लिए नहीं मिलेंगे। किसी ऋषि, मनीषी, अवतार, पैगम्बर को यह गवारा नहीं कि मरने के बाद भी उसकी बीवी किसी मर्द को देखे।

मुल्ला को घर पर पुलिस का सिपाही जाकर कह दे कि तुम्हें थानेदार ने बुलाया है, तो वह फौरन चल देगा। रास्ते में दूसरी मस्जिद पड़े और उसका मुल्ला कहे—मियाँ नमाज का वक़्त हो रहा है, आओ नमाज पढ़ लो, तो मुल्ला कहेगा—अभी नहीं। ज़रा मैं जल्दी में हूँ। थानेदार ने बुलाया है। मुल्ला जानता है कि खुदा सर्वशक्तिमान है, पर थानेदार उससे भी बड़ा है। थानेदार अभी हवालात में बन्द करके दिखा देगा। खुदा को जो करना होगा, हश्र के दिन करेगा। उसमें बहुत देर है।

पादरी भगवान को नहीं, भगवान के बेटे को जानता है। वह मानने को तैयार नहीं है कि ईसा का बेटा था। उसने इन्सान का अच्छा आचरण सिखाया। इस अच्छे आचरण की परवाह किसी को नहीं है। यहाँ भी स्वर्ग है, जिसके फाटक पर सन्त पीटर तैनात रहते हैं। सन्त का हाल भी दिलचस्प है। इन्दोनेशिया के नेता सुकर्ण ने लिखा है : मुझे अमेरिका में एक बिशप ने एक मजाक सुनाया। वह मैंने राष्ट्रपति आइसनहावर को सुना दिया। मेरिलिन मनरो जब आत्महत्या करके उस लोक गयी, तो उसने स्वर्ग का दरवाजा खटखटाया। सन्त पीटर बाहर आये। मनरो ने कहा, मैं बहुत दुखी स्त्री हूँ। मुझे स्वर्ग में स्थान दीजिए सन्तवर ! सन्त पीटर ने रिकार्ड देखकर कहा कि तुम्हारा नाम यहाँ नहीं है। अब मनरो रोने लगी। सन्त पीटर को दया आ गयी। उन्होंने कहा, रोओ मत। देखो, यह झरना है न

(वैतरणी), इस पर यह सँकरा पुल है। इस पर से तुम बिना गड़बड़ाये उस पार निकल गयीं तो तुम्हें स्वर्ग में जगह मिल जायेगी। देखो, गड़बड़ाना मत। मैं तुम्हारे पीछे देखता चलता हूँ। अब मनरो आगे चलीं और सन्त पीटर उसके पीछे। बीच में जाकर मनरो ने अपने कूल्हे मटकाये, तो सन्त पीटर गिर गये।

अरविन्द 'अतिमानस' की स्थिति पर पहुँच गये थे। अतिमानस की स्थिति योग से और भगवान को अनुभव करने से प्राप्त होती है, ऐसी अरविन्द की स्थापना है। यानी अरविन्द योग की चरम सीमा पर थे और उन्हें भगवान की अनुभूति हो चुकी थी। मगर अरविन्द की टाँग में वैसा ही फ्रैक्चर हुआ था, जैसा मेरी टाँग में। भगवान को प्राप्त कर लो, फिर भी वह टाँग टूटने से नहीं बचा सका, तो ऐसे भगवान और अतिमानस से क्या फायदा!

अतिमानस के स्तर पर पहुँचे हुए आश्रम और ऑरोविल बस्ती पर कब्जे के लिए झगड़े हो रहे हैं। एक हत्या हो चुकी है। अभी देशी और विदेशी साधकों में इतना झगड़ा चल रहा है कि वहाँ पुलिस लगी है। अतिमानस की चरम स्थिति है। भगवान का सामीप्य वास्तव में पुलिस का सामीप्य ही है। इस बीच नयी 'माँ' प्रकट हो गयी है। साधकों का एक गुट एक 20 साल की लड़की को तैयार करके लाया। वह माँ की समाधि के पास गयी और बोली कि मुझनें 'माँ' की आत्मा प्रवेश कर गयी है। वह आशीर्वाद देने लगी। भक्तों के एक गुट ने अपनी इस 'माँ' को अब विदेश-यात्रा पर भेज दिया है। वह जब विलायत से लौटकर आयेगी, तब अरविन्द भक्तों को झख मारकर उसे नयी माँ मानना पड़ेगा।

मुझे खुफिया विभाग के एक अधिकारी ने बताया कि 'अतिमानस' की सबसे ऊँची स्टेज पर और भगवान के बिल्कुल पास वास्तव में तस्करों का गिरोह है।

पता नहीं क्या बात है कि ऋषि, मुनि, सन्त, मनीषी भगवान के पास पहुँचने का रास्ता तो खोज लेते हैं, पर वहाँ अच्छे आदमी से पहले बुरा आदमी पहुँच जाता है। पता नहीं, यह रास्ते की खूबी है, भगवान की, या रास्ते पर चलनेवालों की!

भगवान के इस आइडिये से क्या-क्या चमत्कार नहीं किये जाते! एक थे अवतार—मेहर बाबा। अब नहीं रहे। उनका फोटो मैंने देखा है। अच्छे खाने और सुख भोगनेवाले आदमी का चेहरा था वह। चेहरे पर, जिसे देवत्व कहते हैं, वह नहीं था। यह अवतार मेहर बाबा चालीस साल तक मौन रहे। उनका दावा था कि जब वह बोलेंगे, तब दुनिया बदल जायेगी। हम इन्तजार में थे कि बाबा अब बोले, और दुनिया बदली, मगर वह बिना बोले ही मर गये! उनके भक्तों को उनसे बुलवा लेना था। यों मौन भंग नहीं करते तो चिकोटी काटना था, पिन चुभाना था। वह गाली देते, या कम-से-कम 'अरे बाप रे' कहते और दुनिया बदल जाती! पर किसी भक्त ने यह नहीं किया। मैं होता तो उन्हें गाली देता-- खूब गाली देता, भगवान हो या अवतार, गाली नहीं सहता। मेहर बाबा गुस्से में मुझे गाली देते। उनका मौन टूटता और दुनिया बदल जाती, पर दुनिया का दुर्भाग्य कि मैं उनका भक्त नहीं था और 'बोल बे' कहकर उनसे बुलवा नहीं पाया।

मिथों का अम्बार। चमत्कार और फरेब पर टिका है यह पूरा विश्वास। योग तो एक व्यायाम है। इसमें धर्म और भगवान की कतई जरूरत नहीं है। भावातीत ध्यान है महर्षि महेश योगी का। ध्यान चिन्तन की एकाग्रता फायदेमन्द है। हम भी करते हैं। मगर इतने से धन्धा नहीं चलता। भगवान का पुट चाहिए। चमत्कार चाहिए। तभी तो महेश योगी दावा करते हैं कि ब्रेझनेव और कार्टर ने जो 'साल्ट-2' सन्धि पर हस्ताक्षर किये हैं, वे मेरे प्रभाव से—'महर्षि इफेक्ट'! जी हाँ, महर्षि इफेक्ट से ही अटलबिहारी वाजपेयी चीन गये थे। इनका संगठन प्रचारकों की भरती करता है। इन प्रचारकों को वेतन मिलता है। तीन सौ से एक हजार रुपये प्रतिमाह पानेवाले प्रचारकों को मैं जानता हूँ। वैसे यह शिकायत भी है कि कायस्थों को ज्यादा रखा जाता है, क्योंकि महेश योगी महेशप्रसाद श्रीवास्तव हैं। एक रिटायर्ड सज्जन की भरती हुई। उन्हें तीन महीने की ट्रेनिंग के लिए पचमढ़ी भेजा गया। संयोग से एक महीने बाद ही मैं पचमढ़ी गया। मिले वह साधक पाठकजी। मैंने पूछा, कहिए, क्या हाल है! वह बोले, कुछ न पूछिए। बड़ा अद्भुत है। यहाँ ऐसे साधक हैं कि इस पहाड़ी की चोटी से उड़ें तो उस पहाड़ी पर पहुँच गये। मैंने कहा, तब तो तीन महीने की ट्रेनिंग के बाद आप रेलगाड़ी से नहीं आयेंगे, उड़कर आयेंगे। मगर तीन महीने बाद वह लौटे तो बोले, मैं अन्तिम परीक्षा में फेल हो गया हूँ। हम सत्रह साधक थे। अन्तिम दिन हमारे गुरु ने परीक्षा ली। एक कमरे में हमें विठाया गया। हमारी आँखें बन्द थीं। हम ध्यान में थे। गुरु ने मन्त्र पढ़े। फिर संगीत का रिकार्ड बजाया। मैं बैठा रहा, वैसा ही। मगर बाकी लोग उछल रहे थे। नाच रहे थे, चिल्ला रहे थे। मैं 'नार्मल' रहा। गुरु ने उन सोलह से कहा, 'तुम सब पास। तुम्हें प्रचार का नियुक्ति पत्र मिल जायगा।' मुझसे कहा, 'तुम्हारी साधना अधूरी रह गयी। तुम फेल हो। तुम्हें दो महीने बाद फिर परीक्षा देनी होगी।' मैंने उन पास होनेवाले साधकों से वात की, तो उन्होंने कहा—तुम्हें क्या पहले से पता नहीं था कि परीक्षा में ऐसा करना पड़ता है—यही नाचना, उछलना, चीखना। मैंने कहा—मुझे तो किसी ने बताया नहीं। पाठकजी आजकल पाँच सौ रुपये महीने पर एक जगह प्रचारक हैं। बताने लगे, 'दूसरी परीक्षा में मैंने कमाल कर दिया। चीखा, चिल्लाया, नाचा, गाया। धोती खोलने लगा तो गुरु ने कहा, बस, बस रहने दो। तुम तो साधक के चरम बिन्दु पर पहुँच चुके हो। आजकल हम पाँच सौ पाते हैं। लड़के-बहुएँ इज्जत करने लगी हैं।'

एक ने तो अपने को 'भगवान' ही बना डाला है। भगवान रजनीश! उन्हें मैं तब से जानता हूँ जब वह बी. ए. के छात्र थे। मैं तब अध्यापक था और कॉलेजों की वाद-विवाद प्रतियोगिता में उन्हें पहला स्थान देता था। साथ ही सलाह भी देता था, जरा उच्चारण सुधारो। तुम्हें शक्कर का 'श' कहना नहीं आता। तुम शाला को साला कहते हो। भाषा भी ठीक करो। तुम 'मुझे' के बदले 'मेरे लिए' कहते हो—मेरे लिए कल बुखार आ गया। रजनीश कभी बहुत मेधावान, विकट अध्ययनशील, भाषा की साधनावाले युवक थे। जितने ये योगी, महर्षि, बाबा, आधे और

पूरे महात्मा, सन्त हैं, उनमें सबसे विद्वान यही रजनीश हैं। परम बौद्धिक आदमी हैं। भाषा पर असाधारण अधिकार है। तार्किक हैं। बाकी लटके, खटके, नाटकीयता भी सिद्ध है।

रजनीश इस समय सबसे सफल 'वर्ग भगवान' हैं। जो बातें वह कहते हैं, वे बहुत साधारण हैं। 'सेक्स' के बारे में भी साधारण बातें ही कहते हैं। लोग व्यर्थ चौंकते हैं। पर रजनीश ने नब्ज पकड़ ली है। आदमी को रोटी के बाद सेक्स की चाह होती है। रोटी के लिए आदमी खुली लड़ाई लड़ लेता है, पर 'सेक्स' चाहते हुए भी उसमें संकोच और शर्म करता है। वर्जना का शिकार है। रजनीश ने रोटी की बात चतुराई से छोड़ दी है। रोटी की बात में सामाजिक, आर्थिक संघर्ष में पड़ना पड़ता है। यह उनके 'वर्ग भगवान' बनने में बाधक है। उन्हें आर्थिक, सामाजिक संघर्ष से ही आदमी का ध्यान हटाना है। जिनके पास रोटी है, उनके लिए रजनीश 'सेक्स खोल' देते हैं। वर्जनाएँ टूट जाती हैं। यही उनकी सफलता का रहस्य है।

भगवानों की इतनी चर्चा जरूरी थी। मगर हमारे ये हरसेवक राम 'सेवक' दावा करते हैं, आप भगवान को मानिए चाहे न मानिए, मैंने भगवान से तब मुलाकात की, जब वह रिटायर हो चुके थे। मैंने ही उन्हें 'एक्सटेन्शन' दिलाया। वह फिर ड्यूटी पर आये।

मैंने पूछा—अब भगवान कहाँ हैं! क्या कर रहे हैं!

सेवकजी ने कहा—अब भगवान मर चुके हैं।

मैंने कहा—वह कई बार मर चुके हैं और कई बार उन्हें ऑक्सीजन देकर जिन्दा रखा जाता है। इस बार कैसे मरे? क्या किडनी फेल हो गयी थी?

सेवकजी ने कहा—नहीं भई, एक दुर्घटना हो गयी। उनकी भेंट एक परम पवित्र मनुष्य से हो गयी। ज्यों ही भगवान ने उस परम पवित्र मनुष्य को देखा, उन्हें उल्टी हुई और वह 'हाय राम' करके मर गये!

मैंने पूछा—वह परम पवित्र मनुष्य मोरारजी देसाई तो नहीं हैं!

सेवकजी ने कहा—आप जल्दबाजी में निष्कर्ष मत निकालिए। पहले मेरी कथा तो सुनिए...

कथा-3
भगवान का रिटायर होना

सेवकजी कहीं से आकर मेरे पड़ोस में रहने लगे थे। वह हर छह-आठ महीने में मकान बदल देते थे। वह खुद कहते थे, "मैं किसी मामले में चालू नैतिकता नहीं

मानता, मकान छोड़ने के मामले में भी नहीं। चालू नैतिकता यह है कि कुछ महीने किराया मत दो और जब मकान मालिक तंग करने लगे, तब किराया खाकर मकान छोड़ दो। मैं इस तरह नहीं करता। पूरा किराया देकर मकान छोड़ता हूं। मकान छोड़ता क्यों हूं! इसलिए कि मैं जिस मकान में रहता हूं, वह स्मारक हो जाता है —अभी नहीं तो आगे चलकर होगा, जब लोगों को पता लगेगा कि इसमें हरसेवक-राम 'सेवक' रहते थे जो भगवान के साथ विश्वकल्याण के लिए घूमते थे।"

सेवकजी की इस तरह की बातों के कारण लोग कहते थे, इनमें सब बातें अच्छी हैं, बस, दिमाग ही थोड़ा गड़बड़ है। जबसे इनकी पत्नी ने वैसा किया है, तब से दिमाग गड़बड़ा गया है।

लोग कहते हैं कि बीवी ने उन्हें छोड़ दिया था, जिससे उन्हें मानसिक आघात लगा। पर सेवकजी इसे इस तरह कहते हैं, "मेरी पत्नी अपूर्व सुन्दरी थी। एक आदमी उसे छेड़ता था। वास्तविक गुण्डा तो नहीं था वह, एक अच्छा-सा स्टोर था उसका। पर वह मेरी पत्नी के पीछे ही पड़ गया। पागल-जैसा हो गया। चाहे जब, जहां चाहे मेरी पत्नी को छेड़ देता। एक दिन उसके स्टोर के सामने से मेरी पत्नी निकली, तो उसने सड़क पर रोककर कहा, 'आपसे जरूरी बातें करना है, पाँच मिनिट के लिए स्टोर पर चलिए।' पत्नी ने इन्कार किया, तो वह हाथ पकड़कर खींचने लगा। लोग दौड़ पड़े। हमने पुलिस में रिपोर्ट की। गवाह पक्के थे ही। उसे जेल होती। एक दिन पत्नी कहने लगी, 'उसे जेल होगी न।' मैंने कहा, 'जरूर होगी। ऐसे आदमी को जेल ही होनी चाहिए।' पत्नी ने पूछा, 'क्या तुम मेरे लिए जेल जा सकते हो?' मैंने कहा, 'कैसी पागलपन की बात करती हो! मैं क्यों जेल जाऊँगा!' पत्नी सोचने लगी। फिर बोली, 'तुम मेरे लिए जेल नहीं जा सकते पर वह जाने को तैयार बैठा है। वह मेरे लिए बलिदान कर सकता है, तुम नहीं कर सकते, इसलिए मैं अब उसी के पास जाती हूँ'।" वह सचमुच उसके पास चली गयी। मामला उठा ही नहीं। अब इसमें 'लॉजिक' तो ठीक है, पर 'मॉरल' ठीक नहीं है। यह दार्शनिक समस्या है—लॉजिक ठीक हो, तो मॉरल भी ठीक होना चाहिए। पर कभी ऐसा भी होता है कि लॉजिक तो सही है, पर मॉरल सही नहीं है, या मॉरल सही है तो लॉजिक गड़बड़ा जाता है। मैं तभी से इस दार्शनिक और नैतिक समस्या से उलझ रहा हूँ।

सेवकजी अपनी व्यक्तिगत दुर्घटना को दार्शनिक समस्या बनाकर मुक्त हो गये थे। पर लोगों का कहना है, तभी से उनका दिमाग कुछ गड़बड़ है।

सेवकजी धन्धा क्या करते हैं, यह बहुत कम लोगों को मालूम है। मैंने पूछा तो बोले, "मैं पेशे से वकील हूं।" मैंने कहा, "पर आपके घर में तो कानून की एक भी किताब नहीं है। न कोई फाइल है।" सेवकजी बोले, "जनाब, गवाह तोड़ने के लिए और मजिस्ट्रेट को घूस खिलाने के लिए कानून की किताब नहीं चाहिए। कोई 'वैराग्य शतक' पढ़कर चोरी नहीं करता। पर जबसे भगवान का मेरा साथ हुआ है, मेरा विवेक जाग गया है और मैंने वकालत छोड़ दी। मुझे बोध हुआ कि वकील

मुकदमेबाजी को बढ़ावा देते हैं। इससे मनुष्य का अकल्याण होता है।" मैंने पूछा, "अब आप क्या काम करते हैं?" सेवकजी ने कहा, "भगवान की प्राप्ति के बाद से मैं पुलिस की दलाली करने लगा हूँ।" मैंने कहा, "सेवकजी, भगवान के दर्शन के बाद तो आदमी को परम धार्मिक हो जाना चाहिए। मगर आप···" सेवकजी ने टोका, "क्या मतलब है आपका! भगवान की प्राप्ति के बाद क्या आदमी भजन-पूजन या मन्दिर की घण्टी बजाने में समय नष्ट करेगा! जिसके लिए यह सब करते हैं, वह फल तो प्राप्त हो चुका। भगवान मिल चुके। अब जब आत्मा शुद्ध-बुद्ध हो गयी, पाप-पुण्य से परे हो गयी, नैतिक-अनैतिक के झंझट से मुक्त हो गयी, तो साधक पुलिस की दलाली, चोरी, लूट, घूसखोरी बदमाशी करता है। फिर मैं जो यह काम करता हूँ, इससे सेवा होती है। ये अदालतें हैं। भले आदमियों के पैसे से चलती हैं। मगर इनका उपयोग बुरे आदमी ज्यादा करते हैं। नतीजा यह होता है कि अदालतों में हजारों मुकदमे पड़े रहते हैं। मैं बुरे आदमियों के मामले यहीं पुलिस से सौदा करके निपटवा देता हूँ। वे मामले आगे अदालत में नहीं जाते। इस तरह अदालतों का उपयोग भले आदमी कर सकते हैं। यह सेवा है। सेवा ढंग से की जाय, तो वह धन्धा भी हो जाती है। मैं तो पतितपावन हूँ। जिन लोगों को आप मेरे पास आते देखते हैं, वे सब बुरे लोग होते हैं। मैं विष पीता हूँ और अमृत दूसरों के लिए छोड़ देता हूँ।"

मैंने कहा, "सेवकजी, लॉजिक तो ठीक है, मगर मॉरल!"

सेवकजी ने कहा, "बस, यही तो समस्या है! इसी का जवाब खोज रहा हूँ।"

मैंने कहा, "छोड़िए, यह बताइए कि क्या आप सचमुच भगवान के दर्शन कर चुके हैं!"

सेवकजी बोले, "दर्शन ही नहीं किये, उनके साथ रहा भी हूँ, देश-विदेश घूमा हूँ—दुनिया का भला करने के लिए।"

मैंने कहा, "अगर आपको भगवान मिल चुके हैं, तो आपको बदल जाना चाहिए था।"

सेवकजी बोले, "कैसा बदल जाना था भाई! क्या मुझे कोढ़ हो जाना चाहिए था। देखो, कोई बदलता नहीं।"

मैंने पूछा, "भगवान कैसे हैं! कुछ हमें बताइए।"

सेवकजी हँसे! बोले, "सब यही पूछते हैं और हम बताते नहीं। यह 'ट्रिक' है। हजारों आदमी अभी तक दावा कर चुके हैं कि उन्होंने भगवान को पाया, पर यह कोई नहीं बताता कि वह कैसा है। साकार है, तो कद, नाक, नक्श, रंग बतायें। निराकार है, तो उसकी अनुभूति बतायें। विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहंस से पूछा, क्या आपने भगवान को देखा है! परम कृष्ण ने कहा, 'देखा है रे। बहुत अच्छा है!' बहुत अच्छा तो है, पर कैसा है, यह नहीं बताया। सारे साधु-महन्त भगवान के पास जाने का रास्ता बताते हैं, पर आगे होकर लोगों को उस रास्ते पर ले नहीं जाते। हम लोगों से यह प्रश्न करना ही नहीं चाहिए कि भगवान कैसा है। बस, यह

मान लेना चाहिए कि हमने उसे देखा है।"

मैंने कहा, "तो आप उसे देखते ही बेहोश हो गये होंगे, जैसे मूसा तूर पर 'उसका' नूर देखकर बेहोश हो गये थे।"

सेवकजी बोले, "यह भी झूठ है। अरे, मूसा तो खुदा के नूर को नहीं, नूरू को देखकर गश खा गये थे। नूरू की उन पर उधारी हो गयी थी। मूसा पहाड़ पर खड़े थे कि उधर से आया नूरू और बोला, 'क्यों मियाँ मूसा, पैसा भी नहीं देते हो और जंगल-जंगल, पहाड़-पहाड़ मुँह छिपाये घूमते हो! मूसा उसे देखकर बेहोश हो गये। लौटकर कह दिया कि 'खुदा का नूर देखकर बेहोश हो गया था!' यानी महाजन खुदा का नूर होता है, समझे!"

मैंने कहा, "अच्छा, यह बताइए कि आपकी भेंट भगवान से कैसे हुई!"

सेवकजी बताने लगे, "अरे बड़ा मजा आया। भगवान ने पूछा, 'कहो क्या काम है!' मैंने कहा, 'प्रभु, आप किसी का काम करते हों तो बताऊँ। आप तो किसी का काम ही नहीं करते। अरब में आपने अपना पैगम्बर भेजा। उसने आपका सन्देश फैलाया। आपका नाम रोशन किया। मगर अरब भूमि का हाल क्या है! रेगिस्तान-ही-रेगिस्तान! आप सर्वशक्तिमान हैं। उस जमीन को अच्छी उपजाऊ कर सकते हैं! इसके पहले आपने अपने बेटे ईसा को भेजा फिलिस्तीन में। ईसा के भाई-बहिनों का आज क्या हाल है! इस्राइल ने उनकी भूमि छीन ली और वे मारे-मारे फिर रहे हैं। आप ईसा के जातिवालों को उनकी भूमि नहीं दिलाते। उधर द्वारका और अयोध्या में और उन प्रदेशों में, जहाँ आपने अवतार लेकर राज किया था, कभी सूखा पड़ जाता है और बाढ़ आ जाती है।"

मैंने कहा, "अरे सेवकजी, आपने ऐसी बातें कहीं! भगवान ने नाराज होकर आपको शाप दे दिया होगा! उसी शाप से आपकी बीवी आपको छोड़ गयी होगी।"

सेवकजी बोले, "अरे, बीवी तो इसके पहले ही छोड़ गयी थी। भगवान थोड़ी देर सोचते रहे, फिर बोले, 'अपने-अपने कर्मों का फल है।' मैंने कहा, 'कर्म भी तो आप ही कराते हैं।' भगवान बोले, 'नहीं, कर्म में मनुष्य स्वतन्त्र है, पर कर्म-फल में नहीं।' मैंने कहा, 'ऐसा कैसे हो सकता है! दो आदमी पास-पास खड़े हैं। दोनों अपने पाँव पर कुल्हाड़ी मारते हैं, क्योंकि वे कर्म में स्वतन्त्र हैं। अगर कर्म-फल आपके अधीन है, तो एक के पाँव से आप खून निकाल देंगे और दूसरे के पाँव में फूलों की माला डाल देंगे। बोलिए, ऐसा कर सकते हैं आप! कर्म के फल का कोई तर्क तो होगा! कोई पेनल कोड है आपका! फिलस्तीनी बच्चे ने, जो कल ही पैदा हुआ है, कौन-से कुकर्म कर डाले जो वह मारा-मारा फिरता है।' भगवान बोले, 'अरे भाई, पूर्वजन्म के कर्मों का फल मिलता है।' मैंने कहा, 'अच्छा ठीक है। एक चोरबजारी बनिया है। वह लोगों को लूटकर सुख से रहता है। उसने पूर्वजन्म में पुण्य किये होंगे, ठीक है न! अब उसके पुण्यों का फल आप यह दे रहे हैं कि इस जन्म में उससे पाप कराके उसे सुखी बना रहे हैं। आप पुण्य कराके तो किसी को सुखी बनाते ही नहीं, प्रभु!'"

सेवकजी थोड़ा रुके। हँसे। बोले, "भगवान हँसने लगे। बोले, 'तुम वकील हो न! अच्छी तरह जिरह करते हो।' मैंने कहा, 'प्रभु, वकील को भी आप ईमानदारी से मुकदमा नहीं जीतने देते! मैं झूठे गवाह खड़े करता हूँ, गवाह तोड़ता हूँ, घूस खिलाता हूँ, तब मुकदमा जीतता हूँ। बुद्धिमान और ईमानदार वकील भूखे मरते हैं। प्रभु, कर्म-फल के षड्यन्त्र का नतीजा आप क्या जानें, हम जानते हैं। जो गरीब हैं, शोषित हैं, उनसे कहा जाता है कि यह तुम्हारे पूर्वजन्म का फल है। संस्कार और अन्धविश्वास से वे कहने भी लगते हैं--क्या करें भैया, पूरब जनम के करम का फल है! अब उनसे कहा जाता है कि इस जन्म में पुण्य करोगे तो अगले जन्म में सुख पाओगे। पुण्य क्या है! सेवा करो और कुछ माँगो मत। सिर मत उठाओ। जमीन मत माँगो। जो तनखा दे, वह ले लो। अधिकार मत माँगो। ऐसा विधान है। अगले जन्म में सुख मिलेगा। प्रभु, जो कोई इन पीड़ितों को एकत्र करके उनके अधिकारों की माँग करता है, उसे काफिर कहा जाता है। वह नास्तिक कहलाता है। वह धर्म-विरोधी और ईश्वर-विरोधी कहा जाता है। बड़ा गोलमाल है, प्रभु!' तो साहब, भगवान मेरी बातों से या तो 'बोर' हो गये या परेशान हो गये। उन्होंने जम्हाई ली और जोर की अंगड़ाई ली, तो सामने का पहाड़ काँपने लगा।"

मैंने कहा, "सेवकजी, कुछ ज्यादा हो गयी—यही पहाड़ काँपने की बात!"

सेवकजी हँसने लगे। बोले, "अरे यह अतिशयोक्ति अलंकार है। मुझे कविता का शौक भी है न! हाँ, तो मैंने इसी कर्म-फल को लेकर एक बात और पूछी, 'प्रभु, क्या आप किसी-किसी को बाप चुनने का अधिकार देते हैं!' भगवान बोले, 'नहीं!' मैंने कहा, 'तो फिर आप किसी-किसी को बाप 'एलॉट' करते होंगे।' भगवान बोले, 'नहीं भई, जन्म तो एक एक्सीडेण्ड है।' मैंने कहा, 'यही तो बात है। दुनिया में आदमी इसी एक्सीडेण्ट से सुखी और दुखी होता है, कर्म से नहीं। किसी ने करोड़-पति बाप चुन लिया, तो जिन्दगी अपने-आप सुखी। कोई गरीब बाप के यहाँ पैदा हो गया, तो जिन्दगी अपने-आप दुखी। अब जो लोग यह कहते हैं कि जन्म का एक्सीडेण्ट मनुष्य का जीवन नहीं तय करे, यह व्यवस्था गलत है, तो वे पापी और ईश्वर विरोधी कहे जाते हैं।'

"भगवान बोले, 'अब चाहे जो हो, हम तो रिटायर हो चुके!' मैंने कहा, 'प्रभु, आप यह क्या कह रहे हैं! किसने आपको रिटायर किया!' भगवान बोले, 'हम स्वयं अपने को नियुक्त करते हैं और स्वयं रिटायर होते हैं। बात यह है कि हमारे बड़े-बड़े भक्तगण आये, राजनेता आये, बड़े-बड़े व्यापारी आये, शासक दलों के लोग आये, मठाधीश आये, महन्त आये, कई बड़े-बड़े कारखानेवाले आये, कहने लगे—आपके होने से हमारे मन में कभी-कभी सही और गलत, नैतिक और अनैतिक, उचित और अनुचित का हल्का-सा खटका होता है।' हम मानते हैं, यह हमारे दीर्घकालीन संस्कारों का नतीजा है, पर इस दुविधा से हमारे काम में बाधा पहुँचती है। आप रिटायर हो जायें, तो हमें बड़ा सुभीता होगा।...

"भगवान आगे कहते गये, 'मैंने धर्मगुरुओं को बुलाकर बात की। पोप ने कहा—प्रभु, आपके हम भक्त हैं, पर आप कमजोर पड़ गये हैं। आपके होते हुए इटली में कम्युनिस्ट इतने बढ़ गये हैं कि राजसत्ता के करीब पहुँच रहे हैं। कहीं उन्होंने सत्ता पर कब्जा कर लिया, तो क्या होगा! उनके डर के कारण ही हम आपका पैसा स्विट्‌जरलैण्ड और अमेरिका में रखते हैं। आपकी जगह कोई दमदार आये, तो बेटिकन की रक्षा हो। इमाम कहने लगे—परवरदिगार, अब आपका क्या भरोसा! आपके होते हुए मुझे सरकार ने गिरफ्तार करके मुकदमे चला दिये थे। मस्जिद की आमदनी भी आप नहीं बढ़ा रहे हैं। आपका खादिम है वह आगा खाँ। वह आया, तो दस लाख रुपये सरकार को तालीम के लिए दे गया। बताइए भला, मुसलमान को तालीम चाहिए कि मजहब! तालीम देकर मुसलमानों का और कितना नुकसान करेंगे! ठीक है, दूसरों को खुदा की जगह आने दीजिए! शंकराचार्य ने भी कहा—आप कोई चढ़ोत्तरी तो बढ़वा नहीं रहे हैं, फिर आपकी प्रतिष्ठा भी गिर गयी है। बिड़लाजी आपके नाम से लक्ष्मीनारायण मन्दिर बनवाते हैं। मगर सब लोग उसे 'बिड़ला मन्दिर' कहते हैं। आपकी जगह वे हो जायें, तो अच्छा है। यह सब सुनकर हमने सोचा कि हम रिटायर हो ही जायें।' मैंने पूछा, 'आपकी जगह कौन भगवान होगा!' भगवान बोले, 'वे लोग मल्टी नेशनल डिविनिटी कम्पनी बना रहे हैं। यह कम्पनी बनते ही मैं उसे चार्ज दे दूंगा।' मैंने कहा, 'प्रभु, एक बात मेरी मानिए। आप अभी रिटायर मत होइए। आपको ये लोग पेंशन तो देंगे नहीं। आपका गुजारा कैसे होगा। सैकड़ों तो आपके आश्रित देवी-देवता, सन्त, फरिश्ते वगैरह हैं। वे भूखे मर जायेंगे। आप अपने-आपको पांच साल का 'एक्सटेन्शन' दे लीजिए। इन पांच सालों में भविष्य के लिए माल जमा कर लीजिए और अब आप इस दुनिया को दुरुस्त कर ही दीजिए। थोड़े सक्रिय हो जाइए। एक्सटेन्शन की घोषणा समस्त ब्रह्माण्ड में कर दीजिए और मेरे साथ दुनिया का भला करने निकल पड़िए। माल पैदा करना भी मैं आपको बताऊँगा।' तो साहब, प्रभु ने मेरी बात मान ली और पद पर डटे रहे।"

कथा-4
भगवान का एक्सटेन्शन

सेवकजी ने कथा आगे बढ़ायी—

"तो साहब, भगवान ने समस्त चराचर जगत के लिए घोषणा की—मैं अभी रिटायर नहीं हो रहा हूँ। मैंने स्वयं 'टिल फर्दर आर्डर' एक्सटेन्शन ले लिया है।

प्रभु का यह घोषस्वर चारों तरफ गूंज उठा। मैंने कहा, 'प्रभु, आप कण-कण में व्याप्त हैं। हर आत्मा में आप हैं। आपको इतने जोर से घोषणा करने की क्या जरूरत थी! प्राणियों की आत्मा में स्वयं बोध हो जाता।' प्रभु ने समझाया, 'तुम नहीं जानते। अबोध हो न! अभी तक उस 'मल्टीनेशनल डिविनिटी कम्पनी' ने प्रचार कर दिया होगा कि हम भगवान का चार्ज ले रहे हैं। 'एडवर्टाइज आर पेरिश'—यही सूत्र है न पार्किन्स का! तो जिस आत्मा में कम्पनी जम गयी है, उसमें प्रवेश करना क्या आसान है!' मैंने पूछा, 'तो आपकी घोषणा से क्या आत्मा से कम्पनी निकल गयी होगी और अब वहाँ सिर्फ आप होंगे।' प्रभु ने कहा, 'नहीं, कम्पनी तो वहाँ रहेगी ही। मुझे माया से ताल-मेल बिठाना पड़ता है, एडजस्ट करना पड़ता है। मैंने विष्णु रूप में लक्ष्मी से शादी रचायी थी। पर मेरे पास धन था नहीं। तो मैंने शादी के लिए कुबेर से धन उधार लिया। तिरुपति के मन्दिर में जो मुक्त धन चढ़ाते हैं, वह कुबेर का कर्ज पटाने के लिए है। अभी तो ब्याज ही पट रहा है। मैंने माया के साथ सह-अस्तित्व स्वीकार लिया है। नाम मेरा होगा। कारोबार माया का।' मैंने पूछा, 'यदि ब्रह्म और माया में संघर्ष हो तो किसकी चलेगी!' भगवान ने कहा, 'मैं एक दृष्टान्त से तुम्हें समझाता हूँ। एक प्रसिद्ध मन्दिर है। वहाँ मेरी भव्य मूर्ति है। हजारों श्रद्धालु दर्शनार्थ आते हैं और धन चढ़ाते हैं। मन्दिर के पाँच ट्रस्टी हैं। वे मेरे परम भक्त हैं। वेतन पर पुजारी रखे गये हैं। एक दिन एक नास्तिक मन्दिर में आया। उसने प्रधान पुजारी से कहा—मैं तुम्हें पांच हजार रुपया दूंगा, तुम मुझे अपने भगवान की मूर्ति पर थूक लेने दो। पुजारी को गुस्सा आया। उसने उसे बहुत गालियाँ दीं। फिर ठण्डा हुआ। सोचा। धीरे-से बोला—पांच हजार नगद दोगे न! रात को चुपचाप आ जाना। मैं तुम्हें थूक लेने दूंगा। पर ट्रस्टियों को मालूम न हो। ये बदमाश खुद तो खूब पैसा खाते हैं, पर हमें बहुत कम वेतन देते हैं। नास्तिक ने कहा—मैं तुम्हें अलग से कुछ रुपये दे दूंगा, पर यह सौदा मुझे ट्रस्टियों से ही करना है। तुम मेरा प्रस्ताव उनके सामने रख दो।...ट्रस्टियों ने आपस में विचार किया। नास्तिक से ट्रस्टियों ने कहा—आप पांच हजार में भगवान पर थूकना चाहते हैं। हमारा प्रस्ताव है कि पच्चीस हजार देकर आप पूरा ही धर्म निभा लीजिए—मूर्ति पर मूत लीजिए। नास्तिक ने पच्चीस हजार देकर ऐसा ही किया और ट्रस्टियों ने इस रकम को खाते में 'अभिषेक' के नाम से जमा कर लिया। समझे ब्रह्म और माया के सम्बन्ध का रहस्य!' मैंने कहा, 'प्रभु, ब्रह्म तो दर्शन की खोज है। दर्शन की खोज में ब्रह्म अपनी पूजा क्यों कराने लगा।' भगवान ने कहा, 'मैंने विश्व बनाया है न, इसीलिए मेरी पूजा होती है।' मैंने कहा, 'कुम्हार घड़ा बनाता है, तो हमें कुम्हार की पूजा भी करनी चाहिए। कुम्हार घड़ा बनाता हमें दिखता है, हम उस घड़े का पानी पीते हैं, मगर उस कुम्हार की पूजा नहीं होती, जो कि होनी चाहिए। उसका अनादर होता है। वह नीची जाति का माना जाता है। आपके नाम से जो धर्मगुरु और शास्त्रकार पैदा हुए हैं, उन सबने सच्चे श्रम को हीन बनाया है और निठल्ली विलासिता की पूजा का विधान किया है। इससे अनाचार,

बेईमानी, क्रूरता फैली है। आप आखिर पूजा क्यों कराते हैं!' प्रभु ने कहा, 'मैं परम पिता हूँ।' मैंने कहा, 'तो गिरजाघर और मस्जिद में जाकर आदमी को आपको याद दिलाना चाहिए कि तू मेरा बाप है, भूल मत करना। ऐसा तो अवैध सन्तान को करना पड़ता है। छिनालों के बच्चों को जाना पड़ता है, प्रभु !' "

मैंने कहा, "सेवकजी, ऐसी खरी-खरी बातें आपने कह दीं, भगवान जरूर नाराज हो गये होंगे।" सेवकजी ने कहा, "नहीं, भगवान बड़े उदार हैं। वे इसे भी भक्ति मान लेते हैं—विरोध के रूप में भक्ति। अब सुनिए, आगे जब भगवान ने पद पर बने रहने की घोषणा की तो देवता उसी तरह प्रसन्न हुए जैसे मन्त्रिमण्डल के पुनर्गठन में अपना आदमी बना रहे, तो चमचों को खुशी होती है। सारे देवता चिन्तित थे कि भगवान गये तो हमारी छँटनी हो जायेगी। नयी सत्ता अपने नये देवता रखेगी। तो साहब, आकाश से देवताओं ने दुन्दुभि बजायी, फूल बरसाये, देव-कन्याओं ने मंगलगान गाये। दसों दिशाओं में जयनाद होने लगा। दिग्गज खुशी से डोल उठे, जिससे भूचाल आ गया। सागर ने उल्लास में अपनी मर्यादा त्याग दी।"...

सेवकजी उत्साह में थे। मैंने रोका, "यह किस तारीख की कितने बजे की बात है! इतनी हलचल, इतना शोर-शराबा हो गया और किसी को पता ही नहीं चला। न अखबारों में खबर आयी, न किसी प्रयोगशाला में कुछ रिकार्ड हुआ! राडार पर भी कुछ नहीं दिखा! आपके दिमाग में पुराण और मिथ और काव्य भरे हैं। वही आप बोल रहे हैं। खैर, ये देवता दुन्दुभि बजाने और जय बोलने के सिवा और कौन काम करते हैं! किस प्रयोजन से ये देवता हैं।"

सेवकजी ने कहा, "यही तो मैंने भगवान से पूछा था। उन्होंने समझाया, 'हर व्यवस्था को कायम रखनेवाले जो एजेण्ट होते हैं, उन्हें देवता कहते हैं। हर सिस्टम अपने देवता रखता है। ये नये देवता हैं और पृथ्वी पर एक व्यवस्था की रक्षा में लगे हैं। ये अन्तरिक्ष यान और आकाश में भी जाने लगे हैं। पुराने आदिदेवता सातवें आसमान के पार अन्तरिक्ष में रहते हैं और समय-समय पर पृथ्वी पर आते रहते हैं।' "

मैंने कहा, "सुदूर अन्तरिक्ष से जब अन्तरिक्षयान पृथ्वी की कक्षा में घुसता है, तब एक राकेट का विस्फोट करना होता है। इसके बिना वह पृथ्वी पर आ नहीं सकता। तो क्या इन देवताओं के पुट्ठे पर एक राकेट लगा होता है जो पृथ्वी पर आने से पहले फूटता है।" सेवकजी ने कहा, "यार, तुम इसमें विज्ञान मत घुसेड़ो। यह धर्म का मामला है। धर्म के मामले विज्ञान और बुद्धि से परे होते हैं। विज्ञान और बौद्धिक तर्क के स्पर्श से धर्म अशुद्ध हो जाता है।"

मैंने कहा, "अच्छा सेवकजी, यह सब दुन्दुभिवादन वगैरह तो हुआ। मगर आपने भगवान से कहा था कि अब आप मेरे साथ घूमकर लोक-कल्याण कीजिए, उसका क्या हुआ!"

सेवकजी बोले, "अरे भगवान को चमत्कारों में से निकालना कोई आसान

काम नहीं है। मैंने उनसे कहा कि अब आप कुछ कीजिए, तो वे बोले कि अच्छा, मैं तुम्हें कुछ चमत्कार दिखाता हूँ—बिजली चमकाता हूँ, दो सूर्य उगाता हूं। मैंने कहा, 'भगवान, आप चमत्कारबाजी छोड़िए, सर्कस और हाथ की सफाई से कोई लोक-कल्याण नहीं होता, उल्टे आपकी नकल पर छोटे-मोटे चमत्कार करके कई पाखण्डी भगवान कहलवाते हैं। एक हैं जो मुट्ठी में से भभूत निकालते हैं और भगवान बन बैठे हैं! वह घड़ी भी मुट्ठी में से निकाल देते हैं, पर उससे बाजार में घड़ियों के दाम नहीं घटे! कोई पानी पर चलने का चमत्कार करते हैं, पर इससे नदी पार करने की समस्या हल नहीं होती! यह व्यक्तिगत साधना, जिससे सिर्फ अहंकार बढ़ता है, ठगी के काम आती है और यह ठगी इन लोगों ने महाठग से, यानी आपसे सीखी है। अभी कुम्भ के मेले में एक नागा बाबा ने लिंग से जीप को खींचकर बता दिया। इससे क्या हुआ! लाखों जीपें हैं। उन्हें खींचने के लिए लाखों नागा बाबा तैयार करने पड़ेंगे। फिर स्पीड का भी सवाल है। आप नहीं जानते हैं कि अब ये साधारण चमत्कार हो गये हैं। आप एक पहाड़ को उठाकर दूसरी जगह रख सकते हैं पर दस बोरी सीमेण्ट बिना घूस खिलाये नहीं ला सकते हैं। चलिए, बाजार से मुझे वाजिब दाम पर शक्कर दिला दीजिए—सिर्फ पाँच किलोग्राम। सरकार का तय रेट तीन रुपया किलो है, पर व्यापारी छह रुपया किलो से कम नहीं लेते। चलिए दिलाइए!' प्रभु ने कहा, 'कैसी बात करते हो! अरे, यह सुजला सुफला शस्य श्यामला भूमि है। यहाँ क्या कमी है।' मैंने कहा, 'भगवान, आपकी इस शस्य श्यामला भूमि से हम बेदखल किये हुए लोग हैं, हमारा कुछ नहीं है यहाँ। पानी तक हमारा नहीं है। हम दखल करने लगते हैं, तो आपके नाम से हमें रोका जाता है। कहा जाता है—चलिए!' अब साहब, भगवान कुनमुनाकर मेरे साथ चलने को राजी हो गये। बोले, 'तुम मेरा प्रताप नहीं जानते—बिनु पग चलै सुनै बिनु काना!' मैंने कहा, 'आप लँगड़े को पहाड़ चढ़ा सकते हैं, माना। मुझे शक्कर दिला दीजिए तब आपका प्रताप मानूंगा।'

"अब साहब, मैंने लिया झोला। भगवान ने मनुष्य का रूप धारण किया।"

मैंने कहा, "मनुष्य का रूप क्यों धारण किया!" सेवकजी ने कहा, "अपने मौलिक रूप में बस्ती मे निकलते तो कुत्ते और पुलिसवाले पीछे पड़ते न! फिर मनुष्य-लीला भी तो करनी थी, तो शक्कर लेने हम पहुँचे एक दूकान पर। व्यापारी से जैरामजी की हुई। व्यापारी तिलक लगाये था। भगवान ने कहा, 'आप भगवान के भक्त मालूम होते हैं। भगवान को किस रूप में पूजते हैं!' व्यापारी ने कहा, 'लक्ष्मीनारायण रूप में। वह देखिए दीवार पर उनका चित्र मढ़ा हुआ टंगा है। क्या लेना है आपको! बोहनी का वक्त है।' भगवान ने कहा, 'पाँच किलो शक्कर चहिए।' व्यापारी ने कहा, 'शक्कर तो एक दाना नहीं है। भगवान की कसम! बोहनी के वक्त झूठ नहीं बोलता।' भगवान ने कहा, 'थोड़ी निकल आयेगी सेठजी, देखिए तो। जरूरत है।' व्यापारी ने कहा, 'आप तो पीछे पड़ गये! अच्छा छह रुपये किलो होगी।' भगवान ने कहा, 'मगर रेट तो तीन रुपये है।' व्यापारी ने कहा, 'तो जहाँ

इस रेट पर मिलती हो वहाँ से ले लीजिए। जाइए।' अब भगवान ने कहा, 'देखो भगत, मैं भगवान हूँ। तुम्हें लक्ष्मीनारायण का रूप दिखाता हूँ। मिलाकर देख लो उस चित्र से!' भगवान फौरन लक्ष्मीनारायण हो गये। व्यापारी चकित। वह उनके चरणों पर गिर पड़ा। बोला, 'धन्य भाग्य! आज आपके चरण मेरी दूकान पर पड़े! आज्ञा करो प्रभु!' भगवान पुनः मनुष्य रूप में आ गये। बोले, 'पाँच किलो शक्कर तीन रुपया किलो के भाव पर दो।' व्यापारी ने कहा, 'पाँच किलो नहीं, दस किलो आपके चरणों में भेंट कर दूंगा। अभी मैंने पन्द्रह किलो आपके यज्ञ के लिए दी है, पर बेचने की बात है तो मैं आपको भी छह रुपया किलो दूंगा। आपकी ही बनायी मर्यादा का पालन कर रहा हूँ।'

"मैंने भगवान की तरफ देखा। उनका चेहरा तमतमा आया था। उन्होंने कहा, 'तू मेरे आदेश का पालन नहीं करेगा!' व्यापारी ने हाथ जोड़कर कहा, 'करुणानिधान, आपके हर आदेश का पालन करूँगा, पर आप व्यापार में दखल मत दो! आपने हम लोगों पर कृपा करना छोड़ दिया प्रभु! चार सालों से इधर अकाल नहीं डाला आपने। हम हर साल गेहूँ, चावल का स्टाक करते हैं और आप पानी बरसा देते हैं! हमारा मुनाफा डूब जाता है! हमारा खयाल रखो तो हम आपका खयाल करें!'

"मैंने देखा, भगवान सिटपिटा गये हैं। कुछ सूझ नहीं रहा है। मैंने कहा, 'धमकी दे दो इसे!' भगवान ने व्यापारी को धमकी दी। वह हँसने लगा, बोला 'भगवान, आपकी धमकी कारगर नहीं होगी। मैं आपको जानता हूँ। आप भक्त का अहित कर ही नहीं सकते। मैंने अभी रामलीला के लिए पच्चीस रुपया चन्दा दिया है। हर पूर्णमासी को सत्यनारायण कराता हूँ, आप भक्त के वश में रहते हैं न! फिर भक्त को धमकी क्यों देते हैं! कालाबाजार मैं अपने दम पर नहीं, आपके दम पर करता हूँ। मुझे कुछ हो गया तो व्यापारी वर्ग से आपका नाम उठ जायेगा।'

"मुझे भगवान से कहना पड़ा, 'चलिए, चलें।'

"हम दो-तीन दूकानों पर और गये। वहाँ भी ऐसा ही हुआ। भगवान को धमकी देकर उठना पड़ा। अब हम सड़क पर थे। मैंने कहा, 'प्रभु, आपका वश नहीं चल रहा है। कालाबाजारियों के आगे आपका तेज क्षीण हो जाता है। आप कैसे सर्वशक्तिमान हैं!' प्रभु ने कहा, 'मैं चाहूँ तो इनके गोदाम जला दूं। इनका माल सड़क पर डाल दूं, दूकान में चोरी करा दूं। पर मैं मर्यादा से बँधा हूँ। ये मेरे अपने लोग हैं।' मैंने कहा, 'जो दूकान-दूकान भटकते हैं, आपके लोग नहीं हैं।'

"इसी वक्त दो पुलिसवाले आ गये। किसी ने थाने में खबर कर दी थी कि कोई ठग अपने को भगवान बताकर व्यापारियों को ठग रहा है। पुलिसवाले ने भगवान को पकड़ा। बोले, 'तू ही भगवान बनकर दूकानदारों को ठगता है! चल थाने!' मैंने कहा, 'ये सचमुच भगवान हैं। और ये किसी को ठग नहीं रहे हैं।' पुलिसवाले ने कहा, 'तुम्हें भी क्या इसके साथ हवालात जाना है!' उसने भगवान की तरफ हथकड़ी बढ़ायी। मैंने सोचा, अब हथकड़ी एकाएक टूट जायेगी, या प्रभु का हाथ बहुत मोटा हो जायगा। मगर कुछ नहीं हुआ। हथकड़ी पहने मेरे प्रभु थाने चल

दिये। मैं पीछे-पीछे।

"भगवान को हवालात में डाल दिया गया। मैं बाहर से चिल्लाया, 'प्रभु, कुछ करो! अपने प्रताप से थाने को उड़ा दो! हवालात के फाटक तोड़कर बाहर निकल आओ। कंस के कारावास को आपने तोड़ा था, याद करो!' भगवान ने वहीं से जवाब दिया, 'नहीं, मैं मर्यादा में बँधा हूँ। पुलिस की मर्यादा भंग नहीं कर सकता।'

"मैं बाहर परेशान था—इस पोंगे भगवान को कैसे छुड़ाऊँ जो बाजार में मुनाफाखोरी की मर्यादा से बँध जाता है और थाने में पुलिस की धाँधली की मर्यादा से!

"मुझे याद आया, राधाकृष्ण मठ के महन्त का पुलिस पर बहुत प्रभाव है। मैं उनके पास गया। कहा, 'महन्तजी, भगवान पुलिस थाने में बन्द हैं, उन्हें छुड़ाइए।' महन्त पूरा किस्सा सुनकर बोले, 'प्रभु लीला कर रहे होंगे। हमारी परीक्षा ले रहे होंगे। चलो।'

"थाने में महन्त का खूब सत्कार हुआ। भगवान को छोड़ दिया गया। भगवान ने तुरन्त रूप बदला। मोर-मुकुट, पीताम्बर धारण करके थाने में मुरली बजाने लगे। थानेदार और महन्त उनके चरणों पर गिर पड़े। महन्त ने हाथ जोड़कर कहा, 'प्रभु, सावित्रीवाले केस से बरी करा दीजिए। याद कीजिए।'

"अब हम चले। भगवान ने कहा, 'वह मेरा प्रतापी भक्त महन्त किस सावित्री-वाले केस की बात कर रहा था!' मैंने कहा, 'वह महन्त औरतें भगाकर बेचने का धन्धा करता है। सावित्री नाम की स्त्री को भगाने में फँस गया है। पुलिस पर इसका प्रभाव इसलिए नहीं है कि वह आपका सदाचारी भक्त है। वह तस्करी करता है, चोरी करता है। यह सब पुलिस के सहयोग से होता है, और पुलिस को पैसा खाने को मिलता है। उसके प्रभाव का यह कारण है। आपके कारण उसका प्रभाव नहीं है।'…"

कहानी, लघुनाटक, किंचित निबन्ध,
टिप्पणी, संस्मरण

आदमी की कीमत*

एक वैज्ञानिक ने हिसाब लगाकर बतलाया था, मनुष्य के शरीर का विश्लेषण कर, यदि भिन्न-भिन्न तत्त्वों को बेचा जाय तो 3.50 कीमत आवेगी। इस प्रकार एक आदमी की कीमत 3.50 हुई। हाँ, यदि स्थूलकाय व्यक्ति हुआ तो 4 रु. भी हो सकती है, और दुर्बल हुआ तो 3 रु. भी रह सकती है---इससे अधिक अन्तर नहीं पड़ सकता। फिर संसार में लाख रुपयों का आदमी, सौ रुपयों का आदमी और तीन कौड़ी का आदमी—भिन्न-भिन्न कीमतों के आदमी कैसे हो जाते हैं? कुम्हार आठ आने का घड़ा भी बनाता है और चार आने का घड़ा बनाता है। 'आठ आने का घड़ा बड़ा है बाबूजी, और चार आने का छोटा। आठ आनेवाले पर बेलबूटे हैं, और नाखून की टंकार मारिए, टन-टन आवाज करता है, पक्का है' परन्तु सृष्टिकर्त्ता इस प्रकार का कुम्हार तो है नहीं। बेलबूटेवाला आदमी हमने कहीं नहीं देखा। और ठोंक-बजाकर देखा जाय तो तीन कौड़ी का आदमी लाख रुपयों के आदमी से अधिक टंकार मारता है, अधिक पक्का होता है।

सेठ करोड़ीमल और किसान रामदीन के यहाँ एक ही समय एक-एक लड़का हुआ। रामदीन का लड़का स्वस्थ, बलवान, सचरित्र, बुद्धिमान। करोड़ीमल का लड़का दुबला-पतला, डाक्टर-हकीम, झाड़ा-फूकी और ओझा के बल पर जीनेवाला, गले में तावीज, पाँव में गण्डा। सवाल नहीं बनते तो रामदीन के लड़के से पूछता। और एक दिन कराल काल को घूस देने में असफल होकर परलोक चल दिये सेठ करोड़ीमल, तथा गरीब रामदीन भी दारिद्र्य से छुटकारा पाने के लिए सेठजी का अनुगामी हुआ। बस उसी दिन करोड़ीमल का लड़का 'लाख रुपयों का आदमी' हो गया और रामदीन का लड़का 'तीन कौड़ी का आदमी' हो गया। सब भाँति योग्य होकर भी रामदीन के लड़के की कीमत तीन कौड़ी और सब भाँति अयोग्य होते हुए भी करोड़ीमल के लड़के की कीमत लाख रुपये। हमारे उस वैज्ञानिक के कथनानुसार विश्लेषण किया जाय तो रामदीन का लड़का करोड़ीमल के लड़के से अधिक कीमत का निकले।

सौ रुपयों का आदमी भी देखा है। दफ्तरों की फाइलों के द्वारा चूसे हुए रक्त के अभाव में 'पाण्डुरंग' एक बेचारे बाबू साहब भी कह रहे थे, "भैया, इज्जत अपनी

*प्रहरी, 25 अप्रैल, 1948

भी है। अब आज दिन सौ रुपये का आदमी मैं भी हूँ। वे ही एक नवाब थोड़े ही हैं।" बाबू साहेब को पहिली तारीख को 100 रु. मिल जाते हैं, इसलिए आदमियत का सौदा सौ रुपयों में हुआ।

उस दिन बाजार में स्थित एक बड़े आलीशान मकान को अचरज, प्रशंसा और श्रद्धा से देखते हुए दो गरीब ग्रामीण बातें कर रहे थे—

"पच्चीस हजार का तो होगा," एक बोला।

"पच्चीस हजार का? तू तो निरा बुद्धू है। अरे एक लाख से कम का न होगा।" दूसरा आदमी तनिक रोष से बोला। साथी द्वारा पच्चीस हजार मूल्यांकन उसे व्यक्तिगत रूप से अपमानजनक-सा लगा। यदि वह दो लाख कहता तो उसे प्रसन्नता होती। मनुष्य एक सीमा तक किसी के उत्कर्ष से ईर्ष्या करता है, उसके परे वह उसके लिए श्रद्धा की वस्तु बन जाता है। और मनुष्य जिसे महान मानता है उसकी महानता में तनिक भी धक्का लगना वह सहन नहीं कर सकता। यदि पच्चीस हजार कहनेवाला दुबारा उतने ही कहता तो उसका साथी उसे अवश्य मार बैठता।

वे दोनों उस मूर्तिमान अन्याय को, मूर्तिमान शोषण को बड़े आनन्द और श्रद्धा से देख रहे थे जैसे आदमी अपने शरीर पर उठे हुए जहरीले फोड़े को सहलाता है, उसे धीरे-धीरे खुजलाता है। बिल्कुल फोड़े ही जैसा लगा मुझे वह महल! वह ग्रामीण जिसने अपने साथी पर पूरा प्रभाव जमा लिया था, बोला, "यह सेठ तो गोद आया है। आज करोड़ों का आदमी है। यहाँ का बड़ा 'महाजन' है।"

'महाजन' शब्द से मैं चौंक पड़ा। धन उधार देकर समाज का शोषण करने-वाले धनपति को जिस दिन 'महाजन' कहा होगा उस दिन ही मनुष्यता की हार हो गयी। 'महाजन' कहना मनुष्यत्व की हीनता स्वीकार करके ही तो सम्भव हुआ। धन से ही कोई 'जन' 'महा' कैसे हो सकता है। आज तो 'जन' की 'महानता' की नाप हम धन के पैमाने से ही करने लगे हैं। पुरुष पुरातन की वधू चंचला की प्रतिष्ठा स्वीकार कर ली है।

फिर सोचा, तनिक देख तो लूं इस 'करोड़ रुपये के आदमी' को, एक 'महाजन' के दर्शन से कृतार्थ ही हो लूं। फाटक के भीतर झाँककर देखा तो तरल पदार्थ के समान 'थलथलाते' हुए शरीरवाला कृष्ण वर्ण दीर्घकाय 'सहित प्राण कज्जल गिरि-जैसा' करोड़ रुपयों की कीमतवाला सेठ थूक का फव्वारा छोड़ नौकर को डाँट रहा था। यही था करोड़ रुपयों का आदमी, 'महाजन'। मैंने सोचा, विश्लेषण किया जाय तो अधिक-से-अधिक चार रुपयों का यह निकलेगा, क्योंकि 4-6 बाल्टी तो पानी ही निकल जावेगा।

संसार के अधिकांश आदमियों की आँखों में कुछ ऐसा रोग-सा है कि उन्हें मनुष्यता की अपेक्षा सोने की परख अच्छी आती है। और 'सर्वेगुणः काञ्चन माश्रयन्ते' का सहारा लेकर कुछ रद्दी माल की कीमत भी चढ़ा देते हैं। सोने की चकाचौंध में आँखें चौंधिया जाती हैं, इसलिए स्पष्ट दिखना कठिन हो जाता है।

संसार की हाट भी बड़ी विचित्र है, इसके खरीददार भी बड़े विचित्र! हमारे

इतवार को भरनेवाले हाटों में तो मनुष्य सस्ती वस्तु की ओर आकर्षित अधिक होता है, कीमती वस्तु की ओर तो कोई देखता भी नहीं। तीन आने सेर के बैंगन के आसपास भीड़ रहती है पर चार आने सेरवाला खाली बैठा रहता है। परन्तु संसार के हाट में कीमती मनुष्य की ओर अधिक आर्कषित होते हैं, सस्ते की ओर कोई देखता भी नहीं। 'लाख रुपये' के आदमी के आसपास दिन-भर भीड़ रहती है, तीन कौड़ी के आदमी की ओर कोई देखता भी नहीं है।

जीवन में तो यह विषमता। मरने के बाद 'घर तो साढ़े तीन हाथ, घना तो पौने चार'--3।। का शरीर और 3।। हाथ का अन्त में स्थान! फिर कहाँ भेदभाव रहा? फिर ये क्यों हमने विषमता की दीवालें खड़ी कर दीं?

उसी वैज्ञानिक की सहायता से कुछ नीचे लिखा-सा सूत्र निकलता है--

लाख रुपये--मनुष्यता = 3।। रु., तीन कौड़ी + मनुष्यता = लाख रुपया।

यह कैसा वसन्त आया!*

सुना है वसन्त आ गया। उषाकाल में ब्राह्म मुहूर्त में उठकर समीर दसों दिशाओं में ऋतुराज के आगमन का सन्देशा दे आया--वनोपवनों से कह आया कि कोमल कुसुमों का सुन्दर हार सँजोयें--ऐसा जैसा कि आकाश ने पावस को पहनाया था। आकाश और पृथ्वी की यह स्पर्धा ही तो हमारे धर्म, कर्म, वेद, पुराण, शास्त्र, भजन, पूजा, साधना की आधार बनी हुई है। कोकिल के कान में भी वह यह बात डालना न भूला कि वह अपनी वर्ष-भर की साधना को स्वरों में भरकर मंगलगान करे; और मधुकर के कान में भी चुपचाप कह दिया कि वसन्त के अभिनन्दन में नवीन विरुदावलि रचे।

परन्तु संसार के सुख को ग्रहण करने में हमेशा 'लेट', सीधे, चिकने, कोटि-कोटि पाँवों से कुचले हुए, सनातन मार्ग पर फिसलकर अपना नवीन पथ पकड़ उस पर जल सींच-सींचकर शूलों को उगाने-बढ़ाने और उनको पद-दलित कर नीड़ों में आनन्द का पूर्ण गौरव अनुभव करनेवाला--मैं--आदत से लाचार इस पवन-सन्देश को भी न सुन पाया। और फिर पर-हर्ष से पुलकित होने का प्रयास मात्र करने की आकांक्षा और उदारता का दर्प रखनेवाला--मैं--परखने लगा--युवक-युवतियों को, बालकों को, वृद्धों को।

और देखा, इस भर-वसन्त में भी मनुष्य पतझड़ में लुटी हुई उस विगत वैभव,

* प्रहरी, 27 फरवरी, 1948

नग्न, शुष्क, क्षीण तरुशाखा के समान लगता है जो पवन के प्रत्येक थपेड़े पर उस ओर से इस ओर हिलती है। देखा, जीर्ण वस्त्र पहिने नर-कंकालों को जिनके दृष्टि-गह्वरों में दीप की अन्तिम श्वास के समान टिमटिमाते हुए छोटे नेत्र जिनमें मादकता और इसके स्थान पर अतृप्त आकांक्षाएँ, करुणा और निराशा। ललाट पर चिन्ताओं की स्पष्ट लिपि, रक्तहीन शिथिल त्वचा के भीतर से झाँककर दीनता की गाथा कहती हुई अस्थियाँ।

और सोचा—यह कैसा पागल मानव है? वर्ष में एक बार पांच ऋतुओं की परिक्रमा कर आया वसन्त—मन में रस उड़ेलने, प्राणों में स्फूर्ति भरने, निराशा को आशा का जामा पहिनाने। और यह मानव है जिसके मुख पर स्मित की एक रेखा नहीं, जिसके नयनों में तनिक उल्लास नहीं, जिसके हृदय में तनिक स्पन्दन नहीं, मन में उमंग नहीं, आह्लाद नहीं।

तो क्या यह मनुष्य परमहंस हो गया—योगी है—जो आत्म-साधना के उस सोपान पर पहुँच चुका है जहाँ सुख-दुख की अनुभूति स्पर्श नहीं करती? या अनादि काल से सहस्रों नर-नारियों के हृदयों में प्रविष्ट हो, सहस्रों मानिनियों के दर्प-दुर्ग के प्रकोष्ठ तोड़, निर्मोही के कठोर हृदय को बेधते-बेधते मदन के पंचशर कुण्ठित हो गये हैं? या इस संघर्ष के युग में मानव-हृदय ही विपत्ति, अन्याय, अत्याचार से कट-पिटकर ऐसा पाषाणवत् हो गया है कि बेचारे अनंग के पुष्पशर उसमें प्रवेश नहीं कर पाते? या हृदय में विश्व के प्रहारों से इतने छिद्र हो गये हैं कि काम के कोमल वाण भी बिना नवीन छिद्र किये, बिना आघात किये इन्हीं छिद्रों में से निकल जाते हैं? तभी तो कोई सिहरन-उत्पीड़न दृष्टिगोचर नहीं होता।

और नहीं तो क्यों देखता जीवन के मध्य भाग में से गुजरते हुए युवक-युवतियों को अपने ही भार से दबे हुए—निष्प्राण से? श्वेतकेश वृद्धों की भी दाढ़ी पर हाथ फेरते देखा पर 'केसव केसन असकरी'—का पश्चात्ताप और बलवती आकांक्षा नहीं दिखी।

यह कोकिल—इसकी वाणी में भी आज वह शक्ति कहाँ जो विस्मृत सुख-स्वप्न, सुप्त अभिलाषा को झकझोरकर उठा दे, उमंग को दो पग और ठेल दे! ऐसा लगता है मानो सारी संसृति के दुख को द्रवीभूत कर वाणी से उड़ेल रही हो—जैसे कोई 'मरसिया' गा रही हो। यह शीतल समीर—मीठी सिहरन उत्पन्न करना सम्भवतः भूल गया और अब तो नग्न नरकंकालों की हड्डियों तक पहुँच उन्हें खड़खड़ाकर वस्त्राभाव की याद-भर दिला देता है। बेचारा भौंरा अपने ही स्वर के भार से दबा हुआ, केवल जीर्ण और मलिन वस्त्रों पर वसन्ती रंग चढ़ाना—अपनी दरिद्रता को छिपाने का असफल प्रयास!

सुना है—पढ़ा है—कभी ब्रज में कालिन्दी के तीर सुन्दर घने वनकुंजों में नटवर कृष्ण की वेणु के छिद्रों से रस बरस पड़ता था और मादक आनन्द में भीगे गोप-गोपियाँ वसन्ती परिधान पहिने प्रत्येक कुसुम पल्लव-बल्लरी से सुख-गाथा सुनते थे, रास रचाते थे, नृत्य करते थे। परन्तु अब—जो दुर्बल पाँव शरीर और

उससे भारी मन का बोझ सम्हालने में भी असमर्थ हैं, नृत्य की गति कहाँ से लावेंगे?

कैसी विडम्बना है! मैं इन क्षुधातुर, दीन-हीन मानवनामी जीवधारियों के ठण्डे निश्वासों में 'मधुकर' का गुंजार ढूँढ़ रहा हूँ! निराश, निराश्रिता, पीड़ित नारियों के करुण क्रन्दन में कोकिल की 'कुहू' पा जाने का प्रयास कर रहा हूँ।

फिर सोचता हूँ, मदन भी 'अनंग' बनकर शरीरजन्य सब क्लेशों से मुक्ति पा गया। शीत, आतप, वात, क्षुधा, तुझे कहाँ उत्पीड़ित कर पाते हैं! भगवान आशुतोष का रोष तेरे लिए वरदान बन गया! अन्यथा आज के युग में तेरे कोमल करों में पुष्पवाणी के स्थान पर कुदाली-फावड़ा होते, मुख पर मधुस्मिति के स्थान पर विषाद की कालिमा होती और तू इस प्रकार नर-नारियों के हृदयों से खिलवाड़ कर मनोरंजन न करता होता--वरन् एक कोने में बैठकर आगामी कल की चिन्ता में व्यस्त रहता।

अभी मानसिक गुलामी शेष है*

पिछले दिनों एक ग्रामीण विवाह में उपस्थित रहने का मौका मिला। विवाह के अन्य कार्यक्रम, जिनमें दूल्हे के पैर पूजने से लेकर उसकी सात पीढ़ी तक को गाली देना शामिल है, कोई नवीनता लिये हुए नहीं थे। मैं, जो स्वतन्त्र भारत के नागरिक का दम्भ लिये गाँव का कायाकल्प देखने की आशा से गया हुआ था, एक बात देखकर विशेष रूप से क्षुब्ध हुआ। कन्या-पक्ष की स्त्रियाँ गा रही थीं—

"बन्ना तो मेरा बन गया जण्टलमेन" तथा "बन्ना के बाल अँगरेजी, मोहे सूरत लगै प्यारी···"

हमारी कल्पना का आदर्श दूल्हा भी अँगरेजी रंग में रँगा हुआ है--वह 'जेण्टलमेन' है—सूट, बूट, टाई, टोप पहिनता है और इसी लिवास का अँगरेजी दूल्हा हमारी ग्राम की स्त्रियों को अच्छा लगता है! जब अँगरेजों ने हमारी सांस्कृतिक लूट मचायी तब हम भागकर अपनी संस्कृति को ग्रामों में धरोहर के रूप में रख आये थे। सोचा था, सम्भवतः लुटेरा यहाँ न पहुँच पावेगा। परन्तु आज जब हम अपनी वस्तु वापिस माँगने गये तो मालूम हुआ--अमानत में खयानत हो गयी। और खयानत भी उसे कैसे कहें? खयानत में स्वेच्छा तो रहती ही है और खयानत करने-वाला जानता है वह क्या कर रहा है, पर यह तो अनजाने ही चली गयी।

आज स्वतन्त्रता की वर्षगाँठ पर हिसाब लगाकर देखा तो मालूम हुआ कि

* प्रहरी, 15 अगस्त, 1948

अठन्नी-भर स्वतन्त्रता अभी बाकी है। शरीर स्वतन्त्र है, मस्तिष्क अभी भी परतन्त्र है। दो सौ वर्षों से साम्राज्यवादी अँगरेजों ने हम पर जो विदेशी रंग चढ़ाया है, वह सभी नहीं धुल पाया। आधी गुलामी हमने बलात् फेंक दी, आधी गुलामी अभी भी हम स्वेच्छा से गले में डाले हुए हैं। अँगरेजियत का मोह हमसे नहीं छूट रहा है, भारतीयता हमारे आचारों में नहीं आ रही है।

एक धोती-कुरतेवाले राजगोपालाचारी से या अचकनवाले जवाहर से कोई विशेष परिवर्तन थोड़े ही हो गया है, जबकि हमारे विचारों के राज्य पर अभी भी अँगरेज ही हुकूमत कर रहे हैं। आइए, मेरे साथ चलिए—

यह कॉलेज का विद्यार्थी अभी भी धोती-कुरता पहिननेवाले बाप को पागल समझता है, और अभी भी यदि वह पिता 'होस्टल' में पहुँच जावे तो लड़का सह-पाठियों से यही कहेगा, 'यह हमारा नौकर है।' पुत्र अभी भी पिता को अँगरेजी में पत्र लिखता है और 'पूज्य पिताजी' की अपेक्षा 'डियर फादर' में अधिक सम्मान तथा भक्ति देखता है।

ये जो भारतीय फिल्म रोज बन रही हैं इनमें सब काम अँगरेजी में ही हो रहा है। पात्रों के नाम, विशेष सूचना, विज्ञापन सब अँगरेजी भाषा में। और इनका 'हीरो' 15 अगस्त के बाद भी वही सूट-बूट-टाईवाला है। कोई इनसे पूछे कि क्या कोई अँगरेज सात समुद्र पार से आकर हिन्दी सिनेमा में बैठता है? अधिकांश दर्शक अँगरेजी नहीं समझते और उन्हीं के पैसों से सिनेमावालों को दाल-रोटी, मक्खन, बोतल, स्नो-पाउडर इत्यादि मिलते हैं। फिर उन्हीं के साथ यह नमकहरामी क्यों? ये सब मानसिक गुलामी की अवधि को बढ़ा रहे हैं। कुछ निर्माताओं ने अपना रवैया बदला है और वह स्तुत्य है।

हमारे सेठ, साहूकारों, दूकानदारों से अंग्रेजी का मोह नहीं छूटता। वह सेठ जिसे अंग्रेजी के नाम पर वर्णमाला भी मुश्किल से आती है, अपने विज्ञापन अँगरेजी में लिखवाता है। हिन्दुस्तान के बाजार में अँगरेजी के विज्ञापन देखर शर्म आती है। अँगरेजी राज्य गया, ऐसा नहीं लगता। अँगरेजी ज्ञान के अभाव में कुछ विज्ञापन बड़े अशुद्ध एवं हास्यास्पद हो जाते हैं। अपने अज्ञान के डंके की चोट इस प्रकार ऐलान करने में भी गौरव ही अनुभव किया जाता है।

वस्त्रों में भी भारतीयता नहीं आ रही है। यह माना कि सूटों से भरी पेटी को गंगा में फूल-बताशे की तरह नहीं बहा सकते, विशेषकर वस्त्राभाव के इस काल में। फिर भी अभी तक एक राष्ट्रीय पोशाक को प्रोत्साहन तो मिलना चाहिए था। सूट के ऊपर कई साहबों ने भारतीयता के नाम पर टोपी लगाना प्रारम्भ कर दिया है, परन्तु वह सिर पर लगी होने पर भी मानसिक स्वतन्त्रता से बढ़कर मानसिक गुलामी की ही द्योतक है।

सैकड़ों वर्षों से 'पिने का पानि' लिखकर रेलवे जो हिन्दी की सेवा कर रही है उसे चाहे हम भूल भी जावें परन्तु अंग्रेजी के प्रति रेलवे के मोह को हम भूल नहीं सकते। मैं अभी हाल में एक गाँव गया था। सड़क पर एक पटिया खम्बे में चिपका

हुआ दिखा जिस पर लिखा था —To Railway Station। इस संकेत को पढ़कर स्टेशन पहुँच सकनेवाला व्यक्ति उस गाँव में एक भी न होगा। फिर वह तख्ता वहाँ क्यों लगा है? सम्भवतः इसलिए कि यदि कोई गोरा साहब उधर से निकल पड़े तो स्टेशन पहुँच जावे। उस स्टेशन के सारे टिकिट अंग्रेजी से अनभिज्ञ ग्रामीण ही खरीदते हैं जिससे हर साल रेलवे अपना सरप्लस बजट निकाल देती है। इन्हीं लोगों के साथ यह बेईमानी क्यों की जाती है? क्यों नहीं इश्तिहार हिन्दी में लिखवाये जाते? क्या अभी भी अँगरेज रोकते हैं?

अंग्रेजी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने की धुन में फकीरी धारण करनेवाले लोगों के गुलाम विचारों पर तरस आता है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि गुलामी के कँटीले पौधे को उखाड़ फेंकने के पश्चात् भी हममें से कुछ उसकी एक डाल गाड़कर उसे पानी दे रहे हैं। यहाँ फूल फलने ही नहीं देना चाहते! उनको तो राष्ट्रभाषा हिन्दी से बैर—कभी हिन्दुस्तानी का अड़ंगा खड़ा करेंगे, कभी अँगरेजी का बखेड़ा उत्पन्न कर देंगे। अँगरेजी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग स्वयम् एक लांछन है। और फिर अँगरेजियत ही पसन्द थी तो काहे को स्वराज्य के लिए लड़े, खून बहाया, बरबादी उठायी? यदि इन्हीं की बात स्वीकार कर ली जावे तो स्थिति इस प्रकार होगी: हमारे यहाँ 100 में से जो 10 पढ़े-लिखे आदमी हैं उनमें से 8 को अपढ़ ही मानना होगा, क्योंकि 100 में से 2 आदमी ही अँगरेजी पढ़े-लिखे हैं। दो सौ वर्षों में केवल 100 में से 2 व्यक्ति ही अँगरेजी पढ़ पाये तो इस हिसाब से शत-प्रतिशत साक्षरता के लिए 10000 वर्ष लगेंगे। फिर माता अपने बच्चे को सिखाये कि बेटा, यह 'पानी' नहीं 'वाटर' है। और यदि हिन्दुस्तानी बच्चा यह पूछ बैठे कि माँ, फिर पानी कैसा होता है? तो बेचारी माँ डाक्टर हरीसिंह गौर से पूछने जाय कि बच्चे को क्या जवाब दिया जाय।

अँगरेजों की छोड़ी हुई आदतों का नाम गिनाना कठिन है। एक 'बेड टी' (Bed Tea) नाम की चाय प्रचलित कर गये हैं, जिसका माहात्म्य प्रातःकाल बिना मुँह धोये बिछौने पर पीने का है। ठण्डे देश विलायत में बिना एक प्याला गरम चाय पिये उठना कठिन हो, पर हिन्दुस्तान सरीखे उष्ण देश में रात-भर का इकट्ठा मैला चाय के साथ पेट में वापस भेजने की क्या आवश्यकता है? पके घड़ों पर चाहे मिट्टी न चढ़े, पर नवीन पीढ़ी तो ऐसी गन्दी और हानिकारक आदतें न सीखे।

यह मानसिक गुलामी हमारी प्रगति में बाधक है। हम स्वतन्त्रता का अनुभव करने के लिए प्रयास-सा करते हैं। हमारी संस्कृति, सभ्यता, भाषा का पुनरुद्धार ही हम नहीं करना चाहें तो फिर किसलिए खून के बदले स्वतन्त्रता खरीदी?

यह मानसिक गुलामी जानी ही चाहिए।

पर, राजा भूखा था*

स्वतन्त्रता-दिवस के दिन शहर का काया-पलट हो जाय तो आश्चर्य क्या ? यह महान् राष्ट्रीय पर्व प्रतिदिन तो आता नहीं है ! रंगीन झण्डियाँ, वन्दनवार, फूल, रंग-बिरंगे बल्ब—सबने लक्ष्मी की अलक्ष्य प्रेरणा से वातावरण में सौन्दर्य ला दिया था। पर इस सबमें मुझे वह सत्यता नहीं मिली जिसे देखने मैं निकला था। एक प्रकार का कोरापन था; हृदय का अभाव था। सम्भवत: इसलिए कि वे 'अनेक' जो सड़क पर से कौतूहलपूर्ण नेत्रों से देखते हुए चले जा रहे थे, उस 'एक' से जो दूकान पर बैठा हुआ गर्वदृष्टि से देख रहा था—इतने भिन्न थे।

एक विशाल चाँदी-सोने की दूकान विशेष आकर्षण लिये थी। काँच के 'शो केस' में चाँदी, सोने, जवाहरात के बीच में गाँधीजी और नेताजी के चित्र सजे हुए थे। जिन्होंने सोने की शृंखला को तोड़ अपना स्थान दरिद्रों में बनाया उनको ही सोने के पिंजड़े में बन्द कर दिया ! कृतघ्न देश ! तूने राष्ट्रपिता का उपयोग आखिर विज्ञापन के लिए किया ! तूने 'गाँधी भण्डार' नाम से मिठाई की दूकान खोली, तूने 'गाँधी स्टोर्स' खोल दिया; तूने 'गाँधी वस्त्रागार' खोल दिया जहाँ तू सत्य के देवता के नाम पर एक गज का पन्द्रह गिरह नापता है !

एक जगह और देखा। दूकान के सामने की भूमि बाँसों के द्वारा घेर रखी थी जिससे दर्शक बहुमूल्य सजावट को समीप से न देख सकें। वहाँ केवल चुने हुए सेठ-साहूकार, ऊँचे अफसरों की पहुँच थी। बाहर भूखा भिखारी पेट दिखाकर एक पैसा माँग रहा था; भीतर धनी सेठ रसगुल्ले खाने के आग्रह पर 'नहीं-नहीं' कह रहा था। पर वह घेरा ! एकाधिपत्य का लोभ सरलता से संवरणशील नहीं है। दूसरों का दृष्टि-अधिकार छीनकर संचय करना भी कितनी बड़ी निर्लज्जता है। क्या बेचारा दरिद्र पर-वैभव को देखकर प्रसन्न होने का अधिकारी भी नहीं। हजारों वर्ष पूर्व हमारे ही पूर्वज उपनिषदों में कह गये हैं, 'मा गृधः कस्यस्वित् धनम्।' कितना अन्तर है—तब और अब। धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तो बन्द पेटी से तब निकाले जाते हैं जब धन के स्वार्थों का समर्थन करना होता है।

गाँधीजी का मूल्य भी रुपये-आने-पाई में होने लगा। 1001 रुपये गाँधी-स्मारक कोष में देकर 10001 रु. कमाने की इच्छा कौन नहीं रखता ? और 10 रु. देनेवाले लखपति का नाम अखबार में छप जाता है; पर 10 रु. देनेवाले उस बेचारे चपरासी का नाम कोई नहीं जानता जो एक-तिहाई वेतन देकर 10 दिन भूखा रहेगा। 'सबै सहायक सबल के।'

तो स्वतन्त्रता की खुशी में भरे पेट को और भरकर अजीर्ण उत्पन्न करने की अपेक्षा यह अच्छा होता कि उस मुंह में मिठाई पड़ जाती जिसने उसे कभी नहीं

* प्रहरी, 29 अगस्त, 1948

चखा। एक दिन के लिए गरीबों के मुहल्ले सज जाते; एक दिन के लिए उनके अन्धकार में ही प्रकाश हो जाता; एक दिन वे ही स्वतन्त्रता का अनुभव कर लेते ! इन्हीं के लिए तो गाँधीजी जिये और मरे। पर मैं कह तो चुका हूँ कि गाँधी के नाम की दूकान खोलकर गाँधी के ही दरिद्रनारायण को लूटने का उपक्रम देशप्रेम का रूप धारण कर रहा है। गाँधी-गुण-गान के नाम पर दूकान पर सिनेमा की बदनाम-शुदा रागों पर पूज्य गाँधीजी के नाम के गाने माइक्रोफोन पर बजते ही हैं।

यदि कोई पूछे कि स्वराज्य किसका ? तो हम सब कहेंगे ---किसान का, मजदूर का, ग्रामीण का। परन्तु क्या वास्तव में वह जानता है कि उसे राज्य मिल गया है; वह राजा हो गया है? उसकी राजनीति, साहित्य, संस्कृति, कला --पेट के बाहर कहीं भी नहीं है। स्वतन्त्रता दिवस को उसके पास दीप है तो तेल कहाँ से लावे ? फिर भी वह माँ स्वतन्त्रता का स्वागत करता है। भूख की ज्वाला उसके पेट में निरन्तर जलती है; अन्याय, शोषण की लपटें उसके आसपास उठ ही रही हैं—और इनके बीच वह स्वयं वत्ती बनकर जल रहा है। वह क्षुद्र टिमटिमाता हुआ मिट्टी का दीप क्या जलावे ! राजा की यह तपस्या धन्य है ! प्राचीन आर्य नरेशों की परम्परा के अनुसार यह नवीन राजा भी कुछ कम तपोबल संचय नहीं कर रहा है।

तो राजा ने भूखे पेट स्वतन्त्रता की वर्षगाँठ मनायी। राजकुमार और राजकुमारी अस्थियों का नंगा ढाँचा समेटे रानी से 'रोटी' की पुकार कर रहे थे। राजमहल में फूटा लोटा, एक मिट्टी का बर्तन—बस और कुछ नहीं था।

झोंपड़ी का अन्धकार महल के प्रकाश के मुख पर कालिख पोतने आ रहा था।

15 अगस्त को राजा भूखा था !

अपने बाबू गोविन्ददास जरूर राष्ट्रपति हों !*

सहयोगी 'नवभारत' में निम्न समाचार प्रकाशित हुआ जो विगत सोमवार जबलपुर से भेजा गया—

'महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों ने प्रान्ताध्यक्ष बाबू गोविन्ददास का नाम राष्ट्रपति पद के लिए प्रस्तावित किया है। बाबू साहब इस पद पर जाने के लिए तैयार नहीं थे किन्तु, सदस्यों के तीव्र अनुरोध के उपरान्त उन्हें स्वीकृति दे देनी पड़ी है।

आपकी नामज़दी का फार्म आज सोमवार को भरा जा रहा है।'

* प्रहरी, 3 अक्टूबर, 1948

उक्त समाचार पढ़ने पर अघोर भैरव के अखाड़े में तुमुल और घनघोर हर्ष-नाद गूंज उठा और अपनी बनैटियों को उठाकर लोगों ने सर्वसम्मति से निम्न प्रस्ताव स्वीकृत किया—

अघोर भैरव के अखाड़े के हम सारे तान्त्रिक-मान्त्रिक-जान्त्रिक इत्यादि समवेत स्वरों में घोषणा कर 'नवभारत' के उक्त समाचार व महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के उन नामालूम सदस्यों के सुझाव का पूर्ण समर्थन करते हैं और अपने बाबू साहब को राष्ट्रपतित्व के लिए घोर उपयुक्त समझते हैं। साथ ही जनता-जनार्दन की जानकारी के लिए हम इस प्रस्ताव द्वारा यह भी बता देना चाहते हैं, कि हम उन्हें क्यों उपयुक्त समझते हैं, और ये कि हमारा समर्थन बे-बुनियाद नहीं है। कोशल-केसरी, प्रान्तपति, सम्मेलनपति, सदस्य विधान परिषद और धारा-सभा इत्यादि बाबू सा'ब राष्ट्रपति इसलिए हों कि—

(1) वे सर्वस्व त्यागी हैं। सम्पत्ति सर्वनाश से बच जाय और कोर्ट ऑफ वार्ड्स में चली जाय, इसलिए उन्होंने न केवल सभापती ही छोड़ दी बल्कि महल से गोपाल बाग चले गये। भगवान् राम तो चौदह वर्ष के बनवास के बाद लौटे तो राज्य स्वीकार कर लिया पर अपने बाबू सा'ब गोपाल बाग से बखरी लौटे तो सम्पत्ति से कोई वास्ता ही न रखा; उनका धन तो केवल 'लोटा-डोर' है।

(2) दानवीर हैं। एक ही भूमि को अनेक बार दान में दे सकते हैं। चाहे राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर को और चाहे सुभाष टाकीज को। राजा कर्ण दानवीर थे। पर वे भी ऐसा नहीं कर सके कि दान-घोषणा कर दें और फिर इमारत का किराया भी लेने लगें।

(3) परम वैष्णव हैं। जब गोपाल लालजी के मन्दिर में हरिजन-प्रवेश का प्रश्न उठा तब उन्होंने ट्रस्ट से इस्तीफा दे दिया। हम उन आलोचकों की निन्दा करते हैं जो इसे 'पलायन' की संज्ञा देना चाहते हैं। हम तान्त्रिकों की दृष्टि में बाबू सा'ब ने ऐसा करके अपने इष्टदेव 'रणछोड़' का ही अनुकरण किया। अतएव ऐसे हैं वे परम भगवदीय कि जिनकी वार्ता कहाँ ताईं कहिए।

(4) कार्यकुशल हैं। शेयर्स बेचने, चन्दा करने में नम्बर एक हैं। गाँधीजी तो अपने जीवन में सिर्फ चन्दा कर सके, कम्पनी के शेयर्स नहीं बेच पाये। परमार्थ और स्वार्थ का समन्वय वे ऐसा नहीं साध सके जैसा हमारे अपने बाबू सा'ब।

(5) दीन-बन्धु हैं। यद्यपि यह उपाधि सी. एफ. इ. एन्ड्रूज की है। पर जहाँ वे असफल हुए वहाँ बाबू सा'ब सफल हुए। याने एन्ड्रूज ने कभी लेबर लीडरी नहीं की इसलिए उन्हें कभी यह मौका नहीं आया कि गनकैरिज फैक्टरी के कर्मचारियों को 'नष्ट-भ्रष्ट' कर देने की धमकी दें या सी. ओ. डी. के लोगों का रिट्रेंचमेण्ट होने पर उन्हें समझा सकें कि अपनी सरकार के सब खून माफ। दीनबन्धु एन्ड्रूज अव्यावहारिक थे, ऐसा एक बार गाँधीजी ने कहा था। दीन-बन्धु गोविन्ददास व्यावहारिक हैं, ऐसा हम तान्त्रिक कहते हैं।

(6) चरित्रवान हैं। क्योंकि सैकण्ड क्लास के डिब्बे से अपने लिए, वृद्धा माँ

को इसलिए उठने को उन्होंने बाध्य किया कि वे फर्स्ट क्लास में जाकर आराम से बैठें। बहुत बूढ़ी जो थीं, बहत्तर वर्ष की।

(7) प्रजावत्सल हैं। जब लोगों को सीमेण्ट और लोहा प्राप्य नहीं था तब नागरिकों के मनोरंजन व मुहल्लेवालों के सुभीते के लिए उन्होंने सुभाष टाकीज बनवा दी।

(8) हिन्दी-प्रेमी हैं। इसका प्रमाण यह है कि वे साहित्य सम्मेलन के पति होने के भी उम्मीदवार हैं। यदि राष्ट्रपति हो गये तो बेचारे टण्डनजी ? कोई बात नहीं, फिर देखा जायेगा।

नेति, नेति, नेति !

अघोर भैरव के अखाड़े के तान्त्रिक जनता-जनार्दन का ध्यान समाचार की इन पंक्तियों की ओर फिर से आकर्षित करना चाहते हैं कि बाबू साहब इस पद पर जाने के लिए तैयार नहीं थे।

परन्तु जब बड़ी मुश्किलों से तैयार ही हो गये हैं तो अघोर भैरव के अखाड़े के तान्त्रिक देश की 'मूर्ख' जनता से अपील करते हैं कि अपने बाबू सा'ब को बिना राष्ट्रपति बनाये बिल्कुल न माने।

लक्ष्मी की विजय*

आकाश-मार्ग से विश्व का भ्रमण कर भगवान् विष्णु, लक्ष्मी सहित गरुड़ की पीठ से उतरे तो लक्ष्मी खिन्न भाव से पति से बोली, "नाथ ! सारा संसार आपकी पूजा करता है। कितने मन्दिर बने हैं जहाँ आठों प्रहर भक्त लोग आपका गुणगान करते रहते हैं। कितना सम्मान प्राप्त है आपको। मैं आपकी स्त्री हूँ पर मुझे कोई पूछता भी नहीं, मेरा कोई संसार में नाम भी नहीं लेता।"

बात यह थी कि उस समय तक संसार में साहब को प्रसन्न करने के लिए मेमसाहब की चापलूसी करने की प्रथा का आरम्भ नहीं हुआ था और मेमसाहब को भेंट देना, उनके हाथ से इनाम बँटवाना, उद्घाटन करवाना इत्यादि 'सत्य व्यवहार' भी मृत्युलोक में नहीं होते थे।

विष्णु ने पत्नी के अन्तर की स्पर्धा को लक्ष्य करके कहा, "प्रिये ! यह तुम क्या कहती हो ? तुम मेरी अर्द्धांगिनी हो इसलिए मेरा आधा सम्मान तुम्हें सहज ही प्राप्त हो जाता है।"

* प्रहरी, 31 अक्टूबर, 1948

लक्ष्मी बोली, "ये तो सब कहने की बातें हैं। संसार में अधिकार का ही सम्मान होता है, शक्ति की ही पूजा होती है। उगते सूर्य को सब पूजते हैं, डूबते को कोई नहीं। यह उपेक्षा, यह अपमान मुझे असह्य है। मुझे भी कुछ अधिकार दीजिए न देव !"

कौन नहीं जानता कि स्त्री के हठ के सामने बड़ा-से-बड़ा योद्धा भी नहीं ठहर सकता। विष्णु ने वे सब परम्परागत तर्क दुहराये जो अनादि काल से पुरुष स्त्री को 'अबला' बनाकर अपने अधिकार में रखने के लिए काम में ला रहा है। पर लक्ष्मी सन्तुष्ट न हुई। स्त्री के अमोघ अस्त्र आँसू का प्रयोग कर वे बोली, "अच्छा है देव! आपको मेरा अपमान ही अच्छा लगता है। मैं तो अबला ठहरी।" पत्नी के आँसुओं की धार में बड़े-से-बड़े धीर का धैर्य पिघलकर बह जाता है। विष्णु भी विचलित हुए तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि आज के 'पुरुष पुरातन' उस समय युवा ही थे।

"आखिर तुम चाहती क्या हो ?" विष्णु बोले।

विजय के गर्व से लक्ष्मी बोली, "आपको अनेक काम रहते हैं। आप मुझे संसार में धन वितरित करने का कार्य सौंप दीजिए। मैं भी आपका हाथ बटाऊँगी।" सरल हृदय विष्णु बोले, "बस, इतनी-सी बात ? लो, यह कुंजी विश्व-कोष की, और सम्हालो सारा द्रव्य।" आज मृत्युलोक में कोष की कुंजी की मालकिन गृहपत्नी ही होती है। मुंशी सुखलाल, थानेदार रामसिंह और मास्टर अच्छेलाल— सभी पहिली तारीख को 'तनखा' लाकर पत्नी के हाथ में रख देते हैं।

चाबी तो लक्ष्मी को मिल गयी पर धन-वितरण का कार्य कुछ सरल नहीं था। बुद्धि की आवश्यकता थी जो लक्ष्मीजी के हिस्से में ज़रा कम आयी थी। निदान एक योजना तैयार करवाने के लिए उन्होंने देवी सरस्वती को बुलवाया—जैसे हमारे समय में चौथी अंग्रेजी पास पुराना साहब, बड़े साहब के पास भेजने की चिट्ठी अपने बी. ए. पास बाबू से लिखवाता है, या जैसे निरक्षर सेठ पढ़ा-लिखा मुनीम रखता है, या हिन्दुस्तान में योजनाएँ बनाने के लिए विलायत से विशेषज्ञ बुलाया जाता है।

सरस्वती वीणा की झनकार का मंगल-नाद करती हुई आयी। लक्ष्मी ने कहा, "बहिन, द्रव्य-वितरण की ऐसी योजना बनाओ कि मुझे विष्णु से अधिक प्रशंसा मिले। मैं एक बार उन्हें भी मात देना चाहती हूँ!" लक्ष्मी के हृदय में महत्त्वाकांक्षा ने जड़ जमा ली थी।

सरस्वती ने लक्ष्मी के हृदय की ईर्ष्या को परखा और बोली, "बहिन, मैं तो तुम्हारे बीच में नहीं पड़ूंगी। मुझे तो तुम दोनों समान हो। मुझे तो क्षमा करो। मैं तुम्हारी सहायता न कर सकूंगी।"

लक्ष्मी ने तुनककर जवाब दिया, "बड़ा घमण्ड है तुझे। संसार के मनुष्यों से सम्मान पाकर तेरा दिमाग सातवें आसमान पर पहुँच गया है। देखती हूँ तेरा गर्व कहाँ रहता है ? मैं तुझे भी नीचा दिखाऊँगी। संसार में तेरा निरादर कराऊँगी।"

क्रोध में आकर लक्ष्मी ने अपना वाहन (उल्लू) तैयार कराया और उस पर आरूढ़ हो संसार-यात्रा को चल पड़ी। लक्ष्मी का वाहन जिस मनुष्य को अपना आत्मीय समझ उससे मिलने उसके पास पहुँचता उसी मनुष्य को लक्ष्मी एक थैली उठाकर दे देती। बेचारी सरस्वती कलह टालने के लिए उस मनुष्य से अपना सारा सम्बन्ध तोड़ देती।

यही क्रम कुछ काल तक चलता रहा।

एक दिन प्रसन्नमुख लक्ष्मी विष्णु से बोली, "आइए नाथ! एक बार विश्व का निरीक्षण तो कर लीजिए। मेरा प्रबन्ध देख लीजिए।" विष्णु भगवान् गरुड़ पर सवार हुए! सरस्वती भी विशेष आग्रह से हंसारूढ़ हो साथ चली।

"देखिए देव," लक्ष्मी बोली, "यह सुवर्णगुप्त वैश्य क्या कर रहा है?" विष्णु ने देखा, वह मनुष्य ध्यान लगाकर सिर नीचा किये बैठा है। वे बोले, "मेरा ध्यान कर रहा है। मेरा परम भक्त है यह वैश्य।"

लक्ष्मी ने कहा, "नहीं-नहीं महाराज, ध्यान से देखिए। इस ओर से देखिए।"

भगवान् ने देखा, वह धन गिन रहा था और हिसाब मिला रहा था। भगवान् सहम गये। बोले, "देवी, पहले तो यह प्रातःकाल मेरी पूजा करता था।"

लक्ष्मी ने कहा, "तो अब मेरी पूजा करता है देव! और यही एक तो नहीं है ---ये देखिए, ये--और ये।" भगवान् बड़े आश्चर्य से यह परिवर्तन देख रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि विशाल अट्टालिका पर पड़ी थी, और देखा, उसका स्वामी घी में से मक्खी निकालकर उसे निचोड़ रहा है, एक दूसरा उल्टा अखबार पढ़ रहा है। भगवान् खिन्न हो बोले, "प्रिये! तुमने इन मूढ़ मतिमन्दों को धन देकर अच्छा नहीं किया। इससे तो मेरा विधान ही उलट जायगा। और···" सहसा भगवान् कुछ देखकर रुक गये। फिर बोले, "यह देवदत्त शर्मा तो बड़ा बुद्धिमान और सदाचारी ब्राह्मण है प्रिये! पर तुमने तो इसे कुछ भी नहीं दिया। बेचारा कितना दुःखी है!"

"यह दुष्ट है महाराज! देखा आपने, किसकी पूजा कर रहा है।"

"हाँ, हाँ, वीणा लिये हुए सरस्वती की मूर्ति है।"

"बस इसीलिए इसका यह हाल है। देखती हूँ सरस्वती कैसे उसका पेट भरती है?" ऐसा कहकर लक्ष्मी ने एक व्यंगपूर्ण हँसी हँसकर सरस्वती की ओर देखा।

इसी समय संसार में असंख्य दीप जल उठे; मधुर वाद्यों की ध्वनि से वायुमण्डल गूंज उठा, घर-घर फूल-मालाएँ, बन्दनवार सजाये गये, भाँति-भाँति के पकवान, मिष्ठान तैयार किये गये, संसार स्वर्ग-सा दिखने लगा। भगवान् विष्णु बोले, "अरे मैं तो भूल ही गया था। आज मेरा जन्मदिन मना रहा है संसार। देखो देवी, मेरे भक्तों में कितना उत्साह है।"

लक्ष्मी मुस्कुराकर बोली, "नहीं-नहीं देव! आपकी पूजा नहीं कर रहे हैं।

आपका जन्मदिन भी नहीं है आज। ये सब लक्ष्मी-पूजन कर रहे हैं। देखिए न !"

विष्णु ने देखा—घर-घर लक्ष्मी की पूजा हो रही है। उनके सारे मन्दिर अन्धकार में पड़े हैं, किसी को एक दीपक जलाने का भी अवकाश नहीं है। भगवान् का माथा ठनका; उन्होंने एक गहरी साँस ली।

इसी समय लक्ष्मी बोली, "देखा देव ! मेरा सम्मान ! और ज़रा सरस्वती भी देख ले ! बहुत अभिमान करती थी। यह देख, तेरा कृपापात्र ही है न ? एक हाथ से लेखनी लिये खड़ा है, पर पेट चिपककर पीठ हो गया है, चिथड़े लगाये हुए है। देखती हूँ, कैसे पेट भरती है तू इसका ? और यह देख मेरे उत्सव के उपलक्ष में यह कवि-सम्मेलन हो रहा है और देखती है सभापति के आसन पर कौन विराजमान है—और सामने तेरे पुत्र बैठे हैं—दीनता की मूर्ति !"

सरस्वती ने हृदय पर हाथ रखकर देखा—सभापति के आसन पर एक लक्ष्मी का कृपापात्र बैठा है—सामने कवि लोग—कविताएँ हो रही हैं पर वह कुछ नहीं समझता; बैठा-बैठा नाखून चबा रहा है या जमुहाई ले रहा है।

लक्ष्मी फिर बोली, "देखा मेरा सम्मान। और यह देख; यह जो उत्सव हो रहा है उसमें यह कवि पचास रुपये पर दो घण्टे के लिए बुलवाया गया है। यह है तेरा मूल्य।" सरस्वती ने व्याकुल हो मुँह फेर लिया।

इसी समय अचानक भगवान् की दृष्टि उन असंख्य भूखे, नंगे, दरिद्र नर-नारियों पर पड़ी जो चिल्ला-चिल्लाकर भगवान् को पुकार रहे थे—'हे भगवान् ! अब तो सुधि लो ! ये सब सुखी धनवान कहते हैं कि तुम हमारे हो। हमारे हो तो आते क्यों नहीं ? हमारी अवस्था पर कुछ तो दया करो प्रभु ! हमारा सबकुछ छीनकर लक्ष्मी देवी ने अपने कृपापात्रों को दे दिया है। हम लूट लिये गये भगवान् ! हम भूखे मर रहे हैं, हम नंगे हैं, हमारी रक्षा करो प्रभो !'

भगवान् विष्णु करुणार्द्र हो बोले, "आता हूँ, आता हूँ—तुम घबड़ाओ मत। मैं तुम्हें भी बहुत धन दूंगा, तुम्हारे सब दुख हर लूंगा। मेरे राज्य में अन्याय नहीं होने पायगा। लो, मैं तुम्हें भी धन देता हूँ।" ऐसा कहकर भगवान् ने ज्यों ही कोष की ओर हाथ बढ़ाया कि लक्ष्मी ने हाथ रोक लिया, "क्षमा महाराज ! आप मर्यादा भंग कर रहे हैं। आपने तो कोष का सारा अधिकार मुझे सौंप दिया है। अब मेरी इच्छा से ही धन का वितरण होगा। आप इसे छू भी नहीं सकते।" भगवान् सहम गये। उनके अधिकार की उपेक्षा आज तक नहीं की गयी थी। उनकी हालत उस पति की-सी हो गयी जो सारी तनख्वाह स्त्री के हाथ में सौंप देता है और फिर 26 तारीख को बीड़ी या सिगरेट के लिए पैसे माँगता है और स्त्री 'नहीं' कह देती है।

विष्णु बड़े व्याकुल थे। कभी क्षीर सागर में जाकर विश्राम करते पर वहां भी चैन न पड़ती। कभी शेष की पीठ पर बैठते पर वहाँ भी चैन नहीं पड़ती। यहाँ से वहाँ भागते-फिरते पर कोई उपाय नहीं सूझता।

इधर संसार में लोग कहने लगे—'भगवान् झूठा है।'

'देवोपिदुर्बल घातकः।' 'भगवान् सो गया है।' 'भगवान् पुराना पड़ गया।'

'भगवान् बूढ़े पड़ गये हैं।' दीन-हीन संसारी लोग भगवान् को 'यदा-यदाहि धर्मस्य' वाली प्रतिज्ञा की याद दिलाने लगे। कोलाहल बढ़ता ही गया। भगवान् की सत्ता उठने लगी। भगवान् किंकर्तव्यविमूढ़ हो बैठ गये।

इसी समय कहीं से ब्रह्मापुत्र नारद भ्रमण करते हुए आ निकले। भगवान को खिन्न देखकर कारण पूछा। विष्णु बोले, "नारद जी, मैं तो विश्वास में लुट गया। सारे संसार से मेरा अस्तित्व ही उठा जा रहा है। कोई मेरा नाम लेनेवाला भी न बचेगा। लक्ष्मी को समझाइए।"

नारद ने कहा, "प्रभो! आप तो चाहे जिस पर चाहे जितना विश्वास कर लेते हैं और फिर व्याकुल होते फिरते हैं। एक बार आप शंकर महाराज पर भरोसा करके स्त्री का वेष बना पहुँच गये उन्हीं की रक्षा को। आप समझे कि शंकर कामारि हैं, कोई डर नहीं। पर शंकरजी ने आपको जंगल-जंगल कैसा खदेड़ा है। अब फिर इस बार लक्ष्मी देवी पर विश्वास कर लिया!"

नारद ने लक्ष्मी को समझाया। लक्ष्मी ने कहा, "मैं इतना कर सकती हूँ कि मेरे कृपापात्रों को यह प्रेरणा कर दूं कि दिन-भर पाप-अन्याय से धन इकट्ठा करने के पश्चात सन्ध्या समय मेरे पति के मन्दिर में जाकर दर्शन कर लें तो वे उनके पाप क्षमा कर देंगे। इस प्रकार मेरा भक्त आपकी भी याद कर लेगा।"

विष्णु बोले, "पर पाप का दण्ड तो मैं दूंगा। नहीं तो मेरा विधान ही पलट जायगा। संसार रसातल को चला जावेगा।"

लक्ष्मी बोली, "अच्छा दीजिए, परन्तु तुरन्त नहीं। नहीं तो मेरी प्रतिष्ठा में धक्का लगेगा।"

भगवान् अशान्त हृदय उठ दिये।

समाज के गुरु का यह उपहास!*

अभी उस दिन मेरे एक परिचित शिक्षक महोदय मिले और बड़ी प्रसन्न मुद्रा से बोले, "पढ़ा आपने? बम्बई सरकार ने प्राथमिकशालाओं के शिक्षकों को 'गुरुजी' का सम्बोधन किया है और आदेश दिया है कि हर उत्सव, सभा-सोसाइटी में उन्हें आगे स्थान दिया जाय। बधाई का तार भेजना चाहिए।"

* प्रहरी, 28 नवम्बर, 1948

बधाई ? किस बात की बधाई ? क्या गुरु वसिष्ठ की परम्परा के उस भारतीय गुरु को बधाई दी जाय जो आज एक रोटी के टुकड़े के लिए परमुखापेक्षी और अपने सम्मान के लिए सरकारी कानून की अपेक्षा करता है ? या उन कानून बनानेवालों की चातुरी पर दी जाय जिन्होंने गरीब शिक्षकों का मुँह कम-से-कम 10 साल को और बन्द कर दिया ? कैसी विडम्बना है ! कैसा निष्ठुर मजाक है ! कैसा झूठा सम्मान है ! इस युग में जहाँ रुपया ही 'राम नाम' की तरह सत्य हो रहा है, इस सम्मान की नकली गुरिया को फोड़कर कोई देखे तो कि उसमें रुपया-आना-पाई कहाँ लिखा हुआ है ? काश ! इस झूठे सम्मान के बदले वेतन में 10 रुपये की ही वृद्धि हो जाती। भूखे पेट, फटे कपड़े पहिने, नंगे पैर प्राइमरी स्कूल का मास्टर बेचारा दिमाग में चिन्ताओं का भार लेकर जब आगे बैठेगा, तब उसे कौन-सा सुख होगा ? और यह सम्मान देनेवालों से ईमानदारी से पूछा जाय कि यह कहाँ का विचित्र तर्क है, कि समाज का सबसे सम्मानित व्यक्ति सबसे दरिद्र रखा जाय ? जिसकी वे इतनी कीमत करते हैं, क्यों नहीं उसके जीवन को सुखी बनाने की सोचते ? न 'गुरु' में और न आगे बैठने में हमें कोई ऐसा तत्व दिखता है जिससे क्षुधा निवृत्ति हो सके, कपड़े बन सकें, बच्चों का पालन हो सके।

ज्ञान की ज्योति जलाये रखने के लिए जिसने अपने शरीर के रक्त की बूंद-बूंद दान कर दी है, ज्ञान की मशाल को पकड़े हुए जिसके हाथ जल रहे हैं पर वह उसे छोड़ता नहीं है; युगों से ज्ञान के भारी रथ को खीचते हुए जिसके कन्धे छिल गये हैं, पैर लड़खड़ाने लगे हैं, आँखों के आगे अन्धकार छा चला है; और अज्ञानासुर से युद्ध करने के लिए जिसने अपनी हड्डी-हड्डी निकालकर दे दी है—उस दधीचि का यह उपहास !

आज के युग में धर्म, नैतिकता, ज्ञान—सबको वस्तुमत्ता दे दी गयी है, जब छल-कपट, स्वार्थ ही मानव-धर्म बन गया है, जिस समाज में धन के साथ पाप का समझौता ही प्रतिष्ठा का कारण है—वहाँ समाज का गुरु अवहेलना का पात्र हो यह आश्चर्य की बात तो नहीं है; दुख की अवश्य है और वह इस देश के दुर्भाग्य पर है जो एक बार किसी समय अपने ज्ञान के आलोक से संसार को चकाचौंध करके अब धीरे-धीरे अन्धकार ही पसन्द करता जा रहा है। और आज ज्ञान के देवता के दुख पर पर्याप्त मात्रा में बह सकें, इतने आँसू हम कहाँ से लावें ?

तो बधाई के तार की अपेक्षा तो बेचारे उन अभागे अध्यापकों को एक समवेदना का तार भेज दिया जाय, क्योंकि उन पर 'झूठे सम्मान' के रूप में यह दुख का पहाड़ टूट पड़ा है। उन्हें या हमें सुख काहे का ? यह सम्मान तो वह विषैला फोड़ा है जिसे धीरे-धीरे सहलाने से एक मीठी-सी खुजलाहट होती है, पर क्या उसके विष को हम भूल जाते हैं !

और सम्मान क्या है, यह मजाक है ! सरकार से रजिस्टर्ड सम्मान-पात्र बेचारा जब आगे बैठेगा तब पीछेवाले लोग अंगुली उठाकर हँसेंगे ही और कहेंगे—'सरकारी इज्जतदार बैठा है।' यह अपमान बेचारा गुरु कैसे सहेगा ?

कुछ लोग वही पुराना सड़ा हुआ राग अलापेंगे—'गुरु को त्याग करना चाहिए।' स्वयं स्वार्थ-साधन में नम्बर एक; झूठ, चोरी, बेईमानी से धन इकट्ठा करनेवालों के मुखों से यह सलाह वैसी ही लगती है जैसी नशे में चूर शराबी के मुँह से निकली हुई सलाह—'भाइयो, शराब नहीं पीना चाहिए।' क्यों? मरते हुए मरीज से फीस ऐंठनेवाले डाक्टर से; फटे हाल मुवक्किल से पैसा ऐंठनेवाले वकील से और झूठा हिसाब लिखकर गरीब की झोंपड़ी नीलाम करानेवाले महाजन से, कोई त्याग करने को क्यों नहीं कहता?

वैसे हमारे यहाँ के लोग बोलने में किसी से कम नहीं हैं। अभी एक दिन शिक्षक-गगन में खबर फैल गयी कि बड़े 'अन्नदाता' आये हैं और मास्टरों की फरियाद सुनेंगे। बेचारे दिन-भर पढ़ाने के बाद थके-माँदे 5 बजे सब एकत्रित हुए। शिक्षा का भारी बोझ ढोते-ढोते जिनकी कमर झुक गयी थी वे वृद्ध भी थे, बीच रास्ते में पछताते हुए रथ के जुए को उतार फेंकने की असफल चेष्टा से व्याकुल प्रौढ़ भी थे, परिस्थितियों द्वारा पकड़कर जबरदस्ती जोत दिये गये युवक भी थे और इस ज्ञान-रथ को खींचने का गौरव प्राप्त करने की अभिलाषा से अपनी गर्दन जुए के नीचे रखनेवाले उत्साही लोग भी थे। बड़े 'आका' आये; मास्टरों ने फरियाद सुनायी, दुखड़ा रोया, प्रार्थना की। बड़े 'आका' घड़ी देखते रहे और फिर बोल दिया—'त्याग करना चाहिए आप लोगों को प्राचीन गुरुओं की तरह।' यही होता तो खैर, बेचारे सुन लेते; सुनने के आदी थे। पर उनका मन न भरा और 'फुर्र' होने के पहिले बड़े 'आका' यह भी कह गये—'Teaching profession of the refuge of stupid.' अर्थात् 'शिक्षा व्यवसाय में तो मूर्ख लोग शरण लेते हैं।' धन्य भाग बेचारे गुरुओं के कि 'मूर्ख' खिताब पा गये।

और मैं सोचता हूँ, मूर्ख नहीं तो और क्या हैं? मूर्ख इसलिए कि इन्होंने मूर्खों को ज्ञानवान बनाने का पवित्र काम हाथ में लिया; मूर्ख इसलिए भी कि उन्होंने इस छल-कपट के संसार में बगुलावृत्ति धारण नहीं की; मूर्ख इसलिए कि उन्होंने चोर-बाजार में कालेपन से, दोनों हाथों से गरीबों को नही लूटा, मूर्ख इसलिए कि उन्होंने अभी तक काटने की कौन कहे, फुफकारना भी नहीं सीखा।

और सुनिए, समाज के कर्णधार यह भी कहते हैं कि योग्य व्यक्ति नहीं मिलते। योग्य व्यक्ति की पहिचान अन्धे समाज को कब से आ गयी? क्या बात है कि थोड़े-से रुपयों में ही साक्षात वृहस्पति को नौकर रखना चाहते हैं। हमारे आदर्शों की ऊँचाई का तो कहना ही क्या? हमारे देश को संसार का नेता बनने की बात भी बहुत-से आदमी कहते हैं। पर कोई पूछे कि कैसे? क्या फौजी ताकत से? नहीं, नहीं—राम-राम! भारत तो पशुबल के पक्ष में नहीं है। तो फिर कैसे? और स्वाभाविक उत्तर मिलता है—बौद्धिक बल से। तो मैं पूछता हूँ ये सब बल कहाँ से आयेंगे, यदि समाज का गुरु इसी प्रकार पंगु रखा गया तो?

राजाजी ने अभी हाल ही में कहा था कि जिस स्कूल के लड़के प्रसन्न न हों उस स्कूल को बन्द कर देना चाहिए। यह तो सर्वमान्य बात है। पर मुश्किल तो यह है

कि सूर्य के विना प्रकाश कैसे होगा ? वस्तु ही न होगी तो उसका प्रतिबिम्ब कहाँ से आवेगा ? यदि शिक्षकों के मुख पर प्रसन्नता होगी तभी तो उसकी प्रतिक्रिया विद्यार्थियों के ऊपर होगी। अपने ही दारिद्र्य से परेशान शिक्षक बेचारा क्या खाक प्रसन्नता उत्पन्न करेगा ? क्या खाक पढ़ावेगा ?

पर फिर सोचता हूँ, इस अरण्यरोदन को कौन सुनता है ? तो मेरे बम्बई के पीड़ित गुरुओं से मेरी हार्दिक सहानुभूति है—तुम्हारी इस विपत्ति में जबकि तुम्हें पेट-भर अन्न न देकर झूठा सम्मान दिया है जिससे तुम और हास्यास्पद बन जाओ। मैं समझता हूँ कि इस समय तुम्हें सम्मान की आवश्यकता नहीं है, बल्कि उस रुपये की आवश्यकता है जिसमें पूरे सोलह आने या चौंसठ पैसे होते हैं।

हमारे समाज में वर-विक्रय*

इस बार मेरे एक परिचित वृद्ध सज्जन कन्या के ऋण से मुक्त होने के लिए जब वर के पिता के दरवाजे पर माथा टेकने पहुँचे तो मुझ अनुभवहीन को शायद इसलिए ले गये कि मौका पड़ने पर सहानुभूति का मलहम लगानेवाला एक आदमी तो साथ रहे। 'नमस्कार' इत्यादि के उपरान्त वर के पिता जब चश्मे के काँच की किनार से मुझे घूरकर देख चुके तब उन्होंने दफ्तर से चोरी हुई एक फाइल निकाली और मेरे साथी की ओर मुंह करके बोले, "देखिए साहब, मैंने तो तीनों लड़कों की यह फाइल खोल रखी है। जिनके यहां से जितने रुपयों की बात आती है उनका नाम सिलसिलेवार दर्ज करता जाता हूँ। अब ये देखिए—मनोहरलालजी के यहाँ से 5000/- की बात आयी है, और रामकिशनजी के यहाँ से 6000/- की। तो आप भी अपना हिसाब बतला दीजिए, मैं नोट कर लूंगा। साहब अपना तो खुला काम है। 'अहारे-व्यवहारे लज्जा निकारे'—समझे न आप ?" मेरे साथी बेचारे, जो केवल दो हजार का इन्तजाम करके लड़का खरीदने निकले थे, किस मुँह से बोली लगाते ! फिर आने का वायदा करके और वर के पिता की व्यंगपूर्ण मुस्कुराहट से तिलमिलाकर बेचारे उठ दिये।

मैं नहीं जानता था कि वर-विक्रय हमारे समाज में इतने वैज्ञानिक तरीके से होने लगा है कि फाइल, रजिस्टर, रसीद इत्यादि रखे जाने लगे। और अब मैं सोचता हूँ कि जो थोड़ी-सी झिझक बची है वह भी त्याग दी जाय और लड़के का पिता लड़के के सिर पर 'वर बिकाऊ है' की तख्ती लगाकर मवेशियों के बाजार में

* प्रहरी, 2 जनवरी, 1949

इतवार को खड़ा करे और नीलाम करके सबसे ऊँची बोली लगानेवाले को लड़के के गले में रस्सी बाँधकर सौंप दे।

विवाह-सा पवित्र बन्धन जो पारस्परिक प्रेम बढ़ाकर दो परिवारों को अधिकाधिक समीप लाता था, न जाने कब से वाणिज्य बनकर रह गया? और आज खुले आम वर की बिक्री होती है जिसकी कीमत कन्या के रूप-गुण से नहीं, वरन् उसके पिता के टकों से लगायी जाती है। जिसके पास पैसे हों वह अपनी कन्या के लिए अच्छा वर खरीद ले, जिसकी सामर्थ्य नहीं है वह बेचारा थोड़ी देर बैठकर अपने भाग्य को रो ले और फिर कन्या को 'जहर' दे दे अर्थात् किसी वृद्ध, रोगी, अपढ़, गँवार के हाथ उसे सौंप दे, 'क्योंकि' इनकी कीमत कुछ कम होती है।

किसी ने गिना है कि वर-विक्रय की इस प्रथा के फलस्वरूप कितनी आत्महत्याएँ होती हैं? किसी ने हिसाब लगाया है कि कितने घर जलकर खाक हो जाते हैं? किसी को मालूम है कि कितने पिताओं का जीवन अभिशाप की अग्नि में जला करता है? कितनी बाल-विधवाएँ होती हैं, कितनी भ्रूण-हत्याएँ होती हैं, कितना व्यभिचार होता है, कितनी निरपराध स्त्रियों का जीवन निरन्तर जला करता है? जिस दिन इसका हिसाब लग जायेगा उस दिन हमारा रामानन्दी तिलक मिट जायेगा, हमारा चन्दनछाप काला पड़ जायेगा—कलंक बन जायगा; हमारी गांधी टोपी की नोंक मिट जायगी, और हमारा भगवान मन्दिर से भागकर कहीं शरण लेने पहुँचेगा।

विदेशी लोग हमारे समाज के विषय में अन्य देशों में भ्रमपूर्ण बातें फैलाकर हमें असभ्य, जंगली बतलाते रहे हैं और हमारा उनके प्रति रोष भी सर्वथा उचित ही रहा है। पर एक बात में तो हम पूर्व ऐतिहासिक काल के उस जंगली को भी मात करते हैं और आज के अफ्रीका के वनभाग के हब्शी को भी मात करते हैं—और वह बात यह है कि हममें अभी भी मनुष्य का क्रय-विक्रय होता है और वह कानूनी भी माना जाता है।

हमारे धर्म में दूसरे का धन सबसे निकृष्ट माना गया है, पर-धन की इच्छा करना पाप माना गया है और उसे ग्रहण करना तो अत्यन्त निन्दनीय कर्म समझा गया है। इसलिए तो भिक्षावृत्ति हमारे यहाँ अत्यन्त नीच मानी गयी है। परन्तु तिलक लगाये, सुमरनी में हाथ घुसेड़े पण्डित की निगाह भी कन्या के पिता के धन पर रहती है, 'रोटरी क्लब' में गला फाड़कर भाषण देनेवाले सभ्य साहब की आँख भी लड़के के ससुर के धन पर लगी रहती है और जन्म-भर देश-सेवा की डींग हाँकनेवाले सुधारक की जीभ में भी दूसरे का पैसा देखकर पानी आ जाता है। यह श्वान-वृत्ति हमारे समाज में कैसे आयी यह कौन बतायेगा? वर के पिता के मुख में 'नहीं' के स्थान पर 'और' कब जम बैठा? और आज तो उसका मुंह इतना फट गया है कि कन्या के पिता की सारी जायदाद उसमें समा जाय।

ऐसा लगता है कि हमारी जातिगत दुर्बलता के कारण जब हमें अपनी भुजाओं पर विश्वास नहीं रहा तब हममें मुफ्त का माल खाने की घृणित प्रवृत्ति आयी और जाति की संकीर्णता से उत्पन्न लड़कों की सीमित संख्या ने इस नयी 'वस्तु' की क्रय-

शीलता .ी ओर संकेत किया। और परिणाम यह हुआ है कि समाज में जड़ वस्तुओं की भाँति लड़के भी बिकने लगे हैं। वह समय अब दूर नहीं है जब वर का पिता लड़कीवालों से 'टेण्डर' बुलवायेगा और अधिक-से-अधिक कीमतवाले को ही अपना लड़का देगा।

वैसे तो हम 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' की घोषणा करना नहीं भूलते और हमारे आदर्शवाद का पोला ढोल भी काफी जोर से बजाते रहते हैं, परन्तु हमारे अपने परिवारों में लड़के और लड़की के प्रति व्यवहारों में कितनी विषमता पायी जाती है और यह क्यों पायी जाती है इस पर कभी विचार किया है? घर में मुन्ना को चुपड़ी और मुन्नी को सूखी रोटी मिलने का क्या कारण है? मुन्ना को छींक आने पर ही डाक्टर आ जाता है पर मुन्नी की दो-चार दिनों की बीमारी भी डाक्टर को क्यों नहीं बुला सकती? मुन्ना के रेशमी और मुन्नी के सूती का क्या रहस्य है? मुन्ना को पुचकार और मुन्नी को फटकार के कारण पर भी विचार किया है? लड़की के प्रति माता-पिता का ही अन्यायपूर्ण वर्ताव हमारे सारे आदर्शों, हमारे सारे सिद्धान्तों के मुख पर कालिख पोत देता है। और इसका एक ही कारण है—दहेज। पिता समझता है कि लड़की उसके गाँठ का खर्च करानेवाली है और लड़का उसकी गाँठ में जोड़नेवाला है। अपनी धन-हानि और चिन्ता की कारणस्वरूप लड़की उसे अप्रिय लगती है। पुत्र उत्पन्न होने पर बाजे बजते हैं, मिठाई बँटती है—पुत्री के जन्म पर मातम-सी शान्ति रहती है, माता-पिता के मुखों पर दुख की छाप दिखायी देती है।

अभी एक विवाह में देखा कि गरीब कन्या के पिता से दो हजार ऐंठकर भी जब वरपक्ष की परधन-लिप्सा शान्त न हुई तो विवाह के बीच में वर के पिता-मामा-फूफा ने वर से 500 रु. और माँगने को कहा। लड़का पढ़ा-लिखा समझदार-सा था पर बड़े-बूढ़ों की भृकुटि और लाल आँखों के सामने उसका विरोध ठहर न सका और उसने निर्लज्जता से, दस साल के बच्चे की भाँति घिघियाकर कहा—'500 रु. और लेंगे।' ऐसा लगता था कि ये लोग बाराती नहीं बल्कि कचहरी के चपरासी हैं जो किसी पुराने कर्ज की कुर्की लेकर आये हैं। गरीब ब्राह्मण ने आरजू-मिन्नत करके दया न पायी तो घर का सामान बेच-बाचकर उन राक्षसों के उदर में धन डाला। मुझे उस बी. ए. की डिग्री से विभूषित वर की परवशता पर दया भी आयी—उसकी कमजोरी पर गुस्सा भी आया। उसकी नसों का रक्त ठण्डा हो गया था; उसकी शिक्षा उसे अन्याय का सामना करना सिखाने में असमर्थ रही। ऐसी शिक्षा बेकार है; ऐसी युवावस्था को भी धिक्कार है।

पति-पत्नी के सम्बन्ध-विच्छेद का रास्ता साफ करने के लिए तलाक का कानून लागू करने से यह अधिक आवश्यक है कि इस दहेज-प्रथा को बन्द करने के लिए कानून बनाया जाय। इसीलिए हमारा कोई प्रतिनिधि समाज-हित के लिए दहेज-विरोधी कानून का प्रस्ताव हमारी धारासभा में रखे।

वैश्य-ब्राह्मण वार्ता*

प्राचीन काल में आर्यावर्त के एक अल्प विख्यात नगर में स्वर्णगुप्त नामक एक वैश्य निवास करता था। वैश्य धन-धान्य से सम्पन्न था---तिजोड़ी के ताले की तरह निर्लिप्त, निर्विकार भाव से धन की रक्षा करनेवाला, नश्वर मानव शरीर की चमड़ी को, परम आराध्य दमड़ी के हेतु कटा देनेवाला। प्रपितामह से वसीयत में प्राप्त पगड़ी की उलझी हुई लड़ियों की भाँति विचारवाला वणिक एकादशी को धर्म-पालन हेतु निर्जला उपवास भी करता था, जिसका उद्देश्य मितव्ययिता होता था; कभी-कभी एकाध खोटी ताम्र-मुद्रा भी परलोक सुधारने के लिए दान करता था।

वैश्य की धर्मपत्नी, पति की मन, वचन, कर्म से भक्ति करनेवाली, बड़ी ही धर्मपरायणा साक्षात् 'लक्ष्मी'। औसत से अधिक शरीर-धन, और औसत से कम बुद्धि-धन प्राप्त यह पतिपरायणा पति के धर्म-अधर्म में पूर्ण योग देती थी।

पति-पत्नी के अतिरिक्त तीन बच्चे--जिनके पिता होने का आरोप बेचारे वैश्य पर मढ़ा गया था।

स्वर्णगुप्त के पड़ोस में देवदत्त शर्मा नामक सदाचारी धर्म-कर्म में रत ब्राह्मण सपत्नीक रहता था। परम्परागत, धार्मिक रूढ़ियों में जकड़ा यह विप्र 'बाह्मन को धन, केवल भिच्छा' पर अक्षरशः चलनेवाला था। बच्चों को घृत के दर्शन भी दुर्लभ थे पर ब्राह्मण प्रतिदिन हवन कुण्ड में 'ॐ स्वाहा' के उच्चारण सहित एक पात्र घृत जला देता था, क्योंकि 'धर्म' पालन न होने से वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है और वर्णसंकर सन्तान से कुल का नाश होता है, कुल का नाश होने से पितरों को पिण्डदान नहीं मिलता, जिससे उन्हें अनन्त काल तक नर्क में वास करना पड़ता है।' अतएव कुलनाश के भय से और मृत पूर्वजों के स्वर्ग-सुख के लिए ब्राह्मण जीवित पुत्रों को भूखा मारता था।

हाँ, स्वर्णगुप्त वैश्य के परिवार में एक गौ भी थी जो तृण के अभाव में वायु-सेवन करके प्राणायाम से पिंजड़ा सम्हाले हुए थी। प्रातःकाल और सन्ध्या समय वैश्य ताम्रघट लेकर आता और उसके स्तनों से दूध की दो-चार बूंदें निकाल ही लेता।

ब्राह्मणी अत्यन्त गौ-भक्त थी। दो-दो बार बच्चे को लेकर वैश्य की गाय के पास जाती, रोटी देती, परिक्रमा करती, खुर की मिट्टी बालक के मस्तक पर लगाती, पूंछ के झौंरे को मुख पर फेरती।

वणिक बड़ा काइयाँ था, ब्राह्मण की गौ-भक्ति को ताड़ गया। एक दिन प्रातः-काल ब्राह्मणी ने उठकर देखा, वैश्य की जर्जर गाय द्वार पर बँधी है। ब्राह्मण दम्पत्ति आश्चर्यचकित इस रहस्य को समझ न पाते। मध्याह्न हो गया, वणिक ने गौ की

* प्रहरी, 17 अप्रैल, 1949

चिन्ता तक नहीं की। ब्राह्मण बड़े धर्मसंकट में पड़ गया। द्वार-आये साधारण अतिथि को भी नहीं फेरते, फिर यह तो गौ माता थी, कैसे इसका निरादर करते ! उधर परायी वस्तु घर में भी कैसे रखते !

निदान ब्राह्मणी से नहीं देखा गया, घर में जाकर थोड़ा अन्न लायी और गौ के आगे रख दिया। ब्राह्मण गया और घास काटकर एक गट्ठा लाया और गौ के सन्मुख रख दिया। कई दिनों के अनशन के पश्चात् सुस्वादु भोजन पाकर गौ माता की आँखें चमकने लगीं।

सन्ध्या समय वैश्य आया और ताम्रपात्र में दूध की धार गिराने लगा। धर्मपरायण ब्राह्मण-दम्पत्ति ने कोई आपत्ति नहीं की, क्योंकि पराये धन पर आँख डालना नर्क की तैयारी करना था। प्रतिदिन ब्राह्मण घास छीलकर लाता, ब्राह्मणी गोबर उठाती, सफाई करती। गौ की हड्डियों पर मांस की परत पड़ने लगी और स्तनों में दूध की मात्रा बढ़ने लगी। उधर वणिक सायं-प्रातः आता और पात्र भर दूध लगाकर प्रसन्न चित्त से घर ले जाता। ब्राह्मण-बालक लालायित नेत्रों से खड़े-खड़े देखते, उन्हें एक बूंद भी नहीं मिलती। इधर वैश्य ने दूकान पर एक 'धर्मादा पेटी' रखी और प्रत्येक ग्राहक से कहता, "भाई, पड़ोस के गरीब ब्राह्मण की एक गाय है। बेचारे से उसका पालन नहीं होता। उसके हेतु जो कुछ बन सके, पेटी में डालो। आखिर गौ माता है, पुण्य होगा। मैं भी जो कुछ बनता है, सबेरे-शाम जाकर सेवा कर आता हूँ।"

अब, यहाँ पूछा जा सकता है कि यह पौराणिक कहानी इतनी दूर तक आ गयी फिर भी अभी तक 'गौरा पार्वती' और शंकर भगवान कमण्डल में अमृत भर घूमते-घूमते हर एक सूखे झाड़ पर छिड़कते, तोता-तोती को राजकुमार-राजकुमारी बनाते क्यों नहीं आये ? मैं नास्तिक तो नहीं हूँ, पर जो कामारि भगवान अपने परम प्रिय मित्र विष्णु के रूप पर मोहित हो जंगल-जंगल उन्हें खदेड़ते फिरे, उनकी भक्ति को निरापद नहीं समझता। इसलिए मेरी इस कथा में ब्राह्मण के द्वार पर एक दिन अतिथि आया—अब आप इन्हें भगवान का 'पर्सनल एनवाय' समझ लें या स्वर्ग के सरकारी गजट का संवाददाता नारद मान लें।

सन्ध्या समय ब्राह्मण देवदत्त जब 'साधु नाम बनिया' और 'लीलावती कलावती' की कथा सुनाकर वस्त्र में अन्नादि बाँधकर लौटा तो देखा, द्वार पर अतिथि विराजमान हैं। अत्यन्त श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर विप्र ने अतिथि के चरण पखारे और कुशल पूछने लगा। अतिथि-सत्कार की महिमा जाननेवाला, महाभारत के सोने के नेवले की कथावाले धार्मिक ब्राह्मण का पूर्वज देवदत्त अतिथि-सेवा में लग गया। इस महा घोर कलियुग में तो 6 फुट का आदमी भी द्वार पर खड़ा अपने अस्तित्व को भूलकर भिक्षुक से कह देता है, "घर में कोई नहीं है।"

इसी समय वैश्य पात्र लेकर आया और आँगन में खड़ी हुई गौ का दूध दुहने लगा। क्षुधातुर अतिथि, मीठे दूध में रोटी डालकर किस प्रकार खायगा, इसका मानसिक चित्र खींचकर आनन्द लेने लगा।

भोजन के समय दूध का पात्र न देख अतिथि क्षण-भर को निराश हुआ पर

सोचा, सम्भवतः विप्र भूल गया हो। सीधा प्रश्न पूछना उचित नहीं है, इसलिए वह बोला—

"बड़े भाग्यवान हो विप्रदेव ! नन्दिनी-सी गौ द्वार पर बँधी है। बड़ी सुलक्षणी धेनु है। दूध तो पर्याप्त देती होगी ?"

ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "नहीं भाई, वह गाय मेरी नहीं है। पड़ोसी वैश्य स्वर्ण-गुप्त की है और वही उसका दूध ले जाता है। मैं तो उसकी सेवा मात्र करता हूँ। भला उसके दूध पर मेरा क्या अधिकार।"

अतिथि ने विप्र के, मुख पर के असन्तोष के भाव को परिलक्षित करके कहा, "नहीं ब्राह्मण देवता, तुम भ्रम में हो। वसुन्धरा की सेवा कर कृषक जो अन्न उपजाता है, उस पर उसी का वास्तविक अधिकार है, राजा भी उसका केवल दश-मांश लेता है। उत्पादन पर अधिकार उत्पादक का होता है, ऊसर भूमि को लेकर राजा भी क्या करेगा ? सेवा करके गौ को तुम उर्वरा भूमि-सी बनाते हो, उसके दूध पर तुम्हारा कुछ तो अधिकार है ही।"

परम्परागत विचारों के कारण ब्राह्मण को अतिथि की यह बात युक्ति-संगत न लगी। परन्तु ब्राह्मणी जो अपने लालों को तरसते और वैश्य पुत्रों को दूध उड़ाते देख-देखकर कुढ़ती थी, सहज ही अतिथि के तर्क को मान गयी। रात्रि को ब्राह्मण-ब्राह्मणी में इस बात पर घोर विवाद हुआ और प्रातःकाल पौ फटी तो ब्राह्मण विद्रोही होकर जागा। मायारूपिणी स्त्री ने मायारूपी दूध से मिलकर ब्राह्मण के सारे अपरिग्रह को परास्त कर दिया।

प्रातःकाल वैश्य जब दूध दुहने आया तो ब्राह्मणी कर्कश स्वर में बोली, "देखो जी, बहुत हो गया। तुम अकेले इस प्रकार दूध नहीं खा सकते। हमें भी इसमें हिस्सा देना होगा, हम भी मेहनत करते हैं।"

चतुर वैश्य ने हवा का रुख परखा और ब्राह्मण परिवार से समझौता कर लिया कि दूध में से एक पाव ब्राह्मण को भी दिया करेगा। दूध की मात्रा कम होते हुए भी 'सन्तोषं परम् धनं' वाले विप्र ने शान्ति की रक्षा के विचार से यह शर्त स्वीकार कर ली। अब प्रतिदिन वैश्य दूध लगाकर घर ले जाता और वहाँ से एक पात्र में पाव-भर दूध ब्राह्मण को भिजवा देता।

पर यह शान्ति अधिक दिन न चली। आदत से लाचार स्वर्णगुप्त ने एक नयी चाल चलकर समझौते की शर्त को भंग कर दिया। वह तीन भाग निर्मल जल और सफेदी कायम रखने के लिए एक भाग दूध मिलाकर ब्राह्मण के यहाँ भेजता। विप्र दम्पति इस मिथ्या व्यवहार को समझ गये।

और एक दिन ब्राह्मण ने कह ही दिया कि आज से तुम्हारी गाय का चारा-पानी बन्द।

दिन-भर हो गया था। गौ को घास के तिनके के दर्शन भी न हुए थे। घर में बैठा-बैठा वैश्य ब्राह्मण के धैर्य के समाप्त होने की राह देख रहा था। उसे उसकी धर्मभीरुता का पूरा विश्वास था। इधर ब्राह्मण दम्पति ने भी अन्न-जल ग्रहण नहीं

किया था, द्वार पर भूखी गौ बँधी थी, भोजन कैसे करते ।

दो दिन और दो रात हो गये। इस बीच कई बार ब्राह्मण घास डालने चला पर स्त्री ने रोक रखा। पत्नी की आज्ञा भंग कर दे, ऐसा वीर नर-पुंगव उस स्वर्णयुग में भी इस विशाल आर्यावर्त में मिलना कठिन था।

उन दिनों 'पांच बुद्धिमानों' का एक दल पृथ्वी पर पर्यटन करता था और लोगों के झगड़ों का निपटारा करता था। इन बुद्धिमानों की घ्राणेन्द्रिय इतनी तेज थी कि इन्हें झगड़े की गन्ध आ जाती थी और ये वहाँ तुरन्त पहुंच जाते थे। विप्र-वैश्य-विग्रह की गन्ध पा ये 'पाँच बुद्धिमान' वहाँ तुरन्त आ पहुँचे।

अब कुछ अश्रद्धालु लोग जो हर एक शास्त्र, पुराण, कथा में अविश्वास करते हैं और पूछ बैठते हैं कि 'मसक समान रूप कपिधरी' में जो यह कहा है गोस्वामीजी ने, कि हनुमानजी जब मच्छड़ बन गये, तो राम की दी हुई अँगूठी कहाँ रखी थी—कुछ शंका करेंगे कि ये पाँच बुद्धिमान किस वाहन पर तुरन्त पहुँच जाते थे। तो हमारा उत्तर यह है कि किसी आँख बन्द कर अक्षर-अक्षर करके दिन में एक चौपाई पढ़ने-वाले भक्त से ही पूछ लो कि राम लंका से अयोध्या कैसे आये। अब तो यह भी सिद्ध हो गया है कि दधीचि एक बड़े वैज्ञानिक थे और उनके पास 'एटम बम' का एक भारी कारखाना भी था— और जिस अस्त्र से असुर मारे गये वह अस्थि नहीं 'एटम बम' था। खैर !

ये पाँचों बुद्धिमान यूनानियों की न्याय की देवी के समान आंखों पर पट्टी बाँधे रहते थे, तथा एक-दूसरे की बात नहीं सुनते थे। चौरस्ते पर वणिक और विप्र अपना-अपना मामला लेकर इनके पास आये।

पाँचों में से प्रथम कट्टर आदर्शवादी, जो निरन्तर आकाश की ओर सिर उठाये रहता था, बोला—

"गाय के दूध के अधिकारी न तो तुम हो स्वर्णगुप्त वैश्य और न तुम हो ब्राह्मण देवदत्त। इस पर अधिकार उस बछड़े का है। ईश्वर ने माता के स्तनों में दुग्ध स्रवित करने का गुण इसलिए दिया है कि उससे शिशु का पालन हो। दुष्ट मनुष्य के लूटने के लिए वह नहीं है।"

कट्टर यथार्थवादी, जो पृथ्वी की ओर ही सिर झुकाये रहता था, बोला—

"नहीं-नहीं—असल में झगड़ा गाय का है। बहुत सरल मामला है। गाय के दो हिस्से करके एक वैश्य को और एक ब्राह्मण को दे दो।"

ब्राह्मण ने चौंककर कान पर हाथ रखे—शिव-शिव! गौ-हत्या का पाप ! घोर कुम्भीपाक नर्क जाना पड़ेगा। वैश्य भी सहमा !

तीसरा बुद्धिमान बोला, "नहीं-नहीं, यह वैश्य गरीब विप्र का शोषण करता है। श्रम बेचारा ब्राह्मण करे और उसका फल यह वैश्य भोगे। समाज में अनर्जित धन किसी को नहीं मिलेगा। सब दूध ब्राह्मण को मिलना चाहिए। इतना कह उसने अपनी लाल टोपी जरा सम्हालकर सिर पर जमायी। चौथा कुछ शान्त था। वह बोला, "भाई, उस दूध पर अधिकार विप्र देवता का है और न वैश्य का। गाय का

राष्ट्रीयकरण कर दो और दूध का उचित विभाजन कर दिया जाय।" इतना कह उसने भी अपनी आधी सफेद और आधी लाल टोपी सम्हाली।

पीली पगड़ी पहिने हुए पाँचवाँ बुद्धिमान बोला, "या गाय में बापरो बाम्हन को काई है। पैसो लग्यो बाणिया को—और दूध खाय यो बाम्हन। सब दूध बाणिया को है। बाम्हन कूं गोबर तो मिल जाय हैं।"

मामला कुछ सुलझा नहीं। चख-चख प्रारम्भ हो गयी। बुद्धिमान लोग आपस में गाली-गलौज करने लगे। प्रत्येक कहता था, मेरा सिद्धान्त ठीक है। वैश्य, ब्राह्मण और गाय बेचारी--सब यह नाट्य देख रहे हैं--अभी तक।

जनता की कष्ट-कथाएँ*

हमारा नेता जवाहर आज लन्दन में है। हवाई जहाज का इंजन उसे खींचकर परदेश ले गया। सुना तो होगा आपने कि वहाँ राष्ट्रसंघ के बड़े-बड़े महारथी जुड़ेंगे। वो अफ्रीका का प्राइम मिनिस्टर मलन भी आवेगा जिसने रंगभेद की घृणा का यम-दूतत्व अपने माथे स्वीकार किया है। उसके आते ही जवाहरलाल की लम्बी नाक लाल हो जावेगी, हो जानी चाहिए। जब भाषण शुरू होंगे तो कैनेडा के प्रतिनिधि को छींक आ जायेगी, आ जानी चाहिए। और तब यह भ्रम फैलेगा, फैल जाना चाहिए कि यह आयरलैण्ड के उन बमों का धड़ाका तो नहीं है कि जिन्होंने उसे इंग्लैण्ड से पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद करने की प्रेरणा दी। इसी वक्त चर्चा उठेगी, उठ जानी चाहिए कि बर्मा भी ब्रिटिश राज्य से अपना सम्बन्ध तोड़ चुका है। इस अवसर पर जवाहरलाल की नाक तनिक फूलेगी, फूल जानी चाहिए। और इसी समय पाकिस्तानी प्रतिनिधि ज़फरुल्ला खाँ की तकरीर सुनायी पड़ेगी कि पाकिस्तान और भारत की भलाई इसी में है कि वे ब्रिटिश राज से अपना सम्बन्ध बनाये रखें। इस वक्त जवाहरलाल की भौंह कुछ तनेगी, तन जानी चाहिए। वे सोचेंगे कि भारत? और कहेंगे कि बड़ी उलझन की बात है, कि जो सुलझती नहीं है, गो कि उसे सुलझना चाहिए मगर उलझती ही जा रही है कि हमारे बुजुर्गों ने यह कहावत कैसे बनायी कि साँप मरे न लाठी टूटे। वाक्य में स्थिति 'न' की स्थिति पर वे झल्ला उठेंगे, झल्ला पड़ना चाहिए और तब उन्हें लगेगा, लगना चाहिए, कि ये हवाई जहाज का इंजन उन्हें कहाँ ले जा रहा है—

पड़े गुनगुनाते थे लाला निरंजन
न आँखों में अंजन,

* प्रहरी, 24 अप्रैल, 1949

न दांतों में मंजन
छुटे हमसे अपने
वो अगले तरीके
कहाँ खींच ले जायगा हमको इंजन ?

आपने सुना कि अटलाण्टिक गुटबन्दियों ने रूस का मुकाबिला करने के लिए अपनी मिलिटरी की मोर्चाबन्दी की योजना प्रकाशित की है। कहते हैं कि सामना किया जायगा इटली, हालैण्ड और फरान्सीसी भूमि से गुजरती हुई एक कल्पित रेखा पर—फिर यदि पलायन का मौका आ गया तो तय किया गया है कि असली मोर्चा उत्तरी अफ्रीका में लिया जायगा। इसी मैदान में वारे-न्यारे होंगे।

आप कहेंगे कि लड़ाई तो आ ही गयी। जब जुझाऊ बाजे ही बजने लगे तो अब कसर ही क्या रह गयी ! परन्तु कभी ये भी सुना है आपने कि मोर्चेबन्दी की योजना पहिले ही से छापकर बाँट दी जावे। जी नहीं। तो फिर आप समझें कि ये अमेरिका-रूपी सेठ के डालरों को ठगने का तरीका है। लैण्ड-लीज़ पर अस्त्र-शस्त्र और सेना सज्जीकरण के लिए अन्य उपकरण खरीदे जायेंगे। और सेठ सोचता है कि चलो, इसी तरह सारे राष्ट्र हमारे कर्जदार होंगे। हमारा प्रभाव फैलेगा।

और अमेरिका भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेलता। उसने भी किताब छपाकर घोषणा कर दी है कि लड़ाई के शुरू में ही एटम बम का उपयोग किया जायगा रूस पर। चलने दो यारो, हम तो गाँधीजी के अनुयायी हैं सो अहिंसा के शस्त्र, तटस्थता की तोप और वाणी की बन्दूकों से सभी को परास्त करेंगे, करना ही चाहिए, और वैसे अपने जवाहरलाल ने कहा ही है कि पाँच बरस लड़ाई नहीं होती, सो बैठे नर्मदा तट पर भाँग घोटो।

कौन कहता है कि हम-तुम में लड़ाई होगी
किसी दुश्मन ने खबर यूं ही उड़ायी होगी।

भीगते बच्चे और सत्ता का मद*

सिद्धान्तहीन नेता नामधारी चापलूसों को गत 16 तारीख को ऐसा लगा कि नगर में आये हुए मन्त्रीजी को जो अनेक सलामियाँ उन्होंने दिलायी हैं, वे कुछ कम पड़ती हैं। इसलिए छोटे-छोटे निर्बोध बालक-बालिकाओं को इकट्ठा कर एक सलामी और दिलायी जाय। बस अफसरों से बात हो गयी—और ये अफसर ऐसे जो ढुलकने में

* प्रहरी, 30 अगस्त, 1949

मुरादाबादी लोटे को मात करें, जो पद के लिए सफेद टोपीवालों का सिजदा करें। जो मन्त्री की गुड बुक्स में आने के लिए बच्चों के गलों पर छुरी फेर दें। और बात हो गयी कुछ हेडमास्टरों से और ये हेडमास्टर ऐसे जिनमें अपना कोई सिद्धान्त नहीं, जो अफसर की खुशी के लिए दिन को रात कह दें, जिन्होंने 'यस सर' के अलावा और बोली ही नहीं सीखी। कुछ ऐसे जिनके मन में खामखाह नेता की पूंछ बनने की ओछी हवस, जो इस बात को लालायित कि हम मन्त्री से कह सकें कि 'हे प्रभु, वे हम ही हैं जिन्होंने आपको यह सलामी दिलायी है। खूब पहचान लीजिए। भूलियेगा नहीं।' और हमारा यह समाज---जैसे भेड़ों का झुण्ड। एक ने कहा, "सलामी होनी चाहिए" और सबने स्वर मिलाया— "होगी। होगी।"

इधर कांग्रेसी भैयों ने शुक्लजी से और माननीय मिश्रजी से समय भी तय नहीं किया, स्वीकृति भी नहीं ली और घोषणा कर दी—मन्त्रीजी राष्ट्रीय ध्वज फहरायेंगे --भाषण देंगे।

अफसरों का हुक्म ! मिनिस्टर का नाम। बेचारे शिक्षक-शिक्षिकाएँ 6 साल से लेकर ऊपर उम्र तक के बालक-बालिकाओं को एक बजे दिन से लाकर मूसलाधार पानी में खड़ा करने लगे—प्रान्तीय शिक्षण महाविद्यालय के मैदान पर।

छोटे-छोटे मासूम बच्चे-बच्चियाँ नगर के कोने-कोने से पैदल आये, ग्राउण्ड पर दो-तीन घण्टे खड़े रहे। वस्त्रों से पानी टपकता था। और यह हमारा देश ऐसा अभागा कि यहाँ एक के सिवा दूसरी जोड़ी कपड़ों की नहीं। शिक्षिकाएँ, किन्हीं-किन्हीं की गोद में 5-6 माह के बच्चे। हाय रे पेट !

ऊपर से पानी मूसलाधार। बच्चे भीग रहे थे—मास्टर की भृकुटि के नीचे तिल-भर न हट सकते थे। 'अनुशासन' और 'शो' के नाम पर छाते लगाने की मनाही, भागने की मनाही।

एक बार जब कुछ लड़कियाँ छाया में भागने लगीं तो एक स्वयम्भू आयोजक जो अकारण ही उत्साह बता रहे थे, फौरन जोश में बोलते हैं--"आप लोग राष्ट्र के लिए इतना-सा कष्ट नहीं उठा सकतीं ! जब देश के लिए प्राण देने का मौका आयगा तब...?"

फिरे दिमागवालों से कोई पूछता कि यहाँ प्राण देने का कौन-सा मौका था ? मन्त्री की सलामी में कौन-सा राष्ट्रहित निहित था ?

इस नाटक का अन्तिम लज्जाजनक दृश्य—तीन घण्टे तक दस हजार बच्चे जब भीग चुके तब घोषणा होती है कि मन्त्रीजी नहीं पधारेंगे।

झण्डोत्तोलन--राष्ट्रध्वज नहीं; कांग्रेस पार्टी का ध्वज—श्री हरिहर व्यास ने किया। पार्टीध्वज को राष्ट्रध्वज कहकर सलामी दिलाना तानाशाही की चरम सीमा है। सरकारी मैदान में पार्टीध्वज। कल कोई और पार्टी भी वहाँ लड़के इकट्ठे करके ध्वज फहराना चाहेगी। देखें सरकार का रुख इस वक्त।

निराश ठिठुरते हुए बच्चे घर चले। हमने देखा है—उनके मुख पर की निराशा करुणा, खीझ को।

कैसा निष्ठुर खेल और मिथ्या स्वाभिमान और हठ। माना कि कांग्रेसी लोगों ने मन्त्रीजी से स्वीकृति नहीं ली थी, पर क्या इन बच्चों का मन रखने के लिए वे पाँच मिनट के लिए 'मरकुरी' कार में वहाँ तक नहीं पहुँच सकते थे ?

कितने बच्चे बीमार हुए, कौन जानता है ? हजारों माताओं और पिताओं के हृदयों को कहीं कोई देख पाता ?

वकीलों का जुलूस एकाध बार निकालें तो हम भी देखें। डाक्टरों को इकट्ठा करके सलामी दिलवा लें—हम सराहना करें। नगर के प्रोफेसरों का जुलूस निकालें —हम मानें। सेठ-साहूकारों को लाइन बाँधकर 'सेल्यूट' लगवा दें तो हम समझें, अफसरों का इस तरह प्रदर्शन हो, कुछ प्रभाव भी पड़े पर हर बार सीधे, निर्बोध, निर्दोष बेचारे बच्चे ही मिल जाते हैं।

कैसे हैं वे शिक्षा-संस्थाओं के अधिकारी जो बिना विरोध के अपने बच्चों को इन 'टाम डिक हैरी' जापानी नेताओं को सौंप देते हैं ?

इस शर्मनाक काम के लिए जिम्मेदार 'हाफ लीडर' लोग जवाब दें— क्यों इन बच्चों के प्राणों से उन्होंने खेला ? क्यों भविष्य के नागरिकों को एक ही बार में छल, कपट, धोखा, अविश्वास सिखाया !

आपका भाग्य खुल जायगा !*

अगर आप जिन्दगी से निराश हो गये हैं तो हमारे आश्रम में मन्त्रों से सिद्ध की गयी सर्वफलदायिनी चमत्कारी कांग्रेसी टोपी लगाइए, आपकी सब मनोकामनाएँ पूरी होंगी।

इस टोपी को विधिपूर्वक पहिनने से जिसे आप चाहते हैं, वह, चाहे कितना ही कठोर दिल का क्यों न हो, फौरन चला आयगा। आपका नालायक बेटा ऊँची नौकरी पर लग जायगा, आपको हर चीज का परमिट घर बैठे मिल जायगा, आपका चपरासी भतीजा फौरन साहब बन जायगा; जहाँ से आपको एक पैसे का नमक उधार नहीं मिलता था, वहाँ से हजारों का माल मिल जायगा, इसके जादू से आप कालाबाजार करके भी बेदाग बचे रहेंगे, आपका बँगला बन जायगा, कार आ जायगी। बड़े-बड़े सेठ-साहूकारों में आपकी इज्जत होगी।

विधि—हमारे कारखाने की बनी हुई बगुले के रंग की खादी टोपी लेकर इतवार-बुधवार के दिन गुग्गल-लोभान की धूनी देकर इसको सिर पर धारण करें,

* प्रहरी, 6 नवम्बर, 1949

फिर किसी मिनिस्टर की सात परिक्रमा करके कम-से-कम तीन बड़े कांग्रेसियों को ब्रह्मभोज करावें। तदुपरान्त नितप्रति नहा-धोकर हाथ में मिठाई का दोना लेकर प्रान्ताध्यक्ष अथवा जिलाध्यक्ष के बबुअन को देने जावें। रात्रि को टोपी को निकालकर तकिया के नीचे धरकर सोवें, जिससे नोंक बनी रहे। साँझ-सबेरे सन्ध्या करें जिसमें मन्त्रिन की स्तुति करें। हर तीसरे महीने श्री द्वारकाधाम (राजधानी) की तीर्थ-यात्रा करें तथा सब मन्त्री देवन को भेंट चढ़ावें और आशीर्वाद लेवें। मान-पत्र और थैली भी देवें।

यह टोपी सब जगह हमारे एजेण्टों के पास मिलती है।

तीन कांग्रेसी एक धोती-कुरता

नाना वर्णों, नाना वेशों के, नाना वाहनोंवाले कर्मठ कांग्रेस-मेनों की एक भीड़ लगी थी। 'तमाशा घुसके देखे' की फिलासफी का आदी होने के कारण मैं भी होटल की एक बेंच पर बैठ गया और होटलवाले से कहा था कि जब मैं तुझे अखरने लगूँ तब तू एक कप चाय पिला देना ताकि मेरा यहाँ बैठने का अधिकार पक्का हो जाय।

कहते हैं यदुवंशियों का जब घमण्ड और बल बढ़ गया तब वे अत्याचार करने लगे और उनमें अन्तर-कलह उत्पन्न हो गयी। देखते हैं कांग्रेसियों को राजसत्ता मिली तब से उनका अन्याय, अत्याचार भी खूब बढ़ गया और आपस में दल बन गये। पुराण साक्षी है कि यदुपति कृष्ण ने स्वयं यदुवंशियों की समाप्ति करा दी आपस में लड़वाकर। हमारे जमाने का इतिहास अभी लिखना बाकी है।

यहाँ सुनने में आया कि दो दोस्त हैं—एक प्रगतिशील और दूसरा ढचर-ढचर घिसटनेवाला। ढचर-ढचर घिसटनेवाले दल से जबलपुर के प्रान्तपति बँधे हुए हैं जो अशान्ति का कारण कहा जाता है। यह भी सुना कि वे जगह-जगह कह गये कि देखना, खबरदार, चुनाव में फिर से प्रगतिशील दल न आने पावे।

और उनके भक्तों का भी क्या कहना! कैसी ईमानदारी बरती है कि चुनाव की लिस्ट में से विरोधीदल के सदस्यों के नाम ही काट दिये—चुपचाप।

एक आवाज आयी, 'देखा तुमने? नीचता की हार हो गयी। (×) ने तमाम हमारे लोगों के नाम गायब कर दिये।' कोष्ठक के स्थान पर एक शब्द प्रयुक्त हुआ जो कांग्रेसी लोग आपस में व्यवहार करते हैं पर मुझे कागज पर आँकने में शर्म आती है। यह शब्द बड़े निःसंकोच भाव से बल्कि गौरव से आपस में सम्बोधन के लिए काम

* प्रहरी, 28 मई, 1950

में लाया जा रहा था। बौद्धभिक्षु, आदर के लिए एक दूसरे को 'भन्ते' कहकर सम्बोधित करते हैं। कांग्रेसियों का यह शब्द भी ऐसे ही प्रयोजन के लिए होगा।

मेरे सचेत कानों में फिर झनकार पड़ी, "क्यों यार, तेरा नाम नहीं काटा गया?"

जवाब आया, "मेरा नाम कैसे कट सकता है? अरे मेरे जूतों का नाल कैसा कड़ा है! नरम तलोंवालों का नाम कटता है।" कहनेवाले कांग्रेसी ही थे। गाँधीवाद की परिणति इस 'गालीवाद' में देखकर मैं अत्यन्त क्षुब्ध हुआ।

मेरे एक मित्र मिल बैठे। बड़े सम्पन्न, बड़े कुलीन, बड़े शिक्षित, बड़े सुसंस्कृत, बड़े भले। कांग्रेस में इसलिए हैं कि प्रगतिशील तत्त्व को सपोर्ट करना है। पद की ओर नहीं देखते हैं। और इन्होंने मेरा परिचय कराया अपने एक मित्र से, जो सम्भवत: मन की ऐंठ मूँछों पर उतारा करते हैं।

दोनों मजा ले रहे थे इस खेल का। मैंने कहा, "आप दोनों नारदमोह के समय स्वयम्बर में उपस्थित हरि के जय और विजय गणों के समान हो। वे नारद की उछलकूद का आनन्द ले रहे थे, आप लोग इनकी।"

सामने की इमारत में पोलिंग अफसर बैठे थे, जिनका रिकार्ड अच्छा ही था। उम्मीदवार उनके पास जाते थे और वे उनकी जाँच करते थे, याने देखते थे कि खादी पहिने हैं कि नहीं।

गाड़ी की आड़ में आधे उघाड़े खड़े हुए एक कांग्रेसी ने अपने साथी को ललकारा, "अरे जल्दी ला, धोती-कुरता दे, मेरे को भीतर जाना है। कब से उघाड़ा खड़ा हूँ।"

मैं कुछ समझ न पाया। मेरे मित्र ने बताया कि ये कर्मठ कांग्रेसी हैं। और यहाँ पर दो-तीन कर्मठ कांग्रेसी थे—अपने बीच में एक जोड़ी खादी की पोशाक लाये हैं। एक जब हो आता है तो वही कपड़े निकालकर दूसरे को देता है और तब पोलिंग अफसर के सामने जाता है। कपड़ों की पुकार इसीलिए मच रही है।

इसी समय एक कांग्रेसी भीतर से घबड़ाये हुए यह कहते निकले—अरे, वहाँ तो बनियान तक देखी जाती है कि खादी की है या नहीं।

क्षण-भर हलचल मची और मेरे सामने ही अनेकों ने अपनी महीन बनियान निकालकर फेंकी।

इतने में दूसरे आये और बोले—अरे यार, वे तो बड़ा सख्ती कर रहे हैं। कहते हैं कि लँगोट तक खुलवाकर देखूंगा!

इधर फार्म भरे जा रहे थे। फार्म भर रहे थे मेरे वे मित्र लोग ही। उम्मीदवारों में दो के आगे दो शून्य लगानेवाले अधिकांश थे। प्रस्तावक और 'अनुमोदक' को गवाह कहते थे।

इसी समय एक कांग्रेसी ने कहा, "हाँ लिखो। तुम्हारा नम्बर 419 है।"

दूसरे हँसकर बोले, "इसके आगेवालों का 420 होगा।"

तीसरे मैन ने कहा, "अरे अलग-अलग नम्बर फिजूल रखे। सबका एक ही नम्बर अच्छा रहता— 420!"

भाषण का शौक*

भाषण का शौक भी बड़ा खतरनाक ! अनेक सुन्दर मुखों को हमने मंच पर चढ़कर काला पड़ते देखा है। और जैसे पतंगा हर बार जलकर फिर-फिर दीपक के आस-पास मँडराता है वैसे ही हर बार 'भदभदाकर' गिरनेवाले किसी-किसी वक्ता को हमने फिर-फिर मंच के आसपास मँडराते देखा है। मंच की मुहब्बत बड़ी उन्मादक !

तुलसी-जयन्ती का उत्सव, जिसमें तीन अच्छे विद्वान वक्ता बोलनेवाले थे। और वहीं एक मंच के आशिक भी बैठे हुए थे, जिन्हें मैंने हरिजन सभा के मंच पर छुमकते देखा; नारी समाज के प्लेटफार्म पर ठुमकते देखा, किसान सभा में गमकते देखा है, बाल-समिति, युवक सभा, और बुढ़ऊ सम्मेलन सबमें भभकते देखा है।

शहर में कहीं खबर लगी कि आज फलाँ जगह भाषण आदि हैं और उनका मन नहीं माना, खिंचते चले आये और इन्तजाम में मदद करने लगे— कुर्सियाँ जमाने की योजना बनाने लगे, टेबिल पर 'फ्लावरपाट' जमा दिये, यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ व्यस्त घूमने लगे। ऐसा लगा कि सारे कार्यक्रम का भार इनके ही माथे पर।

सभा आरम्भ हुई तो वे धीरे-धीरे सरकते-सरकते सभापति के पास आ गये और कहने लगे कि मैं भी दो शब्द कहना चाहूँगा।

पहले विद्वान वक्ता 'इन्द्रजी' ने भाषण दिया। कहा, "तुलसी के राम ने जन-जीवन के हर मोड़ पर एक प्रकाश-स्तम्भ स्थापित किया।"

दूसरे वक्ता बोले, "तुलसी के राम के आदर्श की डोरी ने डूबते हुए भारतीय समाज को उबार किया।"

तीसरे वक्ता 'महेशजी' बोले, ' तुलसी ने रुग्ण हिन्दू जाति को राम-रसायन की पुड़िया देकर प्राण-संचार कर दिया।"

अच्छा गम्भीर वातावरण था सभा का कि उत्साही वक्ता ने भी बोलने की आज्ञा प्राप्त कर ली और खड़े होकर भाइयो और बहनो की रस्म अदा करके कहने लगे—"अरे, और जैसा कि महेशजी ने कहा है तुलसी ने रुग्ण हिन्दू जाति को राम-रसायन का एक ही 'डोज' देकर प्राण संचार कर दिया और जैसा कि ब्रह्माजी ने कहा है, तुलसी के राम के आदर्श की रस्सी ने डूबते हुए भारतीय समाज को उबार लिया। और जैसा कि इन्द्रजी ने कहा है, तुलसी के राम ने जन-जीवन के हर मोड़ पर एक लालटेन खड़ा कर दिया। इतना कहकर मैं अपना स्थान ग्रहण करता हूँ।"

* प्रहरी, 29 फरवरी, 1951

कल्लू के जन्म का मरसिया*

पूरब में लाल सूरज निकल रहा था। कवियों को यह ललाई आह्लाद से उन्मत्त करती रही है--'आसमान से लाल शराब की बूंदें झर रही हों और जमीन एक-एक बूंद पीकर हर क्षण मस्त होकर झूम-झूम उठती हो' अथवा 'अज्ञात-यौवना उषा के हृदय में तारुण्य का प्रथम उन्मेष हुआ हो और लाज की लाली कपोलों पर फिर हो गयी हो।'···सुनता आया हूं, यह सब अनेक वर्षों से, अनेक तरह से, अनेक मूर्खों से। और सुना है जगत प्रातःकाल आशा, उत्साह, उमंग, प्रफुल्लता में नयन उघारता है।

लेकिन इस प्रभात का आकाश मानो खून के आँसू बहा रहा था। आसमान की ललाई में उषा सुन्दरी के कपोलों की लाज-लाली कहीं नजर नहीं आती थी। ऐसा लगता था कि आसमान रात-भर रोता रहा है, जिससे उसकी आँखें लाल हो गयी हैं, और पत्तों, दूबों पर पड़े उसके अश्रुकण ओस का भ्रम कराते थे। वातावरण में एक शून्यता थी, जैसे तूफान के पहिले छा जाती है। दिशाओं में एक भयोत्पादक शान्ति थी जो किसी अशुभ विनाश की आशंका से हृदय को एकाएक भर देती थी। जमीन पर यह कैसा प्रभात उतरा है; आज क्या होनेवाला है।

लेडी एल्गिन अस्पताल के जचकी गृह के बाहर दीवाल से कन्धा टिकाये एक अधेड़ आदमी खड़ा था। मैला-फटा कुरता और मैली धोती पहने था। कुरते में चार बटनों के छेद थे जिनमें से केवल तीन बटनें थीं और तीनों का अलग-अलग रंग था। धोती टाँग के पास से फटी जिसे वह परतों में दबाकर पहिने था। जब वह एक-दो कदम चलता तो छेद खुल जाता और उसकी जांघ लाज की जगह तक उघड़ जाती। बाल उसके बिखरे हुए थे, सूखे थे। दाढ़ी न जाने कब से नहीं बनी थी। आँखें सारी रात की नींद के बोझ को न संभाल सकने के कारण दबी-सी जाती थीं। कई लोग ऐसे होते हैं जिनमें करुणा स्वयं बैठकर रोती है, जो जाने क्यों आपके हृदय को बार-बार छेदने लगते हैं, जिन्हें देखते ही पहला विचार मन में यह उठता है कि इसके साथ बैठकर रो लिया जाय—ऐसे ही नयन थे वे।

वह दीवाल से टिककर खड़ा था और दीवाल से कान लगाये भीतर की कराह को सुन रहा था। भीतर से दीवाल चीरकर आनेवाली हर कराह पर वह स्वयं कराह उठता था। कराह की वेदना को आँखें मूंदकर वह न जाने कैसे झेल लेता था और हर धक्का उसे उस दीवाल से एक कदम दूर ढकेल देता था और फिर न जाने किस आकर्षण से खिंचकर वह फिर दीवाल में कान लगा देता था और दूसरी कराह की राह देखता था। पीड़ा से ऐसा प्रेम कभी देखा नहीं।

एक-दो बार कुत्ते उसके पास भौंककर चले गये थे। अगर कुत्ते आदमी को

* प्रहरी, 30 अक्टूबर, 1951

देखकर नहीं भौंकते तो इस आदमी में शायद उन्हें खोजने पर भी आदमियत नहीं मिलती है। एक-दो बार मैदान साफ करनेवाला मेहतर भी यहाँ से झाड़ता हुआ निकला और एक-दो झाड़ू उसे भी मारता हुआ चला गया, मानो वह कोई कचरे का ढेर हो जो व्यर्थ ही वहाँ पड़ा हो और उस अट्टालिका से मेल नहीं खाता। और, वह वैसे ही प्राणहीन-सा खड़ा था।

उसने बीड़ी जलायी। भीतर कराह बढ़ रही थी और हर कराह के साथ इसके चेहरे की वेदना का रंग गाढ़ा होता जाता था। वह तड़प उठता और बीड़ी के जोर-जोर से कश खींचने लगता।

भीतर उसकी पत्नी थी। रात को वह तड़पकर, बिछौने से गिर पड़ी थी। तभी से उसके रक्त-स्राव हो रहा था। रात को सब नर्सें और डाक्टर 'स्पेशल वार्ड' में इकट्ठे हो गये थे जहाँ शहर के रईस बैरिस्टर अग्रवाल की पत्नी को प्रसव हो रहा था। इसी बीच इस वार्ड में उस स्त्री की बेचैनी बढ़ी, सँभालनेवाला कोई था नहीं। वह भूमि पर गिर पड़ी और जब नर्सें 'बॉय' 'बॉय' चिल्लाती हुई इनाम लेकर लौटीं तो यह स्त्री खून के डबरे में बेहोश पड़ी थी। खीझ-भरी उन नर्सों ने उसे उठाकर बिछौने पर लिटाया; डाक्टरों ने एक-दो दवाइयाँ दीं। तभी से वह कराहती रही है; रात-भर उसकी आँख नहीं लगी। बीच-बीच में जब वह पीड़ा के आधिक्य से चिल्ला उठती तो आराम कुर्सी में सोती हुई नर्स आकर उसे डाँट की एक खुराक पिला जाती, "अरी सो क्यों नहीं जाती !" हुक्म लगाने पर नींद भी अगर दौड़ी चली आती तो कैसा अच्छा होता ? नर्स को बीमार स्त्री की नींद की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी अपनी नींद की। और रात-भर वह आदमी वहीं उसी दीवाल के सहारे खड़ा था। बीच-बीच में वहीं खड़े-खड़े उसकी आँखें झप जातीं और फिर भीतर की चीख से अथवा चीख के स्मरण से वह चौंक उठता।

रात को एक-दो बार उसे डाक्टर की झलक दिखायी दी थी और तब उसने व्याकुल होकर अपनी स्त्री का हाल पूछा था। एक बार डाक्टर ने कहा था—'शायद बच्चा मर गया है।' दूसरी बार कहा था—'बच्चा सबेरे तक हो जायगा।' तीसरी बार कहा था—'औरत के बचने की उम्मीद कम है।'

उसके दिमाग में रह-रहकर ये तीनों वाक्य आते थे। दीवाल से टिका वह सोच रहा था—'उस दिन ज्योतिषी ने पत्रा देखकर बताया था कि लड़का होगा। कैसा अच्छा हो अगर लड़का हो जाय ! तीन लड़कियाँ हैं : एक बेटे की बड़ी कमी है ! लड़का हुआ और अच्छा निकल गया तो घर में उजियाला कर देगा। बड़ा होगा; सब दारिद्र्य मिट जायेगा। कैसा अच्छा हो अगर ज्योतिषी की बात सच हो जाय। मैं अभी बताशे बटवाऊँगा ? लेकिन बताशे ? बताशे ?' वह न जाने कैसे रुक गया ! बताशे की मिठास में न जाने क्या कड़वाहट थी कि उसने उसके मीठे सपने को कड़वा कर दिया। वह उदास हो गया। सोचना जारी था—'बताशे ? लेकिन बताशे के लिए तो पैसे चाहिए ? और पैसे तो मेरे पास एक नहीं, फिर बताशे के लिए तो कहाँ से आवेंगे।' उधारी की सम्भावना पर बात छोड़कर वह

आगे बढ़ ही रहा था कि उसे याद आया—'लड़का होगा। घर में एक प्राणी और बढ़ जायेगा। उसको खाना चाहिए, कपड़े चाहिए, पढ़ेगा तो किताबें चाहिए, फीस चाहिए—आखिर यह सब कहाँ से आयेगा? महीने-भर खून सुखाता हूँ तब तो पाँच प्राणियों के पेट में इतना अन्न पड़ पाता है कि मौत नहीं आती। यह नयी मुसीबत—लड़कियों के पास एक के सिवा दूसरी साड़ी नहीं है। उन्हीं को सींकर बेचारी पहिनती हैं। मुहल्ले-पड़ोस की लड़कियाँ अच्छी साड़ियाँ पहिनती हैं? और ये बेचारी देखकर रोती हैं; साड़ी माँगती हैं। लेकिन मैं अभागा मन मसोस रह जाता हूँ। और अगर लड़का न हुआ लड़की हो गयी तो?' वह विकल हो गया। बार-बार प्रश्न उसे छेद रहा था—'अगर लड़की हो गयी तो? लड़की हो गयी तो? तीन तो अभी बैठी हैं। बड़ी की शादी का कोई प्रबन्ध नहीं हो पा रहा है। यह चौथी? इसकी भी शादी करना पड़ेगी—कहाँ से लाऊँगा रुपया— चार लड़कियाँ, अरे बाप रे!' उसके माथे में शूल चुभने लगे। उसे लगा, जैसे चार गरम छड़ें कोई उसके शरीर में चुभा रहा हो। उसका माथा भन्नाने लगा। उसकें विचार अब बहुत तीव्र हो गये—'यह ठीक नहीं! मैं मर जाऊँगा। चार लड़कियों का बोझ! लेकिन डाक्टर कह रहा था, शायद बच्चा पेट में मर गया है! कैसा अच्छा हो अगर बच्चा मरा निकले! जीवित बच्चा मुझे नहीं चाहिए। मरा बच्चा आधा गज कपड़े में निपट जायेगा। जिन्दा बच्चा जिन्दगी-भर की मुसीबत। हे भगवान! यह बच्चा मरा निकले। ज्योतिषी की बात झूठी हो जाय, डाक्टर की बात सही निकले! लेकिन—लेकिन—मैं बाप हूँ और बेटे की मौत की भीख माँग रहा हूँ! लेकिन नहीं, कुछ भी हो—मुझे बच्चा नहीं चाहिए। हे भगवान! इस बच्चे से मुझे बचाओ, हे भगवान! बच्चे का पाप हर लो।' इसी समय भीतर से चीख आयी। वह ध्यान से सुनने लगा। भीतर नर्सों और डाक्टर का कोलाहल गूंज रहा था। सोचने लगा—'शायद ये लोग बच्चा निकाल रहे हैं। लेकिन डाक्टर कहता था कि तुम्हारी औरत की बचने की उम्मीद नहीं है। तो क्या बच्चा मर गया तो वह भी मर जायेगी। दोनों मर जायेंगे। नहीं-नहीं, उसे नहीं मरना चाहिए—ये तीन लड़कियाँ अनाथ हो जायेंगी—20 साल से बेचारी मेरे साथ दुख भोग रही है। मुसीबत झेली है लेकिन कभी शिकायत नहीं की। नहीं, उसे बचा लो भगवान! लेकिन बच्चा अगर मर गया तो स्त्री बच नहीं सकती, ऐसा डाक्टर कह रहा था। तो क्या बच्चे के मरने के लिए उसका मरना जरूरी है। क्या यह नहीं हो सकता कि बच्चा मर जाय और वह बच जाय! क्या यह सम्भव नहीं है? तो मैं सह लूंगा—दोनों ही मर जायें! हे भगवान, तू दोनों को उठा ले! मुझे बच्चा नहीं चाहिए। मुझे वैसे ही मुसीबत काफी है। मेरे माथे से इन दो का बोझ कम कर भगवान!'

उसकी चेतना विलुप्त-सी होने लगी! वह अपनी ही निगाहों में गिर गया। उसकी आत्मा बार-बार उसे फटकारती थी, 'रे नीच! तू बच्चे और पत्नी की कैसी कामना करता है!' पर उसने तुरन्त इस आवाज को दबाया—'कोई हर्ज नहीं। मुझे मंजूर है—लड़का मर जाय, औरत भी मर जाय! और तीनों लड़कियाँ

भी मर जायें। कितना अच्छा हो, अगर एकाएक हैजे से मर जायें या घर गिर पड़े और चारों दब जायें! या शाम को तालाब में डूब जायें। मैं एकदम हल्का हो जाऊँ।'

वह पागल-सा हो गया। उसकी आत्मा उसे धिक्कारने लगी पिता के राक्षस बन जाने पर! पर वह पछता नहीं रहा था अपने क्रूर विचारों पर!

इसी समय दरवाजा खुला! एक नर्स बाहर आयी। वह दौड़ा गया और पूछने लगा—'डॉक्टर साहब?' नर्स ने बेमन से कहा—'लड़का हुआ'·· और आगे चल दी।

वह बड़ी उलझन में पड़ गया। क्या यहाँ सब लड़के एक-सरीखे नहीं होते? रात को एक लड़के का पैदा होना उसने देखा था, जब यही नर्स किलकारी मारकर 'बॉय-बॉय' चिल्लाती निकली थी जैसे उसी के लड़का हो गया हो! लेकिन इस समय उसने ऐसा कुछ नहीं किया! न किलकारी मारी; न कूदी। उदास मुख से 'लड़का' कहकर चली गयी! क्या हो गया? क्या यह दूसरे किस्म का लड़का है; वह दूसरे किस्म का? क्या यहाँ दो तरह के लड़के होते हैं! हाय रे अभागे! एक वह रात को हुआ था जिसने नर्सों को जन्मते ही खुशी से नचा दिया था, एक यह हुआ जिसने जन्मते ही नर्सों को उदास कर दिया। क्या दुनिया में आदमी जन्मते ही दो श्रेणियों में बँट जाता है? क्या एक की मौत भी उतनी दुखदायी नहीं होती, जितनी दूसरे का जन्म?

इसी समय नर्स ने आकर कहा—'तुम्हारी औरत मर गयी। उसे जल्दी उठाकर ले जाओ!' बेटे का बाप माथा पकड़कर बैठ गया। नर्स ने फिर फटकार लगायी—'बैठना क्या है, जल्दी औरत को उठाकर ले जा यहाँ से!'

आसमान से पानी की कुछ बूंदें टपकीं। उस गरीब की मौत पर आँसू बहानेवाला जमीन पर एक था, सो उसके आँसू सूख गये थे। आसमान से नहीं रहा गया, आँसू निकल पड़े।

लड़के ने पहला शब्द किया जिसमें नवीन जीवन की प्राप्ति की हिलोर नहीं थी; मौत की पहली हिचकी थी, जो आँख खोलते ही प्रारम्भ हो गयी। जिस स्तन से जीवन की पहिली धार वह चूसनेवाला था, वही खून सूख गया। अभागे ने आँखें खोलते ही अपनी माता को निगल लिया। उसके भाल पर दुर्भाग्य की रेखा ऐसी साफ उभली थी।

लड़के की माँ की लाश उठायी गयी और जला दी गयी। लड़का वहाँ रखा गया जहाँ बिना माँ के अनाथ बच्चे रखे जाते हैं और वहाँ पलता रहा। इसीलिए पाला गया कि वह जो उस समय सहज मौत मर रहा था, रोज जीकर मरने और मरकर जीने को बच जाय। एक किलकारी के बाद ही जिसके प्राण निकल सकते थे उसे इसलिए बचाया जा रहा था कि रोज वह मरे और रोज अपनी मौत आप ही मरे। उसको जीवन दिया जाने लगा, जिसका व्यर्थ जीवन इस मायने में कि वह मृत्यु को रोज टालते जाने का प्रयास मात्र।

और यही है वह मरसिया उस लड़के के जन्म का, जो आगे चलकर कल्लू

कहलाया और दस साल की अवस्था से एक कारखाने में लोहा काटने का काम कर रहा है। और यही मरसिया सहज ही उस लड़के के जन्म का मंगलगीत है जो पिछली रात को हुआ था और अब उस कारखाने का मालिक है।

पूंजीवादी अमेरिका की नैतिक पूंजी का दिवाला*

प्रसिद्ध विचारक तथा लेखक रसेल महाशय का कहना है कि जब कोई देश सभ्यता के शिखर पर पहुँच जाता है तब उस देश की स्त्रियों में काम-लिप्सा की वृद्धि होती है और इसके साथ ही राष्ट्र का अधःपतन प्रारम्भ हो जाता है। रसेल का कहना है कि इस समय अमेरिकन स्त्रियों में यह काम-लोलुपता अधिक दृष्टिगोचर होती है और 35 से 40 वर्ष की अवस्था की अमेरिकन स्त्री वेश्या का जीवन ग्रहण करना चाहती है, जिससे उसकी कामपिपासा शान्त हो। रसेल साहब के विचारों से रूढ़िवादी अमेरिकनों के विचार मेल नहीं खाते और अमेरिका तथा यूरोप में उनके आलोचकों की कमी नहीं है। उनके विचारों ने पश्चिम में एक क्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी है और जीवन की अनेक बातों की ओर एक नवीन दृष्टिकोण से देखना सिखाया है। यद्यपि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के विषय में उनके अपने स्वतन्त्र विचार हैं और एक अमेरिकन सम्भवतः उन पर कृत्रिम रोष भी प्रकट करे परन्तु अभी तक रसेल साहब ने अमेरिकन समाज की नैतिक स्थिति के विषय में जो कुछ कहा है, अक्सर सत्य ही पाया गया है। अमेरिकन स्त्रियों के नैतिक पतन की जो बात रसेल साहब ने कही है वह निर्मूल नहीं दिखती, क्योंकि अमेरिका की नैतिक स्थिति के विषय में हमें अन्य साधनों से भी कुछ इसी प्रकार की बातें मिलती हैं।

अभी कुछ महीनों पहिले समाचार पत्रों में एक आश्चर्यजनक समाचार छपा था कि 'हालीवुड' का एक अभिनेता इतना सुन्दर है कि उसे परदे पर देखकर अमेरिकन लड़कियां मूर्छित हो जाती हैं; तो लड़कियां उसे आसपास से घेर लेती हैं और इस बात की चेष्टा करती हैं कि उनका कोई अंग उससे छू जावे। और यदि किसी लड़की का कोई अंग उससे स्पर्श कर जाता है तो वह वहां पर एक कागज का टुकड़ा पिन से अटका लेती है जिस पर लिखा होता है —'Frankle touched me here.' (फ्रंकी ने मुझे इस स्थान पर स्पर्श किया)। इस प्रकार का 'सम्मान-पत्र' चिपकाये हुए वह लड़की अपने समाज में घूमती है और सबकी ईर्ष्या तथा आदर की पात्र बन जाती है। वास्तव में 'हालीवुड' तो अमेरिकन युवक-युवतियों का तीर्थस्थान-सा बन गया

* प्रहरी, 21 मार्च, 1954

है। वहाँ से निकलनेवाले चुम्बन, आलिंगन और कुत्सित प्रेम-लीला से भरे चित्र वासना को उभाड़ते रहते हैं। भारतवर्ष में भी इन गन्दी पाश्चात्य फिल्मों के प्रदर्शन के विरुद्ध आवाज उठ रही है। यहाँ पर यह कह देना असंगत न होगा कि हमारे कुछ भारतीय फिल्म निर्माता इन्हीं अमेरिकन निर्माताओं के पास अनैतिकता का पाठ पढ़कर उन्हीं के कदमों पर चलने लगे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि ये इस प्रकार बिना लगाम के न छोड़े जावें। इन पर प्रतिबन्ध हो और खूब कड़ा प्रतिबन्ध हो, ताकि ये लोग जनता के सामने कला के नाम पर 'कूड़ा-करकट' न रखें।

समय-समय पर अमेरिकन डाक्टरों तथा धर्माचार्यों के वक्तव्य निकलते हैं जिनमें इस बात का उल्लेख होता है कि विवाह के समय अधिकांश अमेरिकन 'कुमारियाँ' गर्भवती होती हैं। बेचारे समाज-सुधारक इस नैतिक ह्रास के लिए चिन्ता प्रकट करते हैं और कुछ लोग अब कहने लगे हैं कि गन्दी फिल्म और अधिक अवस्था में विवाह इस पतन के मुख्य कारण हैं। इसी प्रकार के विचार हिटलर ने भी अपनी 'मीन केम्फ' में प्रगट किये हैं और इस बात की सिफारिश की है कि आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि प्रत्येक जर्मन युवक जल्दी विवाह कर ले। नाटक और सिनेमा के विरुद्ध भी उसने बड़े उग्र विचार व्यक्त किये हैं।

यह तो मैंने ऊपर स्त्रियों की बात की। पुरुषों का यह हाल है कि अभी एक अमेरिकन जाँच कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई है जिसमें बताया गया है कि संसार के विभिन्न कोनों में ऐसे लाखों बच्चे हैं जो अमेरिकन पिता की सन्तान हैं। ये अमेरिकन पिता वे सिपाही हैं जो संसार के अन्य देशों में 'प्रजातन्त्र' और 'स्वतन्त्रता' की रक्षा के लिए गये थे और वहाँ गैर-कानूनी बच्चे उत्पन्न करने का कार्य कर रहे थे। क्या अमेरिकन सैनिक अधिकारियों ने इन सिपाहियों पर कोई रोकथाम लगाने की आवश्यकता ही नहीं समझी या अन्य देशों की नैतिकता का भी अमेरिकन 'डालर' से ही मूल्यांकन किया ?

अमेरिका में एक और अति घृणित प्रथा कुछ वर्षों से चल रही है और यह है 'Test-tube babies', अर्थात् कृत्रिम साधनों से सन्तान उत्पन्न करने की। यह क्रिया यूरोप के कुछ देशों में भी फैल गयी है, विशेषकर अंग्रेजों ने अपने समुद्र पार के चचेरे भाइयों से इसे सीख लिया है। सन्तान की इच्छा रखनेवाली स्त्री को किसी पर-पुरुष के पहिले से ही एकत्रित किये हुए वीर्य से गर्भ धारण कराया जाता है। इस प्रकार की क्रिया को 'वैज्ञानिक व्यभिचार' ही कह सकते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न सन्तान कई कानूनी गुत्थियाँ उपस्थित तो कर ही रही है, नैतिक दृष्टि से यह अत्यन्त घृणित क्रिया है और अमेरिकन पुरुषत्व के लिए बड़ी अपमानजनक है। इस प्रकार उत्पन्न बच्चा जब बड़ा होने पर अपने जन्म की कथा सुनेगा तब उसके विकास पर कितना बुरा असर पड़ेगा। और फिर यह भी सम्भव है कि एक ही पुरुष के वीर्य से उत्पन्न दो भिन्न-भिन्न स्त्रियों की सन्तानों में अनजाने ही विवाह भी हो जावे। यह विवाह 'भाई-बहिन' का विवाह ही हुआ और मानवता के लिए इससे बढ़कर लज्जा की बात नहीं है।

आज अमेरिका संसार का साहूकार बन रहा है और यूरोप के कई देश उसकी दी हुई 'रोटी' खा रहे हैं। एशिया में भी अमेरिकन डालर फैल रहे हैं। संसार के सबसे समृद्धिशाली देश का इस प्रकार अनैतिकता के गर्त में गिर जाना बड़ी बुरी बात है। इस बात को मानने से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि किसी भी उन्नत समाज में ज्यों ही विलासिता आयी त्यों ही उसका पतन आरम्भ हुआ। यदि रसेल साहब का यह कहना ठीक है कि अमेरिकन समाज उस स्थिति पर आ गया है जहाँ से पतन प्रारम्भ होता है तो उसके लिए यह बड़ी भयावह समस्या सामने है। देखें, वह किस प्रकार इसे हल करता है? देखें, साम्राज्यवादी अमेरिका को इस भयानक परिस्थिति में डालर कैसे बचाता है, इस नैतिक दिवाले से उसकी कैसे रक्षा करता है?

श्री वैशाखनन्दन नेता हो गयें!*

आवश्यकता है

सरकारी पांग्रेस पार्टी के लिए कुछ नेताओं की आवश्यकता है। नियुक्ति फिलहाल 6 वर्षों के लिए होगी। योग्यता प्रमाणित होने पर स्थायी रूप से नियुक्ति हो सकेगी।

योग्यताएँ

(1) कम-से-कम अपने गाँव या नगर की जनता को मूर्ख बना सकने की क्षमता।
(2) कालाबाजार, घूसखोरी, मुनाफाखोरी या इन्कमटैक्स चोरी में से कम-से-कम एक विद्या में निपुणता।
(3) चन्दा दे सकने और चन्दा खा सकने की क्षमता।

कार्य

(1) पाँच वर्षों तक ऊँचा हाथ करना।
(2) भाषण देना।
(3) बड़े नेताओं का आदर-सत्कार करना।
(4) भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देना।

* प्रहरी, 12 सितम्बर, 1954

आवेदन-पत्र प्रदेश पांग्रेस अध्यक्ष के पास तारीख 31.12.52 तक आ जाना चाहिए।

सही, (अध्यक्ष)
पांग्रेसाधिपति

'सत्यमेव जयते' वाले भारत 'दैट इज़ इण्डिया' नामक महाप्रदेश के एक नगर में वैशाखनन्दन नामधारी एक अत्यन्त निपुण सज्जन निवास करते थे।

उन्होंने विज्ञापन पढ़ा। प्रार्थना-पत्र का फार्म बुलवाया और भरा—

प्रार्थना-पत्र की सही नकल

(1). **नाम**—वैशाखनन्दन।

(2) **उम्र**—स्कूल-रजिस्टर के अनुसार 35 साल, कोटवार की किताब में 41 साल, अस्पताल में 50 साल।

(3) **शिक्षा**—मैट्रिक में 5 बार फेल। पंजाब विश्वविद्यालय से 100 रु. में बी. ए. का सर्टिफिकेट प्राप्त, जो बाद में पोल खुलने पर जब्त। विद्या के लिए हमारे इस त्याग पर ध्यान दिया जाय। जेल जाते-जाते बचे।

(4) **देशसेवा**—अँगरेज सरकार के जमाने में परम पूज्य स्वर्गीय पिता रायबहादुर थे। हमारे कलैण्डर पर पहिले पंचम जॉर्ज की फोटो छपती थी अब सन् 1947 से महात्मा गाँधी और जवाहरलाल की छपती है। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी 'रणवीर' को हमारे पिताजी ने ही गिरफ्तार करवाया था। आज तक किसी भी हड़ताल में हमारी दूकान बन्द नहीं रही। पांग्रेस को भी हमने चन्दा दिया था, पर गुप्त रूप से। अब हम खादी पहिनते हैं। हमने महात्मा गाँधी की आत्मकथा पढ़ी है। बहुत अच्छी किताब है। उसका 'सेल' अच्छा है। हमने एक बार उसे चोरी से छापकर बेचने की कोशिश की थी पर पकड़ गये तो सब प्रतियां जला देनी पड़ीं। लगभग बीस हजार का नुकसान हुआ। यह नुकसान हमने महात्मा गाँधी के लिए भोगा। इसलिए इसकी गिनती देशसेवा में होनी चाहिए।

(5) **जनसेवा** (1) हमारे कारखाने के मजदूर साल में एक-दो बार हड़ताल भी करते हैं। हम उन्हें कम वेतन देकर त्याग सिखाते हैं। देश को इस समय त्याग चाहिए। (2) हम लेन-देन भी करते हैं और अब तक प्यारे देशवासियों के लगभग 1000 हजार मकान और 10 हजार बीघा जमीन बेदखल कराके नीलाम करा चुके हैं। (3) दूकान पर 'धरम पेटी' रखी है जिसमें ग्राहकों से पैसा डलवाकर अपने नाम से धर्म करते हैं। (4) हमारे यहाँ कई मुनीम और मजदूर हैं जिनको नौकरी देकर हम भूखा मरने से बचाते हैं।

(6) **आर्थिक स्थिति**—यह नहीं बतायी जाती। इन्कमटैक्सवाले तंग करते हैं। व्यापारी की आमदनी वेश्या की उम्र-जैसी होती है। वैसे आपसे बाहर थोड़े ही हैं।

(7) **नैतिक स्तर** (1) कालाबाजार में एक बार जेल गये थे—फैसले की नकल नत्थी है। (2) कोई भी चीज़ हमारे यहाँ बिना मिलावट नहीं बिक सकती।

(3) हमारे यहाँ 200 रु. माहवार पर एक 'घूस विशेषज्ञ' नियुक्त है जिसका काम होशियारी से घूस देना है। ये घूस के मामले में 'डिसमिस्ड' एक्साइज इन्स्पेक्टर हैं।
(4) हमारे पास तीन ज़ोड़ी खाता-बही हैं।

(8) **अनुयायी**—साले लकड़े तक हमारी बात नहीं मानते ! पर हाँ, मुनीम लोग हमारे अनुयायी हैं। मजदूर तो हमारे बिल्कुल खिलाफ हैं।

(9) **भाषण कला**—ज़रा तुतलाकर बोलते हैं। कभी 10 से अधिक आदमियों से बात नहीं की।

(10) **महत्त्वाकांक्षा**—हम मन्त्री बनना चाहते हैं। हमें लोककर्म विभाग (पी. डब्ल्यू. डी.) के मन्त्री बनना है, क्योंकि हमें हमारे स्वर्गीय पिताजी का एक बड़ा स्मारक बनवाना है और शहर में दो-तीन हवेलियाँ खड़ी करनी हैं। यही हमारी लौ लगी है।

प्रदेश पांग्रेस कमेटी कार्यालय

पत्र संख्या··· ता.······

आपका प्रार्थना-पत्र स्वीकृत किया गया। आपकी योग्यता से कार्यकारिणी बहुत प्रभावित हुई। आपको विधानसभा के चुनाव के लिए पार्टी की ओर से टिकिट भी दी गयी है। आप अविलम्ब निम्नलिखित शर्तें पूरी करें—

(1) इन्कमटैक्स में से 50 हजार की रकम किसी संस्था को दान करके अखबारों में छपवाएँ।
(2) पांग्रेस फण्ड में 25 हजार रुपये दें।
(3) मेरे पुत्र के नाम से मैंने जो लिमिटेड कम्पनी खोली है, उसमें कम-से-कम 25 हजार रुपये के 'शेयर' खरीदें।
(4) पांच भाषण भेजे जा रहे हैं जिन्हें रटकर अपने मण्डलेश्वर को सुनावें तथा उनका इस विषय का प्रमाण-पत्र दफ्तर को भेजें।
(5) कम-से-कम 50 निठल्लों को चाय-नाश्ता कराना आरम्भ करें और उन्हें आस-पास हिलगाये रहें।

नोट—इस सब खर्च के लिए आपको परेशान होने की जरूरत नहीं। यह सरकारी दल है। इस दल के विधान की धारा 121-अ के अनुसार दल के किसी नेता को इन्कमटैक्स नहीं देना पड़ता। इस सम्बन्ध में इन्कमटैक्स अफसर को हिदायतें इस दफ्तर से भेजी जा चुकी हैं।

आप कम-से-कम 6 माह के लिए एक दैनिक या साप्ताहिक पत्र शुरू करें, जिसमें आपकी फोटू, गुणगान और वक्तव्य छप सकें।

अपने निम्नलिखित चित्र उतरवाकर तुरन्त कार्यालय भेजें—
(अ) माला पहिनकर हाथ जोड़े हुए।
(ब) हाथ में कुदाली लेकर जमीन पर मारते हुए।
(स) मजदूर के बच्चे को गोद में लिये हुए।

(ड) भिखारियों को भोजन बाँटते हुए।
(इ) लाउडस्पीकर के सामने खड़े हुए।

सही, पांग्रेसाधिपति।

बाल-बाल बच गये !*

मोटर दुर्घटना से ?

रेल दुर्घटना से ?

तिमंजले से गिरने पर ?

नहीं, उपमन्त्री होते-होते बाल-बाल बच गये ! और बार-बार बच गये।

न जाने इस मध्यप्रदेश की राजधानी नागपुर में कौन ऐसा भूत बैठा है कि हर 4-6 महीनों में खबर उड़ा देता है कि अब 6 उपमन्त्री नियुक्त होनेवाले हैं। अखबारों में छप जाती है और राज्य के सैकड़ों एम. एल. ए. महीनों तक हनुमानजी के बायें पैर का सिन्दूर कण्ठ में लगाते हैं ! जो मूर्ख है वह समझता है कि मैं शायद इसीलिए ले लिया जाऊँ कि 'सबतें भले विमूढ़, जिनहिं न व्यापै जगत गति', जो धूर्त है वह समझता है कि राजनीति और धूर्तता का शिष्य और गुरु सम्बन्ध है, जो व्यापारी है वह समझता है कि इतने बड़े राज्य में लाखों रुपये के काम होते हैं, मुझे ही इस पद के योग्य समझा जायगा।

ब्राह्मण समझता है कि मैं इसलिए ले लिया जाऊँगा कि ब्राह्मण हूं और अब्राह्मण समझता है कि मैं शायद इसीलिए ले लिया जाऊँ कि राज्य के राजा कम-से-कम एक बार जातिवाद के दोष से बचना चाहेंगे।

एक किस्म के नेता होते हैं—'खानदानी नेता !' खानदानी पटवारी, खानदानी पुरोहित की तरह ये भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी होते जाते हैं ! पटवारी का बेटा 'खसरा-जमाबन्दी' सीख लेता है और बाप की जगह सँभाल लेता है। पण्डित का बेटा संकल्प का मन्त्र और सत्यनारायण की कथा सीखकर बाप के यजमानों को सँभाल लेता है। हमारे यहाँ नेता पिता का बेटा नेता हो जाता है।

खानदानी नेता की बात निराली होती है। देवमूर्ति जिसके ऊपर लदी है उस बैल-जैसी दण्डवत उसे पहिले-पहिले मिलती है। फिर आसपास कुछ लोग इकट्ठे हो जाते हैं, जो बैल को 'नांदिया' बना देते हैं—उसकी पूजा होने लगती है ! यह इस तरह होता है—'भैया सा'ब ! फलाँ स्कूल में आपका भाषण जमा दिया है ! भैया

* प्रहरी, 21 नवम्बर, 1954

सा'ब ! शिकारी क्लब में आपको सभापति बनवा दिया है। भैया सा'ब ! व्यापारी मण्डल के अध्यक्ष बन गये आप। भैया, नारी-मण्डल में भाषण जमवा दिया आपका। भैया, चोर सम्मेलम के सभापति हो गये आप !' और खानदानी नेता, कला, संस्कृति, साहित्य, व्यापार, कृषि, विज्ञान और सन्तति शास्त्र पर समान अधिकार से nonsense बोलने लगता है।

बात उपमन्त्रियों की हो रही थी। ऐसे खानदानियों को सबसे अधिक विकलता होती है, जब उपमन्त्रियों की खबर छपती है। जब किसी हलक़े का पटवारी मरता है या नया पटवारी नियुक्त होना होता है तब पुराने पटवारी का सीखा-सिखाया बेटा ही तो दौड़ लगाता है कि मुझे जगह मिल जाय !

तो साहब, 6 बार ऐसा हो चुका है इस अभागे प्रान्त में कि अनेक उम्मीदवार उपमन्त्रियों के बिस्तर कई बार बँध गये और कई बार खुल गये। खानदानी नेताओं की बात और दर्दनाक है !

खानदानी नेता के पास अगर आप पहुँच जायें और कहें—'भैया सा'ब, ये अखबार में खबर छपी है कि आप उपमन्त्री हो रहे हैं !' तब भैया सा'ब एकदम गम्भीर हो जायेंगे। दिन-भर से उस खबर को शहद लगाकर चाट रहे होंगे पर उस समय बिल्कुल अनजान बनकर कहेंगे—'कहाँ ? कहाँ छपी है ? मुझे तो इस बारे में कुछ नहीं मालूम ! मुझसे तो नागपुर में किसी ने पूछा नहीं !'

और अगर आपकी पत्नी भीतर जायें, याने नेता की पत्नी के पास, तो देखेंगी कि बहुत से पापड़ बन रहे हैं। वह पूछे—'काए बाई सा'ब, इत्ते पापड़ काये के लाने बन रये ?'···तो बाई सा'ब कहेंगी—'काए तुमका सोउत रहथ हो ? जिमाने-भर में खबर फैल गयी कि बाबू डिप्टी मिनिस्टर होवे बारे हैं, सो अब नागपुर जाकै रहने पर है। साथ ले जाबे के लाने पापड़ बन गये हैं।'

5-6 बार इस तरह पापड़ बनकर बरबाद हो गये हैं। हे नागपुर के देवताओ ! अब तो बुला लो तुम परमधाम को !

बाल-बाल आखिर कौन बच गये !

भैया सा'ब की लिमिटेड कम्पनी के 4 लाख के शेयर अब डेढ़ लाख के रह गये हैं—भैया सा'ब ने कम्पनी की जब यह दुर्गति कर दी है तो राज्य की जिम्मेदारी इन्हें जरूर ही मिलनी चाहिए। और वकील साहब एक संस्था के मन्त्री थे तब कहते हैं हजारों का गोलमाल हो गया था। मुकदमा चल रहा है—ये भी राज्य की जिम्मेदारी के योग्य प्रमाणित हो गये ! इसी तरह काका सा'ब, बाबू सा'ब, भैया सा'ब आदि का हाल है।

वैसे ही हम बहुत पीड़ित हैं। ये सब हो जाते तो क्या हाल होता ?

तो अब यह सब हल्ला-गुल्ला हो जाता है और ये सब लोग appoint नहीं होते, बल्कि disappoint होते हैं। तब बाल-बाल कौन बच जाते हैं ?

निश्चय ही, हम प्रजाजन 5-6 बार बाल-बाल बच गये।

साहित्य के अमृत-घट में राजनीति का घासलेट !*

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बात इस बार करनी है। 'गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।' तुलसी की प्रसिद्ध उक्ति है जिसमें 'शब्द' और 'अर्थ' की अभिन्नता का रूपक साधा है महाकवि ने।

और हमारे इस जमाने में महासेठ ने साधा है 'गिरा' और 'अर्थ' के परस्पर विपरीत होने का रूपक—'हिन्दी साहित्य सम्मेलन।'

बात समझाऊँगा। मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन जिसका नाम है उसमें 'हिन्दी' इतनी है कि वह हिन्दी के नाम पर चलता है और 'साहित्य ?' जहाँ साहित्य की बिल्कुल बात न हो, जो असाहित्यिक है—(व्यक्ति और बात), उसी का सम्मेलन ! बहुव्रीहि समास का विग्रह कर यों कह सकते हैं—

'जहाँ से हिन्दी साहित्य निष्कासित कर दिया गया हो—सो हिन्दी साहित्य सम्मेलन !'

गोंदिया जाकर जब हमने अकोला की दूकान की 'गोंदिया ब्रांच' का उद्घाटन देखा तो तय किया कि 'न गंगदत्तों पुनरेति कूपं !'

'ह्याँ की बातें तो यहि छोड़ों, अब आगे का सुनो हवाल।'

दुर्ग सम्मेलन में 'सरकारी' स्वयंभू साहित्यिकों ने प्रस्ताव रखा कि साहित्य सम्मेलन एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करे। किसे ?

बख्शीजी को ?

नहीं, उन्हें नहीं। उन्होंने तो जीवन-भर साहित्य के लिए ही घोर तप किया है। फकीरी स्वीकारी है।

पण्डित माखनलालजी को ?

नहीं, उन्हें भी नहीं ! उन्होंने तो इस प्रदेश के जीवित साहित्यकारों में सबसे अधिक वर्ष साहित्य-सृजन को दिये हैं।

इन दोनों तथा अन्य अनेक साहित्य-साधकों को साहित्य सम्मेलन अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट नहीं करेगा। वे तो निरे साहित्यकार हैं बेचारे !

फिर किसे ?

प्रान्त के मुख्यमन्त्री पण्डित रविशंकर शुक्ल को उनकी सेवाओं के लिए।

हमने मान लिया, पण्डितजी ने हिन्दी के चरणों में माथा झुकाया है—सेवा की है। वे वयोवृद्ध हैं। उनका असम्मान हमें भी स्वीकार नहीं। पर साहित्य सम्मेलन 'साहित्य'-सेवा के लिए अभिनन्दन करना चाहे तो किसका करेगा ? शुक्लजी का ?

* प्रहरी, 19 दिसम्बर, 1954

या चतुर्वेदीजी व बख्शीजी का ? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं शुक्लजी से किसी ईमान-दारी के निर्मल क्षण में पूछ लीजिए—उत्तर उनके अपने पक्ष में बिल्कुल न होगा।

शुक्लजी का प्रधानतः राजनैतिक जीवन है। राजनीति में सेवाएँ हैं। जो उनकी 'सेवा'-'सेवा' की पुकार लगाते हैं और इस कारण उनके सिर पर साहित्य का मुकुट धरना चाहते हैं, वे इस बात को समझें कि राज्य की राजगद्दी पर इतने वर्षों तक बिठा देना उनकी समस्त सेवाओं का अधिक पुरस्कार है ! बस ! इससे अधिक नहीं।

कोई भी मुख्यमन्त्री डाक्टर रघुवीर को सरकारी पैसे से शब्दावली निर्माण के लिए बिठा सकता है।

कोई भी मुख्यमन्त्री हुक्म दे सकता है कि फलाँ तारीख से शासन का काम हिन्दी में हो।

यह राजभाषा का सवाल है। कोई भी सरकार इसे करेगी। यह उसका कर्तव्य है। उसके लिए अभिनन्दन ग्रन्थ नहीं अर्पित किया जाता। मुख्यमन्त्री पद इस सबका यथेष्ठ से अधिक पुरस्कार है।

शुक्लजी के प्रति हमारे मन में फिर भी कोई असम्मान नहीं। हमें अच्छा लगता अगर वे कह देते कि नहीं, अभिनन्दन करो उनमें से किसी का जिन्होंने अपनी रक्त की हर बूंद से साहित्य का सृजन किया है। पर पण्डितजी बहुत 'भोले' हैं। होंगे साहब !

तो दुर्ग की बात सुनिए। 'शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ' का प्रस्ताव आया। किसी ने 'माखनलाल अभिनन्दन ग्रन्थ' का प्रस्ताव रख दिया। इस तरह जन्म-भर साहित्य-सेवी की और जन्म-भर राजनीतिसेवी की टक्कर करा दी—साहित्य सम्मेलन में ही ! बात टाली गयी और निर्णय किया गया कि कार्यकारिणी इसका निर्णय करेगी।

इस बीच में अभिनन्दन के उत्साहियों ने तिकड़म जमाना आरम्भ किया। उत्साहियों के उत्साह की भी व्याख्या करना पड़ेगी और इस उत्साह-नद के उद्गम को खोजना पड़ेगा।

बात सीधी है। 'पण्डित नेहरू के बाद कौन ?' के 'माडल' पर मध्यप्रदेश में 'पं. शुक्ल के बाद कौन ?' चल पड़ा है; खासकर उनकी दिल्ली में बीमारी के बाद (वे चिरायु हों !) और साहित्य-सम्मेलन के सभापति अपने को शुक्लजी का निकटस्थ, कृपापात्र, विश्वासपात्र, उत्तराधिकारी बनाने में संलग्न हैं। इस अभि-नन्दन ग्रन्थ की सीढ़ी पर चढ़कर शुक्लजी की कृपा के शिखर पर चढ़ना चाहते हैं। उन्हें मुख्यमन्त्री बनना है भाइयो ! यह तो हुआ उद्गम इस 'अभिनन्दन-उत्साह-नद' का।

अब इसमें नाले भी आकर मिल गये हैं—

अखबार में सरकारी विज्ञापनों के स्वार्थ का नाला !

ऊँची सरकारी नौकरी का नाला !

पुरस्कार का नाला !

ठेके का नाला !

इन्कमटैक्स-बचत का नाला !

भ्रष्टाचार-दोष-मुक्ति का नाला !

आदि । और यह नद बड़े वेग से बदबदाता हुआ आगे बढ़ रहा है ।

कार्यकारिणी की बैठक तक 'उत्साहियों' ने माखनलाल अभिनन्दनवाले प्रस्ताव को वापिस करा लेने का प्रबन्ध कर लिया था ! बैठक में वह वापिस हो गया । और शुक्लजीवाला मंजूर हो गया । पर इसके बाद माखनलालजीवाले प्रस्ताव के जनक प्रस्ताव-वापसी का स्पष्टीकरण करने खड़े हुए कि उनके नाम से धन नहीं मिल सकता, इसलिए साहित्यकारों का अभिनन्दन करना कठिन है ।

अतएव मुख्यमन्त्री का ही अभिनन्दन करना चाहिए, क्योंकि उनके नाम से धन मिल सकता है ।

धन्य है !

पर वे यह भी बोले कि माखनलालजी के लिए तो मैं ही 10 हजार रुपये इकट्ठे करा सकता हूँ ।

तो सभापतिजी बोले—'मैं 15 हजार देता हूँ, मेरा ही अभिनन्दन करा दो !' धन्य है कुबेर !

याने साहित्यकारों के नीलाम के लिए बोलियाँ लगने लगीं । सेठ सभापति की बोली सबसे ऊँची होने ही वाली है । माखनलालजी हार गये ।

पर छीछालेदर हो गयी । साहित्य के अमृत-घट में राजनीति का घासलेट बेचनेवालों ने गत कर दी ! उनके नादान दोस्तों ने भी !

और अब सम्पादन-समिति बन गयी है भाइयो !

महाजनी सभ्यता के इस युग में अब अभिनन्दन कराना बहुत सहज हो गया है । आप 10-15 हजार रुपये लेकर सम्मेलन के पास जाइए, वह आपका अभिनन्दन कर देगा । मन्त्री हो गये तब तो यह कीमत दूसरे ही पटा देंगे । अगर आप साहित्यकार हैं तो आपका अभिनन्दन नहीं होगा, क्योंकि आपके पास पैसा है न आपको कोई पैसा देगा !

गोंदिया सम्मेलन में अपनी 35 वर्षों की तपस्या की दुहाई देकर 'सेठ-मन्त्री' को सभापति बनाने के लिए झोली में 'वोटों' की भीख बटोरनेवाले श्रद्धेय पं. माखनलाल चतुर्वेदी को यह लेख सग्लानि, सरोष, सादर समर्पित है ।

और हिन्दी के साहित्यकारो !

'मोर भवन' की ईंटों को चाटो और साहित्य-सृजेताओं का अनादर होते देखो !

इस प्रकार 'सियावर रामचन्द्र की जय' हो गयी ।

कांग्रेस, सेठ और समाजवाद !*

'भारत में समाजवादी व्यवस्था कायम होगी।'...

एक दिन पण्डित नेहरू ने यह बात कह ही दी।

और कांग्रेस में आजकल 'नेहरू फैशन' चल रहा है। नेहरू जाकेट, नेहरू गुलाब की कली, नेहरू का रोष, नेहरू की नाटकीयता, नेहरू के शब्द !

बस दूसरे दिन से कांग्रेसजनों ने वाक्य को प्रतिध्वनित करना आरम्भ कर दिया। प्रदेश के सभासदों ने कहा, विधान सभाइयो ने कहा, मण्डलेश्वरों ने कहा, सेठ कांग्रेसी ने कहा, गबडूनन्दन ने कहा, भगडूराम ने कहा—समाजवाद ! समाजवाद !

समाजवाद, याने क्या चीज? यह किसी को नहीं मालूम। पण्डित नेहरू ने कहा है, वही जानें। हमने कौन खुद कहा है ! इस प्रकार समाजवाद की बात चल पड़ी है।

इसके बाद ही कांग्रेस के चुनाव होने लगे और समाजवाद को खुलकर खेलने का मौका मिल गया। कल-परसों एक उपचुनाव में एक व्यक्ति जीत गया और कांग्रेस महासमिति का सदस्य हो गया। हमने चौराहे पर सुना कि लो फलाँ सेठ की जीत हो गयी ! वह आदमी, जो जीता, वह तो सेठ नहीं है। पर उसकी जीत किसी सेठ की जीत कहलायी, इसका क्या रहस्य है ? जीतनेवाले का अपना कोई नाम नहीं, उसकी जीत अपनी कोई जीत नहीं। उसका अस्तित्व सेठ के पेट में लुप्त हो गया। यह 'सह-अस्तित्व' के सिद्धान्त का पालन भी हो गया।

बात को और समझने की जरूरत है। क्या कारण है कि लोग जीतते जाते हैं और उनकी जीत कभी इस सेठ की जीत कहलाती है कभी उस सेठ की जीत। समस्या सरल है। मूल रहस्य यह है कि अभी जो कांग्रेस कमेटियाँ बन रही हैं वे ही आगामी आम चुनावों में टिकिट देंगी। इसलिए जिसका बहुमत अभी हो गया, उसको टिकिट मिल गया ! इसी सूत्र पर कांग्रेस के चुनाव हो गये।

और सुना जाता रहा कि फलाँ सेठ ने इतने सदस्य बना लिये हैं—4 हजार रुपये पास से शुल्क देकर, और फलाँ सेठ की दूकानें तो गाँव-गाँव फैली हैं। हर गाँव में उसके सदस्य बन रहे हैं। अर्थशास्त्र में इसे मोनोपली कहते हैं।

जितना माल बाजार में है, वह सब जब एक सेठ खरीद ले और फिर मनमाने दाम पर बेचे, तब यह उसका मोनोपली ट्रेड कहलाता है। कांग्रेस के मेम्बर अब बाजारू माल हो गये हैं जिन्हें कभी यह सेठ खरीदता है कभी वह सेठ। और इनकी कीमत ? आठ आना नग !

आप इसे दुर्भाग्य की बात कहेंगे। आप शर्म करेंगे कि आखिर आदमी आठ आने

* प्रहरी, 16 जनवरी, 1955

में बिकने लगा है ? पर यह सब कांग्रेसी समाजवाद है। कांग्रेसी समाजवाद में मनुष्य 'कच्चा माल' होता है, जिसे सेठ खरीदकर पक्का माल बनाकर बेचता है जिससे उसे लाभ होता है! जैसे वह अन्य व्यापार में रुपये लगा देता है वैसे ही 4-6 हजार कांग्रेस के मेम्बर बनाने में लगा देता है—यह उसकी लागत (इनवेस्टमेण्ट) है। इससे आगे चलकर उसे लाभ होता है—वह संसद या विधानसभा का सदस्य बनता है, उसे ठेके मिलते हैं, उसका आयकर बचता है।

पण्डित नेहरू तो रोज ही समाजवाद का नारा लगाते हैं। पर समाजवाद को अमल में लाने का काम करते हैं, यही कांग्रेसी व्यापारी! इस प्रकार जब सब मनुष्यों की नीलामी हो जायेगी तब सच्चा समाजवाद कायम हो जायेगा। परन्तु पण्डितजी घोर आशावादी हैं। वे इसी कांग्रेस के बल पर समाजवाद लानेवाले हैं। याने वे भेड़ियों को अहिंसा सिखानेवाले हैं, उन्हें घास चरना सिखानेवाले हैं, उन्हें भेड़ों पर दया करना सिखानेवाले हैं! दुनिया में क्या चमत्कार नहीं होते ?

अब समाजवाद आ रहा है। बेकारी बढ़ रही है, लोग या तो रिक्शा चलाना सीख रहे हैं या भूखा मरना! विदेशों में हमारी वाह-वाह हो रही है, देश में हाय-हाय मची है। धीरे-धीरे भारत के नागरिक रिक्शावाले या भिखारी हो जावेंगे—याने सब एक ही आर्थिक स्तर पर आ जावेंगे। यही समाजवाद है—आर्थिक समानता!

आप अगर कहीं यह सुन लें कि बीड़ी सेठ जीत गये हैं तो विचलित न होइए। यह कांग्रेस की समाजवाद की योजना के अनुसार ही हो रहा है।

एक दिन सेठ लोग सरकार से मंजूरी ले लेंगे कि हमारे आदमियों के गाल पर हम अपनी सील लगायेंगे; जैसी नगरपालिका के बैलों के पुट्ठों पर होती है। हर एक की सील रजिस्टर हो जायेगी। और आप किसी भी कांग्रेसी के गाल की सील को देखकर ही जान पावेंगे कि वह किस सेठ के फिरके के हैं। आखिर कांग्रेस का चुनाव-चिह्न बेमतलब तो नहीं है।

तो समाजवाद आ रहा है। तैयार रहना पड़ेगा। कहीं ऐसा न हो कि हमारे ही ऊपर आ धमके। समाजवादी ठप्पे से बचना युगधर्म है भाइयो!

फिर अली-आलिया !*

बेचारे मोहम्मद अली कहीं के नहीं रहे। पहिले राजदूतों की नियुक्ति करते थे, अब खुद दूसरे के हुक्म से जा रहे हैं। और पाकिस्तानी औरतें उनके पीछे हाथ धोकर पड़ गयी हैं, सो अलग।

* प्रहरी, 4 सितम्बर, 1955

कुछ समझ में नहीं आता कि आखिर बेचारे ने एक और सुन्दर लड़की से शादी करके क्या गुनाह कर लिया। पाकिस्तान की एक स्त्री, बे-ब्याही तो रही नहीं। अगर एक और 'एक्सट्रा' रख ली तो क्या हर्ज है। पर इस पूरे मामले में स्त्री और पुरुष की ईर्ष्या काम कर रही है। जब मोहम्मद अली ने उस सुन्दरी से शादी की तो पाकिस्तान के मन्त्रियों और नेताओं को आग लग गयी। आग लगने की बात ही है। वे सब टापते रह गये और मोहम्मद अली ने नवोढ़ा सुन्दरी से परिणय कर ही लिया। बस उसी दिन से मोहम्मद अली के खिलाफ षड्यन्त्र शुरू हो गये और आखिर उसे उखाड़ फेंका। इस सब उलट-फेर में लोगों को राजनीति दिखती हो तो दिखे, हमें तो यही नजर आता है कि पुरुष की ईर्ष्या के कारण हुआ यह सब काण्ड।

उधर स्त्रियों की भी ईर्ष्या जागी। पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री मोहम्मद अली की पत्नी बनना कोई कम गौरव की बात तो है नहीं। कल तक जो सेक्रेटरी थी, वह एकदम पत्नी बन गयी और हवाई जहाज में बैठकर कान्फ्रेन्सों में जाती रहती है। इससे पाकिस्तानी स्त्रियों को ईर्ष्या होना स्वाभाविक ही था। इसीलिए उन्होंने आन्दोलन कर दिया और बेचारे मोहम्मद अली को इस कदर बदनाम कर दिया कि जैसे वह इस्लाम का सबसे बड़ा दुश्मन हो। लेकिन मोहम्मद अली प्रेमवीर निकले। सबकुछ छोड़ दिया, पर आलिया को नहीं छोड़ा। ठीक ड्यूक आफ विण्डसर की बगल में बैठने योग्य हैं।

सेक्रेटरी की बात निकली तो कई किस्से याद आते हैं। सेक्रेटरी और साहब के सम्बन्ध से कोई चौंकता नहीं है। कितने बड़े-बड़े लोगों ने अपनी सेक्रेटरी से शादी की है। शादी नहीं की तो भी शादी में कोई कसर थोड़े ही रह जाती है। पश्चिमी देशों में बड़े-बड़े नेताओं, अफ़सरों और मन्त्रियों की पत्नियों से कोई पूछे कि दुनिया में अगर एक व्यक्ति को मारने का अधिकार उन्हें दे दिया जाय तो वे किसे मारेंगी? तो 100 में से 100 ये कहेंगी—'मेरे पति की सेक्रेटरी को।'

एक साहब दफ्तर से लौटे तो उनकी पत्नी ने कहा, 'डियर, तुम्हारी सेक्रेटरी के बाल बहुत मुलायम और सुनहरे हैं।' साहब ने पूछा, 'तुमने कैसे जाना?' और पत्नी ने कोट की कालर पर से 2-3 बाल उठाकर बतला दिये।

कभी-कभी बड़ी निर्दोष भूल भी हो जाती है। एक बार एक अमेरिकन उद्योगपति भारत आये। उनके साथ में उनकी पत्नी थी। भारत के एक अफसर को उनका परिचय देते हुए वे बोले—This is my wife who is acting as my Secretary also.' (ये मेरी पत्नी हैं, जो सेक्रेटरी का काम भी कर रही हैं।) अब उक्त अफसर उनका परिचय अन्य लोगों से कराने लगे तो बोले—'This is his Secretary who is

acting as his wife also' (ये उनकी सेक्रेटरी हैं जो पत्नी का काम भी कर रही हैं।)

इसलिए अगर अली ने आलिया से विवाह कर ही लिया तो यह बात अधिक नीति-संगत हो गयी। और पाकिस्तान की नारियों को गर्व करना चाहिए कि उनके यहाँ के नर ने विदेश की एक कुमारी को विजित तो किया।

'अघोर भैरव' तो यही कहता है कि त्रिपुर सुन्दरी ने जिस रूप में तुझे मोहित किया है, उसी रूप में उसे ग्रहण कर। और मोहम्मद अली 'अघोर भैरव' का सच्चा शिष्य सिद्ध हुआ, इसकी प्रसन्नता है।

लेकिन नारी का क्या करोगे? वह तो आन्दोलन करेगी ही। अब तो वे यहाँ तक आन्दोलन कर रही हैं कि मोहम्मद अली को अमेरिका में राजदूत नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि इससे देश की तौहीन होगी। तौहीन क्यों होगी? कहती हैं इसलिए कि जिस दूतावास में आलिया एक मामूली क्लर्क थी, उसी में वह राजदूत की पत्नी होकर रहेगी?

पर इसमें तौहीन कहाँ हुई? तौहीन तो तब होती जब मोहम्मद अली अभी तक उससे विवाह नहीं करते। अमेरिकावाले धिक्कारते कि पाकिस्तानी भी कितने मुर्दा-दिल हैं। पाकिस्तानी बीवियाँ अमेरिका को जानती नहीं हैं। अमरीकी उपन्यास पढ़ें तब जानेंगी कि जब तक किसी बड़े आदमी की एक-दो रखैल नहीं होतीं तब तक वह इज्जतदार नहीं माना जाता। अमेरिकावालों को तो अली का यह काम बड़ा अच्छा लगेगा।

लेकिन अब इतना पक्का हो गया है कि आलिया आइन्दा मोहम्मद अली को महिला सेक्रेटरी नहीं रखने देंगी।

और आओ बेटा हिन्दुस्तान में !*

एक जर्मन युवक है। वह साइकिल पर विश्व-भ्रमण करने निकला है। कई देशों से घूमकर आ रहा था।

भारत आया। यहाँ अस्पताल में मरहम-पट्टी करवा रहा है।

साइकिल से गिरा नहीं वह।

वह तो चला जा रहा था कि लुटेरों ने उसे घेर लिया, लाठियों से मारा और उसकी साइकिल, कैमरा तथा रिवाल्वर छीन ली।

* प्रहरी, 30 अक्टूबर, 1955

और आओ बेटा हिन्दुस्तान में !

और अब जाकर यूरोप में कहना कि हिन्दुस्तान तो लुटेरों और जंगली लोगों का मुल्क है।

जब तुम साइकिल पर इंग्लैण्ड से गुजरे होगे तो अंग्रेज युवतियों ने तुम पर फूल बरसाये होंगे। फ्रान्स से जब निकले होगे तो राह के दोनों और फ्रेन्च युवतियाँ हाथों में बिस्कुट लिये खड़ी होंगी और तुमने चलते-चलते किसी-किसी के हाथ से बिस्कुट लेकर मुँह में रख लिया होगा।

और भारत आये तो तुम्हारा सबकुछ छीन लिया गया और मार पड़ी सो अलग !

यह पंचशीलवाला महान् देश है प्यारे ! इसकी संस्कृति की पूँछ आदिमयुग तक फैली है।

तुम्हारे तन के घाव जल्दी अच्छे हो जावेंगे, पर मन का घाव बहुत मलहम-पट्टी लेगा। अच्छा हो जायगा तब तुम समझोगे कि यहाँ लुटेरे-ही-लुटेरे नहीं हैं। यहाँ असल में लुटेरों और भले आदमियों का सुन्दर सहअस्तित्व है।

बुखार आ गया*

भैरव समाचार लाये हैं कि अमेरिका के राष्ट्रपति आइसनहावर को बुखार आ गया है और विदेशमन्त्री फास्टर डलेस को जुकाम हो गया है।

वाशिंगटन से प्रकाशित एक अविश्वस्त विज्ञप्ति में कहा गया है कि सरकारी डाक्टर Mr. Twentieth Century fox ने कल दोनों राजपुरुषों की डाक्टरी जाँच की। तत्पश्चात् पत्रकारों के साथ हुई एक मुलाकात में कहा—

मैंने प्रेसिडेण्ट आइस की ध्यान से जाँच की। वे हाल ही के हुए हृदय रोग के दौरे से कमजोर हैं ही, इसलिए वातावरण में तनिक परिवर्तन से ही उन्हें बुखार आ जाता है। इस समय भारत से जो वायु बह रही है उसमें अमेरिकन ज्वर के कीटाणु हैं। बुल्गानिन, ख्रुश्चेव और नेहरू के शान्ति और मित्रता के उद्गारों के वातावरण में मिलने से एक विशेष प्रकार की गैस बनती है, जिसके शरीर में प्रवेश करते ही हर अमेरिकन को बुखार आ जाता है। इस समय प्रेसीडेण्ट के सिवा अमेरिका के लगभग सब उद्योगपति ज्वर से पीड़ित हैं। शान्ति और मित्रता इन लोगों की तासीर के प्रतिकूल पड़ती है।

फास्टर डलेस के जुकाम के कारणों पर प्रकाश डालते हुए डाक्टर फाक्स ने

* प्रहरी, 4 दिसम्बर, 1955

कहा है कि डलेस साहब का स्वास्थ्य तब से बड़ा खराब हो गया है जब से जिनीवा में चाऊ-एन-लाई की लताड़ के कारण वे भाग खड़े हुए थे। तभी से उन्हें बुरे-बुरे सपने आने लगे हैं जिनमें चाऊ-एन-लाई दिखते हैं और डलेस साहब एकदम चीखकर उठ बैठते हैं। अभी जो जुकाम हो गया है, उसका कारण यह है कि भारत से जो शान्ति के कबूतर उड़ाये गये हैं उनके पंख फड़फड़ाने से तमाम वायु में जुकाम के कीटाणु पैदा हो गये हैं। यही वायु फास्टर साहब की नाक में प्रवेश कर गयी है, जिससे जुकाम हो गया है।

बीमारी के उपचार के सम्बन्ध में डाक्टर फाक्स ने यह नुस्खा बतलाया है—

(1) रात को सोते समय दोनों के तकियों के नीचे एक-एक एटम बम रख दिया जाय, जिसकी गर्मी से रोगियों को लाभ पहुँचेगा।

(2) इस बात की सावधानी रखी जाय कि उनकी दृष्टि में कोई कबूतर नहीं आ जाय, नहीं तो मानसिक प्रतिक्रिया के द्वारा बीमारी के बढ़ने की सम्भावना है।

(3) रूस ने जो हाल ही में बम-विस्फोट किया है, उसकी खबर उन्हें न दी जाय, वरना बीमारी एकदम बढ़ जायगी।

(4) उन्हें किसी प्रकार यह विश्वास दिलाने की कोशिश की जाय कि बुल्गानिन और ख्रुश्चेव को पण्डित नेहरू ने वापिस भगा दिया।

(5) रोज शाम को रोगियों को पण्डित नेहरू की अमेरिका यात्रा की फिल्म दिखायी जाय।

(6) उनसे बातचीत करनेवाला कोई भी आदमी अपने मुख से 'शान्ति' शब्द का उच्चारण न करे और केवल 'युद्ध-युद्ध' शब्द उच्चारित करनेवाले रिकार्ड बनवाकर उनके सामने बजाये जावें।

भैरव से यह हाल जानकर हमें बड़ी चिन्ता हुई।

हमने भी अपना कर्त्तव्य पूरा किया। एक विशेष भैरव के हाथ यह नुस्खा भेजा—

'दोनों रोगियों को काँच के घर में निवास कराया जाय। उनके पास पत्थरों का ढेर रख दिया जाय और कहा जाय कि सामने के मकान पर पत्थर फेंको। जब पत्थर फेंक चुकें तब कबूतर की विष्टा की धूनी देकर दोनों को सुला दिया जाय। सात दिन यह क्रिया करने से आराम हो जायगा।'

स्वागत की विडम्बना*

बैतूल का समाचार है। उपमन्त्री गुमास्ता साहब पंचायतों के पंचों के सामने भाषण करने गये।

सब इन्तजाम हो गया। सैकड़ों पंच आनेवाले थे। लेकिन जब गुमास्ता साहब पहुँचे तो कुल 5-6 पंच उपस्थित थे। पंच लोग उपमन्त्री का भाषण सुनने आखिर नहीं आये।

लेकिन अधिकारी लोग बड़े चतुर निकले। उन्होंने झट स्कूल बन्द करवाये और शिक्षकों को ले जाकर बिठा दिया। सब जगहें भर गयीं। शिक्षक लोग पंचायत के पंचों के स्थानों पर बैठे और फिर प्रस्ताव-पर-प्रस्ताव पास होने लगे।

सब प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुए। जहाँ पंच ही नहीं थे वहाँ पंचायत सम्बन्धी प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गये।

और हमें एक अखबार में यह पढ़कर बड़ा मजा आया कि एक अफसर की इसलिए तारीफ हुई कि उन्होंने बड़ी चतुराई से काम लिया और पंचों की जगह शिक्षकों को बिठाकर स्थिति को सँभाल लिया। याने शुद्ध घी के नाम से डालडा बेच देनेवाले सेठ की जो तारीफ होती है वही तारीफ पंचों की जगह शिक्षकों को बिठा देने से अफसर की हुई।

अफसरों को इसका अभ्यास हो गया है। उन नेताओं के स्वागत में जिन्हें कोई सुनना नहीं चाहता, अफसर लोग लड़कों और शिक्षकों को इकट्ठा कर देते हैं। वे जानते हैं कि समाज शिक्षा केन्द्र में स्वागत के दिन हाजिरी शून्य से किस प्रकार सौ तक चढ़ाई जाती है।

आजकल भाषण सुनने को कोई खाली नहीं है और भाषण-युग की पैदाइश इन नेताओं का मन बिना भाषण दिये मानता नहीं है। यहाँ जबलपुर की तिलकभूमि तलैया में बेचारे दिन-भर घोषणा करके सभा बुलाते हैं तो 25 आदमी पहुँचते हैं। इसलिए उस दिन तरण-तारण जयन्ती में हजारों की संख्या में नर-नारियों को देखकर नेताओं का मन हरा हो गया। कुछ ऐसा लगा जैसे भूखे आदमी के सामने छप्पन प्रकार के भोजन रखे हों। बस उस दिन कई नेताओं ने अपने मन की हविश निकाल ली। उस दिन उन्हें खुशी के मारे नींद नहीं आयी होगी।

इन नेताओं से अधिक भीड़ तो वह चौराहे पर खड़ा होनेवाला साँप और बिच्छू दिखाकर दवाई बेचनेवाला जोड़ लेता है।

तिलकभूमि में तो जिस दिन लाउडस्पीकर लगते दिखते हैं वहाँ रोज बैठनेवाले भी अन्यत्र भाग जाते हैं। एक दिन एक पार्टी के लोग शाम के 6 बजे से 7.30 बजे तक लाउडस्पीकर लगाये बैठे रहे। श्रोता नदारद। एक नेता हमारे पास आकर

* प्रहरी, 25 दिसम्बर, 1955

कहने लगे—'इस जनता को क्या हो गया है। लोग आते ही नहीं हैं।'

हमारे पास बैठे एक आदमी ने कहा—'आप लोग ये लाउडस्पीकर-चोंगे निकाल दो। इन्हें देखकर ही लोग नहीं आते। जब कुछ आदमी सहज ही यहाँ आकर बैठें तो एकदम भाषण शुरू कर दो। धोखे से पकड़ो जनता को!'

गणतन्त्र का तोहफा*

गणतन्त्र का 6वाँ वर्ष भी पूरा हुआ।

अपूर्व सफलता का सेहरा जबरदस्ती हमारे सिर बाँध गया!

समाजवादी ढंग की रचना की घोषणा हो गयी। केवल घोषणा हो गयी, याने कांग्रेस के वैज्ञानिकों ने सुख का कृत्रिम सूरज बनाकर अवाड़ी में दिखाया और फिर जवाहर जैकिट की जेब में रख लिया, ताकि जनसभाओं में जेब में से निकालकर दिखाया जा सके।

पण्डित नेहरू की विदेश यात्रा हुई और भारत शान्ति का मसीहा बन गया। दुनिया में शान्ति कायम कर रहा है!

घर में शान्ति की जरूरत नहीं है। बाहर देश का नाम ऊँचा होने से उस देश के आदमी को भूख नहीं लगती। इसलिए जब-जब पण्डित नेहरू ने शान्ति-यात्रा की तब-तब इस देश के गरीबों को अजीर्ण हो गया!

प्रातःस्मरणीय, सुनामधन्य, गौभक्त सेठ रामकृष्ण डालमिया आखिर गिरफ्तार हुए। जिन्दगी में हमारे लिए ऐसे खुशी के दिन कम उगे।

कम-से-कम 20 वर्षों के लिए पूंजीपतियों को अभयदान दे दिया गया!

सेठ ब्रिजलाल बियाणी न्याय-देवता की कृपा से गलत चुने जाकर भी 4 साल तक मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री बने रहे और शुक्लजी की कृपा से 6 माह और बने रहेंगे।

सेठ गोविन्ददास मालपाणी के हाथ से इस बार गौमाता की पूंछ छूट गयी और भोपाल राजधानी बनते ही अभिनन्दन के बादल मूसलाधार बरसने के बदले रिमझिम करने लगे!

भारत के प्रजातन्त्र के देवदूत ठाकुर कैलाशबक्शसिंह गौर के मुख पर हाईकोर्ट ने काफी गहरा काजल चुपड़ा।

महाराष्ट्र सर्वहारा और गुजराती पूंजीपतियों का बम्बई के लिए जो मैच हुआ

* प्रहरी, 22 जनवरी, 1956

उसमें रेफरी पण्डित नेहरू ने धाँधली करके गुजराती पूंजीपतियों को जिता दिया। ढेबर भाई की जय हो गयी!

राजगोपालाचारी और राजकुमारी की टी. बी. के टीके पर ठन गयी और राजाजी ने नारी के सामने आत्मसमर्पण कर दिया।

बैंक कर्मचारियों को कांग्रेस के समाजवादी ढंग का धोखा दे दिया गया। नयी रचना आरम्भ हो गयी।

दिल्ली में पीलिया फैल गया और पूंजीपतियों ने कहना शुरू किया कि ख्रुश्चेव के तीखे वाक्यों से इस रोग के कीटाणु फैले।

गरीब और दुबला हुआ। धनी और मुटाया।

और इस तरह गणतन्त्र का छठवाँ वर्ष समाप्त हुआ। सफल हुआ।

अनेक वर्ष ऐसे ही आते रहें और इसी तरह चलता रहे। मन्त्रियों की संख्या बढ़े, शोषण के नये तरीके निकलें, कांग्रेसी बैल के सींग और नुकीले हों, भ्रष्टाचार दिन-दिन बढ़े, गुण्डागिरी पनपे, विधानसभा सदस्यों का भत्ता बढ़े, पुलिस को नींद की दवा वितरित हो।

कुल्हाड़ी के बेंट*

स्वामी कृष्णानन्द (सोख्ता नहीं 'धब्बा') याने भूतपूर्व छोटेलाल मास्टर, वर्तमान एम. एल. ए.।

और खूबचन्द सोंधिया याने भूतपूर्व सोंधिया मास्टर और वर्तमान संसद-सदस्य।

दोनों ने कुल्हाड़ी के बेंट का काम किया, अपने ही वंश पर कुठार चलाया।

सागर के शिक्षक-दिवस की बात है कि शिक्षकों की एक सभा में भाषण में दोनों ने कुछ इस प्रकार के उद्गार व्यक्त किये—

'शिक्षकों का वेतन क्यों बढ़ाया जाय? वे क्या करते हैं? दिन-भर ऊँघते रहते हैं।'

दोनों ही पहले शिक्षक थे। दोनों ही ऊँघते रहे और ऊँघते-ऊँघते एक संसद के सदस्य हो गये और दूसरे हो गये विधानसभा के सदस्य! कांग्रेस में ऊँघनेवालों को ही पद मिल जाता है, क्योंकि अगर जाग्रत हुआ तो गड़बड़ करेगा, एकदम हाथ ऊँचा नहीं करेगा। इसीलिए दोनों ऊँघने की जय बोलते हैं—और संसद तथा विधान-सभा में ऊँघते रहते हैं।

* प्रहरी, 22 जनवरी, 1956

कुल्हाड़ी बनवाकर लकड़हारा जब वन में वृक्ष काटने पहुँचा तो उसके सामने अजब उलझन आयी कि इस कुल्हाड़ी से वृक्ष कटेंगे कैसे ? उसी समय बाँस ने कहा, 'मुझे कुल्हाड़ी में फिट करो और प्रहार करो।'

बाँस का बेंट कुल्हाड़ी में लगाकर लकड़हारे ने वृक्षों पर प्रहार किया और थोड़ी देर में बाँस ने अपना सारा वंश कटवा दिया।

शासन के लकड़हारे ने जब शिक्षक को शोषण की कुल्हाड़ी से काटने का काम आरम्भ किया तो कृष्णानन्द और सोंधिया झट बेंट बनकर लग गये।

राजनीति के छल-कपट, झूठे सदस्य बनाने के प्रपंच, पाखण्ड, क्षुद्रता और शोषण में लिप्त कांग्रेसी पदधारी क्या समझें कि शिक्षक का वेतन क्यों बढ़ाना चाहिए ! और वे क्यों चाहें कि शिक्षक खुशहाल हो ? शिक्षक खुशहाल होगा तो पढ़ाई अच्छी होगी, पढ़ाई अच्छी होगी तो देश की जनता समझदार होगी, और अगर जनता समझदार हो गयी तो बैल छाप में कौन वोट डालेगा ? और बैल छाप में वोट नहीं पड़ेंगे तो स्वामी और सोंधिया जैसे गोस्वामी मेम्बर कैसे होंगे।

इसलिए अज्ञान तेरी जय ! पाखण्ड तेरी जय ! कुल-नाश-धर्म तेरी जय !

सन्त राजेन्द्रप्रसाद*

एक भैरव ने खबर दी कि भारत के राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद अब सन्त हो गये हैं।

हमने पूछा, 'कौन वे कहा सन्त हो गये हैं ?'

वह बोला, 'गुरुदेव, 50 साधू राष्ट्रपति भवन पहुँचे, उनको तिलक किया और बोले आप सन्त हैं।'

मैंने पूछा, 'फिर सन्त ने उनसे क्या कहा ?'

भैरव बोला, 'उन्होंने कहा होगा, हम सन्त तो तुम महन्त।'

और हमारी जबान से बेसाख्ता तुक मिल गयी—

'हा हन्त !'

भैरव चौंका। बोला, 'महाराज, इसमें हा हन्त की क्या बात हो गयी ? जैसे आप सन्त हैं वैसे ही वे भी।'

हमने समझाया, 'वत्स, भारतभूमि पर सन्तों का भार बहुत बढ़ गया है।

* प्रहरी, 4 मार्च, 1956

राजर्षि, तपस्वी, धेनु-सेवक और वृषभ-सेवक इन सबसे वैसे ही काफी परेशानी थी, अब राजेन्द्रप्रसाद सन्त हो गये। अब तो और मुश्किल है। हमें तो तभी बड़ा अजब लगा था जब डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने राष्ट्रपति होने पर, पहली तनखाह मिलने पर ही उसमें से शेरवानी बनवायी थी। अब टीका लगवा लिया और सन्त बन गये।'

भैरव को कुछ अच्छा नहीं लगा। वह बोला, 'महाराज, इससे तो हमारे वर्ग को बड़ा लाभ होगा। साधुओं, सन्तों, महन्तों को और राज-समर्थन मिल गया। अब तो सब खेत अपना है, मजे में चरेंगे। तमाम लोग हल्ला मचा रहे थे कि साधु लोग बोझ हैं, मुफ्त का खाते हैं। अब राष्ट्रपति ने टीका लगवा लिया है, हमारे समर्थक हो गये हैं। इसलिए हम भी राज-पुरोहित, राज-सन्त, राजर्षि हो गये।'

दूसरे भैरव ने शंका की, 'महाराज, लेकिन यह धर्मनिरपेक्ष राज्य है। राजा किसी धर्म का पक्षपात नहीं कर सकता। अब कल अगर मौलवी लोग गये और कुरान पढ़कर कहा कि आप पीर हो गये; तो ? फिर पादरी लोग गये और कहा कि आप छोटे पोप हो गये, तो ? फिर जैन गये और बोले कि आप मुनि हो गये, तो ? और कहीं फिर बौद्ध भिक्षु पहुँच गये और कहा कि आप तो 'भिक्खु' हो गये, तो ? फिर क्या गत होगी डॉक्टर साहब की ?'

मैं जवाब दे नहीं पाया था कि एक भैरव बोला, 'महाराज, पिछले कुम्भ में राष्ट्रपति वहाँ न जाते तो क्या कुछ बिगड़ जाता ?'

मैंने समझाया, 'पगलो, यह सब उसी मायाविनी की क्रीड़ा है जो डॉक्टर साहब पण्डे-पुरोहितों के चक्कर में फँसे हैं। अरे, बाबा तुलसीदास कह नहीं गये हैं—'तव माया बस जीव गुसाईं। नाचत नर मरकट की नाईं।'

नये कोतवाल को आशीष*

शहर में नये कोतवाल आये हैं, ऐसी खबर लाकर एक भैरव ने सौंपी।

मैंने पूछा कि इनके गुण वर्णन करो तो भैरव बोला, 'महाराज, ये राजवंश को सुशोभित करते हैं। ये अभी हाल में ही इंग्लैण्ड भी गये थे शिक्षा प्राप्त करने। और स्काटलैण्ड यार्ड से वे अपराधी पकड़ने की कला में दक्ष होकर आये हैं। वे अपने जमाने में हाकी के बड़े अच्छे खिलाड़ी रहे हैं महाराज !'

भैरव ने विरुदावली बन्द की तो मैंने सोचा कि नये अफसर को आशीर्वाद देना

* प्रहरी, 25 मार्च, 1956

चाहिए। इस हेतु हमने भैरव के द्वारा निम्नलिखित सन्देश भेजा जो सर्वजन हिताय 'प्रहरी' को प्रकाशनार्थ भेजा—

नये कोतवाल, अघोर भैरव का घोर आशीर्वाद लो। तुम्हारी योग्यता के गुण भैरव-भैरवियों ने गाये, सो सुनकर प्रसन्न भये। तुम हाकी के खिलाड़ी उस नगर में आ गये हो, जिसमें जुआ का खेल होता है। इस खेल की कला वैसे तो हर खुश-हाल पुलिसवाले को आती है, पर कोतवाल को तो उसमें दक्ष होना चाहिए। इसलिए हे आयुष्मान, तुम फड़ों की रक्षा करना। इन फड़ों में मामूली आदमी नहीं खेलते, राजपुरुष खेलते हैं—एम. एल. ए. खेलते हैं। सो तुम छेड़ना मत। उनकी रक्षा के लिए 2-4 सिपाही नियुक्त कर देना। अगर तुमने उनके इस राजकर्म में बाधा की तो वे मुख्यमन्त्री से शिकायत करेंगे और तुम्हें डाँट पड़ेगी।

हे आयुष्मान! तुम चाहो तो तुम्हें आमदनी भी हो सकती है। शिकायत करने आये तो डाँट-फटकारकर भगा दिया करो।

जब कोई वकील रात को 1 बजे किसी की जमानत दिलाने पहुँचे तो मना मत करना, नहीं तो उसकी रोजी मारी जायगी।

यहाँ 2000/- में हत्या और 500/- में चोरी हो जाती है—वकीलों, मजिस्ट्रेटों और पुलिसवालों के साझे से। सो कुछ योगदान करना भाई!

अगर तुम इस सीख पर ध्यान दोगे तो तुम 7-8 साल यहाँ रहोगे और तरक्की होगी, जैसी मध्यप्रदेश में सब अफसरों की होती है।

स्काटलैण्ड यार्ड की ट्रेनिंग भूल जाना मेरे भाई! अघोर भैरव के आशीर्वाद लो।

पूर आया है!

पैसे का पूर आया है, मध्यप्रदेश सरकार के खजाने में। मल्टी-परपज स्कूल, समाज कल्याण विभाग, विकास विभाग, प्रौढ़ विभाग को भरपूर रकम मिली है।

दो-चार अधिकारी अघोर भैरव से मिले। कहने लगे, 'महाराज, बड़ी मुसीबत है। लाखों रुपये दे दिये गये हैं कि मार्च के अन्त तक सामान खरीदो। अब हम बड़ी उलझन में हैं कि इतने पैसों का क्या करें? क्या खरीदें? कैसे यह पैसा खतम हो?

हमने कहा, 'वत्स, नर्मदा में डाल दे।'

वे बोले, 'महाराज, नर्मदा मैया रसीद थोड़े ही देंगी। हिसाब में रसीद लगाना पड़ेगी।'

तब हमने कहा, 'वत्स, बाजार में जाकर व्यापारी लोगों से कहो कि हमें इस

मुश्किल से उबारो। इतने रुपयों का सामान दो। और तब सड़ी किताबें, रद्दी अलमारियाँ, जो न चलें वे पंखे, खराब फर्नीचर ले जाओ। छोटा 'अ' बड़ा 'आ' सीखे हुओं की लाइब्रेरी के लिए शेक्सपियर का सेट ले जाओ। दफ्तर के लिए 10-5 बिजली के पंखे लो। हस्तकला के नाम से कचरा ले जाओ। और बन सके तो कमीशन लो ! ऐसा पूर शताब्दियों में एकाध बार आता है।'

जो प्रवासी नहीं कह पाये*

रूस के प्रवासी ने यात्रा के अनुभव जगह-जगह सुनाये, जिनसे लोगों ने जाना कि उस देश के लोगों ने कितनी उन्नति कर ली है।

लेकिन भैरव-भैरवियों ने आकर बतलाया कि महाराज, पूरी बात नहीं बतायी, प्रवासी ने। वहाँ तो बड़ा गजब हो गया प्रतिनिधि मण्डल में। भारत की संस्कृति का ऐसा महान् प्रतिनिधित्व किया है वहाँ एकाध आदमी ने कि शरम से गर्दन झुक जाय।

प्रतिनिधि मण्डल में एक 'छैला' भी थे जो आक्सफोर्ड की हवा खा आये थे, फैशनेबुल आदमी थे। धाँधली में चले गये थे, क्योंकि ऊँचे परिवार के व्यक्ति, जिनका उपनाम लो तो भारत के सबसे बड़े आदमी का भ्रम हो।

बस वे यहाँ पहुँचे तो संस्कृति को तो वापिस भेज दिया और लगे लड़कियाँ तलाशने।

वह देश बड़ा अजब है महाराज ! वहाँ स्त्री-पुरुष स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार, बर्ताव करते हैं जो बहुत स्पष्ट और निष्कलुष होता है।

इन महाशय को जो दुभाषिनी मिली वह युवती थी। ये उसी में सारी संस्कृति केन्द्रीभूत करने लगे। हाथ में हाथ लेकर घूमने लगे। यहाँ तक तो उस देश में चलता है। इसमें कोई विकार नहीं होता।

पर वे 'मूरख' समझे कि वह इन पर आसक्त हो गयी। बस एक दिन थियेटर में उसका हाथ इन्होंने कलेजे पर रख लिया। वह क्रोध से उठी, इन्हें डाँटा, चली गयी और रिपोर्ट कर दी। दूसरे दिन एक वृद्धा दुभाषिनी भेजी गयी।

कितनी बदनामी की बात है महाराज, कि भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधियों के बीच में एक स्त्री नहीं रह सकी। जैसे भालू हों, जिनके बीच में बकरी नहीं रह सकती।

* प्रहरी, 10 जून, 1956

इसके पहिले के प्रतिनिधि मण्डल में तो और गजब हो गया। दो प्रतिनिधि इसी बात पर लड़ पड़े कि एक कहता कि वह मुझे प्यार करती है, दूसरा कहता कि तुझे नहीं, मुझे। और वह बेचारी किसी को प्यार नहीं करती थी, केवल शिष्ट व्यवहार करती थी।

हमने कहा, 'वत्स, इसमें लज्जा की बात तो है, पर चिन्ता की नहीं। समाज का ढाँचा जब बदलेगा, तब यह देश उनसे भी उन्नत हो जायगा।'

हमारे समाज में नारी की गुलामी के कारण ऐसी भावना व्याप्त हो गयी है कि पुरुष केवल 'नर' है और स्त्री केवल 'मादा', जो एक-दूसरे के पास केवल प्रजनन के प्रयोजन से आते हैं। वे और किसी कारण से, किसी और स्तर पर मिल ही नहीं सकते! यह पशु-स्तर की स्थिति है। इसीलिए भारतीय से कोई स्त्री हँसकर बोल लेती है, तो वह 'मूरख' समझता है कि यह तो मुझ पर आसक्त है। वहाँ के लोगों का दृष्टिकोण परिष्कृत हो गया है।

भारत-सेवक की सेवा*

नागपुर के एक बड़े भारत-सेवक ने आखिर भारत की सेवा करके दिखा दी।

पूरे प्रान्त की भारत-सेवक समाज की शाखा के प्रधान, निस्वार्थ भाव से भारत की सेवा करने के लिए अपने को अर्पित करनेवाले, इन महासेवक के दर्शन करने की इच्छा थी, अघोर भैरव को। पर इसी बीच सुना कि अब वे सेवा करने के काम से बरी कर दिये गये हैं। कारण?

यही कि उन्होंने ईमानदार आदमी की तरह सेवा करना अपने ही घर से आरम्भ किया। पहले अपना घर दुरुस्त करके बाद में दूसरों की इमारत की मरम्मत करना चाहिए। सो उन्होंने कुछ हजार रुपये अपने घर की सेवा में लगा दिये। कोई बुरा नहीं किया।

पर ऊपर के अधिकारियों ने हिसाब माँगा। गोल-माल पकड़ा और निकाल बाहर किया। सुना है केस चलेगा।

हमें यह तनिक अच्छा नहीं लगता कि सेवक से हिसाब माँगा जाय। जिस संस्था में आदमी का भरोसा नहीं किया जाय वह कोई भली संस्था है? अरे, जो नर भारत की सेवा में जीवन दे रहा है, उससे तुम हिसाब माँगते हो? क्षुद्र, पैसे की बात करते हो? सन्त को पैसे से क्या मतलब?

* प्रहरी, 24 जून, 1956

और सुना है, डाक बँगले में पत्नी के रूप में उसे लेकर रहते थे जो पत्नी नहीं थी। यह भी ठीक ही बात है। यह तन भी एक मकान है, ऐसा सन्तों ने कहा है। इसकी मरम्मत का ठेका भी उन्होंने पर-नारी को दे दिया। जब अपना तन-मन वासना-मुक्त हो गया तभी तो दूसरों को संयम का उपदेश दिया जायगा भारत-सेवक समाज की ओर से।

तमाम देश में भारत-सेवक समाज की शाखाएँ हैं, क्योंकि पण्डित नेहरू की 'वीर पूजा' हर जगह है। करोड़ों रुपये मिलते हैं। निर्माण होता है देश का। बेकार नेता काम से लग जाते हैं, बैंक में खाता बढ़ता जाता है, साल में 50 गज का एकाध सड़क का टुकड़ा बनाकर फोटो खिंचा लेते हैं।

नागपुरवाले की सेवाएँ पकड़ी गयीं तो वे निकाल बाहर किये गये। हजारों की सेवाएँ अभी पकड़ी नहीं गयीं इसलिए यार मजिस्ट्रेट बने हुए हैं।

सुना है उक्त महासेवक मुख्यमन्त्रीजी के कुछ हैं! जरूर होंगे; तभी इतनी बड़ी सेवा करने की हिम्मत की—'ज्यों शशि के संयोग में, पचवत् आग चकोर!'

चन्द्रमा से सम्बन्ध होने के कारण चकोर आग खा लेता है!

मगर जब ऊपर से हिम के पत्थर बरसते हैं तब चन्द्रमा की चाँदनी उस पर छाया थोड़े ही कर सकती है।

भारत-सेवक समाज का यह बेचारा चकोर पिट गया! उसकी आत्मा को शान्ति मिले।

डल-डलर-डलेस्ट

जान फास्टर डलेस्ट अमेरिका के सच्चे राजा हैं। इतिहास में उनका नाम इस युग के सबसे बड़े 'गोलमालकारी' के रूप में कोयले के अक्षरों में लिखा जायगा। स्वेज नहर का गोलमाल उन्हीं की योग्यता का प्रमाण-पत्र है।

डलेस्ट साहब कितने बार कह चुके हैं कि अमेरिका पूर्व और मध्यपूर्व के सब देशों को इस उद्देश्य से सहायता देता है कि उनकी उन्नति हो, उनका जीवन-स्तर बढ़े।

याने अमेरिका और डलेस्ट बड़े धर्मात्मा आदमी हैं। ईसा मसीह इन पर धर्म और परोपकार की सारी जिम्मेदारी छोड़ गये थे।

ईजिप्त ने उनकी धर्मशीलता पर भरोसा कर लिया। याचना की—'हे दानवीर, आस्वान बाँध के लिए रुपया चाहिए।'

डलेस्ट ने कहा, 'ले जाओ। मगर अपने आचरण सुधारो। यह क्या करते हो

तुम, नस्सेर? नेहरू, टीटो, चाऊ वगैरह से क्यों मिलते-जुलते हो? ये खराब आदमी हैं। तुम्हें भी बिगाड़ देंगे। ये तटस्थ आदमी खराब होता है, क्योंकि वह हमारी तरफ नहीं होता! खबरदार, कुसंगति में पड़े तो!'

जैसे बूढ़ा बाबा बालक को समझाता है—खबरदार, उन लड़कों के साथ खेलने गया तो। वे खराब लड़के हैं!

लेकिन नस्सेर ज़रा शैतान लड़का निकल गया। बाबा डलेस्ट की सीख कान में गूंज ही रही थी कि वह बायोनी में जाकर नेहरू और टीटो से मिल आया।

बाबा डलेस्ट नाराज हो गये। बोले, 'मैं देख रहा हूँ कि यह 'तटस्थता' की बुरी आदत बहुत फैलती जा रही है। तू भी उनसे सीख गया। जा, मैं तुझे अब आस्वान बांध के लिए पैसा नहीं देता।'

मगर लड़का हो गया—नस्सेर! उसने सोचा, डलेस्ट बाबा सठिया गये हैं, पागलपन की बातें कर रहे हैं। उसने दूसरे दिन ही ऐलान कर दिया कि स्वेज नहर मेरी है।

डलेस्ट ने गुस्से में कहा, 'तेरे बाप की है वह?'

नस्सेर ने कहा, 'हाँ, तभी तो कब्जा कर रहा हूँ उस पर।' और इस तरह 'धर्मात्मा' डलेस्ट साहब का धर्म और परोपकार करने का एक 'चांस' और चला गया।

'इण्टक' नाटक कम्पनी*

जबलपुर में अभी एक नाटक कम्पनी आयी थी—इण्टक नाटक कम्पनी। पूरा नाम 'इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' या टूरिंग नाटक कम्पनी।

शहीद स्मारक के सुनहले स्टेज पर इस कम्पनी का शानदार नाटक हुआ।

कम्पनी के मालिक हैं—'शुक्ला-शुक्ला-तख्त-शर्मा एण्ड कम्पनी, प्राइवेट लिमिटेड।'

काफी बड़ी कम्पनी है।

जबलपुर में जो अभिनय इस कम्पनी ने प्रस्तुत किया, वह बड़ा सफल हुआ।

जो नाटक खेला गया उसका नाम था—'वार्षिक अधिवेशन', जिसे किसी ने नहीं लिखा था और जो स्टेज पर ही बनता गया और खेला जाता रहा।

सूत्रधार थे—पण्डित रविशंकर शुक्ल।

* प्रहरी, 26 अगस्त, 1956

नन्दीपाठ स्थानीय कुछ गायकों ने किया।

नाटक के हीरो--रामसिंह भाई।

सपोर्टिंग हीरो याने उपनायक—दीनदयाल गुप्त, द्रविड़, उमरावसिंह, जगमोहनदास।

निर्देशक—पं. रविशंकर शुक्ल।

वेशभूषा—खादी भण्डार।

संगीत—कोई नहीं।

नृत्य--प्रत्येक नट की अलग पद्धति!

इस नाटक में पर्दा खींचनेवाले—वसन्तकुमार मिश्र, नाथूराम शुक्ल आदि।

यह नाटक 2-3 घण्टे चला। 'फ्री पास' से प्रवेश मिलता था। उपनायक जगमोहनदास को ही गेट पर रोक लिया गया, क्योंकि वे पास नहीं लिये थे। पर 'गेटकीपर' से उनकी दोस्ती थी, इसलिए उन्हें भीतर जाने को मिल गया।

यह नाटक उस ढंग का था जिसे अंग्रेजी में 'फार्स' कहते हैं! उदाहरण देने से नाटक की सच्ची उत्कृष्टता समझ में आ जायगी—

कहा जाता है और कहा गया कि ट्रेड यूनियन राजनैतिक दलबन्दी से मुक्त होनी चाहिए और राजनैतिक नेताओं को अपने स्वार्थों के लिए मजदूरों का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। यह हुआ सिद्धान्त।

अब इसका फार्स यह है कि उस दिन उद्घाटनकर्ता कांग्रेस पार्टी के मुख्यमन्त्री कांग्रेस दल के। रामसिंह भाई—अध्यक्ष भी कांग्रेसी एम. एल. ए., दीनदयाल गुप्त और द्रविड़—कांग्रेस मन्त्री, उमरावसिंह, जगमोहनदास—कांग्रेसी उपमन्त्री।

इस तरह राजनैतिक दल से मुक्त रहने की बात मिल गयी, क्योंकि कांग्रेस दल नहीं है, वह तो सफेद फरिश्तों की सेना है।

दूसरा फार्स—

श्रमिकों के हितों के लिए यह ट्रेड यूनियन संगठन है। ठीक है। हित कौन मारते हैं?

उद्योगपति शोषण करते हैं तब मजदूर हड़ताल करते हैं, प्रदर्शन करते हैं। तब सरकार उन पर गोली चलाती है।

मंच पर उद्योगपति डटे थे और गोली चलानेवाले डटे थे।

भेड़ों की ट्रेड यूनियन के नेता भेड़िये!

इस तरह अनेक 'फार्स' से युक्त यह नाटक भारतीय रंगमंच की एक ऐतिहासिक घटना हो गयी।

इन्तजाम अच्छा था। चारों ओर पुलिस के दस्ते घूम रहे थे। पूरा नाटक पुलिस के पहरे में हुआ। इससे मालूम होता है, यह जरूर जनता के हित के लिए थे।

भाषण सुनो, नहीं तो अनशन कर दूंगा*

एक समय भारत में एक आदमी रहता था। उसका नाम मोरारजी था। एक बार वह अहमदाबाद नामक शहर में गया और वहाँ भाषण देना चाहा। पर उसका भाषण सुनने एक भी आदमी नहीं आया। उसे बहुत बुरा लगा। उसे भाषण देने का बड़ा शौक था। उसने गुस्से में आकर कहा—मैं अनशन करूँगा। जब तक शहर के लोग शान्तिपूर्वक मेरा भाषण नहीं सुनेंगे, मैं भोजन नहीं करूँगा। चाहे मर ही क्यों नहीं जाऊँ। बस, उसने खाना बन्द कर दिया। उसके पास तार और चिट्ठियाँ आने लगीं, जिससे पोस्टआफिस को बड़ा फायदा हुआ। शहर के लोगों को उस पर दया आ गयी। उन्होंने लाउडस्पीकर पर शहर-भर में उसके भाषण सुनाये। आखिर आठ दिन बाद उसने अनशन तोड़ा और एक जगह सभा में 45 मिनिट भाषण दिया। सभा शान्तिपूर्वक हुई—उसके आरम्भ और अन्त में गोली चली, और बीच में पत्थरबाजी हुई! पर मोरारजी ने मान लिया कि सभा शान्तिपूर्वक हुई। वह 45 मिनिट बोला। 8 दिन के उपवास के बाद बूढ़ा आदमी 45 मिनिट कैसे बोला, इससे लोगों को आश्चर्य हुआ। कुछ लोगों का अनुमान है कि वह चुपचाप खाना खाता रहा था।

राज्य में यदि कोई मजदूर वेतन बढ़ाने के लिए अनशन करता था, तो उसे पुलिस जेल में डाल देती थी, क्योंकि यह आत्महत्या करने की कोशिश मानी जाती थी। पर मोरारजी को गिरफ्तार नहीं किया, क्योंकि वह वहाँ का राजा था। उस साम्राज्य के सम्राट पण्डित नेहरू भी अनशन करनेवालों से बहुत नाराज होते थे, पर मोरारजी से खुश हुए, क्योंकि मोरारजी ने उन्हीं की बात मनवाने के लिए अनशन किया था।

मोरारजी मरना नहीं चाहता था, क्योंकि उसने अनशन त्यागते हुए कहा—'लोग चाहते हैं कि मैं मर जाऊँ। पर मैं मरूँगा नहीं।'

इस तरह मोरारजी भाई ने गोली भी चलवायी, और अनशन भी कर लिया और भाषण सुना दिया। मोरारंजी भाई ने इसी तरह अनेक अच्छे-अच्छे काम किये।

* प्रहरी, 2 सितम्बर, 1956

और अब गीता-आन्दोलन*

अभी 'रिलीजस लीडर्स' पुस्तक के आन्दोलन से छुट्टी पायी ही है कि अब 'गीता-आन्दोलन' के चक्कर में आ गये।

10-15 प्राण गये, कुछ घायल हुए, सारे देश में साम्प्रदायिक जहर फैला—तब हजरत मोहम्मद के अनुयायियों का धर्म बचा।

अब हिन्दुओं का अपमान हो गया। मुसलमानों ने गुस्से में आकर किसी शहर में गीता जला दी। निहायतन बेवकूफी की बात की।

लेकिन कुछ हिन्दुओं ने कहा कि हम बेवकूफी में भी मुसलमानों की बराबरी करेंगे—इसलिए गीता आन्दोलन शुरू!

अघोर भैरव ने शिक्षकों, प्रोफेसरों, बाबुओं तथा अन्य सामान्य लोगों से बात की। उन्हें गीता जलाने के मामले पर तनिक भी आन्दोलन करने की इच्छा नहीं। लेकिन आन्दोलन चलेगा। चलायेंगे वे, जिन्हें गीता से, उसके उपदेशों से, उसके दर्शन से कोई मतलब नहीं। वे जो गीता के नाम पर पेट भरते हैं, वे जो ईश्वर के नाम का व्यापार करते हैं, वे जो धर्म की दूकान खोले हैं। फिर सामान्य आदमी इनकी लपेट में आयगा।

गीता को जलाना बेवकूफी की बात हुई। पर इन बातों के लिए कहाँ तक आन्दोलन चलाओगे?

गीता छपती है कागज पर—कागज बनता है गन्दे सड़े कपड़ों के चिथड़ों से। तो पहिले कागज के कारखाने के खिलाफ आन्दोलन करो!

फिर छपती है प्रेस में, जिसमें न जाने कैसे कर्मचारी छपाई करते हैं। इसलिए आन्दोलन करो कि कम्पोजीटर वगैरह नहाकर, चन्दन लगाकर, ऊदबत्ती जलाकर छापें।

फिर उसकी पार्सलें बनती हैं। रेलवे से आती हैं। इन गट्ठरों को उठाकर कुली कचरे की तरह गन्दे फर्श पर और मिट्टी में फेंकते हैं। तो आन्दोलन करो कि रेलवे पुष्पक विमान में पार्सलों को पहुँचावे, जिनका चालक उच्च कुल का ब्राह्मण हो।

फिर किताब विक्रेता उस पर मुनाफा लेकर बेचता है। धर्म-पुस्तक पर मुनाफा! अरे राम-राम! उसके खिलाफ आन्दोलन करो!

इस तरह आन्दोलन करते जाओ भाइयो और इस देश को मिट्टी में मिलाते जाओ!

इसी जड़ता के कारण तुमने गुलामी भोगी थी। तुमने सोमनाथ के पत्थरों के लिए गुजरात लुटवाया था, तुमने सिन्ध के विदेशी मुसलमानी शासन से लड़ाई इसलिए नहीं की थी कि उन्होंने कहा था कि लड़ाई करोगे तो हम मार्तण्ड मूर्ति को तोड़

* प्रहरी, 16 सितम्बर, 1956

देंगे। तुमने कहा था कि देश ले जाओ, पर मूर्ति बचा दो। तुमने हमेशा मूर्ति, मन्दिर और पुस्तक के लिए देश और समाज को डुबाया है। तुम्हारे-जैसी जड़ता संसार में ढूंढ़ते नहीं मिलती।

गीता में कर्म का उपदेश दिया है और आन्दोलन चला रहे हैं वे जो निठल्ले, कर्महीन और मुफ्तखोर हैं।

अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के शोषक राष्ट्रों की अन्त:संघर्ष पैदा कराने की कूटनीतिक साजिश में योग देनेवाले इन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक नेताओं को धिक्कारने के सिवा और क्या कहा जाय?

विदाउट टिकिट*

टिकिटें बँट रही हैं—रेल की नहीं, चुनाव की।

जैसे रेल में बिना टिकिट सफर नहीं किया जाता, वैसे ही चुनाव में बिना टिकिट नहीं लड़ा जा सकता। उनका क्या होगा, जो जिन्दगी-भर विदाउट टिकिट सफर करते रहे हैं?

इस बार नया शिगूफा है—कहते हैं यंग ब्लड (नया खून) और स्त्रियों को काफी टिकिट मिलेंगे!

यह 'यंग ब्लड' क्या बला है? ढेबर भाई का 'यंग ब्लड' है, क्योंकि वे 56 साल के हैं। सुशील कुमार पटेरिया का 'यंग ब्लड' है, क्योंकि वे पैसेवाले हैं। बाबू साहब का 'यंग ब्लड' है, क्योंकि वे प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष हैं। इस तरह 'यंग ब्लड' की तरह-तरह की परिभाषाएँ हैं। संक्षेप में 'यंग ब्लड' उस आदमी का है जिसकी उम्र चाहे जितनी हो, पर जो पद, धन या तिकड़म के कारण टिकिट पा जाय।

इसलिए कोई टिकिट लेने के लोभ में 'ब्लड बैंक' न पहुँच जाना। 'यंग ब्लड' वही होगा, जिसे कांग्रेस के टिकिट बाबू 'यंग' कह देंगे। बाकी सब ओल्ड! जिसे पिया चाहे वही सुहागन!

रही स्त्रियों की टिकिट की बात! सो जनाने डिब्बे में तो वैसे ही टिकिट चेकर नहीं आता, वे चाहें तो विदाउट टिकिट ही सफर करें।

* प्रहरी, 30 सितम्बर, 1956

अभिनन्दन के 'हाइलाइट्स'*

बाबू गोविन्ददास का अभिनन्दन हो गया।

जबलपुर में बँटे निमन्त्रण पत्रों में 'बाबू गोविन्ददास' छपा है और दिल्ली में बँटे पत्रों में 'सेठ गोविन्ददास' छपा है। अर्थ यह हुआ है कि हमारे बाबू साहब को दिल्लीवाले अभी भी सेठ समझते हैं। 'नागरिक मोर्चा' अब इसका विरोध करने का काम ले ले।

इस अभिनन्दन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि दुनिया के किसी अभिनन्दन समारोह में अभिनन्दनकर्ताओं को इतना कम कष्ट, इतना कम परिश्रम न हुआ होगा। बाबू साहब किसी पर भार नहीं बनना चाहते, किसी पर अपना काम लादना और टालना नहीं चाहते। उन्होंने अपने अभिनन्दन का भी अधिकांश काम स्वयं अपने वृषभ कन्धों पर ले लिया।

भैरव खबर लाया है कि दिल्ली में अभिनन्दन समिति की बैठक बुलाना, विज्ञप्ति बनाना, अपील तैयार करना आदि सब काम स्वयं ही कर डाले। एकाध बार तो विज्ञप्ति में उन्होंने अपनी सेवाओं का उल्लेख इतने विस्तार से कर डाला था कि मैथिलीशरण गुप्त को हँसकर 'नवीनजी' से कहना पड़ा—इस अंश को निकाल देना चाहिए। क्यों न बालकृष्ण? तभी कोई आ गया और पूछा—किस बात पर हँसी हो रही है? तो गुप्तजी ने वैष्णव सद्भावना के साथ कहा—कुछ नहीं, बाबू साहब ने अपनी सेवाओं का उल्लेख कर दिया था।

और उस दिन संस्थाओं के प्रधानों को भी बखरी से ही फोन हो रहे थे—कल आप अभिनन्दन में संस्था की ओर से माला तो पहिनावेंगे न?

सदर की सभा में बाबू साहब ने कितनी सरलता से कह दिया—यह अभिनन्दन समारोह नगर या प्रान्त या देश में ही नहीं, वरन विदेशों में भी मनाया जा रहा है।

और फिर शहर के अभिनन्दन समारोह में उसी सरलता से कह दिया—मुझे तो मालूम भी नहीं कि कहाँ से कैसे यह अभिनन्दन की बात चल पड़ी। मैं तो अनभिज्ञ था और मुझे तो एक प्रकार से संकट लगता है। पर आपका आदेश है तो आ गया। इस सादगी पे कौन न मर जाय ऐ खुदा!

सादगी की हद कर दी। मिलने-जुलनेवालों को अभिनन्दन की तारीख की याद दिलाना वे नहीं भूलते। बाबू रामानुज ने ठीक ही कहा था कि बाबू साहब का बचपन फिर से आ रहा है।

अपनी पुस्तकों के अनुवादों में भी बाबू साहब ने किसी साहित्यवेत्ता और अनुवादक को कष्ट नहीं दिया। भला बताइए कितना कष्ट होता अगर कोई विद्वान तमाम हिन्दी साहित्य पढ़ता, उसमें से श्रेष्ठ ग्रन्थ चुनता और तब अनुवाद करता।

* प्रहरी, 30 दिसम्बर, 1956

बाबू साहब ने काम आसान कर दिया। अपनी पुस्तकों के अनुवाद स्वयं मजदूरी देकर करवा लिये, अमेरिका में छपवा लिये और अन्तर्राष्ट्रीय हो गये ! किसी को कष्ट नहीं।

और उन हिन्दी के आलोचकों का भी कितना उपकार उन्होंने किया जो उनके महल में आकर आराम से ठहर जाते हैं और उनके साहित्य पर ही विवेचन तैयार कर देते हैं। हिन्दी के भुखमरे आलोचकों को कौन इतना सुख देता है? बाबू साहब भक्त-वत्सल हैं।

उनका मुँह काला हो जो यह कहते हैं कि यह 'चुनाव स्टण्ट' था जिसमें नेहरूजी भी शामिल कर लिये गये थे। ये लोग बाबू साहब द्वारा 'शिशुपाल' कह दिये गये। अपने भाषण में उन्होंने साफ कह दिया कि मेरी आलोचना करनेवाले 'शिशुपाल' हैं जो कृष्ण के यज्ञ को विध्वंस करने आया था, फिर आखिर कृष्ण ने उसका सिर काट दिया। बाबू साहब अब चक्र लेकर शिशुपालों का सिर उतारने ही वाले हैं ! शिशुपालों को आलोचना बन्द करनी चाहिए।

अनन्तशयनम् आयंगर भी अच्छे आ गये। बातें भी उन्होंने अच्छी कहीं। बोले—गोविन्ददास बड़ा खूबसूरत है···उसे देखकर लोगों का मन मोहित हो जाता है···40 साल का लगता है·· फिर शादी कर सकता है ! हिन्दी-प्रेम की चर्चा भी की आयंगर ने—ये हिन्दी में खूब बोलता है। कभी-कभी तो जिसे हिन्दी नहीं आती उससे भी हिन्दी में बोलता है।

पर कुछ हिन्दी के शिशुपाल आयंगर की इस बात से नाराज थे कि उन्होंने बाबू साहब की समता कालिदास से कर दी। हमारा कहना है कि हमारे आदमी को इतना बड़ा सम्मान देने का श्रेय आयंगर को बिल्कुल नहीं देना चाहिए। यह हमारा हिस्सा है। आयंगर को हिन्दी नहीं आती, उन्होंने बाबू साहब के 100 नाटकों में से एक भी नहीं पढ़ा होगा। हम हिन्दीवालों ने उनसे कहा कि हम इनका अभिनन्दन करना चाहते हैं क्योंकि ये हिन्दी में श्रेष्ठ, महान्, अपूर्व और अभविष्य नाटककार हैं ! अभिनन्दन तो आखिर हिन्दीवालों ने ही किया। इस पर से अगर आयंगर उनकी कालिदास से समता कर दें तो क्या हम इसका श्रेय आयंगर को लूटने देंगे? हरगिज नहीं। यह हमारा हिस्सा है। हमने ही आयंगर को बताया था कि बाबू साहब 'ग्रेट' हैं।

अभिनन्दन समारोह में साहित्यिक कार्यक्रमों को स्थान नहीं दिया, यह भी अच्छा ही हुआ। यह कोई साहित्य समारोह तो था नहीं। चुनाव पास आ रहा है, ऐसे वक्त साहित्य की बात बुरी लगती है। जिन संयोजक महोदय को समिति ने उत्साह में कह दिया था कि विद्वानों को बुला लीजिए, और जिन्होंने भरोसे पर अनेक श्रेष्ठ लेखकों को निमन्त्रित कर दिया था, वे अब उन्हें पत्र लिख-लिखकर माफी माँग रहे हैं। समिति ने ऐन मौके पर कह दिया--'पैसा नहीं !'

जो लोग इस पूरे अभिनन्दन यज्ञ को 'फार्स', राष्ट्रीय पैमाने पर 'प्रायः चुनाव स्टण्ट' आदि कह रहे हैं, उन सब शिशुपालों के नाम बाबू साहब को शीघ्र ही दे रहा

हूँ, ताकि वे चुनाव के बाद किसी फुरसत के दिन उन सबका एक सिरे से शिरच्छेद करके भूमि का भार हलका करें।

हाँ, अन्त में उन उत्साही मंच पर उछल-कूदलीन भाइयों के दुख से द्रवित हूँ जो अपने साथ अपने स्टाफ फोटोग्राफर लाये थे, पर ऐन मौके पर जिनके कैमरे का फ्लैश बल्ब जला ही नहीं, और फोटो बिन खिंचे रह गयी।

और इस तरह यह साहित्य द्वारा राजनीति और महल का अभिनन्दन यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। बाबू साहब हजार साल के हों।

और मेहरबानी करके पण्डित नेहरू का दिल्लीवाला रिकार्ड किया हुआ भाषण न बजवाया करें। उसमें पण्डित नेहरू ने मजाक-ही-मजाक किया है। लोगों को समझ में आ जाता है। आपको तो उस जन्म में भी यह बात समझ में न आयेगी।

नया नारा*

नया चुनाव; नया नारा!

जनता मूर्ख है, इसे नारा चाहिए।

पहले चुनाव में नारा दिया था—'सोशलिस्टिक पेटर्न' का!

पाँच साल तक सोशलिस्टिक पेटर्न बना।

देखा कि जनता को अब इस नारे से नहीं बुलाया जा सकता।

तो नया नारा—'को-आपरेटिव कामनवेल्थ।'

मतलब पाँच साल बाद 'सोशलिस्टिक पेटर्न' छोड़कर 'को-आपरेटिव कामनवेल्थ' पर आ गया।

और जब तक हम सब समझेंगे कि यह क्या बलाय है तब तक नेता लोग नया नारा लगा देंगे।

और अगर लोग शिकायत करें कि इन लोगों से यह प्रोग्राम पूरा नहीं होता तो नेता लोग कहेंगे—ऐसी बात है! अच्छा तो अब हम 'नया खून' ले आते हैं, नये खून को वोट दो!

और इसी तरह यह शब्दों की भूल-भुलैया चलती जायगी।

मजा यह है कि पण्डितजी ने उस दिन कहा कि साम्यवादी और समाजवादी 'शब्दों के गुलाम' हैं।

पण्डितजी, आप लोग क्या हैं?

* प्रहरी, 13 जनवरी, 1957

काश्मीर किसका है*

झगड़ा यह नहीं है कि काश्मीर पाकिस्तान का है अथवा भारत का।

चुनाव के वक्त भारत में ही झगड़ा मच गया है कि काश्मीर की समस्या किसकी? काश्मीर से किसे ज्यादा प्रेम? काश्मीर की रक्षा कौन करेगा?

कांग्रेस के बड़े नेता कहते हैं कि काश्मीर हमारा है—बाकी लोगों का नहीं! याने जैसे पाकिस्तान ने धांधली करके एक हिस्सा दबा रखा है, वैसे ही कांग्रेस ने दूसरे भारतीयों से काश्मीर को हड़प लिया है।

फिर कांग्रेस कहती है कि काश्मीर चाहते हो, तो हमें वोट दो। याने अगर कांग्रेस की जगह कम्युनिस्ट या समाजवादी आ गये, तो वे काश्मीर पाकिस्तान को खैरात में दे देंगे।

फिर कांग्रेस यह भी कहती है कि काश्मीर की रक्षा वही कर रही है! याने कोई और भारतीय होता तो काश्मीर, जो भारत का एक भाग है, को यों ही छोड़ देता।

ये बातें कोई छुटभैया नहीं कहता, पं. पन्त-सरीखे आदमी कहते हैं, जवाहरलालजी की बेटी कहती है!

यह कहने का अर्थ है कि 'कांग्रेसमैन' के सिवा बाकी सब देशद्रोही हैं, क्योंकि वे राष्ट्र के एक भाग काश्मीर के प्रति सच्चे नहीं हैं।

याने काश्मीर राष्ट्र का नहीं, कांग्रेस का है। काश्मीर राष्ट्रीय प्रश्न नहीं है, कांग्रेसी प्रश्न है!

पिछले चुनाव में 'बैला-बैला' हो गया था, इस बार 'काश्मीर-काश्मीर' का स्टण्ट है!

काश्मीर का उपयोग जिस-जिस प्रकार पाकिस्तानी नेता कर रहे हैं, उसी प्रकार भारतीय नेता।

पाकिस्तान की जनता में इतनी गरीबी है, उसके मन में इतना विद्रोह है कि पाकिस्तानी नेताओं को उससे भय लगता है, जनता किसी भी दिन नेताओं का तख्ता पलट सकती है। वहाँ की आर्थिक स्थिति सुधारने में असमर्थ पाकिस्तानी नेता वहाँ की अशिक्षित धर्मान्ध जनता में काश्मीर के मामले पर उत्तेजना फैलाकर, उसका ध्यान भारत की ओर लगाकर अपनी रक्षा कर रही है। ठीक उसी प्रकार भारतीय राजनेता इस देश के नागरिकों के सामने काश्मीर का मामला रखकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं।

काश्मीर कांग्रेस की या उसके गिने-चुने नेताओं की बपौती नहीं है। वह हर देशवासी का है।

* प्रहरी, 17 फरवरी, 1957

काश्मीर के लिए 'कांग्रेसमैन' ही थोड़े लड़ेंगे, 'जेण्टिलमैन' भी लड़ेंगे !

एक बात साफ है—जैसे पाकिस्तान के नेता, वैसे ही भारत के नेता जनता को मूर्ख समझते हैं। 'स्टण्ट' मूर्खों पर ही चलाया जाता है।

मजा नहीं आया !*

पण्डित नेहरू के जबलपुर भाषण से कांग्रेस उम्मीदवार बहुत नाखुश हैं। बाबू साहब भाषण के बाद बहुत गमगीन नजर आये। पण्डितजी ने इनके मन की बात नहीं कही। इन्हें उम्मीद थी कि पण्डितजी एकदम लोगों से कह देंगे कि कांग्रेस के विरोधियों को हिन्दुस्तान के बाहर ले जाकर छोड़ आओ। और यह भी उम्मीद थी कि यहाँ के कांग्रेसी उम्मीदवारों के सम्बन्ध में वे कहेंगे कि ये तो मनुष्य नहीं देवता हैं, इन्हें वोट देकर पुण्य लाभ करो।

पर पण्डितजी ने कहा—मैं नहीं जानता यहाँ से कौन चुनाव लड़ रहे हैं?

बताइए भला। हजारों मील दूर से बाबू साहब ने उन्हें मिन्नत करके बुलाया और वे कहते हैं कि मैं नहीं जानता कि कौन चुनाव लड़ रहे हैं !

और पण्डितजी कह गये कि स्वस्थ विरोध जरूरी है, विरोधियों को दबाना गलत है, हम भी गलतियाँ करते हैं और उनकी आलोचना होनी चाहिए।

यह भी बुरा किया। कांग्रेसी चाहते थे कि पण्डितजी कहते कि विरोधियों को जन्म लेते ही समाप्त कर दो, ईश्वर और कांग्रेसमैन दोनों कभी गलती नहीं करते ! और यह कि प्रजातन्त्र में विरोध की क्या आवश्यकता है ? प्रजातन्त्र तो भेड़ों के झुण्ड का नाम है।

कांग्रेसियों को कुछ ऐसी ही उम्मीद थी कि आते ही पण्डित नेहरू, बाबू गोविन्ददास, जगदीशनारायण अवस्थी, पण्डित कुन्जीलाल दुबे आदि के विरोधियों को बुलायेंगे और हुक्म देंगे कि इन सबको गिरफ्तार कर लो और इनकी पेटी हटा दो, ये इन महापुरुषों का विरोध कर रहे हैं।

मगर ऐसा नहीं हुआ।

ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि पण्डित नेहरू और कांग्रेसी छुटभैयों में यही तो अन्तर है !

कुछ मजा नहीं आया !

* प्रहरी, 3 मार्च, 1957

पं. नेहरू के हाथ मजबूत कौन करेगा ?

कांग्रेसी लोग नारा लगा रहे हैं कि 'बैलछाप पेटी में वोट देकर पण्डित नेहरू के हाथ मजबूत करो !'

यह विज्ञापन ठीक वैसा ही है जैसा 'सन्त तुकाराम छाप बीड़ी पियो !'

अच्छा, पण्डित नेहरू के हाथ मजबूत जरूर करेंगे।

पर उनके हाथ कैसे लोगों से मजबूत होंगे !

शेर ने कहा कि हमारे हाथ मजबूत करो ! जानवर झुण्ड-के-झुण्ड आने लगे—लोमड़ी सैकड़ों, हजारों भेड़ें। कहने लगीं—लो वनराज, हम आ गये। अब तुम्हारे हाथ मजबूत हो गये।

शेर ने हँसकर उनकी ओर देखा और बोला—'तुम्हीं तो मेरी कमजोरी हो। तुम्हें बचाऊँगा कि मैं शत्रु से लड़ूँगा। तुम लोग भागो। मुझे एक शेर मिल जाय तो मेरे हाथ मजबूत हो जावें।'

'नये हितोपदेश' की इस कथा को पण्डित नेहरू के हाथ मजबूत करने के नारे पर चरितार्थ करें तो बात समझ में आयगी कि पण्डित नेहरू के हाथ दुमदार आदमियों से मजबूत होंगे। चरित्रवान, दृढ़ आदमी से मजबूत होंगे ! सच्चे जनसेवी से मजबूत होंगे ! जो उछलकर पण्डित नेहरू की ही बाँह पर चढ़ जानेवाले हैं, उन्हें सँभालते-सँभालते ही परेशानी हो जायगी।

सुचेता और कुचेता*

प्रिय भाई कृपलानीजी,

जिस आदमी की पत्नी उसे छोड़ दे, उसे फौरन संन्यास ले लेना चाहिए। सुचेताजी आपको राजनैतिक तलाक दे गयीं, इसलिए अब आपको 'अघोर भैरव' के अखाड़े में शामिल हो जाना चाहिए। यहाँ तुम्हारे-जैसे एकाध फक्कड़ की आवश्यकता भी है।

सुचेताजी आखिर कांग्रेस में चली ही गयीं। चली इसलिए गयीं कि तुम्हारे पास देने को कुछ नहीं है, कांग्रेस के पास देने को है। सुना है जब पिछली बार नेहरू ने आपसे कांग्रेस में वापस लौटकर मन्त्री बन जाने के लिए कहा था, तब तुमने कहा

* प्रहरी, 31 मार्च, 1957

था कि मैं नहीं; सुचेता को बनाओ। तब सुना है पण्डितजी ने कहा था कि सुचेता अभी उस ऊँचाई पर नहीं पहुँची है।

आपने जो उस वक्त 'लेडीज फर्स्ट' की शिष्टता बनायी, उसे सुचेताजी ने बहुत 'सीरियसली' ले लिया। और वे खसक गयीं।

तुम्हारे पास कुछ देने को हो जायगा, तब वे फिर आपके पास लौट आवेंगी। राजनैतिक तलाक और पुनर्विवाह बड़े जल्दी-जल्दी हो जाते हैं।

अब तो मन्त्राणी या उपमन्त्राणी बनेंगी---चाहे स्वास्थ्य की ही क्यों न हों। कुछ भी हो, आपकी तो तबियत ठीक कर ही दी उन्होंने।

वे सुचेता हैं; आप आखिर कुचेता ही रह गये।

दिन दूर नहीं है जब वे मन्त्रित्व के आसन पर बैठेंगी और आप विरोधी दल में बैठकर संसद में उनसे वे सवाल पूछेंगे; जो घर में ही पूछ सकते थे।

सुचेताजी आपको उजागर कर रही हैं—

'A man is known by the wife, he keeps.'

आपका

'अघोर भैरव'

विरोध की बात

केरल में साम्यवादी सरकार बनेगी।

विरोध में रहेगी कांग्रेस। और प्रजा समाजवादी दल ने कहा है कि हम भी विरोध में रहेंगे। कांग्रेस का विरोध तो समझ में आता है, पर मार्क्सवादी दल एक-दूसरे का विरोध किन बातों में करेंगे? यह जरा कठिनाई से समझ में आया। विरोध कुछ इस तरह का ही हो सकता है—

(1) साम्यवादी सरकार भ्रष्टाचार बन्द करायगी, ऐसा कहती है। तो पी. एस. पी. कहेगी कि भ्रष्टाचार चालू रहना चाहिए। (स्वस्थ विरोध है न!)

(2) साम्यवादी सरकार विदेशी पूंजी का राष्ट्रीयकरण करेगी। तो पी. एस. पी. कहेगी, कि नहीं विदेशी पूंजी का शोषण होने देना चाहिए। माना कि पी.एस.पी. शोषणहीन समाज निर्माण करना चाहती है, पर स्वस्थ विरोध भी तो करना है।

(3) साम्यवादी मन्त्री सिर्फ 500 रु. माहवार वेतन लेंगे, तो पी. एस. पी. कहेगी, 'प्यारे, 4 हजार लो।' (स्वस्थ विरोधी दल रहेगा न!)

(4) साम्यवादी सरकार शासन-व्यवस्था को कुशल बनाना चाहती है तो

पी. एस. पी. कहेगी कि शासन-व्यवस्था को ढीला ही चलाओ। (स्वस्थ विरोध !)

वर्गहीन, शोषणहीन समाज-रचना करनेवाली पार्टियों में विरोध का यही स्वरूप हो सकता है।

हाँ, एक बात और हो सकती है। विरोधी दल साम्यवादी सरकार के प्रति निन्दा का प्रस्ताव भी रख सकता है कि तुमने अभी तक गोली नहीं चलवायी। हमारी सरकार थी तब तो हमने चलवायी थी, तुम अयोग्य साबित हुए।

ओले

ओले गिर रहे हैं। प्रकृति पंचवर्षीय योजना में सहयोग नहीं दे रही है, मालूम होता है 'नेचर' विरोधी दलों में शामिल हो गयी है। ओले के कारणों पर इस प्रकार की बातें सुनने को मिल रही हैं—

(1) पढ़े-लिखे लोग कहते हैं कि यह मौसम की बदमाशी एटम बम, हाइड्रोजन बम के परीक्षण के कारण पैदा हो गयी है।

(2) कांग्रेसियों का खयाल है कि केरल में कम्युनिस्टों की विजय से प्रकृति नाराज हो गयी।

(3) सबसे मजेदार बात सनातनियों, रामराज्य परिषदियों और साम्प्रदायिकों की है। वे कहते हैं कि भारत में अधर्म बहुत बढ़ गया है, वर्णाश्रम धर्म का लोप हो गया है, गौ-हत्या होने लगी है, इसलिए भगवान नाराज होकर ओले बरसा रहे हैं!

अमेरिका और रूस में जब भगवान नाराज होकर बादल भेजते हैं, तो वहाँ के लोग तोप के गोले दागकर बादलों को तितर-बितर कर देते हैं।

भगवान के बादल आदमी की तोप के सामने टिक नहीं पाते।

सनातनियों की बात निराली है। एक सनातनी पण्डित एक सभा में सनातन धर्म की महत्ता पर भाषण दे रहे थे---

भाइयो और बहनो, मैं एक सवाल डालता हूँ। जगह-जगह मैंने यह सवाल डाला है, मगर जवाब नहीं मिला। मैं बड़ा सवाल आपके सामने डालता हूँ---'भैंस काली, पर दूध सफेद क्यों?' आपके पास जवाब नहीं है। जवाब मेरे पास है। भैंस काली पर दूध सफेद क्यों? कारण है—सनातन धर्म!

ध्वनि-रूपक

प्रेम-विशेषज्ञ*

निर्देशक : (हमारे इस विज्ञान···युग में हर चीज के विशेषज्ञ होते हैं, जो वैज्ञानिक दृष्टि से उसका अध्ययन करके लोगों को वैज्ञानिक सलाह देते हैं। 'प्रेम' नाम की चीज के भी विशेषज्ञ होते हैं। यह प्रेम विशेषज्ञ डॉ. अनंगमर्दन का कमरा है, जहाँ अनेक प्रेम-पीड़ित व्यक्तियों को वे सलाह देते हैं। यह प्रेम का औषधालय है।)

डा. : एक रोग और हजार नाम···प्रेम, प्रणय, राग, इश्क, उल्फत, लव···. और न जाने क्या-क्या ! अरे प्रेमभीरु ! ए प्रेमभीरु !

[पॉर्श्व···'जी, डाक्टर साहब !]

डा. : अरे, आज की डाक तो ले आ।

[प्रेमभीरु आता है।]

प्रेम. : लीजिए साहब !

[वापिस लौटता है।]

डा. : सब प्रेमियों के पत्र। (एक लिफाफा फाड़कर) हाँ, ये प्रेमी क्या कहते हैं ? 'उसके बिना जीना असम्भव हो गया है। मैं किसी दिन रेल से कटकर मर जाऊँगा।' (हँसकर) गोया जॉर्ज स्टीफेन्सन ने रेलगाड़ी का आविष्कार प्रेमियों के कट मरने के लिए किया था। (दूसरा लिफाफा फाड़कर) हाँ, ये कहती हैं···'मैं उनके बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती।'···यह चिट्ठी इन्होंने परसों लिखी थी, याने अभी तक तो ये दफना दी गयी होंगी। (हँसकर) कुछ कम झूठ बोले बिना क्या प्रेम नहीं हो सकता ?

प्रेम. : (प्रवेश करके) डाक्टर साहब, एक आदमी आपसे मिलना चाहता है।

डा. : कैसा है ?

प्रेम. : जी वैसा ही है, जैसे आपके पास आनेवाले होते हैं।

डा. : अच्छा, भेज दे। (प्रेमभीरु जाता है)

[प्रणयदास का आगमन।]

प्रणय. : नमस्ते डाक्टर साहब।

डा. : नमस्ते, तशरीफ रखिए। कहिए क्या सेवा कर सकता हूँ ?

* वसुधा, वर्ष : 1, अंक : 11, मार्च 1957

प्रणय. : डाक्टर साहब, मैं आपसे कुछ सलाह लेने आया हूँ। बात यह है··

डा. : आप एकदम अपने केस की हिस्ट्री कहिए। कबसे शिकायत है? रोग कैसे शुरू हुआ? बीच में और कौन से 'काम्पलीकेशन्स' आये? सब कह जाइए।

प्रणय. : मेरा दो साल पहिले उससे परिचय हुआ। परिचय शीघ्र ही प्रेम में बदल गया। मैंने अपने आपको निःशेष रूप से उसे अर्पित कर दिया, रात-दिन प्रेम के सागर में निमग्न रहता···।

डा. : यह बतलाइए···उन दिनों आप सिर्फ प्रेम करने का काम ही करते थे, कि कोई और काम भी करते थे?

प्रणय. : जी, मैं उन दिनों एम. ए. में पढ़ता था। लेकिन फिर पढ़ना छोड़ दिया।

डा. : याने फिर 'होलटाइम' प्रेमी हो गये।

प्रणय. : आप इसे कुछ भी कह लीजिए।

डा. : अच्छा, यह तो रोग की पहिली स्टेज हुई। आगे की हिस्ट्री कहिए।

प्रणय. : फिर हाल ही में मुझे जीवन का सबसे बड़ा आघात लगा। मुझसे उसने कहा कि मैं तुम्हारे साथ विवाह नहीं कर सकती। बोली कि तुम मुझे भूल जाओ।

डा. : और आप उसे भूलना नहीं चाहते?

प्रणय. : चाहूँ, तो भी नहीं भूल सकता। मेरे रोम-रोम में, मेरी साँस-साँस में, मेरे हृदय के हर स्पन्दन में उसी की···

डा. : बस, बस, मेरे दोस्त। बन्द करो कविता। कविता प्रेम के रोग में कुपथ्य होती है। तुम्हारी तासीर को नुकसान करेगी, इसलिए कविता न तो पढ़ा करो, न लिखा करो। अच्छा, तो अब आप क्या चाहते हैं?

प्रणय. : यह जानता, तो आपके पास क्यों आता? (गहरी साँस लेकर) मुझे तो एक ही मार्ग सूझता है।

डा. : वही, जो इस लोक से उस लोक तक गया है? वही राजमार्ग?

प्रणय. : मैं नहीं समझा।

डा. : समझते होते तो यह हालत क्यों होती? मेरा मतलब है, आप प्राण दे देंगे?

प्रणय. : जी हाँ, निश्चित। या तो उसे प्राप्त करूँगा, या प्राण दे दूंगा।

डा. : प्राण तो जरूर दे दीजिए। लेकिन आज से 50-60 साल बाद दे दें, तो कोई हर्ज है क्या?

प्रणय. : आप तो मजाक करते हैं। आप प्रेम की पीर समझ ही नहीं सकते। मैंने तय कर लिया है कि मैं शीघ्र ही प्राण दे दूंगा। उस लोक में उसे पाऊँगा।

डा. : प्राण आप जरूर दीजिए। लेकिन इसके पहिले उसे भी मार डालिए।

प्रणय. : यह क्या बात है ? उसे क्यों मार डालूं ?

डा. : इसलिए, कि उसे साथ ले जाना अच्छा है। अगर वहाँ कहीं वह फिर किसी देवता पर मुग्ध हो गयी, तो फिर आप टापते रहेंगे। वहाँ तो, सुना है, मरने का भी सुभीता नहीं है।

प्रणय. : (चिढ़कर) डाक्टर, आप सिर्फ मजाक उड़ा रहे हैं। किसी दुखी आदमी का मजाक उड़ाना बड़ी अशिष्टता है। आपके पास क्या ज़रा भी सहानुभूति नहीं है ?

डा. : मेरे भाई, सहानुभूति है, तभी तो ऐसी बात कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम जियो, और तुम मरना चाहते हो। तो मैं यह कह दूं कि तुम मर जाओ ? प्रेमी के प्रति सहानुभूति बतलाना, उसे मौत के मुंह में ढकेलना है।

प्रणय. : लेकिन प्रेम के बिना जीवन भी तो कुछ नहीं है।

डा. : और जीवन के बिना प्रेम हो सकता है क्या ? दोनों में कौन पहिले आता है···प्रेम या जीवन ?

प्रणय. : मैं यह कुछ नहीं जानता। इतना ही समझता हूँ कि प्रेम ही जीवन का आधार है।

डा. : ठीक है। लेकिन तुम तो प्रेम के कारण ही जीवन को नष्ट कर रहे हो। प्रेम तुम्हें है, तो फिर जियो। जीवन को बनाओ। प्रेम अमृत है, तुम उसे जहर बना रहे हो।

[प्रेमभीरु आता है।]

प्रेम. : डाक्टर साहब, एक आदमी आपसे एकदम मिलना चाहते हैं।

डा. : तू देखता नहीं है कि मैं एक मरीज से बात कर रहा हूँ।

प्रेम. : मैंने बहुत कहा, पर वे मानते ही नहीं हैं। कहते हैं, इसी वक्त मिलना है।

डा. : देखिए, प्रणयदासजी, ज़रा आप उस बगल के कमरे में चले जाइए। मैं इनसे बात कर लूं। पता नहीं क्या बात है ? कुछ लोग यहाँ जेब में संखिया लेकर आते हैं।

प्रणय. : अच्छी बात है। (जाता है।)

डा. : प्रेमभीरु, जा भेज दे उनको।

[धरमचन्द का आना।]

धरम. : नमस्ते डाक्टर साहब, माफ करिए मैंने ज़रा जल्दबाजी मचायी। बात ही ऐसी जरूरी है। मैं एक मसले पर आपकी सलाह चाहता हूं।

डा. : प्रेम के सम्बन्ध में न ?

धरम. : जी हाँ, प्रेम का ही मामला है।

डा. : देखिए, आप बुजुर्ग आदमी हैं, 50 से ऊपर तो होंगे। आपको यह सब अच्छा नहीं लगता।

धरम. : क्या अच्छा नहीं लगता ?

डा. : यही, इस उम्र में प्रेम वगैरह करना। भला आपको यह शोभा देता है ?

धरम. : कुछ मेरी भी सुनेंगे या···

डा. : क्या सुनूं साहब। आपके बेटा-बेटियों के प्रेम करने के दिन हैं या आपके ?

धरम. : लेकिन मैं कहता हूँ कि मैं अपने लिए सलाह लेने नहीं आया।

डा. : (चौंककर) ऐं ! याने आप प्रेम नहीं करते ?

धरम. : करता हूँ, लेकिन उसके लिए किसी से सलाह लेने नहीं जाता। असल में सलाह लेना है मुझे मेरी लड़की के बारे में। एक आदमी उसके पीछे ही पड़ गया है। वह उससे शादी नहीं करना चाहती पर वह कहता है कि शादी नहीं करोगी, तो मैं मर जाऊँगा। दिन-रात परेशान किये रहता है।

डा. : देखिए साहब, बीमारी आपकी लड़की को है और नब्ज आप अपनी दिखा रहे हैं मुझे। उन्हीं को भेज दीजिए।

धरम. : वह तो साथ आयी है। बाहर बैठी है। (पुकारता है—रागिनी ! भीतर तो आ बेटी !)

['जी, पिताजी !' कहते हुए प्रवेश।]

रागिनी : नमस्ते डाक्टर साहब !

डा. : नमस्ते! बैठिए। धरमचन्दजी, अब आप जाइए। मैं इनसे बातचीत कर लूं।

धरम. : (उठते हुए) क्यों ? मैं···मैं अगर रहूँ···याने लड़की अकेली···

डा. : आप निश्चिन्तता से जाइए। मैं डाक्टर हूँ, खुद रोगी नहीं हूँ। आप चिन्ता मत करिए।

धरम. : नहीं, नहीं, ऐसी क्या बात है। अच्छा तो जाता हूं।

[जाता है।]

डा. : हाँ तो रागिनीजी, कोई साहब हैं, जो आपसे प्रेम करते हैं। आप भी शायद—

रागिनी : जी हाँ, 'शायद' ही कहिए।

डा. : आप उनसे विवाह नहीं करना चाहतीं।

रागिनी : जी नहीं, बिल्कुल नहीं।

डा. : (हँसकर) आप तो 'बिल्कुल नहीं' इतने जोर से कह रही हैं, गोया थोड़ा-सा विवाह भी होता हो, और ज्यादा भी होता हो।

[रागिनी हँसती है।]

डा. : लेकिन आप उस बेचारे से विवाह क्यों नहीं करना चाहतीं ?

रागिनी : इसलिए कि वह मुझे बहुत प्यार करता है।

डा. : (चौंककर) ऐं ? बहुत प्यार करता है, इसलिए विवाह नहीं करना चाहतीं ? मुझे भी चौंका देनेवाली आप मिलीं। अपनी बात को साफ करिए।

रागिनी : बात यह है कि वह अगर कुछ कम प्यार करता, तो मैं उससे विवाह कर लेती। पर वह तो चौबीसों घण्टे सिवा प्रेम के कुछ करता ही नहीं है। हाय, उसाँस, तस्वीर, गाने, कसक, घण्टे-घण्टे प्रेम-निवेदन, रात को तारे गिनना, दिन को सूरज गिनना···आह ! मतलब यह कि जिन्दगी में अगर प्रेम ही प्रेम हुआ, तो कितनी ऊब आ जायेगी ? उसकी जिन्दगी भी खराब हो जायेगी, और मेरी भी।

डा. : आप अद्‌भुत हैं, देवीजी। कितने सुलझे हुए विचार हैं आपके। मुझे पहिली बार किसी ने प्रभावित किया है। मैं भी प्रेम को अच्छे जीवन के लिए साधना मानता हूँ, सम्पूर्ण जीवन नहीं। जीवन यदि मशीन है, तो प्रेम उसे ठीक चलाने के लिए 'मोबिलआइल' है। जो लोग मोबिलआइल को मशीन मान लेते हैं, उनकी लाशें तालाबों में तैरती हुई मिल जाती हैं।

रागिनी : कैसी अच्छी व्याख्या की है आपने। डाक्टर साहब आप अद्‌भुत आदमी हैं। मुझे आज तक कोई प्रभावित नहीं कर पाया था। लेकिन आपके विचार कैसे सीधे हृदय में पहुँचते हैं।

डा. : हृदय में ! नहीं देवी, विचार मस्तिष्क में पहुँचना चाहिए, हृदय में नहीं। हृदय में पहुँचने लगते हैं, तब इस रोग की पहली स्टेज शुरू होती है। आप भी सावधान हो जाइए और मैं भी होता हूँ।

रागिनी : हाऊ वण्डरफुल ! डाक्टर, आप बिल्कुल फरिश्ते की तरह बातें करते हैं।

डा. : देवीजी, यह मानते हुए कि जीवन और प्रेम के सम्बन्ध में आपके और मेरे विचार मिलते हैं, यह तो बतलाइए कि उस आदमी का क्या होगा ? वह तो मरने की बात करता है।

रागिनी : वह मरेगा नहीं डाक्टर। वह केवल फैशनेबुल बनता है। प्रेम की सबसे नयी फैशन है, मरने की बात करना। वह अप-टु-डेट आदमी है। उसे ऐसा कहने में सन्तोष प्राप्त होता है। वह पीड़ा में मजा लेता है। मैं अगर उसे मिल जाऊँ, तो दो दिनों में उसका यह पीड़ा का मजा खत्म हो जाय।

डा. : अच्छा, उस बेचारे का नाम क्या है ?

रागिनी : उसका नाम है···प्रणयदास।

डा. : (चौंककर) प्रणयदास !

रागिनी : क्यों, आप चौंके क्यों ?

डा. : यों ही, नाम बड़ा अच्छा है। तो अब मैं यह पूछना चाहता हूँ कि आप किसी से विवाह करेंगी या नहीं ?

रागिनी : करूँगी क्यों नहीं ? जरूर करूँगी ?

डा. : किससे विवाह करना चाहती हैं आप ?

रागिनी : सच बतलाऊँ ? डाक्टर, मैं आपसे विवाह करूँगी।

डा. : (घबड़ाकर) मुझसे ! यह क्या कह रही हैं आप ? नहीं, नहीं, देवी, डाक्टर को मत मारो। इतने प्रेमियों का क्या होगा ? उन्हें कौन रास्ता बतलायेगा ?

रागिनी : नहीं डाक्टर साहब, मैं आपको प्रेम करती हूँ। सम्पूर्ण हृदय से प्रेम करती हूं। आपके विचार कितने सुलझे हुए हैं।

डा. : (घबड़ाकर) कितने ही सुलझे हुए हों, कम्बख्त मुझे तो उलझा रहे हैं। नहीं, नहीं, देवी, मुझसे यह नहीं होगा। तुम तो उसी प्रणयदास से शादी कर लो।

[प्रणयदास क्रोध में कमरे से बाहर निकलता है।]

प्रणय. : हरगिज नहीं ! मैं इस झूठी, दगाबाज स्त्री से शादी करूँगा ? आधे घण्टे में ही प्रेम करने लगी डाक्टर से ! मुझे क्या मालूम कि यह ऐसी है। मैं अब तेरी छाया के पास भी नहीं आऊँगा। तू समझती है कि मुझे कोई लड़की ही नहीं मिलेगी। आज से सात दिन के अन्दर अगर तुझसे अच्छी दस लड़कियों से शादी न कर लूँ, तो मेरा नाम प्रणयदास नहीं। (हाँफता है।)

डा. : (प्रणयदास की पीठ ठोंककर) शाबाश, मेरा एक मरीज अच्छा हुआ। अब तुम बिल्कुल अच्छे हो गये, जाओ। जाओ जल्दी, कहीं बीमारी 'रिलैप्स' न हो जाय।

[प्रणयदास 'नमस्ते' कहकर चला जाता है।]

डा. : लीजिए, एक मरीज तो अच्छा हुआ। आपका रोग भी जाता रहा। आप उससे पीछा छुड़ाना चाहती थीं न ? सो वह खुद छोड़ गया। अब आप भी जाइए।

रागिनी : मैं कहाँ जाऊँ डाक्टर ? मेरे लिए तो अब कहीं कुछ नहीं है। जीवन में पहिली बार आपको सम्पूर्ण हृदय से प्रेम किया है; मगर आप ऐसे कठोर हैं...

डा. : देवी, देवी, तुम जाओ, मुझे तुमसे बहुत डर लगता है। हजारों मरीज देखे हैं, लेकिन ऐसा नहीं देखा। जाओ, मुझे प्रेम करना ही नहीं आता।

रागिनी : (हँसकर) कैसी सरल और भोली बातें करते हैं आप डाक्टर! आपके-जैसा आदमी ही सच्चा प्रेम कर सकता है। ओह!

डा. : बड़ी मुसीबत है। देवीजी, आप क्या चाहती हैं? जाइए न?

रागिनी : डाक्टर, मैं आपसे प्रेम करती हूँ; विवाह करना चाहती हूँ। सोचिए तो, अपना जीवन कितना सुखमय होगा, कितना सफल होगा। स्त्री और पुरुष जीवन-रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं। दोनों के अलग-अलग रहने से जीवन की गाड़ी नहीं चल सकती, इसलिए···

डा. : बस बन्द करो। मेरी तबियत खराब हो रही है।

रागिनी : (आवेश में) दोनों पहियों को जुड़ना ही चाहिए। पर फिर भी दोनों पहिये एक ही प्रकार के, बराबर होने चाहिए, नहीं तो गाड़ी ठीक नहीं चलेगी···

डा. : बस बन्द करो, रागिनीजी! मुझे न जाने कैसा लगता है।

रागिनी : अहा, कैसा अच्छा लगता है। आपके मुख से मेरा नाम! आज मेरा नाम सफल हो गया। बोलिए, पिताजी को यह शुभ समाचार सुना दूँ?

डा. : (ठण्डी साँस छोड़कर) सुना दो! सुना दो! अपनी जीत का समाचार, सुना दो मेरी पराजय का समाचार!

रागिनी : ऐसा मत कहिए। मैं तो आपकी सेविका हूँ।

डा. : सब ऐसा ही कहती हैं, और बाद में मालकिन बन बैठती हैं। खैर, जो कुछ करना हो जल्दी करो, जाओ। अरे प्रेमभीरु भैया! मेरे नाम का बोर्ड दूसरा बनवा ले·· नाम बदलवा ले। 'अनंगमर्दन' की जगह 'अनंगसेवक' नाम लिखवाना···और बाहर नोटिस लगा दे कि आज से यह अस्पताल बन्द हो गया। इसका दिवाला निकल गया।

प्रेम. : फिर मेरा क्या होगा सरकार?

डा. : तू भी जाकर किसी से शादी कर ले और फिर जैसा वह कहे, वैसा कर।

प्रेम. : अरे बाप रे! यह पहिले ही कह दिया होता।

डा. : चलो विश्वमोहिनीजी, आपके पिता की अदालत में चलकर हाजिर हों। जैसे पुराने जमाने में वीर क्षत्राणी जंगली जानवर को मारकर गर्वपूर्वक घर ले जाती थी, उसी गर्व से आप मुझे ले चलिए। चलिए, चलिए, चलिए···

[दोनों जाते हैं।]

'अखिल भारतीय मन्त्री संघ' का पत्र*

आदरणीय डॉ. राधाकृष्णन साहब,

अखिल भारतीय मन्त्री संघ के अध्यक्ष की हैसियत से मैं आपको अपना निर्णय बदलकर पुनः उपराष्ट्रपति बनने को तैयार होने के लिए कोटि-कोटि धन्यवाद देता हूँ। हमारा संघ अभी नया ही है। इसमें भारत के राज्यों और संघ के मन्त्रिगण शामिल हैं। आज जब चपरासियों तक के श्रमिक-संघ बन गये हैं, तब मन्त्रियों का अपना कोई ट्रेड यूनियन न हो यह लज्जास्पद बात थी! अतएव हमने मन्त्रियों के हितों की रक्षा के लिए, वेतन और भत्ते में वृद्धि के लिए, भाषण-उद्घाटन-अभिनन्दनों में वृद्धि के लिए, बँगले, बगीचे और कारों के उच्च स्तर के लिए इस संघ की स्थापना की है।

अभी हमने केरल के मन्त्रियों के उस निर्णय की घोर निन्दा की है, जिसके द्वारा उन्होंने 350 रु. मासिक वेतन लेने का निश्चय किया है। अपनी जाति के हितों पर इस प्रकार कुठाराघात करना, प्रजातन्त्र में अशोभनीय है। अस्तु।

आपके इस वक्तव्य से कि आप रिटायर होकर स्वेच्छा से रिटायर होने की स्वस्थ परम्परा डाल रहे हैं, हम सबको बड़ी चिन्ता हो गयी थी। यह निर्णय नीति-विरुद्ध, धर्मविरुद्ध और समाजविरुद्ध था। हम तब तक अपने पद पर रहेंगे, जब तक कि हमारी स्टेट फ्यूनरल (राजकीय सम्मान से अन्त्येष्टि) न हो जाय। हमें स्टेट फ्यूनरल के सिवा कोई और पद से नहीं निकाल सकता। हम बूढ़े हो जावें, काम के योग्य न रहें, सठिया जावें—कुछ भी हो, हमें डटे रहने का अधिकार है। हमें एक बार मन्त्री बनाया है तो आखिर तक बनाये रखना पड़ेगा।

हे महामहिम! आपने हमारी इस स्वस्थ परम्परा को कायम रखकर हमारा बड़ा उपकार किया। वरना हमें तो चिन्ता होने लगी थी। अगर स्वेच्छा से रिटायर होने की यह बीमारी फैल गयी तो हमारा क्या होगा?

आपका आभारी
एक बूढ़ा मन्त्री

* प्रहरी, 14 अप्रैल, 1957

कैदी छोड़ दिये गये

केरल के इस समाचार से कि साम्यवादी मन्त्रिमण्डल ने सब कैदियों को छोड़ दिया है, कांग्रेस के महामन्त्री श्रीमन्नारायण बहुत नाराज हुए हैं। वे कहते हैं कि साम्यवादियों ने गुण्डों, चोरों, उचक्कों, हत्यारों को छोड़ दिया है।

श्रीमानजी की चिन्ता का आधार यह है कि ये सब अब कांग्रेस टिकिट माँगेंगे। वैसे ही जेल के बाहर के गुण्डों को टिकिट देते-देते परेशान हैं। अब ये सब माँगेंगे तो किस-किसको देंगे?

गप्पियों का देश*

पाकिस्तान में हर साल एक गप्प-सम्मेलन होता है जिसमें सबसे बड़ा झूठ बोलनेवाले को इनाम मिलता है। गत वर्ष इनाम पानेवाली गप्प यह थी—

'उत्तर के बर्फानी इलाके में एक कुत्ता खरगोशों का पीछा कर रहा था। इतने में बर्फ गिरने लगा और खरगोश तथा कुत्ता वहीं बर्फ में दब गये। 6 माह बाद गर्मी का मौसम आया और बर्फ पिघला तो लोगों ने देखा कि खरगोश भागे जा रहे हैं और कुत्ता उनका पीछा कर रहा है।'

यह गप्प-सम्मेलन कोई मजाक नहीं है। यह एक प्रकार का पब्लिक सर्विस कमीशन है। जो आदमी सबसे बड़ी गप्प हांक सकता है उसे सरकार विदेश मन्त्रालय का सलाहकार बना लेती है और उसे यह काम दिया जाता है कि विदेशी मामलों में वह अच्छा-से-अच्छा झूठ ईजाद करे। इस झूठ को पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री और विदेशमन्त्री अपने भाषणों में जोड़ लेते हैं। काश्मीर के सम्बन्ध में इसलिए पाकिस्तान इतनी जल्दी ऐसे अच्छे-अच्छे झूठ कहता जाता है।

सबसे ताजा झूठ यह है कि पंजाब की पाँचों नदियाँ काश्मीर से निकलती हैं। इस झूठ ने भूगोल को भी झूठा कर दिया। यह बात पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री ने कही है। भूगोल कहती है कि केवल झेलम काश्मीर से निकलती है, शेष या तो बाहर हिमालय से या तिब्बत से। मगर पाकिस्तान के गप्पी सलाहकार ने प्रधानमन्त्री को यही सलाह दी होगी कि सब नदियों को भी काश्मीर से जोड़ दो, भूगोलशास्त्र की परवाह मत करो।

* प्रहरी, 15 अगस्त, 1957

अपनी सरकार को भी कुछ गप्पियों को सलाहकार बनाना चाहिए। वैसे देशी मामलों में तो सरकार का हर मन्त्री, अफसर झूठ बोल लेता है। विकास योजना की रिपोर्टें झूठों से भरी रहती हैं, आँकड़े अधिकांश झूठ होते हैं।

लिखा कृष्णामाचारी को*

भद्र,

तुमने संसद में जो खर्च पर टैक्स पास करा लिया है, सो अच्छा हो गया। अब तो इलाज कराने पर भी टैक्स लगेगा, शादी कराने पर भी, बाप का श्राद्ध करने पर भी। अब तुम साँस लेने, छींकने, पेशाब करने पर भी टैक्स लगा दो। जब टैक्स के डर से आदमी नाक बन्द करके छींक को रोकेगा, तब मजा आ जायगा।

यह भी तुमने अच्छा किया कि रेस-हॉर्सेस पर टैक्स नहीं लगाया—इस तरह तुमने दुनिया के सबसे बड़े घुड़दौड़बाज़ मरहूम आगाखाँ की आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित की।

अब तुम चिन्ता में होगे कि आगे किस चीज पर टैक्स लगाया जाय। मैं तुम्हें वह चीज बताता हूँ जो तुम कभी सोच ही नहीं सकते। क्योंकि वह चीज दिल से सम्बन्ध रखती है और अर्थशास्त्रियों के दिल नहीं होता। तुम्हारे मन्त्रिमण्डल में नेहरू और मेनन के पास दिल है, क्योंकि पहिले ने युवावस्था से विधुर रहकर और दूसरे ने अविवाहित रहकर दिल बचा लिया है। थोड़ा-सा केसकर के पास भी होगा--संगीतवाला आदमी है।

तो वह चीज जिस पर तुम टैक्स लगा सकते हो, है—प्रेम! यह गेहूँ की तरह ही उपयोगी है, इसलिए इस पर टैक्स भी बड़े विस्तृत क्षेत्र में लागू होगा।

तुम एक नया मुहकमा खोलो--'रजिस्ट्रेशन ऑफ लवर्स' और कानून बनाओ कि कोई स्त्री-पुरुष बिना रजिस्ट्रेशन के प्रेम नहीं कर पावेंगे। प्रेम के लिए पंचवर्षीय और दसवर्षीय सर्टिफिकेट जारी करो। जो बिना रजिस्ट्रेशन के प्रेम करें उन पर वही कार्यवाही करो, जो इन्कमटैक्स या सेलसटैक्स बचानेवालों पर होती है—याने मुकदमा चलाओ।

जो गुप्तचर विभाग अब तक 'अघोर भैरव'-जैसे लोगों के पीछे लगा रहता है, उसे प्रेमी-प्रेमिकाओं की खोज में लगाओ। जो बिना टैक्स दिये प्रेम करते हैं, उन्हें यह विभाग पुलिस से गिरफ्तार कराके अदालत में पेश करे।

* प्रहरी, 8 सितम्बर, 1957

लेकिन एक खास किस्म का प्रेम होता है—अलक्षित, मौन प्रेम। इसके कोई लक्षण बाहर नहीं दिखते, यह भीतर-ही-भीतर होता है। इसकी जांच के लिए अमेरिका में नये क़िस्म के यन्त्र मिलते हैं, जिनसे हृदय की धड़कन के द्वारा प्रेम ज्ञात हो जाता है। इसकी ट्रेनिंग के लिए अमेरिका से विशेषज्ञ बुलाओ और कुछ उर्दू कवियों को पहिले शिक्षित कराओ, क्योंकि उर्दू में 500 वर्षों से दिल की धड़कन के आँकड़े ही निकाले जा रहे हैं।

अब इसमें एक लाभ और होगा—गृहस्थ लोग इस टैक्स से बच जावेंगे, क्योंकि कितना भी अच्छा यन्त्र लगाओ उनके हृदय में कहीं कोई हलचल नहीं मिलेगी। 10 प्रतिशत अपवाद होंगे इसके। याने इस टैक्स का सारा बोझ अविवाहितों पर ही पड़ेगा। गत वर्ष तुमने अविवाहितों पर ज्यादा इन्कमटैक्स लगा ही दिया है, अब प्रेम-टैक्स भी लग जाय। और इस पंचवर्षीय योजना के लिए देश के युवक-युवतियों का त्याग सबसे अधिक हो जाय।

मुझे विश्वास है कि तुम इस सम्बन्ध में शीघ्र ही संसद में एक विधेयक रखोगे। इस विषय पर मन्त्रिमण्डल में विचार मत करना, क्योंकि पन्त इसका एकदम विरोध करेंगे—दुनिया-भर के गृहमन्त्रियों के दिल में लाठी-गोली भरी रहती है।

आशा है स्वस्थ और प्रसन्न होंगे।

तुम्हारा
'अघोर भैरव'

जले झोंपड़े और विजयी विश्व तिरंगा प्यारा !*

गोरखपुर में 'अघोर भैरव' के मकान के सामने गरीबों की झोंपड़ियाँ उस दिन आग से भस्म हो गयीं। 5 जानें गयीं। एक तो पूरा परिवार ही भीतर भस्म हो गया। अगर फूस की झोंपड़ी को आग लपेट ले तो आदमी कहाँ से बचे ? लोग कहते पाये गये—'आग भी गरीबों को जलाती है।' आग तो सबको जलाती है। उसका क्या कसूर ? कसूर तो उस व्यवस्था का है जिसमें मजदूर है, तब उसे निकलने की जगह नहीं मिलती और वह वहीं भस्म हो जाता है।

खैर, 'समाजवादी ढंग' की व्यवस्था की तैयारी हो रही है।

ढंग पर से दूसरी बात याद आयी। झोंपड़ों के जलने के तीसरे दिन जब मैंने सुबह उस स्थान की ओर नजर घुमायी तो देखा कि टट्टों के छप्पर तने हैं। किसी ने

* प्रहरी, 11 मई, 1958

छप्पर आदि देखकर इन 30-40 परिवारों के सिर पर छाया कर दी। लेकिन मैं, संरक्षण के लिए, चकित हो गया यह देखकर कि एक झोंपड़ी पर लहरा रहा है अपना 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा !'

जी हाँ, वही तिरंगा प्यारा जिसके बीच में चरखा है। सोचा, यह कौन-सा ढंग है।

परसों यहाँ झोंपड़े जले, लोगों का सर्वस्व भस्म हो गया। 5 आदमी समाप्त हो गये। उनकी लाश पर यह 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' कौन-सा विजय-पर्व मना रहा है ?

समझ में आया, राजनीतिक लोग बड़े चतुर होते हैं। तिरंगावालों ने इन पीड़ितों की कुछ सहायता की थी। अन्य झण्डेवालों ने भी की थी। जिनका कोई रंग नहीं है, झण्डा नहीं है, ऐसे विशुद्ध नागरिकों ने भी मदद की। दिल को दहला देनेवाले उस काण्ड की याद से ही कम्प आता है। कई लोगों ने अपने-आप उन भाइयों को मदद पहुँचायी। मगर होशियार निकले तिरंगेवाले ! उन्होंने झण्डा ही गाड़ दिया !

उन पांच आदमियों की राख पर अपनी पार्टी का झण्डा ! इस महानाश के स्वप्न पर तिरंगा प्यारा ! मनुष्य के दुख का अपने स्वार्थ के लिए दुरुपयोग करने का कितना घृणित, कितना नीच तरीका है।

गोया उनका दुख कोई दुख नहीं है। वे पाँच मर गये, तो मर गये ! 30-40 परिवारों के बर्तन, कपड़े नष्ट हुए, सो कोई बात नहीं। उनके आत्मीय जो देखते-देखते भस्म हो गये, तो हो जावें। मगर, हे गरीबो ! हे पीड़ितो ! हमने तुम्हारी थोड़ी-सी सहायता की है। वह छोटी-सी सहायता पानेवालो, याद रखना कि हम तिरंगा प्यारावाले हैं, हम तुम्हारे काम आये हैं ! इसीलिए हमने तुम्हारी छाती पर तिरंगा गाड़ दिया है। चुनाव के मौके पर तिरंगा प्यारा को याद रखना ! हम मानवीय करुणा से उद्वेलित होकर तुम्हारी मदद नहीं कर रहे हैं, हम कोई दानी नहीं हैं, हम सहानुभूति से द्रवित होकर तुम्हारी मदद को नहीं आये हैं। आफत के मारे लोगो, हम तो इस तिरंगा प्यारा को गाड़ने के लिए सहायता का ढोंग रच रहे हैं।

मनुष्य की दुर्दशा का क्या राजनैतिक उपहास है ! अत्यन्त क्रूर, घृणित और दानवी।

तिरंगा प्यारावाले ही नहीं, वे सब जो इस दुखद स्थिति का उपयोग अपनी पार्टी के स्वार्थ के लिए कर रहे हैं, उन पीड़ितों को राजनैतिक लंगीबाज़ी के लिए नचा रहे हैं, जो इस मुसीबत में भी 'वोट' ही नहीं भूल पाते, मनुष्य के दुख का घोर अपमान और उपहास कर रहे हैं।

तुम कार्पोरेशन के भीतर लड़ो न। तुम तिलकभूमि में परस्पर वाक्युद्ध करो। पर जिसका भाई जल मरा है, जिसकी बीमार बीवी-बच्चे पड़े-पड़े राख हो गये, उसकी छाती पर अपना झण्डा गाड़ोगे ?

मुक्तिबोध

राजनांदगाँव में तालाब के किनारे पुराने महल का दरवाजा है—नीचे बड़े फाटक के आसपास कमरे हैं, दूसरी मंजिल पर एक बड़ा हॉल और कमरे, तीसरी मंजिल पर कमरे और खुली छत। तीन तरफ से तालाब घेरता है। पुराने दरवाजे और खिड़कियाँ, टूटे हुए झरोखे, कहीं खिसकती हुई ईंटें, उखड़े हुए पलस्तर की दीवारें। तालाब और उसके आगे विशाल मैदान। शाम को जब ज्ञानरंजन और मैं तालाब की तरफ गये और वहाँ से धुंधलके में उस महल को देखा, तो एक भयावह रहस्य में लिपटा वह नजर आया।

दूसरी मंजिल के हॉल के एक कोने में विकलांग मुक्तिबोध खाट पर लेटे थे। लगा, जैसे इस आदमी का व्यक्तित्व किसी मजबूत किले-सा है। कई लड़ाइयों के निशान उस पर हैं। गोलों के निशान हैं, पलस्तर उखड़ गया है, रंग समय ने धो दिया है—मगर जिसकी मजबूत दीवारें गहरी नींव में जमी हैं और वह सिर ताने गरिमा के साथ खड़ा है।

मैंने मजाक की, "इसमें तो ब्रह्मराक्षस ही रह सकता है।"

मुक्तिबोध की एक कविता है, 'ब्रह्मराक्षस'। एक कहानी भी है जिसमें शापग्रस्त ब्रह्मराक्षस महल के खँडहर में रहता है।

मुक्तिबोध हँसे। बोले, "कुछ भी कहो पार्टनर, अपने को यह जगह पसन्द है।"

मुक्तिबोध में मैत्री-भाव बहुत था। बहुत-सी बातें वे मित्र को सम्बोधित करते हुए कहते थे। कविता, निबन्ध, डायरी सबमें यह 'मित्र' प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से रहता है। एक खास अदा थी उनकी। वे मित्र को 'पार्टनर' कहते थे। कुछ इस तरह बातें करते थे—'कुछ भी कहो पार्टनर, तुम्हारा यह विनोद है ताकतवर···आपको चाहे बुरा लगे पार्टनर, पर अमुक आदमी अपने को तो बिल्कुल नहीं पटता।' ज्यादा प्यार में आते तो कहते—'आप देखना मालक, ये सब भागते नजर आयेंगे।'

मुक्तिबोध जैसे सपने में डूबते-से बोले, "जहाँ आप बैठे हैं वहाँ किसी समय राजा की महफिल जमती थी। खूब रोशनी होती होगी, नाच-गाने होते होंगे। तब यहाँ ऐश्वर्य की चकाचौंध थी। कुछ भी कहो, पार्टनर, 'फ्युडलिज्म' (सामन्तवाद) में एक शान तो थी···बरसात में आइए यहाँ। इस कमरे में रात को सोइए। तालाब खूब जोर पर होता है, साँय-साँय हवा चलती है और पानी रात-भर दीवारों से टकराकर छप-छप करता है···कभी-कभी तो ऐसा लगता है, जैसे कोई नर्तकी नाच रही हो, घुंघरुओं की आवाज सुनायी पड़ती है। पिछले साल शमशेर आये थे। हम लोग 2-3 बजे सुबह तक सुनते रहे···और पार्टनर बहुत खूबसूरत उल्लू···मैं क्या बताऊँ आपसे, वैसा खूबसूरत उल्लू मैंने कभी देखा ही नहीं···कभी चमगादड़ें घुस आती हैं"···बड़े उत्साह से वे उस वातावरण की बातें करते रहे। अपनी बीमारी का ज़रा अहसास नहीं।

दोपहर में हम लोग पहुँचे थे। हमें देखा, तो मुक्तिबोध सदा की तरह--'अरे वाह, अरे वाह', कहते हुए हँसते रहे। मगर दूसरे ही क्षण उनकी आँखों में आँसू छलक पड़े। डेढ़-एक महीने पहले वे जबलपुर आये थे। एक्जिमा से परेशान थे। बहुत कमजोर। बोलते-बोलते दम फूल आता था। तब मुझे वे बहुत शंकाग्रस्त लगे थे। डरे हुए-से। तब भी उनकी आँखों में आँसू छलछला आये थे, जब उन्होंने कहा था—'पार्टनर अब बहुत टूट गये हम। ज्यादा गाड़ी खिंचेगी नहीं। दस, पाँच साल मिल जायें, तो कुछ काम जमकर कर लूं।'

आँसू कभी पहले उनकी आँखों में नहीं देखे थे। इस पर हम लोग विशेष चिन्तित हुए। मित्रों ने बहुत जोर दिया कि आप यहाँ एक महीने रुककर चिकित्सा करा लें। पर उन्हें रुग्ण पिता को देखने नागपुर जाना था। सप्ताह-भर में लौट आने का वादा करके वे चले गये। फिर वे लौटे नहीं।

क्षण-भर में ही वे सँभल गये। पूछा, "आप लोगों का सामान कहाँ है?"

शरद कोठारी ने कहा, "मेरे घर रखा है।"

वे बोले, "वाह साहब, इसका क्या मतलब? आप लोग मेरे यहाँ आये हैं न?"

हम लोगों ने परस्पर देखा। शरद मुस्कराया। इस पर हम लोग मुक्तिबोध को कई बार चिढ़ाया करते थे—'गुरु, कितने ही प्रगतिशील विचार हों, आपके, आदतों में 'फ्यूडल' हो। मेरा मेहमान है, मेरे घर सोयेगा, मेरे घर खायेगा, कोई बिना चाय पिये नहीं जायेगा, होटल में मैं ही पैसे चुकाऊँगा, सारे शहर को घर में खाना खिलाऊँगा —यह सब क्या है?'

शरद को मुस्कराते देख वे भी मुस्करा दिये। बोले, "यह आपकी अनधिकार चेष्टा है, बल्कि साजिश है।"

यह औपचारिक नहीं था। मुक्तिबोध की किसी भावना में औपचारिकता नहीं—न स्नेह में, न घृणा में, न क्रोध में। जिसे पसन्द नहीं करते थे, उसकी तरफ घण्टे-भर बिना बोले आँखें फाड़े देखते रहते थे। वह घबड़ा जाता था।

बीमारी की बात की, तो वैज्ञानिक तटस्थता से—जैसे ये हाथ-पाँव और यह सिर उनके नहीं, किसी दूसरे के हैं। बड़ी निर्वैयक्तिकता से, जैसे किसी के अंग-अंग काटकर बता रहे हैं कि बीमारी कहाँ है, कैसे हुई, क्या परिणाम है?

"तो यह है साहब, अपनी बीमारी"—बोलकर चुप हो गये।

फिर बोले, "चिट्ठियाँ आती हैं कि आप यहाँ आ जाइए या वहाँ चले जाइए। पर कैसे जाऊं? जाना क्या मेरे वश की बात है?···हाँ, एक भयंकर कविता हो गयी। सुनाऊँगा नहीं। मुझे खुद उससे डर लगता है। बेहद डार्क, ग्लूमी! भयंकर 'इमेजें' हैं। न जाने कैसी मनःस्थिति थी। कविता वात्स्यायनजी को भेज दी है।···पर अब लगता है, वैसी बात है नहीं। जिन्दगी में दम है। बहुत अच्छे लोग हैं, साथ। कितनी चिट्ठियाँ चिन्ता की आयी हैं। कितने लोग मुझे चंगा करना चाहते हैं! कितना स्नेह, कितनी ममता है, आसपास!···पार्टनर, अब एक दूसरी कविता लिखी जायेगी। यानी ठीक बात लिखी जायगी।"

ज्ञानरंजन ने कहा, "पिछली भी सही थी और अब जो होगी, वह भी सही होगी।"

वे आश्वस्त-से लगे। हम लोगों ने समझाया कि बीमारी मामूली है, भोपाल में एक-दो महीने में ठीक हो जायेगी।

उनकी आँखों में चमक आ गयी। बोले, "ठीक हो जायेगी न ! मेरा भी यही खयाल है। न हो पूरी ठीक, कोई बात नहीं। मैं लँगड़ाकर चल लूंगा। पर लिखने-पढ़ने लायक हो जाऊँ।"

इतने में प्रमोद वर्मा आ गये। देखते ही मुक्तिबोध फिर हँस पड़े, "लो, अरे लो, ये भी आ गये ! वाह, बड़ा मजा है, साहब !"

प्रमोद और मैं शान्ता भाभी तथा रमेश से सलाह करने दूसरे कमरे में चले गये। इधर मुक्तिबोध ज्ञानरंजन से नये प्रकाशनों पर बातें करने लगे।

तय हुआ कि जल्दी भोपाल ले चलना चाहिए। मित्रों ने कुछ पैसा जहाँ-तहाँ से भेज दिया था। हम लोगों ने सलाह की कि इसे रमेश के नाम से बैंक में जमा कर देना चाहिए।

मुक्तिबोध पर बड़ी विचित्र प्रतिक्रिया हुई इसकी। बिल्कुल बच्चे की तरह वे खीझ उठे। बोले, "क्यों ? मेरे नाम से खाता क्यों नहीं खुलेगा ? मेरे ही नाम से जमा होना चाहिए। मुझे क्या आप लोग गैर-जिम्मेदार समझते हैं ?"

वे अड़ गये। खाता मेरे नाम से खुलेगा। थोड़ी देर बाद कहने लगे, "बात यह है पार्टनर कि मेरी इच्छा है ऐसी। 'आई विश इट'। मैं नहीं जानता कि बैंक में खाता होना कैसा होता है। एक नया अनुभव होगा मेरे लिए। तर्कहीन लालसा हो—पर है जरूर, कि एक बार अपना भी एकाउण्ट हो जाये ! ज़रा इस सन्तोष को भी देखूँ।"

मुक्तिबोध हमेशा ही घोर आर्थिक संकट में रहते थे। अभावों का ओर-छोर नहीं था। कर्ज से लदे रहते थे। पैसा चाहते थे, पर पैसे को ठुकराते भी थे। पैसे के लिए कभी कोई काम विश्वास के प्रतिकूल नहीं किया। अचरज होता था कि जिसे पैसे-पैसे की तंगी है, वह रुपयों का मोह बिना खटके के कैसे छोड़ देता है। बैंक में खाता खुलेगा—यह कल्पना उनके लिए बड़ी उत्तेजक थी। गजानन माधव मुक्ति-बोध का बैंक में खाता है—यह अहसास वे करना चाहते थे। वे शायद अधिक सुरक्षित भी अनुभव करते।

तभी एक ज्येष्ठ लेखक की चिट्ठी आयी कि आप घबड़ायें नहीं, हम कुछ लेखक जल्दी ही अखबार में आपकी सहायता के लिए अपील प्रकाशित करा रहे हैं।

चिट्ठी पढ़कर मुक्तिबोध बहुत उत्तेजित हो गये। झटके से तकिये पर थोड़े उठ गये और बोले, "यह क्या है ? दया के लिए अपील निकलेगी ! अब, भीख माँगी जायेगी मेरे लिए ! चन्दा होगा ! नहीं—मैं कहता हूँ—यह नहीं होगा। मैं अभी मरा थोड़े ही हूँ। मित्रों की सहायता मैं ले लूंगा—लेकिन मेरे लिए चन्दे की अपील ! नहीं। यह नहीं होगा !"

हम लोगों ने उन्हें समझाया कि आपकी भावना से उन्हें परिचित करा दिया जायेगा और अपील नहीं निकलेगी।

उस शाम को रमेश ने एक चिट्ठी लाकर दी, जिसमें बीस रुपये के नोट थे। चिट्ठी उनके एक विद्यार्थी की थी। उसने लिखा था कि मैं एक जगह काम करके पढ़ाई का खर्च चला रहा हूँ। आपके प्रति मेरी श्रद्धा है। मैं देख रहा हूँ कि अर्थाभाव के कारण आप-जैसे साहित्यकार की ठीक चिकित्सा नहीं हो पा रही है। मैंने ये बीस रुपये बचाये हैं। इन्हें आप ग्रहण करें। ये मेरी ही कमाई के हैं, इसलिए आप इन्हें लेने में संकोच न करें। स्वयं आपको रुपये देने का साहस मुझमें नहीं है, इसलिए इस तरह पहुँचा रहा हूँ।

चिट्ठी और रुपये हाथ में लिये वे बड़ी देर तक खिड़की के बाहर देखते रहे। उनकी आँखें भर आयीं। बोले, "यह लड़का गरीब है। उससे कैसे पैसे ले लूं?"

वहाँ एक अध्यापक बैठे थे। उन्होंने कहा, "लड़का भावुक है। वापस कर देंगे, तो उसे चोट पहुँचेगी।" मुक्तिबोध बहुत द्रवित हो गये इस स्नेह से। बड़ी देर तक गुमसुम बैठे रहे।

भोपाल जाने की तैयारी होने लगी। उनका मित्र-भाव फिर जाग उठा। मुझसे कहने लगे, "पार्टनर, मैं आपसे एक साफ बात कहना चाहता हूँ। बुरा मत मानना। देखिए, आपकी जीविका लिखने से चलती है। आप अब भोपाल मेरे साथ चलेंगे। वहाँ रहेंगे। आप लिख नहीं पायेंगे, तो आपको आर्थिक कष्ट होगा। मैं कहता हूँ कि आप मेरे पैसे को अपना पैसा समझकर उपयोग में लाइए!"

मुक्तिबोध बहुत गम्भीर थे। हम लोग एक-दूसरे की तरफ देख रहे थे।

वे मेरी तरफ जवाब के लिए आँखें उठाये थे और हम लोग हँसी रोके थे।

तभी मैंने कहा, "आपके पैसे को अपना पैसा समझने को तैयार हूँ। पर पैसा है कहाँ?"

प्रमोद जोर से हँस दिया। मुक्तिबोध भी हँस पड़े। फिर एकदम गम्भीर हो गये। बोले, "हाँ, यही तो मुश्किल है। यही तो गड़बड़ है।"

जो थोड़े-से पैसे उनके हाथ में आ गये थे, वे कुलबुला रहे थे। उन्हें कितने ही कर्त्तव्य याद आ रहे थे। कोई मित्र कष्ट में है, किसी की पत्नी बीमार है, किसी की लड़की बीमार है, किसी के बच्चों के लिए कपड़े बनवाना है। उस अवस्था में जब वे खुद अपंग हो गये थे और अर्थाभाव से पीड़ित थे, वे दूसरों पर इन पैसों को खर्च कर देना चाहते थे। आगे भोपाल में तो इस बात पर उनसे बाकायदा युद्ध हुआ और बड़ी मुश्किल से हम उन्हें समझा सके कि रोगी का किसी के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं होता; सबके कर्त्तव्य उसके प्रति होते हैं।

और उस रात जब हम लोग गाड़ी पर चढ़े, तो साथ में रिमों कागज था। मुक्तिबोध ने हठ करके पूरी कविताएँ, अधूरी कविताएँ, तैयार पाण्डुलिपियाँ सब लदवा लीं। बोले, "यह सब मेरे साथ जायेगा। एकाध हफ्ते बाद मैं कुछ काम करने लायक हो जाऊँगा, तो कविताएँ पूरी करूँगा, नयी लिखूंगा और पाण्डुलिपियाँ दुरुस्त

करूँगा। अपने से अस्पताल में बेकार पड़ा नहीं रहा जायेगा, पार्टनर !··· और हाँ, वह पासबुक रख ली है न ?"

पर उन कागजों पर मुक्तिबोध का न फिर हाथ चल सका और न वे एक चेक काट सके।

जिन्दगी बिना कविता-संग्रह देखे और बिना चेक काटे गुजर गयी।

लेख, भाषण, वक्तव्य

स्वागत भाषण*

श्री दीपेन घोषजी, ओमप्रकाश गुप्तजी, एस. के. व्यास तथा तार यान्त्रिक कर्मचारी साथियो और मित्रो,

आप सब कर्मचारी मित्रों और साथियों के संगठन के 8वें अधिवेशन के अवसर पर मैं आप सबका हृदय से स्वागत करता हूँ। मेरी यह हैसियत तो नहीं है कि मैं अधिकारपूर्वक इस नगर की ओर से आपका स्वागत करूँ, क्योंकि मैं नगर का प्रतिनिधित्व करनेवाले किसी राजनैतिक पद को धारण नहीं करता। यह भी ठीक ही है क्योंकि कार्पोरेशन परसों ही भंग हुई है। मैं एक प्रगतिशील श्रमजीवी लेखक की हैसियत से, तथा कुछ संगठनों की ओर से आपका स्वागत करता हूँ। मैं राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासंघ की ओर से, अखिल भारतीय शान्ति और एकता संगठन की ओर से, भारत-रूस सांस्कृतिक संघ की ओर से भी आपका स्वागत करता हूँ।

मैं खुद श्रमजीवी लेखक हूँ। कलम का मजदूर हूँ। इस कारण मैं आपका साथी हूँ और आपके वर्ग का। इस नाते मैं कामना करता हूँ कि आप अपने विभाग से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करें, अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का संकल्प करें और देश की परिवर्तनशील व्यापक परिस्थिति में अपनी भूमिका तय करें।

मैं लेखक हूँ, जिसके अनुभव और चिन्तन का दायरा व्यापक होता है, इसलिए एक-दो बातें आप लोगों से कहूँगा जिन पर भी आप लोग विचार करें। आमतौर पर स्वागत-भाषण में ये बातें न कही जातीं, न सुनी जातीं। मगर आप लोग एक लेखक से अपना स्वागत कराने की जो भूल कर बैठे हैं, तो नतीजे में उसकी कुछ बातें सुननी ही पड़ेंगी, चाहे वे आपको अच्छी न लगें।

श्रमिक संगठन का प्रधान उद्देश्य श्रमिकों के हितों की रक्षा करना होता है। आपका संगठन भी यह करता है और करना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही मेरा विचार है कि श्रमिक संगठनों को अपने चरित्र और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अपनी प्रमुख भूमिका का अहसास होना चाहिए। याने संगठित श्रमजीवी वर्ग को अपने को एक क्रान्तिकारी शक्ति समझना चाहिए और इसके लिए विचार-भूमि बनानी चाहिए और तद्नुसार संगठन करना चाहिए। मैं सिर्फ आप लोगों के बारे

* अ. भा. तार यान्त्रिक कर्मचारी संघ के 8वें परिमण्डल अधिवेशन, (जबलपुर) में स्वागत-भाषण।

में यह नहीं कहता, बल्कि अपने अनुभव के आधार पर यह कहता हूँ कि हमारे देश में श्रमिक संगठन का अर्थ केवल वेतन, भत्ता, बोनस और ओवर टाइम रह गया है। इसके सिवा कुछ नहीं है। श्रमिक संगठन सिर्फ पैसे की लड़ाई लड़ते हैं, अर्थवाद (इकानामिज्म) के चक्कर में पड़े हैं और अर्थवाद बहुत घातक चीज है। यह क्रान्ति-विरोधी है और स्वयं श्रमिकों तथा देश के लिए नुकसानदेह है। केवल अर्थवाद से श्रमिकों की शक्ति न विकसित होती न तैयार होती जो अन्ततः एक देशव्यापी संघर्ष से उस व्यवस्था को बदलकर नयी व्यवस्था स्थापित करती है, जो एक विभाग को, एक तबके को, एक कारखाने को ही नहीं, सबको न्याय देती है। अलग-अलग आर्थिक लड़ाई से तात्कालिक लाभ अलग-अलग मिलते हैं, मगर स्थायी, व्यापक रूप से जीवनस्थिति में सुधार ज्यादा बड़े संघर्ष से होगा, जो सिर्फ आर्थिक नहीं होगा। मैं देखता हूँ अपने संगठन का, अपने नेता का, अपने झण्डे का, अपने नारे का सिर्फ एक ही अर्थ, एक ही उपयोग, एक ही उद्देश्य श्रमिक मानता है कि यह वह है जो बोनस दिलाता है, वेतन-भत्ता दिलाता है, सस्पेण्ड हो गये तो बहाल कराता है। याने संगठन, नेता, झण्डा, घोषणापत्र, सिद्धान्त—पैसा है, सिर्फ पैसे के सिवा कुछ नहीं।

इस अर्थवाद के, पैसावाद के बहुत बुरे नतीजे हमारे सामने हैं। कर्मचारी केवल अपने अधिकार जानता है, अपने कर्तव्य नहीं जानता। वह समाज के प्रति अपना दायित्व न समझता है, न निभाता है जबकि सारे लाभ वह इसी समाज से चाहता है, जिसमें पैसा भी शामिल है। श्रमिकों ने जैसे अपनी एक अलग दुनिया बना ली है। बाकी दुनिया में क्या हो रहा है, इससे उसे मतलब नहीं है।

क्योंकि यह देशव्यापी श्रमिकवर्ग मुख्यतः औद्योगिक है, इसलिए इससे अपेक्षा है कि यह वैज्ञानिक दृष्टि रखेगा, प्रगतिशील चेतना ग्रहण करेगा, अग्रगामी जीवन-मूल्य मानेगा और उस सबको छोड़ेगा जो झूठा है, अन्धविश्वास है, आत्मघाती और जातिघाती रूढ़िवादी है, प्रगति-विरोधी धार्मिक, सामाजिक परम्परा है। हमारी यह आशा व्यर्थ चली गयी है क्योंकि औद्योगिक और बौद्धिक श्रमिक चेतनाहीन, अवैज्ञानिक दृष्टिवाला, रूढ़िवादी और गलत परम्पराओं का गुलाम है। इसका कारण है कि न वह कुछ सीखता, न समझता, न आसपास से मतलब रखता, न अपनी जिम्मेदारी मानता। वह एक ही सिद्धान्त मानता है—पैसा! पैसा! पैसा!

सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों में घाटा-ही-घाटा होता है, प्राइवेट कारखानों में मुनाफा-ही-मुनाफा। इसके कई कारण हैं। मैनेजमेण्ट, योजना की गलती, राजनैतिक हस्तक्षेप, गलत प्लानिंग आदि। मगर हमें इसे मानने में शर्म नहीं आनी चाहिए कि उद्योगों के श्रमिक काम नहीं करते, लापरवाही करते हैं, उत्पादन को अपना लक्ष्य नहीं मानते। प्राइवेट कारखाने का श्रमिक ऐसा करे तो निकाल दिया जाय मगर इन सार्वजनिक उद्योगों का कर्मचारी सस्पेण्ड किया जाय तो वह दिल्ली अपने नेता के पास पहुँच जाता है और दिल्लीवाले नेता मन्त्री से बात करके उसे बहाल करा देते हैं। इधर समाजवाद विरोधी कहते हैं, ऐसा ही क्या तुम्हारा समाज-

वाद होगा ? उसमें ऐसे ही काम होगा और ऐसा ही उत्पादन होगा और ऐसा ही घाटा होगा। तो समाजवाद से क्या फायदा ? इसका यह जवाब काफी नहीं है कि अरे, यह सरकार की गलत नीतियों के कारण है। हमें आत्मपरीक्षण करना चाहिए, आत्मालोचना करनी चाहिए।

श्रमिक वर्ग को शिक्षित और चेतना सम्पन्न होना चाहिए। उसका सरोकार देश की दूसरी समस्याओं से भी होना चाहिए। श्रमिक संगठनों को इन चीजों पर भी विचार करना चाहिए कि देश में साम्प्रदायिकता बढ़ रही है, विघटनवादी प्रवृत्तियाँ सिर उठा रही हैं, क्षेत्रवाद बढ़ रहा है। असम और पंजाब में अराजकता और साम्प्रदायिकता चरम सीमा पर हैं और लगता है जैसे देश टुकड़े-टुकड़े होनेवाला है। इन सब समस्याओं पर भी आपका ध्यान जाना चाहिए।

हम लेखक पूछते हैं और ठीक पूछते हैं कि मजदूर बस्ती में साम्प्रदायिक दंगा क्यों नहीं रोका जा सकता। कुछ साल पहले जमशेदपुर में भयानक साम्प्रदायिक दंगा हुआ था जिसमें एक लेखक जकी अनवर शान्ति के लिए गाँधी चौक में उपवास करते मारा गया था। हम इस पर नहीं रोते कि लेखक को क्यों मारा ? जहाँ एम्बुलेन्स में बैठे स्त्री और बच्चों को बम से उड़ा दिया, वहाँ हम लेखक को छोड़ देने की माँग नहीं करते। हम जानते हैं कि फासिस्टों ने दुनिया-भर में सबसे पहले लेखकों, कवियों और कलाकारों को मारा है, क्योंकि वे मानवतावाद के प्रचारक होते हैं। पर लेखकों को सवाल पूछने का हक है और तब हमने सवाल जमशेदपुर और दिल्ली के श्रमिक नेताओं से पूछा था कि इतने सालों से आपकी यूनियनें हैं, यह मजदूरों का शहर है, आप मजदूर-एकता जिन्दाबाद करते हैं, आप लगातार श्रमिक हितों की लड़ाई लड़ते रहते हैं, आपके मजबूत संगठन हैं—मगर आप दंगा रोक क्यों नहीं सके ? आपने साम्प्रदायिक नफरत पनपने क्यों दी ? फिर दंगा शुरू होने पर आप उस आग को बुझा क्यों नहीं सके ? हमें जवाब मिला कि हम निरुपाय (हेल्पलेस) हो गये थे। हम कुछ कर नहीं सकते थे। मैं पूछता हूँ, ऐन मौके पर आप निकम्मे और असहाय क्यों हो जाते हैं ? क्यों आप वह ताकत पैदा नहीं करते जो ऐसी वारदातों को रोक सके ?. क्यों नहीं आप मजदूर को शिक्षित करते ? क्यों नहीं उसे साम्प्रदायिकता से लड़ने के लिए तैयार करते ? क्यों नहीं श्रमिक संगठन को आप समाजघाती ताकतों से लड़ने के लायक बनाते ? यह कहने से काम नहीं चलनेवाला है कि हम क्या करें, हम हेल्पलेस हो गये थे। मगर फिर दंगे के महीने-भर बाद बोनस के लिए दोनों सम्प्रदायों के मजदूर भाई-भाई बनकर हाथ-में-हाथ डालकर जुलूस निकालते हैं। मैं आप लोगों से कहना चाहता हूँ, मजदूर-बस्तियों में मजदूरों के बीच दंगे एक योजना के हिसाब से कराये जाते हैं। वे अकस्मात नहीं होते। वे मजदूरों में फूट डालने के लिए कराये जाते हैं। आप लोग जरूर इस पर सोचते होंगे, मुझे विश्वास है। मेरा कर्त्तव्य आपको याद दिलाने का था, क्योंकि नेतृत्व आपका मध्यम वर्ग करता है।

आप लोग और दूर नजर डालें। दिल्ली में गुटनिरपेक्ष देशों का शीर्ष सम्मेलन

हो रहा है। इस सम्मेलन का उद्देश्य विकासशील देशों में परस्पर सहयोग, आर्थिक विकास और विश्वशान्ति है। आप लोग इन मसलों पर भी अपनी भावना को इस सम्मेलन के मारफत व्यक्त करें।

मैं आप लोगों का अधिक वक्त नहीं लूंगा। मैं अन्त में फिर आप सबका हार्दिक स्वागत करता हूं। आपको कोई असुविधा हो तो हमारी कमजोरी समझकर क्षमा कर देंगे। धन्यवाद !

भारत-रूस सम्बन्धों का विकास

अभी डॉक्टर एस. गोपाल द्वारा लिखित जवाहरलाल नेहरू की जीवनी का दूसरा खण्ड पढ़ रहा हूं। अभी मैंने स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में भारत की विदेशनीति और वैदेशिक राजनैतिक-आर्थिक सम्बन्धों के विकास के पृष्ठ पढ़े।

आज 20 सितम्बर को जब मैं इन पृष्ठों को दुबारा पढ़ रहा था, तभी प्रधान-मन्त्री इन्दिरा गाँधी रूस की यात्रा पर रवाना हुईं। ये जो कुछ शब्द लिख रहा हूँ, वे कोई व्यवस्थित सप्रयास लेख नहीं बनाते। बहुत-सी बातें हैं, बहुत-सी स्मृतियाँ हैं, जो सिलसिले से और गैर-सिलसिले मन में आ रही हैं और मैं उन्हें कागज पर अंकित कर रहा हूं।

ऐतिहासिक शक्तियाँ होती हैं, जो निरन्तर सक्रिय होती रही हैं और जो मनुष्य जाति का विकास तय करती हैं। जिन्हें ऐतिहासिक नियति — हिस्टारिकल डेस्टिनी कहा जाता है, यह पंचांग या जन्मकुण्डली या हस्तरेखाओं को पढ़कर तय नहीं होती बल्कि इन ऐतिहासिक शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया से तय होती है। बना-बनाया पूर्व निर्दिष्ट भविष्य किसी जाति का नहीं होता। इन ऐतिहासिक शक्तियों की सही पहचान करके कार्य करने से बनता है। इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित नेहरू का इतिहास-बोध गहरा था और ऐतिहासिक शक्तियों की पहचान सही थी। गलत भी हो सकता है, पर हमारे जमाने में जिन 4-5 राजनेताओं को ऐतिहासिक शक्तियों का ज्ञान था, उनमें एक पं. नेहरू थे। देश की बागडोर स्वाधीनता के बाद पं. नेहरू के हाथों में न होती, तो पता नहीं इस देश की हालत क्या होती। वे बड़े-से-बड़े व्यक्ति के बावजूद कार्य करती हैं, पर इतिहास-दृष्टिसम्पन्न नेता निश्चित ही विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में विशिष्ट योग देते हैं। लेनिन एक ऐसे व्यक्ति थे। पण्डित नेहरू ऐसे व्यक्ति थे। कुछ लोग इतिहास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को नहीं मानते। वे इतिहास-चक्र मानते हैं। ये इतिहास के आगे बढ़ते इस चक्र को रोकने की कोशिश करते हैं। उनके हाथ टूट जाते हैं और इतिहास का चक्का आगे बढ़ जाता है।

भारत और रूस के सम्बन्ध इतने प्रगाढ़ क्यों हुए। परस्पर हित-साधन है—सही है। पण्डित सुन्दरलाल को लोग भूले नहीं होंगे। वे अद्भुत वक्ता, योद्धा और स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी थे। उनकी पुस्तक 'भारत में अंग्रेजीराज' को तत्कालीन अंग्रेज सरकार ने जब्त कर लिया था। पण्डित सुन्दरलाल चीन की क्रान्ति के बाद चीन जानेवाले पहले प्रतिनिधि मण्डल के नेता थे। वे कई वर्षों तक भारत-चीन मित्रता संगठन के अध्यक्ष रहे। उन्होंने कहा था—जिसे भारतीय संस्कृति का ज्ञान है, वह जानता है कि भारत की मित्रता रूस से ही होगी। भारतीय संस्कृति का नारा लगानेवाले हमारे कुछ देशवासी इस पर ध्यान दें। भारतीय संस्कृति में विश्व मानवतावाद है—आत्मवत् सर्व भूतेषु। भारतीय संस्कृति में 'मंगल' का तत्व गहरे व्याप्त है। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है—मंगल कामना वेदों में है, कालिदास में है और यहाँ तक कि अपढ़ ग्रामीण महिलाओं में है। अपढ़ स्त्री द्वार पर चौक बनाती है। उससे पूछो कि यह किसलिए, तो वह कहती है—इससे मंगल होता है। वह मिट्टी की दीवार पर गेरू से आकार बनाती है। उससे पूछो कि यह क्यों बनाती हो तो वह कहती है—मंगल होता है। विश्व-मानव की एकता, जन-मंगल, न्याय, परोपकार, दया, मानव-गरिमा मनुष्यों की समानता, अध्यात्म, लोक हित—ये भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ हैं। पण्डित नेहरू संस्कृति के पण्डित थे। भारतीय संस्कृति के ऊपर बताये गये तत्त्वों के अनुरूप ही रूस में 1917 की क्रान्ति के बाद एक मानवतावादी, शोषणविहीन, मानव-गरिमा से युक्त न्याय पर आधारित समाज-व्यवस्था की स्थापना हुई थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर 1930 में रूस गये थे। उनकी पुस्तक है—'लेटर्स फ्राम रशा।' उन्होंने लिखा है—मैं रूस में एक नयी मानव-सभ्यता का जन्म देख रहा हूँ।

पण्डित नेहरू 1927 में रूस गये थे और रूसी-क्रान्ति के बाद वहाँ की व्यवस्था से बहुत प्रभावित होकर लौटे थे। नेहरू की दृष्टि मार्क्सवादी थी। उनकी इतिहास की व्याख्या, समाज-दर्शन और आर्थिक मान्यताएँ मार्क्सवादी थीं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'विश्व इतिहास की झलक' में रूसी क्रान्ति पर 3 अध्याय लिखे हैं और लेनिन के बारे में अत्यन्त भावुक श्रद्धा के साथ विस्तार से लिखा है। एक और व्यक्ति है जिनके बारे में नेहरू ने भावुक प्रशंसा से लिखा—वे हैं स्वामी विवेकानन्द। इस देश में कुछ लोग विवेकानन्द को जड़ पुरातनवादी बनाने में लगे हैं। नेहरू ने उन्हें एक क्रान्तिकारी माना है।

कितने पुराने हैं भारत-रूस के सम्बन्ध। लेनिन भारत के स्वाधीनता संग्राम में गहरी रुचि लेते थे। 1918 में जब लोकमान्य तिलक को ब्रिटिश सरकार ने राज-द्रोह के जुर्म में सज़ा देकर माँडले जेल में बन्द किया था, तब बम्बई में कपड़ा-मजदूरों की हड़ताल हुई थी। महाराष्ट्र के उच्च वर्ण के ब्राह्मण, समाज-सुधारक और नेता तिलक को 'तेली-तम्बोली का नेता' कहते थे। पर इस तेली-तम्बोली के नेता को जेल की सज़ा होने पर जब मिल-मजदूरों ने हड़ताल की तब लेनिन ने कहा था—अब भारत में अँगरेजी साम्राज्य के दिन इने-गिने हैं क्योंकि स्वतन्त्रता संग्राम में

मजदूर वर्ग शामिल हो गया है। रोम्याँ रोलाँ को शिकायत थी कि भारतीय कम्युनिस्ट गाँधीजी का ठीक मूल्य नहीं आँकते। इस बात की जानकारी या तो है नहीं अथवा वह बात छिपायी जाती है कि लेनिन ने एक अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सम्मेलन में कहा था--'हमें गाँधी को समझना चाहिए और उनका सही मूल्य आँकना चाहिए। गाँधी विश्व के महानतम जननेताओं में हैं जो अपने देशवासियों का स्वतन्त्रता संग्राम में नेतृत्व कर रहे हैं।' गाँधीजी ने रूसी क्रान्ति में हुई हिंसा को नापसन्द किया था पर लेनिन की तारीफ की थी और उनके नेतृत्व में हुई क्रान्ति को शुभ माना था।

दूसरे महायुद्ध के पहले यूरोप में फासिस्टवाद के उदय को नेहरू बड़े ध्यान से देख रहे थे। हिटलर के नाज़ीवाद और मुसोलिनी के फासिस्टवाद को वे बखूबी समझते थे। हालाँकि दोनों समाजवाद का नारा देते थे। नेहरू मेनन के साथ स्पेन के गृहयुद्ध में जनरल फ्रेंको के फासिस्टवाद के खिलाफ लड़नेवाले अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड से मिलने और भारत का समर्थन देने गये थे। लौटते में उन्हें रोम हवाई अड्डे पर विमान बदलने में करीब 14 घण्टे ठहरना था। मेनन ने उन्हें सचेत किया था कि मुसोलिनी उन्हें अपने महल में आमन्त्रित करके उनसे मिलने की कोशिश करेगा और फिर इसका प्रचार करेगा। पर आप हरगिज न मिलें। यही हुआ। नेहरू के पास मुसोलिनी ने एक के बाद एक बुलावे भेजे पर नेहरू ने कह दिया—मैं हवाई अड्डे पर विमान का इन्तजार कर रहा हूँ। मैं मुसोलिनी से नहीं मिल सकता। जब नेहरू भारत के लिए विमान में बैठे तो उन्होंने मेनन को तार किया--अब तुम सो सकते हो। मैं मुसोलिनी से नहीं मिला। रवीन्द्रनाथ ठाकुर गलती कर चुके थे। मुसोलिनी ने उन्हें इटली में ऐसे सब्ज़ बाग दिखाये कि उन्होंने मुसोलिनी की तारीफ कर दी। रोम्याँ रोलाँ ने रवीन्द्रनाथ को लिखा—यह आपने क्या किया? मुसोलिनी की तारीफ! वह तो फासिस्ट है, मानव-विरोधी है। अब आप यूरोप आयें तो मुझे अपना अभिभावक मानिए और मुझसे पूछे बिना कुछ मत कहिए।

बहरहाल, नेहरू यूरोप में फासिस्टवाद की, हिटलर के नाज़ीवाद की ताकत और आक्रामकता को देख रहे थे। हिटलर ने जर्मन संसद में आग लगवा दी थी और यह झूठ फैलाकर कि साम्यवादियों ने संसद को जला दिया, उनका दमन शुरू कर दिया। नेहरू जानते थे कि पश्चिम यूरोप के पूंजीवादी जनतन्त्र हिटलर के सामने लड़खड़ा जायेंगे, समझौता करेंगे। हिटलर का लक्ष्य रूस की साम्यवादी व्यवस्था को नष्ट करना है और निर्णायक लड़ाई रूस और जर्मनी में होगी। यही हुआ। 1938 में म्युनिख पैक्ट हुआ—म्युनिख में जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड के बीच सन्धि हुई। तब ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन थे, जो हमेशा हाथ में छाता रखते थे। इनके बाद चर्चिल प्रधानमन्त्री हुए। फ्रांस के प्रधानमन्त्री मस्या दलादिया थे। फ्रांस पर हिटलर हमला कर चुका था और वह पोलैण्ड के बड़े हिस्से पर अपना अधिकार बता रहा था। ब्रिटेन और फ्रांस ने अपने को बचाने के लिए उसका वह अधिकार मान लिया और पोलैण्ड पर नाजी चढ़ गये। ब्रिटेन और फ्रांस की इस तुष्टीकरण की

नीति की नेहरू ने निन्दा की और बड़ी दूरदर्शिता से तभी कहा कि म्युनिख सन्धि सोवियत रूस के खिलाफ एक साजिश है। इस बदनाम सन्धि के बारे में चेम्बरलेन इतने उत्साही थे कि उनके हुक्म से बी. बी. सी. ने उनका भाषण एक ऐसे आदमी से जर्मन भाषा में प्रसारित कराया, जो शराब पिये था।

स्वाधीनता प्राप्ति के बहुत पहले से नेहरू रूसी नेतृत्व से अच्छे सम्बन्ध बना रहे थे। 1942 में नेहरू ने एक संगठन बनवाया था, 'फ्रेन्ड्स आफ दी सोवियत यूनियन', जिसकी अध्यक्षा श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित थीं। रूसी नेतृत्व भी युद्ध में लगे होने के बावजूद भारत को समर्थन दे रहा था। अभी एक ताजा किताब एस. तलवार की सुभाष बोस के भारत से जाने पर निकली है। तलवार तीन भाई थे, जिनमें दो शहीद हो चुके थे। एस. तलवार सुभाष बाबू को काबुल ले गये थे। सुभाष बाबू रूस जाना चाहते थे। और रूसी सरकार की वह सीमा-चौकी भी तय कर दी थी जिसमें सुभाष बाबू को रूस में प्रवेश करना था वे उस चौकी पर पहुँच भी गये थे, पर वहाँ के गार्डों को न जाने क्या भ्रम हो गया कि वे प्रवेश नहीं कर सके। बाद में वे जर्मनी गये।

1945 में शिकागो में जब दूसरा महायुद्ध लगभग समाप्त हो चुका था, जर्मनी और जापान हार चुके थे तब नयी विश्व-व्यवस्था पर विचार करने के लिए पेसेफिक कान्फ्रेंस बुलायी गयी थी। इसमें अंग्रेज सरकार ने भारत की तरफ से राजाओं, महाराजाओं, सर और अफसरों का प्रतिनिधि-मण्डल भेज दिया था। विजयलक्ष्मी पण्डित ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि मैंने माउण्टबेटन से कहा कि मुझे अमेरिका भेज दीजिए। माउण्टबेटन तब पूर्व में मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं के प्रधान सेनापति थे और सिंगापुर में थे। उन्होंने एक हवाई जहाज में विजयलक्ष्मी को अमेरिका 'स्मगल' कर दिया। वहाँ उन्होंने भारतीयों का एक प्रतिनिधि-मण्डल बनाया और शिकागो पहुँचीं। पेसेफिक सम्मेलन चल रहा था और वहाँ अंग्रेज सरकार का भेजा गया भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल बैठता था। विजयलक्ष्मी का प्रतिनिधि-मण्डल बाहर, दूसरी जगह मीटिंगें करता था। एक दिन वहाँ अचानक रूसी विदेशमन्त्री मोलोरोव्ह आ गये और उन्होंने वहाँ भाषण भी दिया। सम्मेलन के हॉल में लौटकर मोलोरोव्ह ने कहा कि यहाँ जो भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल बैठा है वह तो अंग्रेजों के गुलामों और नौकरों का है। सच्चा प्रतिनिधि मण्डल तो बाहर है।

1947 के बाद नेहरू ने अमेरिका और रूस दोनों से सम्बन्ध स्थापित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ की। रूस में विजयलक्ष्मी पण्डित को राजदूत बनाकर भेजा गया। वे कुछ विशेष सफल नहीं हुईं। जाते ही उन्होंने दूसरे महायुद्ध में बर्बाद और पुनर्निर्माण में लगे रूस को ठीक से समझा नहीं। वे फर्नीचर और पर्दे वगैरह खरीदने के लिए यूरोप चली गयीं। स्टालिन से उनकी एक बार भी मुलाकात नहीं हुई। पं. नेहरू ने उन्हें अमेरिका भेज दिया। त्रिलोकीनाथ कौल ने लिखा है कि अमेरिका में उन्हें ऐसा लगा मानो मछली पानी में लौट आयी हो। ये वर्ष रूस और भारत

के परस्पर समझने के वर्ष थे। दोनों तरफ शक और सन्देह भी थे। विजयलक्ष्मी पण्डित के बाद डॉ. राधाकृष्णन राजदूत होकर गये। भारत और रूस दोनों के नेता यह जानते थे और मानते थे कि विश्वशान्ति बहुत आवश्यक है। अमेरिका और प. यूरोप के देशों ने गुट बनाकर शीतयुद्ध आरम्भ कर दिया था। पण्डित नेहरू की सबसे बड़ी चिन्ता विश्वशान्ति की थी। दोनों देशों के नेताओं ने यह समझा कि विश्वशान्ति के हित में भारत और रूस की मित्रता बहुत आवश्यक है। इस आधार पर मित्रता का विकास शुरू हुआ। दूसरी बात आर्थिक सम्बन्धों की थी। 1954 में भिलाई इस्पात कारखाने की स्थापना के लिए भारत-रूस के बीच समझौता प्रारम्भ हुआ। याने इस क्षेत्र के लिए मित्रता का शुभ संकेत था। इसके बाद तो उद्योग-व्यापार के क्षेत्र में सहयोग बढ़ता रहा। नेहरू की गुट-निरपेक्षता की नीति उस समय भी परीक्षा में गुजर रही थी। नेहरू-टीटो और नासिर ने गुटनिरपेक्षता को एक विश्व-शक्ति बना लिया था जो शान्ति के पक्ष में थी। सोवियत रूस में ख्रुश्चेव के प्रधानमन्त्री बनने के बाद गुटनिरपेक्षता को पूरी मान्यता मिली और उसे विश्व-शान्ति के पक्ष में एक बहुत बड़ी ताकत माना गया। ख्रुश्चेव और बुलगानिन जब भारत आये तब उनका इतना भव्य स्वागत हुआ कि वे भावाविभूत हो गये। इसी तरह का स्वागत पं. नेहरू का रूस में हुआ। इसमें जो लोग रूस गये उन्होंने यह देखा कि आम रूसी नागरिक भारतीयों के प्रति कितना स्नेह प्रदर्शित करते हैं। ऐसा नहीं मालूम होता कि दोनों देशों के सम्बन्धों में रूखी, कठोर कूटनीति और परस्पर निर्मम स्वार्थ-साधन हैं। दो देशों के, दो जातियों के मनुष्यों के बीच मानवीय स्तर पर भावुकतापूर्ण ये सम्बन्ध हैं। कूटनीति में छल हो सकता है मगर जब रूसी और भारतीय जन मिलते हैं तो उन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि इस देश ने काश्मीर के मामले में हमारा साथ दिया था, और इस देश ने हंगरी के मामले में राष्ट्रसंघ में हमारा समर्थन किया था—इसलिए, आओ गले मिलें। भारतीय और रूसी जनों का मिलना परस्पर विश्वास, स्नेह और मित्रता का है। यह सही है कि यह विश्वास कई मुद्दों पर लगातार परस्पर सहयोग से बना है। भारतीय मानस काश्मीर के सम्बन्ध में शुरू से बहुत संवेदनशील है। आजादी के तुरन्त बाद पाकिस्तान ने घुसपैठ और हमले से काश्मीर पर कब्जा करना चाहा था। राष्ट्रसंघ में इस मामले पर रूस ने शुरू से भारत का समर्थन किया, जबकि अमेरिका ने पाकिस्तान का समर्थन किया। तब से लेकर अभी तक जब कभी सुरक्षा परिषद में अमेरिकी गुट पाकिस्तान के पक्ष में जनमत संग्रह या और कोई प्रस्ताव रखता है, रूस 'वीटो' करता रहा है। इससे सीधा-सादा भारतीय जन बहुत प्रभावित है। रूसी जन शान्ति के बारे में बहुत संवेदनशील हैं। दूसरे महायुद्ध में सबसे अधिक बलिदान रूसियों ने किया। हर परिवार का सदस्य इस महायुद्ध में मारा गया। असंख्य परिवार नष्ट हो गये। कारखाने नष्ट हो गये। खेती चौपट हो गयी। अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। रूसी आदमी ने बहुत विनाश भोगा है। वह सच्चे दिल से शान्ति चाहता है। वह जब भारतीय जन से मिलता है तो इस विश्वास के कारण भावुक होता है कि भारत

शान्ति के लिए प्रयत्नशील है। यह गांधी और नेहरू का देश है।

सम्बन्धों में प्रगाढ़ता 1956 की सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की बीसेवीं कांग्रेस के बाद आयी, जब नेतृत्व निकिता ख्रुश्चेव के हाथ में आ गया था। तीसरी दुनिया के विकासशील देशों के साथ रूस ने सहयोग, विकास, सहायता और कूटनीतिक समर्थन की नीति अपनायी। भारत के साथ विशेष रूप से सम्बन्ध गहरे होते गये। कई क्षेत्रों में औद्योगिक और व्यापारिक सम्बन्ध बने। अमेरिकी सहयोग भी एक हद तक मिला। पर अमेरिकी और रूसी सहयोग में अन्तर है। अमेरिका की पूंजीवादी व्यवस्था है, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का राज है। अमेरिका जब किसी विकासशील देश से औद्योगिक और व्यापारिक सहयोग करता है या सहायता करता है तो उसमें बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का मुनाफे का उद्देश्य होता है। दूसरे, वह उन देशों को तकनीक के मामले में आत्मनिर्भर नहीं बनाता। तकनीक नहीं सिखाता। तीसरे, उस देश की अर्थव्यवस्था को स्वतन्त्र नहीं रहने देता। चौथे, राजनैतिक हस्तक्षेप करता है, अस्थिरता पैदा करता है और सरकारें बनाता तथा गिराता है। पाँचवें, रूस विरोधी व्यूह-रचना में उस देश को शामिल करता है। अमेरिकी सहायता और सहयोग एक प्रकार का साम्राज्यवाद है। रूसी सहायता का मूल उद्देश्य विकासशील देश को आत्मनिर्भर बनाना है। वह तकनीक सिखा देता है और उस देश की अर्थव्यवस्था को स्वतन्त्र विकास करने देता है। उसका विश्वास है कि ऐसा स्वतन्त्र विकासशील देश अमेरिकी गुट में नहीं जायेगा और शान्ति की शक्तियों के साथ होगा।

भारतीय मानस में यह विश्वास भी जम गया है कि रूस संकट में भारत का साथ देता है। हथियारों के मामले में रूस ने हमारी बहुत सहायता की। रूसी हथियार और बमवर्षक मिग विमान बहुत विश्वसनीय सिद्ध हुए हैं। जब भी अमेरिका ने हथियारों की सप्लाई में शर्तें लगायी हैं, तब रूस ने बिना शर्त हथियार दिये हैं। रूस ने शस्त्र-निर्माण व तकनीक भी भारत को सिखायी है।

भारत-रूस मैत्री की परीक्षा एकाधिक बार हो चुकी है। सबसे बड़ी परीक्षा चीनी हमले के समय हुई थी। तब भारत में और दुनिया में भी लोगों का विश्वास था कि रूस चीन की तरफ से युद्ध में कूद पड़ेगा और दोनों मिलकर भारत को रगड़ देंगे। यह साम्यवादी भाईचारे की सही स्वाभाविक परिणति है। भारत में तब रूस विरोधी वातावरण बनाया जा रहा था। मैं तब अपने शहर में भारत-रूस सांस्कृतिक संघ का मन्त्री था। तब कई सदस्य मेरे पीछे पड़े कि बन्द करो इस पाखण्ड को। क्या अर्थ रह गया अब भारत-रूस मैत्री का! प्रबुद्ध लोग, बुद्धिजीवी और परिपक्व नेता भी भारत-रूस सांस्कृतिक संघ से इस्तीफा देकर समाचार अखबारों में छपाने लगे—याने अपना दामन साफ है। मेनन के बाद सुरक्षामन्त्री बननेवाले यशवन्तराव चव्हाण भी अति उत्साह और नासमझी में कह गये—मैं उनमें से नहीं हूँ जो चीन और रूस में कोई भेद करते हैं। इस वक्तव्य पर उन्हें दिल्ली पहुँचते ही नेहरूजी की डांट खानी पड़ी थी। चीनी हमले के 4 दिन बाद ही रूसी

प्रतिक्रिया आ गयी—वी डिफ्लोर दी कानफ्लिक्ट बिटवीन ए 'ब्रदर' एण्ड ए 'फ्रेण्ड'। इस 'ब्रदर' और 'फ्रेण्ड' ने सबकुछ ठीक कर दिया। फिर रूसी दबाव के कारण ही चीन ने एकतरफा युद्धबन्दी और वापसी की। इसके बाद कैसे रूस-चीन सम्बन्ध बिगड़ते गये और भारत-रूस सम्बन्ध और मजबूत होते गये, यह सब जानते हैं।

भारत-रूस सम्बन्धों का एक शीर्ष बिन्दु 1971 बांग्लादेश युद्ध के समय आया, जब भारत और रूस में सहयोग की 20 साला सन्धि हुई। 1971 में जब भारत पाकिस्तान से दो मोर्चों पर लड़ रहा था और बांग्लादेश का निर्माण हो रहा था, तब अमेरिका ने बंगाल की खाड़ी में सातवाँ बेड़ा भेज देने की भारत को धमकी दी थी। 20 साला सन्धि के कारण ही अमेरिका इस धमकी पर अमल नहीं कर सका। वह बड़ी लड़ाई का खतरा मोल लेने को तैयार नहीं था, जिसमें अमेरिका और रूस सीधे उलझे हुए हों।

उच्चतम स्तर पर भी भारत-रूस-मैत्री कोरे व्यावहारिक रूप से बढ़कर विशुद्ध मानवीय रूप ले चुकी है, इसका उल्लेख त्रिलोकीनाथ कौल ने अपनी पुस्तक 'डिप्लोमेसी इन वार एण्ड पीस' में किया है। नेहरू की मृत्यु जब हुई तब कौल मास्को में राजदूत थे। उन्होंने लिखा है—हमने दूतावास में नेहरू का फोटोग्राफ रखा और शोक-पुस्तिका रखी। सबसे पहले शोक प्रकट करने आये रूसी प्रधानमन्त्री निकिता ख्रुश्चेव। उन्होंने नेहरू के चित्र को फूल चढ़ाये और उनकी आँखों में आँसू की धारा बहने लगी। इसी हालत में वे बड़ी देर तक खड़े रहे। फिर मेरी पीठ पर हाथ रखा और कहा—अभी कोसीजिन के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि-मण्डल दिल्ली रवाना हो रहा है, तुम उसी के साथ चले जाओ।

राष्ट्रों के सम्बन्ध आपसी स्वार्थों की पूर्ति के लिए होते हैं। यह एक सहज और सर्वमान्य बात है। यह कोई बुरी बात नहीं है। भारत-रूस सम्बन्ध मात्र इस स्तर पर नहीं हैं। इस मैत्री में ज्यादा बड़े उद्देश्य निहित हैं—विश्व-शान्ति और मानवता का कल्याण। यह मैत्री दोनों देशों की आध्यात्मिकता के ऊँचे स्तर पर है। यह व्यवहारवाद से ऊपर सांस्कृतिक आवश्यकता है।

यासिर अराफात बेरुत से विदा

यासिर अराफात आखिर कड़े सुरक्षा प्रबन्ध में बेरुत छोड़ गये। लेबनान के ईसाई खुश थे। मगर कहते थे—हम चाहते थे, यह आदमी 'काफिन' (शव पेटी) में यहाँ से जाता। लेबनान के ही नागरिक खलील जिब्रान थे और उन्हें देश निकाला हुआ था। ईसाइयों की फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन से लड़ाई पुरानी है। असल में

लेबनान एक ऐसा देश है जहाँ कोई भी अपनी प्राइवेट फौज बनाकर कभी भी लड़ सकता है। लेबनान की फौज तो है ही। मुस्लिम फौज है, क्रिश्चियन मिलिशिया है और पी. एल. ओ. अभी तक वहाँ था। असल में ईसाइयों की लड़ाई इतिहास के अनुसार यहूदियों से होनी चाहिए। मुसलमानों से भी ईसाइयों की लड़ाई का एक इतिहास है। एक युयुत्सु धर्म के रूप में इस्लाम का जन्म हुआ और नये जोश में मुसलमान तलवार भाँजते स्पेन तक चले गये थे। मगर योरोप ने विज्ञान में उन्नति की, बेहतर हथियार बनाये और अरबों के खिलाफ क्रूसेड बोलकर उन्हें खदेड़ा और शताब्दियों तक अरबों पर शासन किया। अभी भी अधिकांश सम्पन्न देश अमेरिका या ब्रिटेन के प्रभाव में हैं। ब्रिटेन को दूसरे महायुद्ध के बाद अपना साम्राज्य छोड़ना पड़ा। यह जगह जो खाली हुई इसमें अमेरिका घुस पड़ा और 19वीं शताब्दी के ब्रिटेन का रोल करने लगा। दूसरे महायुद्ध के बाद अमेरिका नव साम्राज्यवाद का रूप ब्रिटिश साम्राज्यवाद से भिन्न है। ब्रिटेन की तरह अमेरिका किसी देश या क्षेत्र पर कब्जा करके वहाँ शासन नहीं चलाता, वह डालर और हथियार का साम्राज्यवाद चलाता है, वह डालर की मदद और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के द्वारा दुनिया के अविकसित और विकासशील देशों पर आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करता है, उनकी अपनी अर्थव्यवस्था को नष्ट करता है, विकास को अवरुद्ध करता है। साथ ही वह हथियारों की मदद से हर क्षेत्र में अपने पिट्ठू देश बनाता है और क्षेत्रीय लड़ाइयाँ कराके अमेरिकी प्रभुत्व कायम करता है।

पश्चिमी एशिया में तेल के कारण अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स के हित हैं। ब्रिटेन, फ्रान्स क्योंकि वैसे शक्तिशाली नहीं रहे इसलिए वे अपनी ओर से आरम्भिक कार्रवाई न करके अक्सर अमेरिकी कार्रवाई का समर्थन करते हैं। फिलिस्तीनियों के मामलों में वे नरम और महानुभूति का रुख भी अपना लेते हैं, मगर अमेरिका ने हमेशा से इजराइल को मदद देकर और प्रोत्साहित करके अधिक-से-अधिक जंगखोर बनाया। सन् 1917 में ब्रिटिश विदेशमन्त्री लॉर्ड बेलफर और ब्रिटिश के यहूदी पूंजीपति राथ सचाईल्ड के बीच हुए एक समझौते से यहूदियों के लिए अपना एक देश इजराइल बनाया गया। तब कोई मंशा नहीं थी कि इजराइल यहूदियों का राष्ट्र होगा। मंशा यह थी कि फिलिस्तीनी अरब और यहूदी दोनों जातियाँ यहाँ रहेंगी, उनके समान अधिकार होंगे और एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था वहाँ चलेगी। मगर वहाँ धीरे-धीरे यहूदी फासिस्ट हो गये, नाज़ीवाद की तरह जियनवाद फासिस्ट कार्रवाइयाँ करने लगा। दुनिया में फैले यहूदी पूंजीपतियों ने यहाँ धन झोंकना शुरू कर दिया। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स में यहूदी पूंजीपतियों का बहुत आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव है। वे उद्योगपति हैं, व्यापारी हैं। उनके बैंक हैं, अर्थव्यवस्था पर एक हद तक उनका कब्जा है, प्रशासन में यहूदी प्रभावकारी स्थानों पर हैं। हेनरी किसिंगर यहूदी हैं। अमेरिका में बैंकों पर यहूदियों का कब्जा है। अमेरिका को अपने हितों की रक्षा के लिए एक आतंकवादी पिट्ठू देश चाहिए था। सो उसने इजराइल को गोद लिया। उसे धन, हथियार और तकनीकी सहायता दी। और लगभग 45 लाख की आबादी-

वाले उस छोटे-से देश को सारे अरब इलाके पर आतंक जमाने के लिए इस्तेमाल किया। यहूदियों ने फिलिस्तीनियों को अपने देश से निकाला, वहाँ इजराइली शासन कायम किया। लाखों फिलिस्तीनी भिन्न अरब देशों में पड़े हैं। लाखों 25-30 सालों से तम्बुओं में रह रहे हैं। इजराइल ने पड़ोस के अरब देशों की भूमि भी हड़पी।

फिलिस्तीनी अपनी मातृभूमि से हटाये गये हैं। एक पूरी कौम है जिसकी अपनी भूमि नहीं है। अरब देशों का हाल यह है कि उनमें लोकतन्त्र नहीं है, या राजशाही या मुल्लाशाही है। दूसरे अधिकांश देश अमेरिकी प्रभाव में हैं, उसके पिट्ठू हैं। तेल के कारण सम्पन्न ये अरब आलसी और अय्याश हैं। तकनीक में पिछड़े हैं। ये लड़ाकू नहीं हैं। इन देशों में आपस में लड़ाई चलती रहती है। फिलिस्तीनियों के लड़ाकू संगठन पी. एल. ओ. को डरते-डरते थोड़ी-बहुत मदद तो दे देते हैं मगर उससे आशंकित भी रहते हैं। क्योंकि यह संगठन वामपन्थी है और इसे रूस से मदद मिलती है। अगर ये अरब देश एक होकर पी. एल. ओ. के साथ हों तो इजराइल ठण्डा पड़ सकता है पर ऐसा नहीं हो रहा है। इस्लामिक कान्फ्रेन्स साम्यवाद के कल्पित भय से ज्यादा उलझी रहती है। 1967 और 1973 में इजराइल अरबों से लड़ चुके हैं। और दोनों बार अरबों का ही नुकसान हुआ। अनवर सादात-जैसे नेता होते हैं जिन्हें रूसी प्रभाव का इतना डर है कि वे कैम्प डेविड-जैसे समझौते कर लेते हैं, जिससे फिलिस्तीनियों के हितों का बलिदान कर दिया जाता है।

फिलिस्तीनियों का मुक्ति संगठन पिछले कई वर्षों से लेबनान की भूमि से अपने देश की मुक्ति की लड़ाई लड़ रहा था। इस बार इजराइल ने फिलिस्तीनियों को लेबनान से खदेड़ देने की सघन कार्रवाई की। इनके फौजी अड्डों पर ही नहीं, नागरिक बस्तियों पर भी बम और राकेट बरसाये। बिना अमेरिकी प्रोत्साहन और समर्थन के इजराइल ऐसी कार्रवाई नहीं कर सकता। विश्व-जनमत इजराइल की इस कार्रवाई पर क्षुब्ध और क्रुद्ध हुआ। अमेरिका को पहिली बार न्यायपूर्ण रुख अपनाने का नाटक करना पड़ा। रोनाल्ड रीगन इजराइली प्रधानमन्त्री बेगिन को पहले लिखते थे—डियर मेनाचिक। नाराजी जाहिर करने के लिए लिखने लगे—माई डियर बेगिन और माई डियर प्राइमिनिस्टर। रीगन को विश्व-जनमत के कारण बेगिन को हमले रोकने के लिए बार-बार कहना पड़ा। पर पहले कुत्ता दुम हिलाता था अब दुम कुत्ते को हिलाने लगी। बेगिन ने फिलिस्तीनियों को लेबनान से पूरी तरह निकाल देने की कसम खा ली। संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप के बावजूद आखिर फिलिस्तीनियों को लेबनान छोड़ना पड़ा। ये मानव-इतिहास की एक शर्मनाक ट्रेजडी है कि अपनी भूमि पर बसने के संघर्ष में लगी एक कौम को फासिस्ट लुटेरे इस तरह खदेड़ें और दुनिया देखती रह जाये। भारत शुरू से ही फिलिस्तीनियों का समर्थक रहा है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने फिलिस्तीनियों की भूमि की माँग को जायज माना था और उन्हें मदद देने का आश्वासन दिया था। नासिर और नेहरू फिलिस्तीनियों को उनकी भूमि वापस दिलाने के लिए

राष्ट्रसंघ और बाहर लगातार जूझते रहे। पर नेहरू, जैसे चीनी हमले के तीन साल बाद मर गये, वैसे ही नासिर 1967 के इजराइली हमले के ठीक तीन साल बाद मर गये। ईजिप्त में अनवर सादात का शासन हुआ जो घोर रूस विरोधी थे और पी. एल. ओ. को भी उसके वामपन्थ और लड़ाकूपन के कारण नापसन्द करते थे। सादात ने अमेरिका से मिलकर फिलिस्तीनी हितों की बलि चढ़ा दी। फिलिस्तीनी इस आदमी के नाम से नफरत करते हैं।

भारत में फिलिस्तीनियों के लिए बहुत समर्थन और सहानुभूति है। इन्दिरा सरकार ने पी. एल. ओ. को मान्यता दी है। यासिर अराफात भारत आ चुके हैं और उन्हें किसी राष्ट्र के प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति-जैसा सम्मान दिया गया है। राष्ट्रसंघ में पी. एल. ओ. को प्रतिनिधित्व दिलाने में भारत का बड़ा योगदान है। भारत ने इजरायल को मान्यता नहीं दी है, उससे हमारा कोई कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं है और केवल एक इजराइली व्यापारिक प्रतिनिधि बम्बई में रहता है। मगर पूर्व जनसंघ और अब भारतीय जनता पार्टी और लोकदल के दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी, जैसे मोरारजी भाई और सुब्रह्मण्यम स्वामी, इजराइल समर्थक हैं। ये एक तो अमेरिका समर्थक हैं, दूसरे पी. एल. ओ. वामपन्थी और रूस समर्थित हैं। भारतीय जनता पार्टी की नाराजी का एक बड़ा कारण यह भी है कि ये मुसलमान हैं। जनता पार्टी सरकार के विदेशमन्त्री अटलबिहारी वाजपेयी ने इजराइल को मान्यता देने की कोशिश की थी पर विदेश मन्त्रालय की सलाह पर उन्हें यह इरादा छोड़ना पड़ा। पर इजराइल के भूतपूर्व युद्धमन्त्री और विदेशमन्त्री मोशे दयान को छिपाकर भारत बुलाया गया था और मोरारजी तथा अटलबिहारी ने उनसे सलाह की थी। पर यह बात छिपी नहीं रह सकी। सुब्रह्मण्यम स्वामी ने सब पोल खोल दी।

दुनिया के न्यायप्रिय और स्वाधीनता समर्थक लोग फिलिस्तीनियों के लिए दुखी हैं। हर न्यायप्रिय और स्वाधीनता प्रेमी को उन्हें समर्थन देना चाहिए। उन्हें उनकी भूमि दिलानी चाहिए। वे फिर लड़ेंगे। वे दृढ़ निश्चयी हैं। यासिर अराफात की बेरुत से विदाई इतिहास की दुर्घटना है। दुखद दुर्घटना है। तिस पर अमेरिकी साम्राज्यवाद समर्थक ईसाई कहते हैं—इस आदमी की लाश को 'काफिन' में जाना था। वे भूलते हैं कि ईसा फिलिस्तीनी थे और न्यू टेस्टामेण्ट में उनके शब्द हैं—व्हाट यू डू अनटु दिस लास्ट ऑफ माई ब्रदरन यू डू अनटु मी।

गुटनिरपेक्ष सम्मेलन : कुछ प्रश्न*

अध्यक्ष महोदय और बन्धुओ,

मुझे दुख है कि पांव में विशेष तकलीफ के कारण मैं स्वयं इस अवसर पर उपस्थित नहीं हो सकता। मित्रों का आग्रह है कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन और विशेषकर इस सम्मेलन के सम्बन्ध में मैं जो सोचता हूँ और जो सवाल मेरे मन में उठते हों, उन्हें आपके सामने पढ़े जाने के लिए लिख दूँ। मैं ऐसा कर रहा हूँ।

महीने-भर से देश के उद्योगपतियों के अखबारों में लेख, कालम और सम्पादकीय टिप्पणियाँ छप रही हैं कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन, जिसका नेता भारत मान लिया गया है, रूस का पक्षधर हो गया है, इस हद तक कि यह आन्दोलन सोवियत रूस के प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार है, या रूस के इशारे पर चलता है और इस तरह ये देश दोनों महाशक्तियों में से एक यानी रूस के साथ हो गये हैं और वास्तविक गुटनिरपेक्षता अब नहीं रही। ये पत्र और ये स्तम्भ-लेखक हमारे जाने हुए हैं--ये सिद्धान्ततः रूस विरोधी हैं, साम्यवाद विरोधी हैं और भारत की विदेश नीति के आलोचक रहे हैं। भारत में यह अमेरिकी और पश्चिमी यूरोपीय प्रोपेगेण्डा का प्रतिबिम्ब और विस्तार है।

विचारणीय यह है कि अमेरिका और सोवियत संघ का रुख इस आन्दोलन के प्रति क्या है? जॉन फास्टर डलेस ने 'तटस्थता' को (जो आरम्भ में इस आन्दोलन का नाम था) अनैतिक (इममारल) कहा था। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के 4-5 साल बाद की यह बात है जब अमेरिकी प्रशासक, जो विश्व-राजनीति में नये, नौसिखिये थे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्थान खुद भरने की सोच रहे थे। तटस्थता का अर्थ उनके लिए यह था जैसे उनके स्वाभाविक साम्राज्य का कोई देश उससे अलग हो गया हो। अमेरिका रूस विरोधी अपनी विश्वव्यापी व्यूह-रचना में एशिया, अफ्रीका, लेटिन अमेरिका के इन देशों को शामिल करना चाहता था। वह इन्हें अँगरेजी साम्राज्यवादियों की तरह अपना बाजार बनाना चाहता था। संयुक्त राष्ट्रसंघ में इन्हें अपने साथ रखना चाहता था। इन देशों की अर्थव्यवस्था पर अपना नियन्त्रण चाहता था। गुटनिरपेक्षता के एक आन्दोलन का रूप लेने तथा लगातार इसमें नवस्वतन्त्र देशों के शामिल होते जाने से, अमेरिका का वह इरादा नाकाम हो गया। राष्ट्रसंघ में इन देशों के लगभग तीन-चौथाई अमेरिका के साथ मतदान नहीं करते। अमेरिकी शासक इसे 'ब्लाकवोटिंग' का नाम देकर कई बार इसकी आलोचना कर चुके हैं।

रूस, स्टालिन की सत्ता के समय से ही इस आन्दोलन को समर्थन देता रहा है। ख्रुश्चेव के प्रधानमन्त्री होने के बाद से तो गुटनिरपेक्षता को शान्ति के पक्ष में

* 'विवेचना' के समारोह में उद्घाटन भाषण।

एक आवश्यक और बड़ी शक्ति माना गया और इस आन्दोलन की रूस पूरी तरह मदद करता रहा है। इसका कारण रूस की विचारधारा और विश्व की वर्तमान स्थिति में व्यावहारिक कूटनीति है जिसका प्रथम उद्देश्य और सबसे बड़ा लक्ष्य विश्वशान्ति है। फिर विचारधारा और व्यवहार से रूस साम्राज्यवाद विरोधी है, राष्ट्रों की स्वाधीनता का समर्थक है, जातियों के मुक्ति आन्दोलनों का समर्थक है। अमेरिकी और रूसी आर्थिक सहायता में भी फर्क है—अमेरिका जहाँ आर्थिक मदद देकर किसी देश की अर्थव्यवस्था को अपने ऊपर निर्भर रखना चाहता है, वहीं रूस आर्थिक और तकनीकी मदद देकर उस देश को आत्मनिर्भर बनाना चाहता है। हमारे देश में अमेरिकी और सोवियत रूस दोनों की मदद से बड़े कारखाने खुले हैं। इनमें कार्यरत इन्जीनियरों से पूछ लिया जाय। वे बताते हैं कि रूसी विशेषज्ञ सारी तकनीक भारतीयों को सिखा देते हैं जबकि अमेरिकी विशेषज्ञ तकनीक अपने पास गुप्त रखते हैं और हमें सिखाते नहीं। इस तरह की नीति ये अमेरिका और रूस हर विकासशील देश में अपनाते हैं। एक और बात है। इन विकासशील देशों पर दबाव डालकर अमेरिका पड़ोसी देश से स्थानीय लड़ाई कराता है, जिससे उसकी युद्ध-सामग्री बिके जबकि रूस इनके विवाद को बातचीत से हल करने की कोशिश करता है। अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ इतनी शक्तिशाली हैं कि अमेरिकी शासन उनके इशारे पर चलता है। इन कम्पनियों के व्यापार और मुनाफे के लिए दूसरे देशों में अमेरिका हस्तक्षेप, तोड़फोड़, राजनैतिक दखलन्दाजी, षड्यन्त्र करता है, यहाँ तक कि हिंस्र तरीके से वहाँ राजसत्ता पलटता है। इस बात को विकासशील देश समझते हैं और अपनी राजनैतिक, आर्थिक स्वाधीनता के लिए एकजुट हैं, और इस प्रयत्न में सोवियत रूस पूरी मदद करता है। इसीलिए यह प्रचार किया जाता है कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन सोवियत नीति का विस्तार (extension) है। पहले Till शब्द का उपयोग किया जाता था अब extension. Subordination और Commitment का इस्तेमाल किया जाता है।

गुटनिरपेक्ष देशों में कुछ ऐसे देश हैं जो खुले रूप में कहते हैं कि रूस हमारा स्वाभाविक सहायक (natural ally) है। जो प्रोपेगेण्डा पिछले दिनों हो रहा है जिसका मैंने उल्लेख शुरू में किया है, उसका उद्देश्य उन देशों को इस आन्दोलन से अलग करना है, जो सोवियत-व्यवस्था के विरोधी हैं और पूंजीवादी विकास का मार्ग अपनाये हैं।

मैं बहुत विस्तार में नहीं जाऊँगा। मैं चाहता हूँ इस बात पर विद्वान लोग विचार करें।

एक बात की ओर मैं ध्यान और खींचना चाहता हूँ। ये गुटनिरपेक्ष देश हथियारों के सबसे बड़े खरीदार हैं। ये हथियार अमेरिका से भी खरीदते हैं और रूस से भी। मगर फर्क है। अमेरिका में हथियारों का उत्पादन प्राइवेट कम्पनियों के हाथ में है। उत्पादकों को उपभोक्ता चाहिए। हथियार कोई कपड़ा नहीं है, जिसका सूट उपभोक्ता पहिन ले। युद्ध-सामग्री के उपभोक्ता तब मिलते हैं, जब युद्ध

की स्थिति हो। युद्ध हो ही जाय, तो हथियारों की बिक्री बेहिसाब होती है जैसी ईरान-ईराक-युद्ध में हो रही है। दोनों देश अमेरिकी हथियार बेहिसाब खरीद रहे हैं। रूसी अर्थव्यवस्था हथियारों की बिक्री पर आश्रित नहीं है, जबकि अमेरिकी व्यवस्था काफी हद तक है। ये जो विकासशील देश हथियार खरीदते हैं इनसे वे महाशक्तियों से नहीं लड़ सकते। फिर ये किस उपयोग के लिए हथियारों का भण्डार करते हैं? मसलन पाकिस्तान क्यों हथियारों का भण्डार कर रहा है। रूस से वह लड़ नहीं सकता, क्योंकि चन्द घण्टों में उसकी बरबादी हो जायेगी। फिर हथियार किससे लड़ने के लिए? निश्चित ही आपस में लड़ने के लिए। याने गरीब देश अमेरिका से आर्थिक मदद या कर्ज लेगा और उससे अमेरिका के ही हथियार खरीद लेगा। यानी कर्ज लेकर भी न उत्पादन होगा, न विकास होगा। गुटनिरपेक्ष देशों को कोई ऐसी विधि खोजनी ही पड़ेगी, जिससे सहायता और कर्ज की यह धनराशि हथियारों पर बरबाद न हो, बल्कि उत्पादन में लगे। इस सन्दर्भ में इन्दिरा गांधी ने लीक से हटकर, सार्वजनिक रूप से सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए ईरान-ईराक से युद्ध बन्द करने की अपील की है, वह महत्त्वपूर्ण है। इससे आपसी विवादों को युद्ध के द्वारा नहीं, बातचीत के द्वारा सुलझाने की प्रक्रिया शुरू होगी।

एक और बात जरूरी है। इन देशों में आपसी सहयोग से अपनी एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था स्थापित हो। इसके परिणाम अच्छे होंगे। एक तो इनमें कोई देश महाशक्तियों के दबाव में नहीं आयेगा, दूसरी ओर एक-दूसरे के उत्पादन की खपत की सम्भावना बनेगी, तीसरे विकासशील देशों की Protectionism की नीति के दुष्परिणामों से बचा जा सकेगा।

विश्वशान्ति को निर्गुट देशों ने अपना प्रमुख लक्ष्य माना है। युद्ध न हो, यह सब चाहते हैं। मगर यह भी जरूरी है कि युद्ध की तैयारी भी न हो। युद्ध की तैयारी के चक्कर में छोटे-छोटे गरीब देश भी पड़े हैं, जिनकी विश्वयुद्ध में कोई भूमिका नहीं होगी। मगर वे अपने धन का अधिकांश अपने लोगों के रोटी-कपड़े के बजाय बारूद में खर्च कर रहे हैं। ऐसे में इनकी गरीबी कभी नहीं मिटेगी। इस तैयारी में धन की बरबादी और युद्ध की मानसिकता को रोकने के लिए इन देशों की जनता को शान्ति-आन्दोलन तीव्र करना चाहिए। पश्चिमी यूरोप की सरकारों को तो इच्छा-अनिच्छा से अमेरिकी प्रशासन ने नयी मिसाइलें लगाने के लिए तैयार कर लिया है, मगर इन देशों की आमजनता इसके विरोध में और शान्ति के पक्ष में लाखों की तादाद में रैलियां निकाल रही है। इंग्लैण्ड में तो उस स्थान पर स्त्रियां धरना दे रही हैं, जहाँ मिसाइलें फिट होना प्रस्तावित है। विश्वशान्ति की गारण्टी ऐसे विश्वव्यापी जन-आन्दोलन हैं, जो अपनी सरकारों को मजबूर करें कि वे युद्ध की तैयारी में अमेरिका का साथ न दें। यही विश्व-मानवता दोनों महाशक्तियों को न केवल वर्तमान अस्त्र-भण्डार नष्ट करने पर बाध्य करे, बल्कि आगे उनका उत्पादन भी बन्द करे।

मेरा खयाल है, रूस का समर्थन गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को कुछ सिद्धान्तों और शुभ लक्ष्यों को लेकर है। एक लक्ष्य है—विश्वशान्ति और दूसरा, जनता की गरीबी

मिटाना। अगर इस कारण एक पक्ष और उसके मुखपत्र यह कहते हैं कि इस आन्दोलन का झुकाव रूस की तरफ है, तो इन देशों को संकोच करने या कैफियत देने की कतई जरूरत नहीं है, याने apotogetic नहीं होना चाहिए। जो ऐतिहासिक शक्तियाँ इस समय काम कर रही हैं उसकी यह तार्किक, स्वाभाविक और निर्णायक परिणति है।

अकाली आन्दोलन फासिस्टी और देशघातक है

पंजाब में धार्मिक माँगों से आरम्भ करके अकाली नेताओं ने दूसरी राजनैतिक माँगों, नदी-जल का बँटवारा, हरियाणा और राजस्थान के जिलों पर अधिकार, चण्डीगढ़ पर कब्जा आदि धर्म में मिलाकर, सिखों की सांस्कृतिक पृथकता घोषित करके अपने आन्दोलन को 'धर्मयुद्ध' का नाम देकर पंजाब में आतंक पैदा कर दिया है। अकाली दल के इस आन्दोलन का वर्ग-आधार पंजाब के धनी भूमिपति, सम्पन्न ठेकेदार, व्यवसायी आदि हैं। सामान्य सिख इसमें शामिल नहीं हैं। भारत से पृथक 'खालिस्तान' की माँग का विरोध अकाली नेताओं ने कभी नहीं किया, बल्कि स्वर्ण-मन्दिर में बैठे सन्त भिण्डरावाला ने अभी कहा है कि अपराधियों को या मुझे पकड़ने को पुलिस स्वर्ण मन्दिर और नानक निवास में घुसी तो 'खालिस्तान' की स्थापना की लड़ाई शुरू हो जायेगी। इधर अकाली दल के डिक्टेटर सन्त हरचन्दसिंह लोंगोवाल ने एक लाख मरने-मारनेवाले सिख युवकों की सेना बनाने की घोषणा की है। हत्या, आगजनी हो रही है, बम फेंके जा रहे हैं और अपराधी गुरुद्वारों में शरण लिये हैं। स्वर्ण मन्दिर, नानक निवास तथा दूसरे गुरुद्वारों में शस्त्रों के भण्डार हैं। ये किले हो गये हैं। ये धार्मिक स्थल नहीं रहे। इन उग्रवादियों का नेतृत्व अत्यन्त हठी, अतिवादी, हिंसावादी, पृथकतावादी सन्त भिण्डरावाला के हाथ में चला गया है और वे खुले युद्ध की धमकी दे रहे हैं।

सिखों को धर्मपालन की पूरी छूट इस देश में है। प्रधानमन्त्री ने अकाली नेताओं की पूरी धार्मिक माँगें मान ली हैं। बाकी माँगों पर वे बातचीत आगे करने को तैयार हैं, पर समझदार, गम्भीर नेताओं के हाथों से नेतृत्व छूटकर अतिवादी, उग्र, उन्मादी सन्त भिण्डरावाला के हाथ में चला गया है। इस तरह यह पूरा आन्दोलन फासिस्टी हो गया है। भिण्डरावाला एक फासिस्ट नेता हैं। पंजाब में किसी नागरिक का जान-माल सुरक्षित नहीं है। आतंक का वातावरण है। इधर भारत-भर में फैले सिख उलझन में पड़े हैं और उनकी स्थिति खराब हो रही है।

मैं याद दिलाना चाहता हूँ कि सन् 1946 में मुस्लिम लीग ने इसी तरह

पाकिस्तान बनवाने के लिए 'डाइरेक्ट एक्शन' (सीधी कार्यवाही) की थी, जिसमें हजारों लोग मारे गये थे और लाखों घर बरबाद हुए थे। सन्त भिण्डरावाला और सन्त लोंगोवाल का 'धर्मयुद्ध' मुस्लिम लीग के उस 'डाइरेक्ट एक्शन' जैसा ही है।

मैं मध्यप्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष तथा राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासंघ के अध्यक्ष मण्डल के सदस्य की हैसियत से इस पृथकतावादी फासिस्टी आन्दोलन की निन्दा करता हूँ और भारत की सभी भाषाओं के लेखकों, बुद्धिजीवियों से अपील करता हूँ कि इसके खिलाफ आवाज उठायें तथा इस सन्दर्भ में लोगों को शिक्षित करें। मैं उन पंजाबी लेखकों को, जिनमें सिख लेखक भी हैं, बधाई देता हूँ, जो पहले ही इस उग्र आन्दोलन का विरोध कर चुके हैं। मैं प्रधानमन्त्री से अनुरोध करता हूँ कि वे माँगों पर तो सहानुभूति से विचार करें, परन्तु इस पृथकतावादी उग्र फासिस्टी कार्यवाही से बहुत कठोरता के साथ निपटें। इसमें नरमाई देश के लिए घातक होगी।

समझदार अकाली नेताओं से मैं लेखकों की तरफ से अनुरोध करता हूँ कि वे गम्भीरता से सोचें कि वे यह क्या कर रहे हैं। वे सिखों को ही संकट में डाल रहे हैं। वे सरकार से बातचीत करें।

मैं सारे भारत-भर में बसे हुए धन्धों और नौकरियों में लगे हुए सिखों से खासतौर से अपील करता हूँ कि वे गुरुद्वारों और अपने धार्मिक, समाजिक संगठनों के द्वारा घोषणा करें कि वे इस उन्मादी विघटनकारी आन्दोलन का विरोध करते हैं। उनका अभी तक चुप रहना उनकी स्थिति को बिगाड़ रहा है। पंजाब के एक सामन्ती प्रवृत्तिवाले, सम्पन्न व छोटे-से वर्ग के स्वार्थ का यह आन्दोलन सारे सिखों को बदनाम कर रहा है, साम्प्रदायिक द्वेष पैदा कर रहा है, देश को खतरे में डाल रहा है और देश के दुश्मनों को फायदा पहुँचा रहा है। यह स्पष्ट देशद्रोह है और देशद्रोहियों को दबाने में जो सरकार देरी करे और नरमी बरते वह सरकार अपनी जिम्मेदारी से हटती है। राजनैतिक दल भी क्षुद्रता से ऊपर उठें, गैरजिम्मेदारी त्यागें और एक होकर इस राष्ट्र विरोधी आन्दोलन से निपटें तथा इसमें सरकार का साथ दें।

शिक्षकों का आन्दोलन*

(मध्यप्रदेश शिक्षक संघ के संयुक्त सचिव की हैसियत से बयान)

मध्यप्रदेश के गैर-सरकारी माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों के बोर्ड से असहयोग आन्दोलन को लेकर सरकारी प्रवक्ता तथा सरकारी नीति के अन्धसमर्थकों द्वारा

* प्रहरी, 27 मार्च, 1955

तरह-तरह के भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। शिक्षकों के इस आन्दोलन को 'असामयिक' और 'जल्दबाजी' का निर्णय कहकर आम जनता को उनके विरुद्ध यह नारा लगाकर उभारने की कोशिश हो रही है कि इस आन्दोलन से मैट्रिक के 25 हजार विद्यार्थियों का भविष्य खतरे में हो गया है।

जल्दबाजी ?

इस सम्बन्ध में सबसे जानने योग्य बात यह है कि असहयोग का यह कदम जल्दबाजी में कदापि नहीं उठाया गया। इसके पहिले सरकार के मन्त्रियों, बोर्ड के मालिकों, एम. एल. ए. गण, नेतागण सबके पास असंख्य अपीलें भेजी गयी हैं, अनेक बार प्रतिनिधि मण्डल मिले हैं, अधिकारियों के द्वारों पर सैकड़ों सिज़दे किये जा चुके हैं। पर परिणाम यह निकला है कि सरकार टालमटूल के सिवा कुछ और करती नहीं दिखायी दी, तब मजबूर होकर यह अन्तिम कदम उठाया गया है। इसके पहिले जितना सम्भव था, सब कर लिया गया है। यह कतई जल्दबाजी का कदम नहीं है।

विद्यार्थियों का भविष्य ?

विद्यार्थियों के भविष्य का नारा सुनने में जितना अच्छा लगता है, उद्देश्य उसका उतना ही घृणित है। यह नारा लगाकर सरकार सारी जिम्मेदारी शिक्षकों पर फेंक-कर खुद साफ बच निकलना चाहती है। पर क्या इस देश के विद्यार्थियों के प्रति सरकार की कोई जिम्मेदारी नहीं है? क्या विद्यार्थियों से उसका केवल इतना ही प्रयोजन है कि उनके अभिभावकों से उसे 'वोट' मिले? क्या यह उसकी जिम्मेदारी नहीं है कि शिक्षकों को अच्छा वेतन और अच्छी नौकरी की शर्तें मिलें, ताकि वे अच्छी शिक्षा दे सकें? 8 साल हो गये पर शिक्षा-पद्धति जहाँ-की-तहाँ है। 8 साल हो गये पर शिक्षकों की दशा वैसी ही दयनीय! सरकार का ध्यान देश की शिक्षा की ओर बिल्कुल नहीं है। और अब जब शिक्षकों के धैर्य का अन्त हो गया है, सरकार सारा दोष उनके सिर पर मढ़कर बच जाना चाहती है। तथ्य यह है कि 'स्कूल कोड' को लागू करने की माँग बहुत पुरानी है। सरकार ने स्वयं आश्वासन दिया था कि 25 फरवरी '55 तक 'स्कूल कोड' लागू हो जायगा पर सरकार स्वयं ऐन मौके पर मुकर गयी। जब सरकार अपने वचनों का पालन नहीं कर सकती, तब शिक्षकों को इसके सिवा कौन मार्ग है कि वे प्रतिकार के लिए शान्तिपूर्ण आन्दोलन करें? फिर एक वर्ष पहिले बोर्ड से स्पष्ट कह दिया गया था कि अगर उक्त तारीख तक कोड लागू न होगा तो हम बोर्ड से असहयोग कर देंगे। इस एक साल के समय में अगर सरकार समझौता नहीं कर सकती थी तो कम-से-कम परीक्षा का प्रबन्ध तो कर सकती थी। सरकार के पास असीम शक्ति है—जन और धन की! उसमें सरकारी कर्मचारियों की सेवाएँ लेकर मैट्रिक की परीक्षा तो करवा ही दी। यहाँ यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि शिक्षकों का इरादा कतई नहीं था कि मैट्रिक की

परीक्षा में बाधा पहुँचायी जाय। इसलिए यह अनावश्यक और अशोभन दिखता है कि शस्त्रधारी पुलिस की निगरानी में मैट्रिक की परीक्षा हो रही है। स्कूलों में पुलिसमैन बैठे रहते हैं और पुलिस की लारी खड़ी रहती है। कुछ ऐसा वातावरण बना दिया गया है मानो बड़ा बलवा हो गया हो।

वित्तमन्त्री का ग़ैर-जिम्मेदार वक्तव्य

इस बीच में विधानसभा में मध्यप्रदेश के वित्तमन्त्री ने एक बहुत अनुत्तरदायित्वपूर्ण और द्वेष भरा वक्तव्य दे दिया। उन्होंने कहा कि कोड को लागू करना सरकार की नैतिक जिम्मेदारी नहीं है। हम चकित रह गये यह पढ़कर। सरकार द्वारा पास किये गये एजुकेशन एक्ट के अंश को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी सरकार की नहीं तो वह कानून क्यों बनाती है। कोई भी जिम्मेदार सरकार क्या इस तरह अपने ही नियमों की धज्जी उड़ाती है। हमें लगता है कि वित्तमन्त्री ने सन्तुलन खो दिया है और अनाप-शनाप कहना शुरू कर दिया है और इस अनाप-शनाप के पीछे से सत्ता का दम्भ बोलता है। सरकार को इस बात पर लज्जा आनी चाहिए कि उसके राज्य में एक ही प्रकार का काम करनेवाले, एक ही योग्यता के सरकारी और ग़ैर-सरकारी शिक्षकों के वेतन में अन्तर है। यह अन्तर मिटाना सरकार की नैतिक जिम्मेदारी है और इसे न करके सरकार घोर 'अनैतिकता' बरत रही है। सरकार के शब्दों में एक विश्वास ही भरोसे की, ईमानदारी की शक्ति रहती है। पर जब मन्त्रीगण इन प्रश्नों पर भाषा का ऐसा ढीला प्रयोग करते हैं तब हम शिक्षकों को ही उनके लिए लज्जित होना पड़ता है। 'नैतिक जिम्मेदारी' का अर्थ वित्तमन्त्री ने पूर्ण रीति से समझकर शायद नहीं किया। सरकार की कानूनी जिम्मेदारी चाहे न हो, पर नैतिक जिम्मेदारी तो यह है कि वह 'कोड' को लागू कर दे। महत्त्वपूर्ण जनहित के मामलों में इस प्रकार के कथन कर देना प्रजातन्त्र के मन्त्रियों को शोभा नहीं देता। तानाशाह ऐसा करते हैं।

बात यह है कि सरकार ने इस प्रश्न को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया है—याने नागरिकों को अधिकारों से वंचित करना ही प्रतिष्ठा का प्रश्न बनने लगा है। और इसी में सरकार की सारी शक्ति लगी है। शिक्षकों से समझौता न कर सकना सरकार के दम्भ और हठ का परिणाम है! फिर अब मैट्रिक की परीक्षा का नया प्रबन्ध करने में जो लाखों रुपये खर्च हो रहे हैं, यह कहाँ की बुद्धिमानी और अर्थ-नीति की बात है?

सरकार को यह समझना चाहिए कि शक्ति के भय से किसी भी वर्ग को भूखा मार सकना सम्भव नहीं है। सरकार ने शिक्षकों के साथ बड़ा धोखा किया है, फरेब की नीति का अनुसरण किया है, जो सरकारों को शोभा नहीं देती। और अब वित्तमन्त्री सरकारी विधि को लागू करना नैतिक जिम्मेदारी ही नहीं मानते। न जाने कहाँ से ये लोग शब्दों के अर्थ पढ़कर आते हैं—कौन-सा शब्दकोष है वह?

साम्प्रदायिकता। प्रकृति, कारण और निदान

हैदराबाद में साम्प्रदायिक दंगे के दौरान प्रसिद्ध तेलुगू कवि गुलाम यासीन, उनकी पत्नी और बच्ची को दंगाइयों ने मार डाला। इस पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। गुलाम यासीन प्रगतिशील कवि थे, वे शान्ति और साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए जीवन-भर काम करते रहे। दंगे के दौरान भी वे साम्प्रदायिक सद्भाव कायम करने की कोशिश कर रहे थे।

4 साल पहले जमशेदपुर के दंगे में प्रसिद्ध उर्दू लेखक ज़की अनवर की हत्या विशिष्ट परिस्थितियों में हुई। उन्होंने मुसलमानों के मुहल्ले में अपने मकान को बेचकर हिन्दुओं के मुहल्ले में मकान खरीदा और वहाँ रहने लगे। उन्होंने इस मुहल्ले का नाम 'गाँधी नगर' रखा। उनका विश्वास था कि हिन्दू और मुसलमानों की मिली-जुली आबादी होनी चाहिए। इसके बिना साम्प्रदायिक सद्भाव पैदा नहीं होगा। दंगे के दौरान उन्हें सलाह दी गयी कि वे मुसलमानों के मुहल्ले में चले जायें या पटना चले जायें। पर वे वहीं रहे और अपने एक मित्र वर्मा के साथ साम्प्रदायिक शान्ति के लिए अनशन पर बैठे। 13 घण्टे बाद उन्हें अनशन खत्म करने पर मजबूर होना पड़ा। रात को जकी अनवर मार डाले गये और उनकी लाश कुएँ में डाल दी गयी। मगर जमशेदपुर-दंगे का सबसे जघन्य काण्ड था, लगभग 100 मुस्लिम स्त्रियों और बच्चों को एम्बुलेन्स में भरकर सुरक्षित स्थान पर ले जाने की कोशिश की जा रही थी कि उस एम्बुलेन्स को ही बम से उड़ा दिया गया। अस्पताल, एम्बुलेन्स और रेडक्रासवाले किसी स्थान पर युद्ध में भी हमला नहीं किया जाता।

लेखक का दंगे में मारा जाना विशेष अर्थ क्यों रखता है? यह स्वाभाविक है कि लेखक साम्प्रदायिक हैवानों का शिकार हुआ, तो हम उसकी बिरादरी के लेखक उद्वेलित होंगे, इस कृत्य की निन्दा करेंगे। यह हमने किया। इन दो लेखकों की हत्या इसलिए भी ज्यादा दर्दनाक है कि दोनों का विश्वास प्रगतिशील जीवन-मूल्यों में था, दोनों साम्प्रदायिक भाईचारे के लिए प्रयत्नशील थे। जकी अनवर ने तो शान्ति के लिए अनशन किया था। उसने अपने एक दोस्त को लिखा था—मेरा विश्वास है कि इन्सानियत अभी मरी नहीं है।

लेखक का मारा जाना समाज के लिए विशेष अर्थ क्यों रखता है? इसलिए कि लेखक मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए लिखता है, मानव-संस्कृति की रक्षा के लिए लिखता है, मानवजाति के उज्ज्वल भविष्य के सपने देखता है, जीवन के प्रति आस्था और श्रद्धा उत्पन्न करता है, भावनाओं का उदात्तीकरण करता है, एक बेहतर मनुष्य बनाना और न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था स्थापित करना चाहता है। अमानवी हाथों लेखक के मारे जाने का अर्थ है—इन सब उद्देश्यों, आदर्शों, सपनों की हत्या। इसलिए लेखक की हत्या पर लेखकों के रोने या क्रोध करने से ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि बृहत्तर समाज रोये और महसूस करे कि लेखक के बहाने किन

मानव-मूल्यों की हत्या हो रही है।

जहाँ तक हम लेखकों का सवाल है, हमें हाय-हाय करने की कतई जरूरत नहीं। हमें दया भी नहीं माँगना है। स्त्री-बच्चे मार डाले जायें और लेखक छोड़ दिया जाय, यह शर्मनाक माँग हमारी कल्पना के परे है। इतिहास से हमने सीखा है कि लेखक, कलाकार के साथ ऐसा होगा ही और पहले होगा। इसे हम 'पागलपन', 'उन्माद', 'सिरफिरापन' जैसे नासमझी के अर्थहीन निर्दोष शब्दों से परिभाषित नहीं करते। हम इसे सीधा 'फासिस्टवाद' कहते हैं, जो संगठित, सुनियोजित अमानवीयता, वर्बरता है। इसका पहला हमला उन पर होता है जो मानवीयता का सन्देश देते हैं। यह पहले हो चुका है। नाजियों ने यही किया। जनरल फ्रेंको ने यही किया। चिली के पिनोशे ने यही किया। जनरल जिया यही करते हैं। अमेरिका में इसी ने हेमिंग्वे को आत्महत्या करने पर मजबूर किया। अभी तुर्की में नाज़िम हिकमत के अनुयायी 19 कवियों पर फौजी मुकदमा चल रहा है, जिसमें सज़ा मौत है। लेखक जानता है कि उसके साथ यह होगा। इसके लिए उसे तैयार रहना होगा। मगर साथ ही उसे देश में बढ़ती हुई इस प्रवृत्ति से संघर्ष भी करना होगा और संघर्ष करने के लिए उसे जानना होगा कि यह साम्प्रदायिकता है क्या, क्यों है, दंगे हर कहीं और लगातार क्यों होते हैं? वे कौन-सी वास्तविकताएँ हैं जिनसे यह जहरीली मानसिकता बनती है? वे कौन ताकतें हैं जो इन वारदातों के पीछे हैं? सी. आई. ए. और 'गल्फ मनी' के खाते में इसे डाल देने से काम नहीं चलेगा।

कुछ कटु पर सत्य वास्तविकताओं को स्वीकार करना होगा। अभी भी हिन्दू-मन में एक विजित जाति की हीनता की भावना है। मुसलमान में भी यह भावना है कि हम विजेता जाति के हैं और हमने इन पर हुकूमत की है। हिन्दू और मुसलमान दोनों पर अँगरेजों ने हमला किया। दोनों पर हुकूमत की। अँगरेज ईसाई हैं। उन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों पर अत्याचार कम नहीं किये। मगर अँगरेजों से न हिन्दू नफरत करना न मुसलमान। स्वतन्त्र भारत का सबसे पहला गवर्नर जनरल ईसाई अँगरेज था। इसे हिन्दू-मुसलमान दोनों ने सलाम किया। अँगरेज मूर्तिपूजक हैं। वे ईसा के बुत की पूजा करते हैं। मगर मुसलमान इन बुतपरस्तों से नफरत नहीं करता। अँगरेज साम्राज्यवादी थे। मुसलमान साम्राज्यवादी नहीं हैं। वे भारतीय ही हो गये। मगर हिन्दू साम्राज्यवादी शोषक अँगरेज से नफरत नहीं करता, उसे आदर्श मानता है, उसकी रहन-सहन में नकल करता है। अंगरेजी साम्राज्य समाप्त हुआ, तो उसकी जगह ली नये प्रकार के अमेरिकी साम्राज्यवाद ने। अमेरिकी भी ईसाई है। मगर हिन्दू जाति के बड़े-से-बड़े रहनुमा अमेरिका के भक्त हैं। यह क्या विरोधाभास है? कौन-सा तर्क है इसमें?

हारे हुए निराश हिन्दू मन ने अपने प्राचीन गौरव की याद की, उसका सहारा लिया और उस 'यूटोपिया' में जीकर, आधुनिकता का विरोध किया। उसने पुरातनवाद में जातीय गौरव की रक्षा खोजी। इस भावना ने उसे संकीर्ण, ज्ञान-विज्ञान विरोधी, अतीतजीवी और क्षुद्र बनाया। उधर मुसलमान के हाथ से हुकूमत अँगरेजों

ने छीनी। उसे गुलाम बनाया। वह हीनता की भावना से ग्रस्त हुआ, तो उसे भी इस्लामी अतीत की याद आयी कि उसने यूरोप और एशिया को रौंद डाला था। इस्लामी बिरादरी की याद आयी। वह भी बुनियादी इस्लाम में पहुँचा और 7वीं सदी के मक्का-मदीना में रहने लगा। वह ख्वाब देखने लगा फिर इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के, क्योंकि—'उठना है फिर मुसलमाँ हर करबला के बाद।' मुसलमानों के कट्टर रहबर भी अमेरिकी साम्राज्यवाद के समर्थक हैं।

हिन्दू-मुसलमान दोनों के रहनुमा बननेवाले आधुनिकता-विरोधी मगर अमेरिका-समर्थक हैं। दोनों अपने अतीत की संस्कृति और सभ्यता के कारण और उसी हथियार से आधुनिकता रोकना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि आधुनिकता केवल पश्चिमी यूरोप और अमेरिका की नहीं है। आधुनिकता के रास्ते आगे निकल गये हैं और समाजवाद तक पहुँच गये हैं। यह समाजवाद खतरा है सामन्तवाद और पूंजीवाद के लिए। यह वह मुद्दा है जहाँ हिन्दू साम्प्रदायिक और मुस्लिम साम्प्रदायिक नेता एक-दूसरे के गले में हाथ डाले हैं। दोनों सामन्तवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के समर्थक हैं—चाहे वह आर. एस. एस. हो, चाहे जमाइते इस्लामी, चाहे हिन्दू महासभा, चाहे मुस्लिम लीग। मौलाना मौदूदी— जमाइते इस्लामी के संस्थापक, जब पाकिस्तान गये थे तब मुसलमानों के नाम यह पैगाम दे गये—मैं पाकिस्तान में इस्लामी हुकूमत कायम कराऊँगा और ए मुसलमानो, तुम भारत में हिन्दू राष्ट्र बनवा देना! इधर गुरु गोलवलकर हिन्दू राष्ट्र की स्थापना की तैयारी कर रहे थे। अभी भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जमाइते इस्लामी के नेताओं में भाईचारा है।

सामन्तवाद-पूंजीवाद की समर्थक ये धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एजेन्सियाँ कैसे साम्प्रदायिक मनोभावना को बनाये रखती हैं, उसे बढ़ाती हैं और जब जरूरत होती है विस्फोट करा देती हैं। एक तो जातीय स्मृतियाँ होती हैं जो दीर्घकालिक होती हैं। इन्हें जिन्दा रखा जाता है। फिर इतिहास का 'हेंगओवर' होता है। हमारे देश में साम्प्रदायिक द्वेष की जड़ मध्ययुग का इतिहास है, जो अर्द्धसत्य और गलत नजरिये से प्रचारित किया जाता है और पढ़ाया जाता है। अंग्रेज इतिहासकार मिलर और स्मिथ ने मध्ययुग का इतिहास साम्प्रदायिक द्वेष को उभारते हुए लिखा। भारतीय इतिहासकारों ने इनकी नकल की। ऐसा बताया जाता है कि पूरे मध्ययुग में. 6-7 सौ साल तक इस देश में एक ही काम हुआ—हिन्दू-मुसलमान की लड़ाई। खेती, व्यवसाय वगैरह कुछ नहीं। संस्कृति की बात ही नहीं। मुलसमानशाहों, सुल्तानों का काम हिन्दू राजाओं पर हमला करना, मन्दिर तोड़ना, मूर्ति खण्डित करना, लूटना, हिन्दुओं पर अत्याचार करना—बस इतना ही था। राजनैतिक संघर्ष को धार्मिक संघर्ष बताया गया। आर्थिक कारणों से झगड़ा-फसाद हुआ तो उसे भी धार्मिक रूप दे दिया गया। वास्तव में महमूद गजनवी ने सोमनाथ का मन्दिर इस्लाम के लिए नहीं, हीरे-जवाहरात और सोने के लिए लूटा था। औरंगजेब मन्दिरों को दान देता था। जहाँगीर और शाहजहाँ अत्यन्त उदार थे।

अकबर शायद भारत का सबसे महान् शासक था--अशोक से भी बड़ा--जिसने एक गणराज्य की कल्पना की थी। मुसलमान कवियों ने हिन्दू भक्त कवियों की तरह काव्य लिखा। औरंगजेब के कमाण्डर राजपूत थे और शिवाजी के कमाण्डर मुसलमान। सामान्य जनता में हेल-मेल था; समान जीवन-पद्धति विकसित हो रही थी, भाईचारा बढ़ रहा था, सांस्कृतिक आदान-प्रदान हो रहा था। ऊपर राजनैतिक कारणों से लड़ाइयाँ होती थीं।

मध्ययुग का गलत साम्प्रदायिक इतिहास ही वह जहर है जिसने साम्प्रदायिक द्वेष को जीवित रखा है। इतिहास विज्ञान है। कल्प-कथा नहीं है। जब तक वैज्ञानिक दृष्टि से धार्मिक द्वेष से मुक्त, तथ्यपरक इतिहास नहीं पढ़ाया जायेगा, तब तक साम्प्रदायिक द्वेष जा नहीं सकता। मगर जब भी इस तरह के इतिहास को लिखने और पढ़ाने का प्रयास किया जाता है, वही सामन्तवादी-पूँजीवादी ताकतें उसे रोक देती हैं। जनता पार्टी सरकार के जमाने में इस तरह की तीन इतिहास पुस्तकों पर प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेता नानाजी देशमुख के कहने से प्रतिबन्ध लगा दिया था। इसका इतिहासकारों ने विरोध किया था। डॉ. एस. गोपाल ने तो यहाँ तक लिखा था—'मैं जानता हूँ जनता पार्टी और सरकार में कुछ उद्धत मूर्ख (एरोगेण्ट इडियट्स) हैं। इतिहास विज्ञान है। आज प्रधानमन्त्री इतिहास में हस्तक्षेप करते हैं, कल वे भौतिक-शास्त्र में हस्तक्षेप करेंगे। यदि साम्प्रदायिकता को खत्म करना है, तो नये सिरे से इतिहास लिखना, पढ़ना और पढ़ाना पड़ेगा। यही नहीं, भाषा और साहित्य की पाठ्य-पुस्तकों से भी साम्प्रदायिक रचनाएँ निकालनी होंगी। उत्तर भारत में स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली हिन्दी भाषा की पाठ्य-पुस्तकें देखिए। इनमें रचनाओं का चयन साम्प्रदायिक दृष्टि से किया जाता है। मुझे समझ में नहीं आता, अलाउद्दीन खिलजी और पद्मिनी की कथा को इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है। सुलतान को सुन्दर औरतों की तो कमी थी नहीं। वह लड़ाई तो राजनैतिक थी, सुन्दरी रानी पद्मिनी के लिए नहीं।

एक कारण, और प्रमुख कारण आर्थिक है। नौकरियाँ, धन्धे, प्रापर्टी के मामले में जब हिन्दू-मुस्लिम-स्पर्धा और झगड़ा होता है, तो उसे साम्प्रदायिक रूप दे दिया जाता है। नौकरी के मामले में हिन्दू अफसर योग्य मुसलमान को नियुक्त न करके अयोग्य हिन्दू को करेगा। इसी तरह मुसलमान अफसर अयोग्य मुसलमान को तरजीह देगा। इसमें अपवाद होते हैं और काफी होते हैं। मगर काफी हद तक यह सच है। मुसलमानों की यह शिकायत सही है कि उन्हें नौकरियों में बहुत कम प्रतिशत दिया जाता है। दंगे भी राजनैतिक-आर्थिक कारणों से होते हैं, धार्मिक कारणों से नहीं। अलीगढ़ का पिछला दंगा उस जमीन पर कब्जा करने के लिए हुआ था, जिस पर मुसलमानों की झोंपड़ियाँ थीं। इसमें ताले के धन्धे की आर्थिकता भी थी। मुरादाबाद में झगड़ा बर्तनों की कमाई को लेकर था। लगभग एक अरब रुपयों के बर्तन यहाँ से अरब मुल्कों को बिकते हैं, जिन पर कुरान की आयतें लिखी होती हैं और जो अरबी कला से बनाये जाते हैं। दंगे का कारण यह था।

मेरठ में दंगा शुरू हुआ जमीन के एक टुकड़े को लेकर। फीरोजाबाद में दंगा हुआ था, चूड़ियों के व्यवसाय के कारण। आर्थिक कारणों से झगड़ा शुरू किया जाता है और उसे उन्माद फैलाकर हिन्दू-मुस्लिम दंगे का रूप दे दिया जाता है। यह सत्य है कि इन दंगों में 90 फीसदी मुसलमान मारे जाते हैं, उन्हीं की प्रॉपर्टी का नुकसान होता है। उन्हें ही लूटा जाता है। शासन और पुलिस साम्प्रदायिक हो जाते हैं, यह सच्चाई है।

फिर राजनैतिक कारण है। इतने सालों में न समाजवाद आया, न आर्थिक विपदा मिटी। महँगाई बढ़ती गयी। आर्थिक कष्ट मध्यम और निम्न वर्ग को त्रस्त किये हुए हैं। सत्ता के सारे वादे झूठे पड़ गये। लोग गहरे 'फ्रस्टेशन' (विफलाशा) और अन्धकार में जीते हैं। ऐसे में हिन्दू साम्प्रदायिक राजनीतिवाले इस मन:स्थिति का फायदा उठाते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसकी राजनैतिक मोर्चा भारतीय जनता पार्टी निराश, त्रस्त हिन्दू मानस को यह बताते हैं कि इस दुर्गति का कारण मुसलमान हैं, यह शासन है, ये कण्ट्रोल हैं, ये कम्युनिस्ट हैं, यह लोकतान्त्रिक व्यवस्था है। हिन्दू को सुख-समृद्धि केवल हिन्दू राष्ट्र में मिलेगी जो प्राचीन धर्मादर्शों के अनुसार चलेगा। इस आशा में हिन्दू मानस के लिए आकर्षण है।

इसी तरह मुसलमानों के साम्प्रदायिक नेता, जैसे जमाइते इस्लामी और जमाइते तुलबा के लोग मुसलमानों को समझाते हैं कि इस दुर्गति का कारण इस्लाम का कमजोर होना है। इस्लामी हुकूमत के बिना खुशहाली हो नहीं सकती। ये नेता जानते हैं कि मुसलमान यह विश्वास करेगा नहीं कि भारत में इस्लामी हुकूमत कायम हो जायेगी। इसलिए वह मुसलिम दिमाग को अयातुल्ला खुमैनी, शाह सऊद और जरनल जिया की तरफ ले जाता है।

मैं चाहता हूँ, एक बात पूरी तरह साफ समझ ली जाय। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भारतीय जनता पार्टी को केवल साम्प्रदायिक कहकर टालना नासमझी है, अपने आपको धोखा देना और लोकतन्त्र को खतरे में डालना है। ये फासिस्ट ताकतें हैं जो नाज़ीवाद के तरीके पर चल रही हैं। ये फासिस्टी हिन्दू राष्ट्र की स्थापना करना चाहती हैं और इनका समझौता अमेरिकी साम्राज्यवाद से है।

जमाइते इस्लामी और इत्तेहादे-मुसलमीन भी फासिस्ट हैं। ये भी खतरनाक हैं।

देश की राजनैतिक पर्टियों की, जो खुद धर्मनिरपेक्ष हैं, यह बेईमानी है कि वे इस या उस बहाने से भारतीय जनता पार्टी और केरल की मुसलिम लीग से समझौता कर लेती हैं। वामपन्थी पार्टियाँ भी इस पाप से बरी नहीं हैं। बहुत अच्छी बात अभी यह हुई है कि दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों ने भारतीय जनता पार्टी से समझौता नहीं करने का तय किया है और उसे राजनैतिक अछूत बना दिया है।

इस खतरनाक हद तक साम्प्रदायिकता को बढ़ने देने की जिम्मेदारी बहुतों पर है। बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी राजनैतिक पार्टियों के दोगलेपन पर है। कांग्रेस ने, जो अपने को धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी कहती है, साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया

है। साम्प्रदायिकता से अवसरवादी समझौते किये थे। आधे से अधिक कांग्रेसी साम्प्रदायिक हैं, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। कांग्रेसी भी दंगे कराते हैं।

फिर इस देश का ट्रेड यूनियन आन्दोलन क्या करता रहा है? जमशेदपुर तो मजदूरों का शहर है। यहाँ 50 सालों से संगठित ट्रेड यूनियनें हैं जो अधिकतर वामपन्थी नेतृत्व में हैं। मगर जमशेदपुर में मजदूर वर्ग दंगा क्यों नहीं रोक सकता? यही नहीं, मजदूर ऐन वक्त पर हिन्दू-मुसलमान होकर आपस में एक-दूसरे का खून क्यों गिराते हैं? श्रमिक संगठन इतने निरुपाय क्यों हो जाते हैं? प्रगतिशील ताकतें कुछ कर नहीं पातीं। कारण यह है कि वामपन्थी ट्रेड यूनियनों ने मजदूरों से सिर्फ आर्थिक लड़ाई लड़वायी है। बोनस, महँगाई-भत्ता, वेतनवृद्धि और ओवर टाइम की लड़ाई लड़वायी है। वे 'अर्थवाद' (इकानामिज़्म) के चक्कर में फँसे हैं, जिसकी लेनिन ने निन्दा की है और क्रान्ति-विरोधी बताया है। मजदूरों को शिक्षित नहीं किया गया। उनकी विचारधारा नहीं बनायी। उन्हें यह बोध नहीं कराया कि वे क्रान्ति की शक्ति हैं। नतीजा यह है कि लाल झण्डेवालों को मजदूर कुल इतने काम का मानते हैं-- ये बोनस दिलाते हैं, तनखा बढ़वाते हैं, महंगाई-भत्ता दिलवाते हैं, कोई सस्पेण्ड हो जाय तो उसे बहाल कराते हैं। कुल इतने काम के हैं ये लाल झण्डे-वाले। सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों तक में ये नेता मजदूरों को यह नहीं सिखाते कि ईमानदारी से काम करो। यह कारखाना प्राइवेट कम्पनी का नहीं, तुम्हारे देश का है। एस.एम. बनर्जी ने मुझसे कहा कि मैं परेशान हूँ, इन लोगों से जो कारखानों में काम नहीं करते, चोरी करते हैं, गफलत करते हैं, हुकुम उदूली करते हैं और जब सस्पेण्ड होते हैं तो अपने नेता को लेकर मेरे पास चले आते हैं कि मन्त्री से बात करके बहाल कराओ। इन मजदूरों के लड़के संघ की शाखा में जाते हैं, ये खुद जनसंघ को वोट देते हैं और आर्थिक लाभ के लिए लाल झण्डे के नीचे आ जाते हैं।

फिर बुद्धिजीवी। हम लेखक। विश्वविद्यालयों के देदीप्यमान दीपक जो अन्धकार फैलाते हैं। पत्रकार। हम बुद्धिजीवियों ने इस देश के साथ धोखा किया। इस देश की जनता के साथ घृणित छल किया। हमारे लेखन के द्वारा हमने साम्प्रदायिक द्वेष को मिटाने की बिल्कुल कोशिश नहीं की। हमने अपने लेखन के द्वारा इस समस्या से जूझा ही नहीं। हमने नासमझी, गैर-जिम्मेदारी और कायरता अख्तियार की। हमने कोई खतरा नहीं उठाया। हममें बहुतेरे तो अमेरिकी फैलोशिप के चक्कर में रहे। बहुत 'कांग्रेस फार फ्रीडम ऑफ कल्चर' और 'मारल रिआर्मामेन्ट' के मारफत यश और धन लेकर सी. आई. ए. के हाथों खेलते रहे, जिसका इस देश को बाँटने का षड्यन्त्र है। हम लेखकों ने साम्प्रदायिकता का न पर्दाफाश किया, न उसके खिलाफ लिखा, न बाहर जनता में साम्प्रदायिकता से लड़े। सबसे बड़ा पाप तो हमारे सिर पर है। हिन्दू लेखकों की कथाओं से मुसलमान पात्र ही गायब हो गये।

हमारे भाई पत्रकारों ने भी यही किया। पत्रकार भी लेखक हैं। वे हमसे अधिक ताकतवर हैं। हमारा लिखा उपन्यास, कहानी, निबन्ध तो लम्बे अरसे में

प्रकाशित होता है और इने-गिने लोग उसे पढ़ते हैं। मगर अखबार तो रोज सुबह आदमी के हाथ में होता है। जनमत पत्रकार बनाते हैं। पर अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित, विश्वासहीन, निष्ठाहीन, विचारहीन, गैरजिम्मेदार इन पत्रकार बुद्धिजीवियों ने ज्यादातर साम्प्रदायिक भेद और उन्माद पैदा किया। ये पत्रकार साम्प्रदायिकता से नहीं लड़ते। तथ्य जनता को नहीं बताते। जनता को विवेक नहीं देते। साम्प्रदायिक पार्टियों के और साम्प्रदायिक जहनियत के अखबार तो यह करेंगे ही। मगर उदार तथा धर्मनिरपेक्ष अखबार भी साम्प्रदायिकता फैलाते हैं। मेरठ के दंगे के समय के अखबारों की प्रदर्शनी दिल्ली में लगी थी। जिन्होंने उसे देखा वे कहते हैं कि वे अखबार पत्रकारों का मुँह काला करने को काफी हैं।

फिर मोटी तनख्वाह पाकर विश्वविद्यालयों और कॉलेजों के महान् बुद्धिजीवी आचार्यगण—इन्हें 'नाटो' और 'वारसा' सन्धि-शक्तियाँ समझ में नहीं आतीं, ब्राह्मण और कायस्थ गुटों का शीत और गर्म युद्ध समझ में आता है। ये इसी विश्व-युद्ध को लड़ते रहते हैं। इनका कोई सम्पर्क इस देश की जनता से नहीं होता। इन्हें कोई चिन्ता इस देश की नहीं है। ये खुद दकियानूस, पुरोगामी अन्धविश्वासी होते हैं। ये राजनैतिक, सामाजिक समझ से शून्य होते हैं। इतिहास पढ़ाते हैं पर ऐतिहासिक शक्तियों को नहीं समझते। विज्ञान पढ़ाते हैं मगर खुद अवैज्ञानिक दृष्टि रखते हैं। कोई सामाजिक दायित्व ये नहीं समझते। पीढ़ी-दर-पीढ़ी भीड़-की-भीड़ युवकों-युवतियों को ये विश्वविद्यालयों से निकालते जाते हैं, मगर इन्हें कोई आधुनिक वैज्ञानिक समझ नहीं देते। ये एक के बाद दूसरी पीढ़ियाँ नष्ट करते चले जाते हैं। आज विश्वविद्यालय साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास, अवैज्ञानिकता और पुरोगामिता के सबसे बड़े अड्डे हैं। जो आचार्य जाति और उपजाति के आधार पर लड़ते हैं, उनसे क्या उम्मीद की जाय कि ये साम्प्रदायिक एकता की कोशिश करेंगे।

सुविधाभोगी, कायर, अवसरवादी लेखक, पत्रकार, अध्यापक, बुद्धिजीवी वर्ग ने इस देश और उसकी जनता के साथ बड़ा धोखा किया और करते जाते हैं।

मगर यह भी सही है कि वे कुछ लेखक ही हैं, जो 25 सालों से चिल्ला रहे हैं कि जिसे मामूली फसाद, गुण्डों की हरकत, सिरफिरों का पागलपन, असामाजिक तत्वों के कार्य कहकर शुतुरमुर्ग की तरह आत्मवंचना की रेत में सिर छिपाकर निश्चिन्त हो, वह नंगा फासिस्टवाद है। ये दंगे आकस्मिक नहीं, सुनियोजित होते हैं। सँभलो। मगर हमारे राजनेता न इस बात को समझे, न सँभले। आज जब उनकी गर्दन दबाने को ये फासिस्टवादी तैयार हो रहे हैं, तब वे मिसेज कर्कपेट्रिक का लेख और सी. आई. ए. का 'ब्लु प्रिण्ट' बार-बार पढ़ते हैं और घबड़ाते हैं।

इतना सब लिखने से यह अर्थ न निकाला जाय कि हालत काबू से बाहर हो गयी है। सब कुछ हारा जा चुका है। ऐसा कतई नहीं। मैंने स्थितियों का विश्लेषण किया है, तथ्य-अन्वेषण किया है और प्रवृत्तियों की सही पहचान बताकर सही नाम दिये हैं। निराशा की कोई बात नहीं है। आशा के लक्षण ज्यादा दिख रहे हैं। एक बहुत अच्छी बात तो यह हुई कि वामपन्थी नेतृत्व में वामपन्थी लोकतान्त्रिक मोर्चे

बन रहे हैं, जिनसे साम्प्रदायिक दल दूर रखे गये हैं। इससे साम्प्रदायिक राजनीति बहिष्कृत अछूत की तरह हो गयी। हमें विश्वास है कि वामपन्थी लोकतान्त्रिक दलों की यह एकता कायम रहेगी। सामान्य जनता में भी राजनैतिक समझ बढ़ी है और वह साम्प्रदायिक गिरोहों के चक्कर में नहीं आती। भारतीय जनता पार्टी की कुछ सीटें जीत लेने का यह अर्थ कतई नहीं लेना चाहिए कि जनता की साम्प्रदायिक रुझान बढ़ी है। ये नकारात्मक (नेगेटिव) वोट हैं। ये कांग्रेस के कुशासन के प्रति नाराजी के वोट हैं। जनता की नजर में साम्प्रदायिक राजनीति गिरी ही है। इस देश का आदमी वैसे भी परम्परा से और संस्कृति से उदार, सहनशील, लोकतान्त्रिक और लोकमंगल की भावना से युक्त है।

बहुत बड़ी आशा की बात यह है कि पिछले 5-6 सालों में प्रगतिशील विश्वासों-वाले लेखक सक्रिय और संगठित हुए हैं। अनगिनत नये तरुण लेखक प्रगतिशील संगठनों से सम्बद्ध हुए हैं और वे न केवल लेखन में बल्कि सामाजिक क्षेत्र में भी प्रगतिशील चेतना का प्रसार कर रहे हैं। राजनैतिक संगठनों से ज्यादा प्रगतिशील लोक-शिक्षण इस समय लेखक कर रहे हैं। मैं व्यक्तिगत अनुभव से जानता हूँ कि किस तरह शहरों और कस्बों के केन्द्र में चिपकायी गयी पोस्टर कविता हजारों लोग पढ़ते हैं, सोचते हैं और शिक्षित होते हैं। यह सिर्फ एक उदाहरण मैंने दिया है। लेखक को अब सक्रिय भी होना है, 'एक्टिविस्ट' होना है। उसे संगठित होना है। यह लड़ाई इस देश में है। यह वास्तविक है। इससे मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। समझौता करनेवाले कर लें और 'धिक्कार' के बीच गर्व से जियें। मगर वास्तविक लेखकों को यह लड़ाई लड़ना है। इतिहास में ऐसी लड़ाइयाँ हो चुकी हैं और जीत हमारी ही हुई है। फ़ैज़ के शब्द कहूँ—

यूं ही हमेशा उलझती रही है जुल्म से खल्क
न उनकी रस्म नयी है न अपनी रीत नयी
यूं ही हमेशा खिलाये हैं हमने आग में फूल
न उनकी हार नयी है न अपनी जीत नयी।

मेरठ का दंगा : वही पैटर्न

जबलपुर हो, जमशेदपुर हो, अलीगढ़ हो, मुरादाबाद हो और अब मेरठ हो—किस्सा वही है। दंगों का एक ही पैटर्न है। कारण भी एक ही है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की अध्ययन रिपोर्ट में 1961 के जबलपुर के दंगे का विवरण है। तर्जी मिराशी की एक किताब है—'दी ब्राउन साहब।' उसने लिखा है—भारत में सब ठीक चलता

दिखायी देता है कि एकाएक जबलपुर हो जाता है! 'सडनली देअर इज़ जबलपुर !'

जबलपुर में 1961 के दंगे में सरूपा गाँव में एक मकान में आग लगाकर मुस्लिम परिवार के सभी 11 व्यक्तियों को जिन्दा जला दिया गया था। यह धर्म की जय के लिए नहीं हुआ था। जमीन का विवाद था। दंगे के माहौल में पूरे परिवार को जलाकर उनकी जमीन पर कब्जा कर लिया गया। इस दंगे का उद्देश्य नारी के सम्मान और धर्म की रक्षा नहीं था, राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्य थे। मुर्गा तो मारकर, फिर तन्दूर में डालकर भूना जाता है; ये 11 आदमी जिन्दा 'रोस्ट' कर दिये गये।

जमशेदपुर में भी जबलपुर हो गया था। वहाँ एक एम्बुलेन्स गाड़ी को नष्ट करके लगभग 100 स्त्रियों और बच्चों को मार डाला था। जमशेदपुर के दंगे में धर्मरक्षा उद्देश्य नहीं था। रामनवमी का जुलूस खास रास्ते से निकले— जिस पर मस्जिद है, पत्थरबाजी हो और मारकाट शुरू। यह हिन्दू धर्म की जय के लिए नहीं था, मजदूरों में फूट डालने और ट्रेड यूनियन तोड़ने के लिए था। टाटा के कारखाने में मजदूरों का शोषण बरकरार रखने के लिए था।

अलीगढ़ का दंगा धर्म के लिए नहीं था। तालों के अर्थशास्त्र के लिए था और वह जमीन पर कब्जा करके वहाँ दूकानें बनाने के लिए था, जहाँ गरीब मुसलमानों की झोंपड़ियाँ थीं।

मुरादाबाद का दंगा बर्तनों और राजनीति के लिए था। मुरादाबाद के बर्तन मशहूर हैं। हर साल यहाँ एक अरब रुपयों के बर्तन बिकते हैं। अधिकांश खरीद अरब देशों के लोग करते हैं। कारीगर ज्यादातर मुसलमान हैं। ये बर्तनों पर कुरान की आयतें अंकित कर देते हैं और ये बर्तन अरब मुल्कों में खूब बिकते हैं। पूरे इस क्षेत्र में मुसलमानों की ज्यादा आबादी है, जनसंघ का जोर भी है। मगर विधायक और संसद-सदस्य हमेशा धर्मनिरपेक्ष चुने जाते रहे हैं। पास में ही सम्भल है। वहाँ भी दंगा हो चुका है। कुछ साल पहले वहाँ से लोकसभा के लिए एक कम्युनिस्ट मौलाना इशाक सम्भली चुने गये थे। साम्प्रदायिक दलों को यहाँ दंगा कराना जरूरी महसूस हुआ। दंगा कराना बहुत आसान है। ईदगाह में नमाज के वक्त सूअर घुसेड़ दिये और दंगा शुरू।

और अब मेरठ। शहर की घनी आबादीवाले क्षेत्र में एक पीपल का पेड़ है। उसके नीचे हिन्दू मन्दिर बनाना चाहते थे और मुसलमान मजार। दोनों तरफ का हठ था। एक दिन हिन्दू वहाँ पूजा-आरती करने लगे और दंगा शुरू हो गया। इस जगह को लेकर समझौता भी हो चुका था, मगर दंगा करानेवाले राजनीति के लोग तो आमादा थे। उन्होंने उत्तेजना फैलायी और 13 गरीब आदमी मारे गये।

हर दंगे में गरीब आदमी मारे जाते हैं और गरीबों की झोंपड़ियाँ जलायी जाती हैं। अभी तक इतने दंगे हुए मगर बड़ा हिन्दू या बड़ा मुसलमान कोई नहीं मारा गया। यह सब दंगे सुनियोजित होते हैं। जैसा शेक्सपियर ने लिखा है—देअर मेथड इज़ हिज़ मैडनेस। हिन्दू-मुसलमान दोनों की जातीय स्मृतियाँ हैं। मध्ययुग के

इतिहास को बदमाशी से गलत पढ़ाया जाता है। मुगलकाल के इस इतिहास का 'हैंग ओवर' है। दोनों सम्प्रदायों के वे प्रतीक हैं जिन्हें 'इरिटेट' करते हैं। गाय है तो सूअर हैं। मन्दिर हैं, मस्जिद हैं। दंगा करानेवालों के लिए काम आसान है। एक अफवाह फैला दी कि मन्दिर में गाय का मांस डाल दिया गया है और उत्तेजना पैदा हो गयी।

दंगों की जाँच के लिए बहुत से आयोग बैठे। हाईकोर्ट के न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों ने जाँच की। मोटी-मोटी रिपोर्टें इन दंगों के बारे में हैं। मगर दंगे फिर भी होते हैं। अखबारवालों की खोजबीनपूर्ण रिपोर्ट से मालूम होता है कि सबसे बड़ी गलती प्रशासन की होती है। प्रशासन तन्त्र गफलत में रहता है। उसका गुप्तचर विभाग फेल हो जाता है और समय रहते रोक के उपाय नहीं किये जाते। अक्सर शासनतन्त्र और पुलिस साम्प्रदायिक हो जाते हैं। धर्मनिरपेक्ष दल और व्यक्ति ऐसे मौकों पर न जाने क्यों निष्क्रिय हो जाते हैं और दोनों सम्प्रदायों के उग्रवादियों के हाथों में नेतृत्व चला जाता है। उत्तेजना और विषैले प्रचार से लम्बे अरसे से स्थापित राजनैतिक और सामाजिक नेतृत्व को दबा दिया जाता है और स्थिति पर कब्जा गुण्डे तथा साम्प्रदायिक लोग कर लेते हैं। वही धर्म और जाति के रक्षक बन जाते हैं।

जमशेदपुर में मजदूरों की बस्ती है। ट्रेड यूनियनें हैं जो वामपन्थियों के हाथों में हैं। क्या कारण है कि दंगों की उत्तेजना जब फैलायी जाती है, तब कई सालों की ट्रेनिंग के बाद भी, वामपन्थी यूनियनों के ये मजदूर दंगा रोक नहीं पाते, बल्कि दंगे में शामिल हो जाते हैं। कारण यह है कि ट्रेड यूनियनें अर्थवाद के चक्कर में पड़ी हैं। वे मजदूरों से केवल पैसे की लड़ाई लड़वाती हैं। वेतन की वृद्धि और बोनस और ओवर टाइम की लड़ाई है। ट्रेड यूनियन नेता मजदूरों को शिक्षित नहीं करते। उन्हें कोई आइडियालाजिकल शिक्षा नहीं देते। नतीजा यह होता है कि मजदूर यह मान लेता है कि यह जो लाल झण्डा है, ये मजदूर नेता हैं और यह यूनियन है—ये मुझे सिर्फ पैसा दिलाने के लिए हैं। इनका कोई और अर्थ नहीं है। हमारा कोई और दायित्व नहीं है। हिन्दू और मुसलमान मजदूर महँगाई-भत्ता बढ़ाने के लिए तो एक बिरादरीवालों की तरह पड़ेंगे, मगर क्योंकि साम्प्रदायिक उत्तेजना फैली कि झट हिन्दू और मुसलमान हो जायेंगे। पहले नारा लगाते थे—'मजदूर एकता जिन्दाबाद और दुनिया के मजदूर एक हो।' अब हर-हर महादेव, और अल्लाह हो अकबर के नारे लगाते हैं। ट्रेड यूनियन नेता क्यों नहीं मजदूरों को सिखाते कि मजदूर संगठन क्रान्ति के लिए संगठन हैं। क्यों नहीं उनका दिमाग साफ करते और उन्हें धर्मनिरपेक्ष बनाते। मजदूर नेता वेतन बढ़ाने के लिए तो 25 हजार का जुलूस निकालते हैं। मगर खुद चुनाव में खड़े होते हैं तो 2-3 हजार वोट पड़ते हैं। मजदूर दंगाई हो जाता है और लड़का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा में जाता है।

दंगा कहीं भी हो—चाहे जबलपुर में हो, जमशेदपुर में हो, उसकी जाँच-रिपोर्ट में एक दल का नाम जरूर आता है—पहले का जनसंघ और आज की

भारतीय जनता पार्टी। जमशेदपुर के दंगे पर न्यायमूर्ति ग्रोवर की रिपोर्ट में सीधी जिम्मेदारी इन लोगों पर लगायी गयी है। वहाँ के जनसंघी विधायक दीनानाथ पाण्डे को दंगे के लिए जिम्मेदार ठहराया गया। मुँह का दाग मिटाने के लिए अटलबिहारी ने उन्हें दल से निलम्बित कर दिया था। अलीगढ़ के दंगे में एक कृष्णकुमार नवभान का नाम उछला था। ये भी इसी दल के हैं और मेरठ के दंगे के सिलसिले में जिन दो नेताओं का नाम उछला वे दोनों इसी दल के हैं।

आगे बढ़ते हुए समाज को रोककर यथास्थिति कायम रखना या समाज को पीछे ले जाना—यह प्रतिगामी शक्तियों का उद्देश्य होता है। भारत के जनसमाज में कसमसाहट है—वह मुक्त होना चाहता है—मध्ययुगीन मानसिकता से, झूठे आडम्बरों से, गलत संस्कारों के फन्दों से, जातिवाद के शिकंजे से। भारतीय जन हर क्षेत्र के शोषण से मुक्ति चाहता है। आज समाजवाद लगभग हर आदमी के मन में बैठ गया है। परिवर्तन और मुक्ति की इस प्रक्रिया में वह वर्ग अड़ंगा डालता है, जिसके शोषण और दासता पर आधारित हित खत्म होने की सम्भावना है। वह समाज की प्रगति को रोकने के लिए जिन उपायों को काम में लाता है, उनमें एक प्रमुख यह साम्प्रदायिकता है। भारतीय भावना में साम्प्रदायिकता है, यह सही है। यह अपढ़ आदमी में ही हो, ऐसा नहीं है। उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों में यह कहीं ज्यादा है।

साम्प्रदायिकता सामाजिक परिवर्तन के साथ मिटेगी। मगर जरूरी यह है कि सामाजिक परिवर्तन की गति के लिए साम्प्रदायिकता से लड़ना उन राजनैतिक दलों के लिए जरूरी है, जो किसी भी प्रकार के समाजवाद और प्रगतिवाद के प्रति प्रतिबद्ध हैं। उन्हें केवल वोट पर ध्यान न देकर लोक-शिक्षण भी करना चाहिए। देश में धर्मनिरपेक्ष संगठन और दल साम्प्रदायिक ताकतों के मुकाबले कहीं अधिक शक्तिशाली हैं, मगर इस मुद्दे पर या तो ये निष्क्रिय हैं या चुनाव में वोट पाने के लिए ये भी जब-तब साम्प्रदायिक द्वेष का उपयोग कर लेते हैं। जरूरत यह है कि धर्मनिरपेक्षता से प्रतिबद्ध संगठन जागरूक और सक्रिय हों। आजादी के इतने वर्षों बाद भी हमारी शिक्षा-पद्धति को ऐसा नहीं बनाया गया, जिससे छात्रों में धर्मनिरपेक्ष और सांस्कृतिक एकता के विश्वास पक्के हों। साम्प्रदायिक द्वेष को बरकरार रखने की बहुत बड़ी जिम्मेदारी मध्ययुग के इतिहास को गलत और साम्प्रदायिक द्वेष की दृष्टि से पढ़ाया जाना है। अंग्रेज इतिहासकार मिलर और स्मिथ ने इस तरह इतिहास लिखा जिससे हिन्दू-मुसलमान में नफरत बढ़े। भारतीय इतिहासकारों ने भी इनकी नकल की। मगर यह इतिहास गलत है और साम्प्रदायिकता का जहर फैलाता है। नयी खोजों से जो इतिहास वैज्ञानिक दृष्टि से हमारे प्रगतिशील इतिहासकार लिख रहे हैं, उससे बहुत-सी पूर्वप्रचलित धारणाएँ झूठ साबित हुई हैं। मगर साम्प्रदायिक राजनीति करनेवाले इस सही इतिहास को पढ़ने देना नहीं चाहते। जनता सरकार के जमाने में नानाजी देशमुख के कहने से मोरारजी ने इतिहास की तीन पुस्तकें प्रतिबन्धित कर दी थीं। ये पुस्तकें वैज्ञानिक दृष्टि से नयी खोजों और प्रमाणों के आधार पर लिखी गयी हैं। इन पुस्तकों से हिन्दू-मुसलिम-

सद्भाव पैदा होता है जो नानाजी के दल को स्वीकार नहीं। प्राइमरी स्टेज से ही सही, इतिहास की पढ़ाई चाहिए।

मेरठ अब शान्त है। कर्फ्यू, शूट-एट-साइट के बाद तो सबकुछ शान्त हो ही जायगा। यह तो मजबूरी की शान्ति है। वास्तविक सद्भावना स्थापित होनी चाहिए, जिससे बार-बार जहाँ-तहाँ ये काण्ड न हों।

1. ज्ञानरंजन द्वारा लिये गये साक्षात्कार में साहित्य तथा खुद के रचनात्मक विवाद पर बातचीत है, और ·
2. श्यामसुन्दर मिश्र द्वारा लिये गये साक्षात्कार में आजादी के पहले और आजादी के बाद की राजनीति पर विस्तार से चर्चा हुई है।

इस तरह दोनों साक्षात्कार प्रकारान्तर से साहित्य और उसकी समग्रता को रेखांकित करते हैं।

—सम्पादक-मण्डल

परसाई से दो साक्षात्कार

ज्ञानरंजन द्वारा लम्बी बातचीत

प्रश्न--आपने लेखन लगभग किस सन् में आरम्भ किया ?

☐ मैंने सन् '48 के आसपास लिखना शुरू कर दिया परन्तु जमकर मैंने '50-'51 में लिखा।

प्रश्न—यह वह समय था जब भारतीय साहित्य में अलगाव की प्रवृत्ति लेखकों में प्रमुख थी। परन्तु आपकी भूमिकाओं तथा 'गर्दिश के दिन' जैसे आत्म-कथ्य से मालूम होता है कि आपने लेखन अलगाव से नहीं, लगाव से शुरू किया—ऐसा क्यों ?

☐ मेरे साथ ऐसा हुआ कि एक ओर तो मैं कुछ समय किशोरावस्था में भोगे व्यक्तिगत दुखों और उनकी स्मृतियों से आक्रान्त था, दूसरी ओर जबलपुर में मेरा साथ उस समय ऐसे लोगों से हो गया जो साहित्य और राजनैतिक क्षेत्र के बुलन्द लोग थे। व्यक्तिगत दुख का मोह 2-3 सालों में समाप्त हो गया। जिन लोगों के साथ मैं था, वे कांग्रेस के भीतर के समाजवादी थे, तथा 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन के 'हीरो' थे। वे उग्र समाजवाद के नारे के साथ कांग्रेस के बाहर आ गये, मैं इनके साथ हो गया। यह आन्दोलन तब बहुत उग्र और 'पाजिटिव' था, बाद में 'निगेटिव' हो गया। पर इन वर्षों में एक आन्दोलन में शामिल होने का बोध और उत्साह मेरे भीतर था। इसलिए कुण्ठा, निराशा, निर्वासन, अकेलेपन का प्रश्न ही नहीं था।

दूसरे महायुद्ध के बाद निर्वासन की प्रवृत्ति यूरोप में बढ़ी, उसके विशिष्ट कारण थे। एक तो युद्ध का महानाश, दूसरी ओर फासिस्ट पूंजीवाद और बूर्जुआ लोकतान्त्रिक पूंजीवाद के बीच के संघर्ष में भौतिक, नैतिक और आत्मिक विनाश हुआ। इसका कोई कारण पश्चिमी यूरोप के बुद्धिजीवी की समझ में नहीं आ रहा था। इसलिए वहाँ के लेखक अपनी नियति के बारे में अनिश्चित हो गये। सामूहिक नाश भोगे हुए लोग व्यक्तिगत हालत से घबरा उठे, ऐसे में उनकी आस्थाएँ टूट गयीं। वे उस परिवेश में अपने को अकेला और निर्वासित महसूस करने लगे। ध्यान देने की बात यह है कि आखिर इन लेखकों, कवियों में पुनर्निर्माण का उत्साह क्यों नहीं है ? उसी समय रूस का हर कवि नष्ट कारखाने के फिर खड़े होने में उल्लसित होता था और कविता लिखता था। जबकि पश्चिमी यूरोप में पुनर्निर्माण के बावजूद लेखक निराश, कुण्ठित और निर्वासित अनुभव कर रहा था।

भारत में स्वतन्त्रता आयी ही थी, युद्ध का विनाश इस देश ने नहीं भोगा था। विभाजन और नरसंहार अवश्य भोगा था। नव स्वतन्त्र देश में निर्माण के उत्साह के बजाय निराशा और कुण्ठा आखिर क्यों थी? कारण—एक तो यह है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन में भावुकता अधिक थी और आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति के तत्त्व लगभग नहीं थे। हमने स्वतन्त्रता में बहुत जल्दी बहुत अधिक आशा कर ली और एक क्रान्ति के बाद निर्माण का जो उत्साह होता है वह गायब था। फिर बहुत जल्दी राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार फैल गया। उस समय जो लिखा गया उसके कुछ कारण तो ये थे, पर ऐसा लेखन बहुत कुछ झूठा और नकल थी।

प्रश्न—आपके लेखन में राजनैतिक चेतना की शुरुआत कब से होती है? इसके पीछे जीवन की शिक्षा है, कोई घटना, कोई व्यक्ति या कोई विचारधारा?

☐ आरम्भ में ही राजनैतिक लोगों के साथ रहने के कारण राजनैतिक चेतना मुझमें थी। वे लोकतान्त्रिक समाजवादी लोग थे जिनके नेता जयप्रकाश नारायण थे। पहिले आम चुनाव में इनका सफ़ाया हो गया। इनमें खीझ आयी और 'फ्रस्ट्रेशन' आया और ये टूट-फूट गये। संयोग से तभी मेरा सम्पर्क कम्युनिस्ट पार्टी से हुआ और मार्क्सवादी दर्शन तथा साहित्य से मेरा परिचय हुआ। अध्ययन से और साम्यवादियों के सम्पर्क से मैंने बहुत कुछ सीखा। अब मेरी दृष्टि साफ है। मैं श्रमिक आन्दोलन से भी तभी सम्बद्ध हो गया। मेरा अनुमान है कि सन् '53-'54 में मार्क्सवाद के प्रभाव में आ गया। तभी मेरा सम्पर्क मुक्तिबोधजी से हुआ और उन्होंने मेरे मार्क्सवादी विश्वासों को मजबूत किया तथा दृष्टि को बिल्कुल साफ और सही कर दिया।

प्रश्न—आपके नाम के साथ व्यंग्य-शिल्पी, व्यंग्यकार-जैसे शब्द जुड़ गये हैं। अर्थात् आपका व्यक्तित्व मूल रूप में, या कहें केवल व्यंग्य-लेखक का मान लिया गया है। आपने व्यंग्य-माध्यम ही अभिव्यक्ति के लिए क्यों चुना?-

☐ एक तो इस प्रकार का लेबिल लगाना ठीक नहीं है, परन्तु जिम्मेदारी कुछ मेरी भी है। मैंने यह तय करके लिखना शुरू नहीं किया कि व्यंग्य नाम की चीज ही लिखूंगा। वास्तव में हर लेखक जीवन की खोज और समीक्षा करता है और जीवन से साक्षात्कार करता है। इसके लिए किसी विशिष्ट शैली या रूप का चुनाव सहज ही हो जाता है। मैंने वही लिखा है जो दूसरे लेखकों ने दूसरे ढंग से लिखा है पर कुछ तो मेरी मानसिक प्रवृत्ति और चेतना तथा सामाजिक जीवन के प्रति मेरी प्रतिबद्धता थी जिसके कारण मैंने विसंगतियों, विकृतियों, अन्याय, शोषण, पाखण्ड, दोमुंहापन, ढोंग इत्यादि को पकड़ा। इस पर लेख भी लिखा जा सकता है या अखबारी टिप्पणी भी। पर एक रचनाकार के नाते इन्हें अभिव्यक्त करने के लिए मुझे व्यंग्य का माध्यम अनुकूल पड़ा।

प्रश्न—आपके पहिले से और आपके समय में भी हास्य और विनोद की परम्परा थी। आपने हास्य और विनोद की इस परम्परा का जान-बूझकर त्याग किया था?

☐ हास्य-विनोद अच्छी चीजें हैं। हँसना स्वास्थ्य का लक्षण है, पर हर बात पर हँसना गैर-जिम्मेदारी और मूर्खता है। जीवन में हर बात पर हँसी नहीं आती। किसी बात पर करुणा पैदा होती है, किसी से घृणा होती है, किसी से क्रोध होता है। इसलिए केवल विनोद और हास्य का लहजा गैर-जिम्मेदारी का काम है। कोई हास्य-लेखक पीटनेवाले पर भी हँसे कि कैसे मजे में पीट रहा है और पिटनेवाले पर भी हँसे कि कैसे मजे में पिट रहा है, तो ऐसे लेखक को आप क्या कहेंगे? जानवर कहेंगे न? मगर जानवर हँसते नहीं हैं, मेरा मतलब है यह समझ चाहिए कि क्या हँसने लायक है क्या रोने लायक है, अर्थात् सहानुभूति तय होनी चाहिए। इसके लिए लेखक को ठिठोली और छिछोरापन छोड़ करके सामाजिक जीवन में अपने को शामिल करना होता है, उसकी सम्बद्धता होनी चाहिए, यहीं से मात्र हास्य-विनोद और सामाजिक चेतनासम्पन्न व्यंग्य अलग हो जाता है।

प्रश्न—क्या आप व्यंग्य को स्वतन्त्र विधा मानते हैं?

☐ इसका जवाब लेना चाहिए शास्त्रियों से। मेरे मत में व्यंग्य कोई विधा नहीं है। इसका अपना कोई 'स्ट्रक्चर' नहीं है। यह एक 'स्प्रिट' है, जो हर विधा में आ सकती है। कहानी में, नाटक में, उपन्यास में। बर्नार्ड शॉ का प्रधान स्वर व्यंग्य है, लेकिन उनका मूल्यांकन नाटककार के रूप में होता है। व्यंग्य कविता से लेकर उपन्यास तक में आ सकता है।

प्रश्न—जीवन के प्रति व्यंग्य का लहजा क्या हमें दार्शनिक रूप से एक अस्थिर और सिनिक नहीं बना देता?

☐ व्यंग्य एक पाजिटिव चीज है, उसे नकारात्मक नहीं मानना चाहिए। व्यंग्य लेखक यही तो बताता है कि समाज में यह बुरा है, यह असंगत है, यह अकल्याण-कारी है। वह ऐसा इसलिए करता है कि क्योंकि वह दुखी है कि इतना बुरा क्यों हुआ? वह एक बेहतर मनुष्य, एक बेहतर समाज-व्यवस्था के प्रति आस्था रखता है इसलिए जो बुराई आज उसे दिखती है उसे इंगित करता है। डाक्टर अगर मरीजों को रोग बताता है तो वह निराशावादी, नकारात्मक और 'सिनिकल' नहीं है, वह आदमी को स्वस्थ करना चाहता है, इसलिए रोग बताता है। अगर वह रोगी से कह दे कि वह तो स्वस्थ है तो वह मर जायेगा। यह लहजा क्या सकारात्मक है?

प्रश्न—परसाईजी, मैं आपके सामने एक समस्या रख रहा हूँ। यह बतायें कि व्यंग्य अगर विसंगति में ही पैदा होता है, जैसा आप मानते हैं, तो क्या यह विधा संसार के साहित्य में अस्थायी तौर पर है? जब सारी दुनिया समाजवादी संगति में व्यवस्थित हो जायेगी तो व्यंग्य कहाँ जायेगा?

☐ यह सही है कि पूँजीवादी व्यवस्था में सामाजिक, आर्थिक विषमताएँ बहुत होती हैं, अन्याय और ढोंग भी भरपूर होता है, इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था में व्यंग्य के मुद्दे बहुत होते हैं, लेकिन समाजवाद स्थापित होने के बाद व्यंग्य की जरूरत नहीं रहेगी, ऐसी बात नहीं। वास्तव में दो मनुष्य, उनका चरित्र, उनके काम करने के

तरीके, कभी एक-जैसे नहीं हुए। समाजवादी व्यवस्था में भी व्यक्ति और समाज में विसंगतियाँ रहेंगी। जहाँ समाजवाद है, वहाँ ये हैं और उन पर लिखा जा रहा है। रूस में नौकरशाही की बहुत विसंगतियाँ हैं। सरकारी फार्मों, सहकारी दूकानों में विसंगतियाँ हैं, कारखाने के मैनेजर तरह-तरह के होते हैं और उनमें तरह-तरह की सनक भी होती है, अतिक्रान्तिकारिता के उबाऊ नारे भी होते हैं।

यह कल्पना नहीं की जा सकती कि रूस के किसी सहकारी स्टोर में अच्छे विदेशी जूते आये हों और स्टोर के मैनेजर ने उनमें दो-चार जोड़ी अपने लोगों के लिए बुक न कर लिये हों, यह होता है और रूसी लेखक इस तरह के व्यंग्य भी करते हैं। रूसी पत्रिका 'क्रोकोडाइल' में छपा एक व्यंग्य बताता है।

को-आपरेटिव स्टोर पर नोटिस लगा था—पाँच सौ इटालियन जूते अमुक साइज़ के आये हैं, इनमें से चार सौ पचास जोड़ी की माँग पहिले से बुक है, उन्चास जोड़ी कार्यकर्ताओं ने ले लिये हैं, अब एक जोड़ी बचा है, सब ग्राहकों से अनुरोध है कि वे आकर उस जूते को देख लें और अपनी पसन्द का ले जायें। और उदाहरण हैं। एक रूसी उपन्यास 'पाट होल्स' में है। सहकारी कृषि फार्मों का सेक्रेटरी एक मरते हुए आदमी को चार-पाँच मील दूर डाक्टरों के पास नहीं ले जाने देता। वह कहता है कि ट्रक्टर खेती के लिए है, दूसरे काम के लिए नहीं। उसे आखिर किसी तरह डाक्टर के पास तक ले जाया जाता है, पर डाक्टर उसे देखकर कहता है कि यह अभी-अभी मर गया। क्या तुम इसे कुछ पहिले नहीं ला सकते थे? उसके साथ के लोग उसे बताते हैं कि सहकारी फार्म के सेक्रेटरी ने ट्रैक्टर नहीं दिया। डाक्टर खीझ-कर कहता है—वह एक नौकरशाह है जो हत्यारा हो गया। देखिए, विसंगतियाँ हर मनुष्य-समाज में होती हैं, वे चाहे कम हों, उनका रूप बदला हुआ हो और उनका प्रतिफलन चाहे उतना घातक न हो।

प्रश्न—आपकी धारणा है कि आप सुधारवादी नहीं हैं, आप परिवर्तन के लिए लिखते हैं, या लिखना चाहते हैं। कृपया यह बतायें कि योजना आयोग, विज्ञान संस्थाएँ, न्यायपालिका, संसद, प्रकाशन संस्थान, रेडक्रास, सामाजिक क्लब, कानून और परिवार—ये सभी संसदीय तन्त्र, वर्तमान हालत में लेखन शास्त्र और लेखन शस्त्र में परिवर्तित हो सकेंगे? क्या साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकेगा?

☐ मैं सुधार के लिए नहीं बल्कि परिवर्तन के लिए लिखता हूँ, यह कहने का मेरा यह अर्थ नहीं है कि मैं और मेरे-जैसे परिवर्तनकामी लेखक केवल लेखन में समाज बदल देंगे। ऐसा दावा करना तो अहंकार और मूर्खता है। क्रान्तिकारी परिवर्तन, क्रान्तिकारी आन्दोलन से ही होते हैं। भारत में एक प्रयोग जैसा हो रहा है। जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय बूर्जुआ के नेता थे, परन्तु उन्होंने सार्वजनिक उद्योग क्षेत्र खोल दिया और योजना आयोग बैठा दिया। आयोग पूंजीवाद की नहीं, समाजवाद की चीज है, इससे कम्युनिस्ट और गैर-कम्युनिस्ट दोनों भौंचक थे। ये कैसा बूर्जुआ है, जो 'पब्लिक सेक्टर' खोलता है? जवाहरलाल संसदीय तरीके से धीरे-धीरे समाजवाद को विकसित करना चाहते थे। 'पब्लिक सेक्टर' का विस्तार होता

जायेगा, वह कभी जाकर 'प्राइवेट सेक्टर' को खतम कर देगा, ऐसा यह प्रयोग है। साम्यवादी पार्टियाँ भी रणनीति के हिसाब से ही सही संसदीय मार्ग अपना रही हैं। उन्हें काम करने के लिए संसदीय लोकतन्त्र की आवश्यकता भी है। योजना आयोग, न्यायपालिका, शिक्षा-पद्धति आदि पूँजीवादी तन्त्र की है, समाजवाद की नहीं, इसलिए देखा जा रहा है कि 33 वर्ष बाद भी कोई विशेष परिवर्तन हुआ नहीं। मेरा खयाल है कि पूरी व्यवस्था को बदले बगैर कुछ होनेवाला नहीं है और इसके लिए वर्ग-संघर्ष जरूरी मालूम होता है, ऐसे वर्ग-संघर्ष की तैयारी कब होगी यह मैं नहीं कह सकता। हम लेखक कुल इतना कर सकते हैं कि इस व्यवस्था की सड़ाँध को उजागर करें और परिवर्तन की चेतना का निर्माण करें।

प्रश्न —'वैष्णव की फिसलन' की भूमिका में आपने लिखा है कि कुछ लोग आपकी रचना 'अकाल उत्सव' पढ़कर सोचने लगे हैं कि लेखक का विश्वास संसदीय लोकतन्त्र से उठ रहा है। श्याम बेनेगल की फिल्म 'अंकुर' और आपके 'अकाल उत्सव' के अन्त में हिंसा का संकेत है। आपने अपनी भूमिका 1973 में लिखी थी और कहा था कि इस आरोप का उत्तर अभी मैं नहीं दूंगा। क्या आज 7 वर्ष बाद आप कोई उत्तर दे सकते हैं? उसी भूमिका से मैं आपका एक वाक्य दोहराता हूँ कि "इतिहास एक हद तक समय देता है, मेरा खयाल है हमें तीन सालों से ज्यादा का समय नहीं है।"

☐ 'अकाल उत्सव' जैसी और भी कहानियाँ मैंने लिखी हैं। एक कहानी 'चूहा और मैं' है। इसमें हिंसा का संकेत है। यह अजब बात है बल्कि षड्यन्त्र है कि जब शोषित लोग लड़ने लगते हैं तब ही यह शोर हो जाता है कि हिंसा हो रही है। शोषक वर्ग की हिंसा सिर्फ 'लॉ एण्ड आर्डर प्राबलम' कहलाती है। शासन की हिंसा संवैधानिक बन जाती है।

एक प्रश्न है—'न्यूनतम मजदूरी।' खेत-मजदूरों को न कांग्रेस सरकार दिला सकती है न वामपन्थी मोर्चे की सरकार। यह तथ्य है। न्यूनतम मजदूरी का कानून संसद और विधानसभा द्वारा पास करके रखा हुआ है। सरकार के आदेश हैं, इसके लिए अलग विभाग भी है और प्रोपेगेण्डा मशीनरी भी। मगर खेत-मजदूरों को 'न्यूनतम मजदूरी' नहीं दिलायी जा सकी, वे माँगते हैं तो उनकी पिटाई। जमींदार, पुलिस, श्रम-विभाग के अफसर, स्थानीय विधायक, संसद-सदस्य तथा प्रदेश का राजनैतिक नेतृत्व सब मिले हुए हैं। ऐसी हालत में खेत-मजदूर क्या करे? वह यह करता है कि संगठित होकर, हथियार धारण करता है और किसी जमींदार को मार डालता है और इस आतंक के कारण क्षेत्र के डरे हुए भूमिपतियों से न्यूनतम मजदूरी ले लेता है। फिर पुलिस आती है, मिलेट्री आती है, सभी बच्चों-पुरुषों को मार डालती है, गाँव नष्ट कर देती है। मगर मजदूर संगठित होकर फिर वही करता है जिसे नक्सलवाद नाम दिया गया है। वह इन्हीं हालातों में पैदा हुआ है। आम आदमी का विश्वास लोकतान्त्रिक संस्थाओं पर से डिग रहा है, क्योंकि वे कारगर नहीं हैं और शोषक वर्ग का साथ देती हैं। 1973 में आसार दिखने लगे थे कि इस

व्यापक जन-असन्तोष और क्रोध का उपयोग 1971 के चुनाव में हारे हुए दक्षिण-पन्थी, प्रतिक्रियावादी राजनैतिक दल करेंगे। उन्होंने '74-'75 में किया। 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का आन्दोलन इन्हीं दलों ने जनता से कराया। हालाँकि वह जन-विरोधी आन्दोलन था। एशिया, अफ्रीका के पिछड़े हुए तथा विकासशील देशों में या तो कम्युनिस्ट सरकारें हैं या फौजी तानाशाही है। संसदीय लोकतन्त्र कहीं नहीं है। श्रीलंका और मिस्र में राष्ट्रपति की तानाशाही कायम हो गयी। 1980 के चुनाव में जनता ने फिर से दो-तिहाई बहुमत से कांग्रेस (इन्दिरा) को सत्ता सौंप दी। अब यदि लोगों की अपेक्षाएँ पूरी नहीं हुईं तो उन पर यह प्रतिक्रिया होगी कि संसदीय लोकतन्त्र की आखिरी परीक्षा हो गयी, अब क्या हो? इन्दिरा गाँधी कहती हैं, 'लोगों की इच्छाएँ पूरी नहीं हुईं तो लोकतन्त्र को लात मार देंगे।' तब क्या ऐसी स्थिति आयेगी कि वामपन्थी क्रान्तिकारी आन्दोलन के काफी संगठित और ताकतवर न होने के कारण या तो इन्दिरा गाँधी संवैधानिक तानाशाही ले आयें या फौज का शासन हो जाये? ये प्रश्न विचारणीय हैं। इस स्थिति को तभी बचाया जा सकता है जब वामपन्थी ताकतें बहुत तेजी से बढ़ें और विकल्प का रूप धारण करें।

प्रश्न—कबीरदास की असफलता के क्या कारण थे? वही कारण क्या आपकी असफलता के नहीं हो सकते?

☐ कबीरदास कवि थे। आन्दोलनकर्ता नहीं। मैं भी लेखक हूँ, आन्दोलनकर्ता नहीं। लेखन की क्षमता और परिणामों की सीमाएँ होती हैं। कबीरदास पर निर्णय ऐसे नहीं दे सकते कि वे सफल हुए कि असफल। देखना होगा कि कबीरदास का क्या उद्देश्य था। कबीरदास विद्रोही थे। धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र में वे मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड के विरोधी थे तथा सामाजिक क्षेत्र में वे जातिवाद के विरुद्ध थे। काव्य में उनका आन्दोलन लोकतान्त्रिक आन्दोलन है। पर आन्दोलन बहुत फैला। जितने भी कवि हुए और वे नीची जातियों के हुए, जिन्होंने समता और लोकतान्त्रिक मूल्यों की स्थापना के लिए काव्य रचा। अब जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैंने कभी यह दावा नहीं किया कि मेरे लेखन मात्र से कोई परिवर्तन हो जानेवाला है। असंख्य लोग हैं—मजदूर हैं, किसान हैं, गरीब लोग हैं, जो परिवर्तन के लिए लड़ रहे हैं। यही सफल होंगे, मैं इनके साथ कलम लेकर पैदल चलनेवाला हूँ।

प्रश्न—घोर अवसरवाद के झंझावात में विरुद्ध खड़े रहने का काम आगे बढ़ा है क्या? क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि हास्य-व्यंग्य का साहित्य खतरों की तुलना में यशोपार्जन, धनोपार्जन से ही ज्यादा जुड़ा है?

☐ साहित्य मात्र से अब यश और धन मिलते हैं। इन्हें कोई नकार नहीं सकता। केवल व्यंग्य लिखनेवाले से ही यश और धन के प्रति निर्मोही होने की और खतरा उठाने की अपेक्षाएँ नहीं होनी चाहिए। खतरे हर प्रकार के लेखन में हैं—कविता में, उपन्यास में। आजादी की लड़ाई के जमाने में यह जो गीत था—'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा', यह काव्य तो नहीं है पर खतरनाक नारा था और इसे गाते हुए लाखों लोग जेल गये। खतरे का सवाल इस तरह पैदा होता

है कि जो लिखा गया है वह किन हितों के विरुद्ध है ? और उसकी कितनी व्यापक अपील है। 'इमर्जेन्सी' के वक्त तो यह लिखना कि शहर में 'तेल की कमी है' खतरे से खाली नहीं था, फौरन प्रेस में खुफिया और सेंसर के लोग आ जाते थे। यह सही है कि बहुत कुछ जो व्यंग्य और विनोद के नाम पर लिखा जा रहा है, तीव्र सामाजिक चेतना से हीन है। इसमें गुदगुदाने और हँसाने की प्रवृत्ति ही देखी जाती है। कुछ लेखक अर्थसत्ता और राज्यसत्ता की मुँहदेखी भी करते हैं, कुछ लेखक बहुत अच्छे हैं मगर ऊँची सरकारी नौकरी पर। वे तो मेरी तरह नौकरी खोने का खतरा नहीं ले सकते।। कुछ लेखक निश्चित रूप से और जान-बूझकर शोषक वर्ग के समर्थन में लिखते हैं। ये भी व्यंग्य लिखते हैं, पर इनकी चोट जनवादी शक्तियों पर होती है, ये धन और सुरक्षा के लिए ऐसा करते हैं। कुछ लेखक हैं जो लोकप्रिय भी हैं, जिनकी भाषा सधी हुई है, खूब पढ़े भी जाते हैं, लेकिन सामाजिक-राजनैतिक रूप से मूर्ख हैं। प्रगतिशील लेखन आन्दोलन का विरोध कुछ सम्पादक, लेखक जिम्मेदारी के कारण करते हैं तो कुछ मूर्खता के कारण। ये शासन के पीछे खड़े होकर दुम हिला रहे हैं और समझते हैं कि वह हम चला रहे हैं। कुछ ऐसे लेखक भी हैं जिनसे कुछ भी लिखवाया जा सकता है। परन्तु नयी पीढ़ी के लेखकों में मैंने देखा है कि तीव्र सामाजिक चेतना आ रही है, वे लेखन को केवल मनोरंजन नहीं मानते। उनमें वर्ग-चेतना भी है। अभी मैंने कुछ नये व्यंग्य-लेखकों के संग्रहों की भूमिका देखी। मैं उसे पढ़कर चमत्कृत हो गया कि बीस साल से जो मैं चिल्ला रहा हूँ वह इन नये लेखकों ने स्वीकार किया है। यह सही है कि प्रकाशन एक वर्ग के हाथ में होने के कारण दबाव बहुत है, पर फिर भी बहुत अच्छा लेखन चाहे न रहा हो लेकिन चेतना बराबर बढ़ रही है।

प्रश्न—पश्चिम के उल्लेखनीय साहित्य में आज व्यंग्य की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति नाटक की विधा में देखी जा रही है। क्या आप इस दिशा में भी प्रयास करने जा रहे हैं या आप किसी विशेष विधा की गतिशीलता के साथ उसमें अनुशासन को नापसन्द करते हैं ?

☐ नाटक बहुत सशक्त माध्यम है। मैं भी महसूस करता हूँ कि नाटक के माध्यम से व्यंग्य अधिक कारगर हो सकता है। कुछ छुटपुट एकांकी के बिना कोई नाटक मैंने लिखा ही नहीं। इसका एक कारण तो यह है कि निबन्ध, कहानी, कालम आदि में मैं अपने को अभिव्यक्त कर लेता हूँ। असल में जितने जमकर और साधकर नाटक लिखा जाता है उतना समय और सुविधा मुझे कभी नहीं मिली। नाटक लिखना जरूर चाहता हूँ और आगे लिखूँगा। हर विधा का अपना अनुशासन होता है और नाटक में अनुशासन के प्रति मेरा उपेक्षा भाव नहीं है, बल्कि उस अनुशासन को निभाने में मैं अभी समर्थ नहीं हो पाया।

प्रश्न—सम्मान, पारितोषिक और अभिनन्दन के सम्बन्ध में आपकी धारणा क्या है ? इस समय देश में कई स्तरों पर कई प्रकार से ये पुरस्कार जारी हैं ? क्या आप ऐसे किसी संस्थान या राज्य संस्था से पुरस्कार लेना मंजूर करेंगे जो साहित्यकारों

के बारे में गैर-साहित्यिक कारणों से निर्णय करती हों ?

☐ सम्मान और धन किसी को बुरा नहीं लगता। मुझे किसी अभिनन्दन समारोह में माला पहिनने और अभिनन्दन-पत्र लेने में कोई रुचि नहीं है। मेरी रुचि उस पैसे के ऊपर है जो मिलता है। कोई मेरा सम्मान करना चाहे तो मैं उससे कहूँगा कि मुझे देने के लिए धन का इन्तजाम तुम कर लो और अभिनन्दन-पत्र मैं खुद लिखकर छपा लूंगा। सच्चा सम्मान तो वह है जो पाठकों से मिलता है, या आम जनता से। पुरस्कार या तो राज्य सत्ता देती है या पैसेवाले लोग। इनमें केवल साहित्यिक कारणों से निर्णय होता हो और ऐसा भी नहीं है कि साहित्यिक गुणों की कोई अवहेलना होती हो, यह जरूर है कि पुरस्कार देनेवाले के अपने वर्ग-हित, मान्यताएँ और विश्वास निर्णय पर प्रभाव डालते हैं।

यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' को साहित्य अकादमी पुरस्कार न देना गैर-साहित्यिक कारणों से हुआ। मैंने एक बार उत्तरप्रदेश साहित्य-परिषद का और एक बार म. प्र. कला परिषद का पुरस्कार लिया। म. प्र. कला परिषद ने एक बार मेरा सम्मान भी किया था। कला परिषद शासकीय संस्था है। मैं कांग्रेस सरकारों का विकट आलोचक रहा हूँ। पर मेरा सम्मान किया गया। प्रश्न यह है कि लेखक क्या पुरस्कार के लिए समझौता करता है ? यदि नहीं तो पुरस्कार लेने में कोई हर्ज नहीं है। हमारे देश में अभी ऐसा नहीं हुआ है जैसा 'नोबल प्राइज' के साथ हो गया है कि पुरस्कार के साथ विशेष प्रकार की पक्षधरता जुड़ गयी है। फिर यह निर्णय करना भी सम्भव नहीं है कि अमुक संस्था गैर-साहित्यिक कारणों से पुरस्कार देती है। इसलिए इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता।

प्रश्न —आप स्वभाव से बेचैन, मित्रवत्, भावुक, साहित्यिक, निर्मल, अन्तरंग और मानवीय हैं और आपकी वैचारिकता संघर्षपूर्ण है—यह स्थिति आधुनिक क्लैसिक की रचना के सर्वथा उपयुक्त है, फिर इसका लाभ आपने अभी तक क्यों नहीं उठाया ?

☐ क्लैसिक इरादा करके नहीं लिखा जाता, बल्कि वह हो जाता है। क्लैसिक के लिए अन्य बातों के अलावा सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होना चाहिए। मैं खण्ड-खण्ड चित्रण करता हूँ। शायद मुझमें 'एपिक टेलेण्ट' नहीं है और मैं परम्परागत अर्थों में महाकाव्य या उपन्यास नहीं लिख सकता। 'फैण्टेसी' मुझसे सधती है। मेरा बहुत कुछ सोचना फैण्टेसी में होता है। मैं अब कोशिश कर रहा हूँ, कोई लम्बी 'फैण्टेसी' लिखूं, जैसी 'डान क्विक्झोट' है।

प्रश्न—जब आपने सन् '52-'55 के आसपास 'फ्रीलांसिंग' शुरू किया तब लेखन का न अच्छा पारिश्रमिक था और न प्रकाशन की अच्छी सुविधाएँ और न कालम-लेखन की कोई ऐसी परम्परा, फिर आपने यह खतरा कैसे उठाया ?

☐ मैं हाईस्कूल में अध्यापक था। लिखने की तीव्र प्रेरणा मेरे भीतर थी। मेरा सबसे अच्छा समय और बहुत-सी शक्ति स्कूल में चली जाती थी। मैंने स्वतन्त्र लेखन का फैसला किया। तब इसलिए कर लिया कि मैं अकेला था। मेरी बहिन के परिवार

का उत्तरदायित्व नौकरी छोड़ने के 6 माह बाद आया और मैं सचमुच घबड़ा गया। मेरे पास शिक्षण शास्त्र की डिग्री थी। मैं अध्यापक फिर से कभी भी हो सकता था। इसके अलावा स्थानीय एक दैनिक पत्र में मेरा नियमित कालम चल रहा था। मैंने बहुत तीव्र गति से लिखा और प्रकाशन और पारिश्रमिक की स्थितियाँ बेहतर होती चली गयीं। जैसी मेरी नौकरी थी वैसे मेरे 'कालम' हो गये। कठिनाइयाँ बहुत आयीं, पर मैं बिल्कुल असुरक्षित कभी नहीं रहा।

श्यामसुन्दर मिश्र से चर्चा*

[वर्तमान राजनैतिक परिदृश्य के भीतर विद्यमान दिशाहीनता और भटकाव उस इतिहास की उपज है, जिसके सूत्रों का निर्धारण कांग्रेस के नेतृत्व में चलनेवाले स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान हुआ था। कांग्रेस के वर्गसमाजी चरित्र के भीतर नेहरू-युग में भी दक्षिणपन्थी विचारधारा के नेताओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी, और आज भी इन्दिरा कांग्रेस के भीतर सत्तालोलुप अवसरवादी तत्त्वों की भरमार है। कांग्रेस को अपदस्थ करने के लिए तत्पर विरोधी दलों में प्रतिक्रियावादी दक्षिण-पन्थियों का आधिक्य है, और वामपन्थी जनवादी एकता के पैरोकार आपस में विभाजित हैं। इन स्थितियों और साहित्य की भूमिका पर हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार व्यंग शिल्पी श्री हरिशंकर परसाई से डॉ. श्यामसुन्दर मिश्र की लम्बी बातचीत प्रस्तुत है।

—सम्पादक]

डॉ. मिश्र—परसाईजी, स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों और उस समय के मूल केन्द्रीय राजनैतिक आन्दोलन के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

परसाई—मिश्रजी, स्वाधीनता आन्दोलन की मुख्य धारा कांग्रेस की थी जिसका नेतृत्व 1920 से पूर्णतया महात्मा गाँधी के हाथ में रहा है। गाँधीजी ने स्वाधीनता संग्राम को कार्य-पद्धति (मैथडालॉजी) दी जो गोखले और तिलक की पद्धतियों से भिन्न थी। तिलक उग्रवादी थे। यहाँ तक कि मैंने एक अंग्रेज लेखक की पुस्तक गुरिल्ला युद्ध के नेताओं और चिन्तकों के बारे में पढ़ी, जिसमें माओत्से-तुंग, फिडेल कास्त्रो, चे-ग्वे-वारा पर तो लिखा ही है, एक अध्याय बाल गंगाधर तिलक के

* आजादी के पहले और बाद की राजनीति और साहित्यकार।

बारे में भी है। लेखक ने उनके लेखन के उदाहरणों से यह सिद्ध किया है कि वे गुरिल्ला युद्ध में विश्वास रखते थे और उसकी तैयारी भी करते थे। गोखले समझौतावादी थे, और अंग्रेज सरकार द्वारा स्थापित समितियों, कौंसिलों आदि में प्रवेश कर कार्य करना चाहते थे। गाँधीजी ने इस देश के मनुष्य की मानसिकता और क्षमता ठीक समझी थी और तदनुसार रणनीति तय की थी। वे जानते थे कि सशस्त्र संघर्ष करने लायक लोग नहीं हैं। वे यह भी जानते थे कि सशस्त्र संघर्ष शुरू किया तो ब्रिटिश सरकार को बेहिसाब हिंसा करने का तर्क मिल जायेगा और वह अपनी संसद तथा विश्व-जनमत को यह विश्वास दिला सकेगी कि हिंसा का सामना करने के लिए हमें हिंसा करनी पड़ी। इसलिए गाँधीजी ने अहिंसक आन्दोलन चलाया, जिसमें कानून तोड़ना, असहयोग, सत्याग्रह, धरना इत्यादि थे। पूर्ण अहिंसक आन्दोलन के सामने अंग्रेज सरकार की हिंसा करने की क्षमता बहुत कम हो गयी। गाँधीजी ने इसमें आध्यात्मिक और धार्मिक तत्त्व भी मिलाये। लोक-कल्याण, जोकि अव्याख्यायित ही रहा, उसे भी मिलाया। हरिजन-उद्धार, नारी-मुक्ति आदि भी इसमें शामिल किये। यह पूरा आन्दोलन एक विशेष प्रकार की भावुकता से ओतप्रोत था और सामान्य लोग इसमें मातृभूमि की भक्ति की भावना से शामिल होते थे। जो नारे लगते थे वे इस तरह के होते थे—गुलामी के घी से आजादी की घास अच्छी! इन्कलाब जिन्दाबाद : उजड़े घर होंगे आबाद! इस नारे में आजादी की खुशहाली की भावना भी है।

डॉ. मिश्र—परसाईजी, यह आन्दोलन लम्बा और व्यापक था। गाँधी के सिवाय इस दौरान पं. नेहरू-जैसे नेता भी कार्यशील थे। क्या विचारधारावाला तत्त्व इनमें से किसी के पास मौजूद था?

परसाई—मिश्रजी, पं. नेहरू विचारों से रेडीकल थे। उनका विश्वास समाजवाद में भी था, और 1930 की लाहौर कांग्रेस में उन्होंने समाजवाद को आजादी का लक्ष्य भी घोषित किया था। गाँधीजी के बाद सबसे आकर्षक जननेता वही थे। पं. नेहरू के विचार विभिन्न विचारधाराओं से बने थे। एक तो ब्रिटिश फेबियन समाजवादियों के प्रति उनका गहरा आकर्षण था। बर्नार्ड शॉ, एच. जी. वेल्स इत्यादि से वे प्रभावित थे। उन पर हेराल्ड लॉस्की के विचारों का भी प्रभाव था। वे 1917 की सोवियत समाजवादी क्रान्ति से भी अत्यधिक प्रभावित थे, और लेनिन के प्रति उनके मन में आदरभाव था। वे मार्क्सवाद के अध्येता थे, और मार्क्स के विचारों का उन पर गहरा असर था। उनकी इतिहास-दृष्टि मार्क्सवादी थी, और वे ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मकता में विश्वास करते थे। उन्हें ऐतिहासिक शक्तियों की समझ भी गहरी थी। वे समाज का विश्लेषण भी वर्ग-दृष्टि से करते थे, परन्तु वे वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य नहीं मानते थे। उन्होंने 1951 में यहाँ तक कहा था कि मार्क्स का दर्शन औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भिक वर्षों का है, और अब विपुल औद्योगीकरण के इस युग में उतना प्रासंगिक नहीं रहा है। नेहरू पर गाँधीजी के व्यापक मानवतावाद, नैतिक मूल्य, साधन और साध्य की पवित्रता इत्यादि का असर भी था। वे वर्ग-समाजी लोकतन्त्र से भावुकता की हद तक प्रभावित थे। इसका

सम्बन्ध आगे उनके प्रधानमन्त्री बनने के बाद उनकी योजनाओं से सीधा जुड़ता है। कांग्रेस में जयप्रकाश के नेतृत्व में लोकतान्त्रिक समाजवादियों का भी एक गुट था और 1939 के पहले तक कम्युनिस्ट भी कांग्रेस के माध्यम से ही अपनी राजनैतिक गतिविधियाँ चलाते थे। कांग्रेस में सरदार पटेल, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, गोविन्दवल्लभ पन्त, राजगोपालाचारी के नेतृत्व में बहुत बड़ा तबका दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञों का था। ये स्वाधीनता के बाद पूँजीवादी विकास की कल्पना करते थे, और जिसे 'कल्याणकारी' राज्य कहते हैं, उस तक उनका ध्येय जाता था। वास्तव में संगठन पर नेहरू का क़ब्जा नहीं था, इन दक्षिणपन्थियों का था।

डॉ. मिश्र—परसाईजी, पं. नेहरू ने 1945 में कम्युनिस्टों और 1946 में समाजवादियों के कांग्रेस से अलग होने के बाद स्वतन्त्र भारत के आर्थिक, राजनैतिक विकास के लिए कौन-सा रास्ता अख्तियार किया? इसके सिवाय क्या उन दिनों की परिस्थितियों में और कोई बेहतर विकल्प नहीं था?

परसाई—मिश्रजी, 1947 के बाद सबसे बड़ी समस्या नेहरू के सामने तो भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई। उन्हें हिंसा की कटुता को मिटाना, विस्थापितों को बसाना और काश्मीर बचाना था। यह वह समय था, जब कम्युनिस्ट नेहरू को 'रनिंग डॉग ऑफ इम्पीरियलिज़म' कहते थे और नेहरू कम्युनिस्टों को 'इरैलेवेण्ट' कहते थे। तेलंगाना के सशस्त्र आन्दोलन से नेहरू और कम्युनिस्टों के बीच दूरी बढ़ी। स्टालिन भी नेहरू के साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की अवहेलना ही करते रहे। समाजवादियों को जल्दबाजी थी। वे पहले आम चुनाव में ही सत्ता पर कब्जा करने की उम्मीद लिये बैठे थे, किन्तु उनका पत्ता साफ हो गया। नेहरू चाहते थे कि समाजवादी कांग्रेस में लौट आयें तो उनकी ताकत बढ़े और वे समाजवादी कार्यक्रम लागू कर सकें। उन्हें विश्वास था कि जब समाजवादी कार्यक्रम लागू किये जायेंगे तो साम्यवादी उनका समर्थन करेंगे। जयप्रकाश ने 1953 में बारह कार्यक्रमों की लिस्ट नेहरू को दी थी कि ये लागू करो तो हम कांग्रेस में लौटने को तैयार हैं। इन कार्यक्रमों में सार्वजनिक उद्योग खोलना, बैंकों का राष्ट्रीयकरण आदि थे। नेहरू ने इन्हें मान लिया, परन्तु कहा कि इन पर धीरे-धीरे अमल होगा। तुरन्त अमल करने से अर्थव्यवस्था टूट जायगी। परन्तु समाजवादी डॉ. लोहिया के हठ के कारण मुकर गये।

यह तो तय है कि नेहरू वर्ग-संघर्ष को टालना चाहते थे, पर मार्क्सवाद में काफी हद तक उनका विश्वास था, इसलिए उन्होंने योजना आयोग का गठन किया और सार्वजनिक उद्योग क्षेत्र का प्रारम्भ किया। उन्होंने 'मोनोपली' को कण्ट्रोल करने के लिए कानून बनाया। 1956 में 'इण्डस्ट्रियल पालिसी एक्ट' भी बनाया। उनकी कल्पना थी कि सार्वजनिक क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ता जायगा। संसद के द्वारा निजी पूँजी का क्षेत्र घटता जायगा और तब ऐसा समय आयगा, जब सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र को नगण्य कर देगा। इसे मिश्रित अर्थव्यवस्था का नाम दिया गया। यह जरूर है कि इस्पात के बुनियादी उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में खुले, भारी मशीनों

और दवाइयों के कारखाने भी सार्वजनिक क्षेत्र में बने, पर क्योंकि कांग्रेस का संगठन लगभग दक्षिणपन्थी था, और उसके पास समाजवाद से प्रतिबद्ध 'केडर' भी नहीं था, इसलिए विकास का मार्ग पूंजीवादी रहा। 1954 में नागपुर-कांग्रेस में नेहरू ने सहकारी कृषि का प्रस्ताव पास कराना चाहा, पर मोरारजी, चरणसिंह वगैरह ने यह कहकर उसे पास नहीं होने दिया कि यह तो साम्यवाद का रास्ता है। सीधा 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग करने में भी कांग्रेस को कई वर्ष लगे। 1956 की अवाड़ी कांग्रेस पहली बार 'समाजवाद' शब्द का उद्देश्य के रूप में प्रयोग किया गया। अब समाजवाद लोक-चेतना में इतना बैठ गया है कि सामन्तवादी-पूंजीवादी दल भारतीय जनता पार्टी ने भी समाजवाद को अपना लिया है।

डॉ. मिश्र—वास्तव में परसाईजी, पं. नेहरू की मृत्यु के पश्चात् भारतीय राजनीति में उन मुद्दों पर भी विवाद प्रारम्भ हुआ, जो पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं के मूलाधार थे। इस भटकाव के लिए कांग्रेस के भीतर कौन-से तत्त्व उत्तरदायी थे? क्या परवर्ती दिशाहीनता के बीज स्वयं कांग्रेस के अन्तर्विरोधी चरित्र के भीतर विद्यमान नहीं थे?

परसाई—मिश्रजी, हुआ यह है कि पं. नेहरू की तो विचारधारा थी, परन्तु इन्दिरा गाँधी की यदि विचारधारा कोई है, तो उसे कहा जाता है 'प्रेगमेटिज्म' यानी उपयोगितावाद। इन्दिराजी व्यावहारिक उपयोगितावादी हैं। उनकी निश्चित विचारधारा नहीं है, परन्तु यह जरूर है कि उन्होंने नेहरू की नीतियों को आगे बढ़ाना चाहा। उन्होंने बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया, भूतपूर्व राजाओं के विशेषाधिकार समाप्त किये, सार्वजनिक क्षेत्र का अधिक विस्तार करना चाहा, विदेशनीति में वे सोवियत रूस के अधिक निकट गयी, और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को अधिक शक्तिशाली किया।

पं. नेहरू अपने व्यक्तित्व और बौद्धिक क्षमता के कारण कांग्रेस के भीतर विभिन्न विचारधारावाले गुटों, विशेषकर चतुर दक्षिणपन्थियों को इकट्ठा और सन्तुलित रखने में सफल होते थे, परन्तु इन्दिरा गाँधी को 1969 में कांग्रेस को तोड़ना पड़ा। कांग्रेस के दक्षिणपन्थी 'संगठन कांग्रेस' के नाम से कार्य करने लगे। लगता यह था कि यह विभाजन विचारधारा के आधार पर है और अब इन्दिराजी वामपन्थी कार्यक्रमों की ओर तेजी से बढ़ेंगी।

डॉ. मिश्र—विभाजन के बाद शेष बची कांग्रेस की संरचना भी पूरी तरह वामपन्थी नहीं थी। मुझे लगता है कि इन्दिराजी चव्हाण और जगजीवनराम-जैसे नेताओं को भी पूर्ण तरह विश्वस्त नहीं मानती थीं। अन्यथा, वे क्या कारण हैं कि 1971 के बाद भी आपात्काल के पहले इन्दिराजी के नेतृत्व में वामपन्थी कार्यक्रम तैयार ही नहीं किये गये? मोटे रूप में 20 सूत्रीय कार्यक्रम मात्र सुधारवादी भंगिमा का प्रदर्शन था?

परसाई—वास्तव में 1971 में बहुत बड़े बहुमत से जीतने के बाद भी इन्दिराजी को अपनी सत्ता के लिए खतरा लगने लगा था। यह खतरा पार्टी के

भीतर से था, और बाहर से भी। 1971 में रूस से जो बीस साला सहयोग और मैत्री की सन्धि की गयी, उससे देश के दक्षिणपन्थी दलों को यह खतरा महसूस हुआ कि इन्दिराजी लगभग सोवियत शिविर में चली गयी हैं, जबकि बात ऐसी नहीं थी। वैसे यह सही है, इन्दिराजी की विदेशनीति स्पष्ट रूप से साम्राज्यवाद-विरोधी थी। उन्होंने वियतनाम के बारे में सख्त अमेरिका-विरोधी रुख अपनाया। वे दुनिया में कहीं भी अमेरिकी हस्तक्षेप का विरोध करती थीं। वे अमेरिकी और यूरोपीय बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के शोषण का भी विरोध करती थीं। इस कारण कांग्रेस के भीतर भी उनका विरोध पैदा हो गया था, और बाहर संगठन कांग्रेस, जनसंघ, चरणसिंह का क्रान्तिदल, बचे हुए प्रजा समाजवादी, स्वतन्त्र पार्टी के लोग जो पूरी तरह पूँजीवादी मार्ग अपनाना चाहते थे, उनके विरुद्ध संगठित हो गये। विदेशनीति इस विरोध का खास मुद्दा थी। ये सब घोर रूस-विरोधी लोग थे। बाद में इनके जो सर्वोच्च नेता बने वे जयप्रकाश नारायण तो यहाँ तक कहते थे कि इन्दिराजी ने देश को रूस के हाथों बेच दिया। वे इन्दिरा गाँधी को कम्युनिस्ट कहते थे। मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात की तारीफ करते थे, जिसने स्वयं को अमेरिका के हाथ बेच दिया था। इस स्थिति में इन्दिरा गाँधी की सबसे बड़ी चिन्ता पार्टी और सत्ता पर कब्जा बनाये रखने की थी। उन्होंने पार्टी की लोकतान्त्रिक प्रक्रिया समाप्त कर सारे अधिकार अपने हाथ में ले लिये। यहाँ तक कि लोग उन्हें 'डिक्टेटर' कहने लगे थे। कांग्रेस में सत्ता नीचे से ऊपर नहीं आती थी, ऊपर से नीचे जाती थी।

डॉ. मिश्र—परसाईजी, क्या आप समझते हैं कि इस तरह उस आन्दोलन की भूमिका बन रही थी, जिसे सम्पूर्ण क्रान्ति कहा गया? क्या आपातकाल के पहले प्रदर्शित संगठित विरोध पूरी तरह से अराजक दक्षिणपन्थियों का दिशाहीन नाटक नहीं था?

परसाई—मिश्रजी, मैं इस बात को फिर कहना चाहता हूँ कि जयप्रकाश के नेतृत्व में सम्पूर्ण क्रान्ति का आन्दोलन शुरू हुआ, वह मुख्यतः इन्दिरा गाँधी की विदेशनीति के कारण था, जो कि समाजवादी देशों से सहयोग की थी। इस आन्दोलन की प्रेरणा अन्तर्राष्ट्रीय अमेरिकी साम्राज्यवाद और पूँजीवाद से मिली थी, यहाँ तक कि इतना अधिक पैसा जो इस आन्दोलन में खर्च किया गया, विदेशी था। आपातकाल के दौरान भूमिगत विरोधी नेताओं की गतिविधियों का संचालन चर्च और कूटनीतिक विदेशी संस्थानों से होता था, और अमेरिकी तथा ब्रिटिश हवाई जहाजों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय समाचार एजेन्सियों को समाचार भेजे जाते थे। जिस परिवार का व्यक्ति इमर्जेन्सी में जेल में था, उसे प्रतिमाह पैसा मिलता था। यह पैसा कहाँ से आता था? यह विदेशी धन था, और इस आन्दोलन में सी. आई. ए. और बहुदेशीय कम्पनियों की भूमिका बहुत स्पष्ट थी।

सन् '71 के चुनाव में दक्षिणपन्थी दलों की इतनी बुरी पराजय हुई थी कि वे यह समझने लगे थे कि मतपेटी के द्वारा इन्दिरा गाँधी को सत्ता से नहीं हटाया जा सकता। वे पाँच साल बाद आगामी चुनाव का रास्ता नहीं देखना चाहते थे, क्योंकि

चुनाव से उन्हें कोई उम्मीद नहीं थी। वे बीच में ही एक व्यापक अराजक आन्दोलन कर देना चाहते थे। जयप्रकाश नारायण ने सेना और पुलिस से भी विद्रोह करने का आवाहन किया था। इसका साफ उद्देश्य, हिंसा, अराजकता, तोड़फोड़, षड्यन्त्र, विदेशी सहायता से इन्दिरा गाँधी को सत्ता से गिराना था। यह क्रान्ति नहीं थी, वास्तव में दक्षिणपन्थियों की व्यापक अराजकता थी, जिसमें समाजवादी भी शामिल थे, क्योंकि वे सोवियत रूस से निकटता के घोर विरोधी हैं। इस आन्दोलन पर पूरा नियन्त्रण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का था, जो एक फासिस्ट संगठन है। इस तरह दक्षिणपन्थी फासिस्टों का यह हमला चुनी हुई वर्ग समाजी लोकतान्त्रिक सरकार पर था।

डॉ. मिश्र—परसाईजी, आपातकाल की घोषणा के सिवाय क्या इन दक्षिण-पन्थी फासिस्टी ताकतों से राजनैतिक आधार पर नहीं निपटा जा सकता था? यदि आपातकाल ही एकमात्र विकल्प था, तो यह क्यों न माना जाय कि इन्दिरा गाँधी द्वारा नियन्त्रित कांग्रेस का कोई मूलभूत जनाधार नहीं रह गया था?

परसाई—मिश्रजी, जहाँ तक राजनैतिक स्तर पर लड़ने का सवाल है, चुनाव में इन्दिरा गाँधी इन दलों को हटा चुकी थीं, परन्तु कांग्रेस संगठन निकम्मा हो गया। पूरे संगठन में 'एडहाकवाद' चल रहा था। कांग्रेस की नियमित सदस्यता न तब थी और न अब तक है। ब्लाक-स्तर से लेकर केन्द्र तक सारे संगठन में इन्दिराजी के नामजद लोग थे। फिर इस पार्टी के पास अनुशासित और प्रशिक्षित 'कैडर' न तब था और न अब है। कांग्रेसमैन का मूल उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना या सत्ता से लाभ उठाना तब था और अब भी है। यह संगठन न होकर एक व्यक्ति इन्दिरा गाँधी हो गयी है, इसलिए कांग्रेस संगठन के लिए सत्ता के बाहर मैदान में इन ताकतों से लड़ना सम्भव नहीं था। मत मिलने के बावजूद कांग्रेस का वास्तविक जन आधार नहीं था। यही मजबूरी थी कि जिसके कारण इन्दिरा गाँधी ने 'इमर्जेन्सी' लगायी।

डॉ. मिश्र—परसाईजी, आपातकाल की समाप्ति के उपरान्त जनता पार्टी शासन के दौरान भी लगभग वही दिशाहीन मतिभ्रत बरकरार रहा, जो सम्पूर्ण क्रान्ति के आन्दोलन में था। क्या आप यह मानते हैं कि भारत में लोकतान्त्रिक राजनीति के साथ जुड़ी उत्तरदायित्व की भावना सर्वथा समाप्त होती जा रही है?

परसाई—मिश्रजी, वास्तव में जनता पार्टी का कोई वैचारिक आधार नहीं था। 1965 के आसपास डॉ. लोहिया ने 'गैर-कांग्रेसवाद' का नारा दिया था, जिसके फलस्वरूप 1967 में कुछ संविद सरकारें बनीं, जो अल्पजीवी रहीं। गैर-कांग्रेसवाद कोई 'आइडियालाजी' नहीं है, एक नकारात्मक रुख है। सम्पूर्ण क्रान्ति आन्दोलन और उससे बनी जनता पार्टी इसी गैर-कांग्रेसवाद का विस्तार थी। इस पार्टी में विभिन्न, परस्पर विरोधी विचारों के लोग थे, और सब सत्ता-लोलुप थे। बूढ़े नेताओं जैसे चरणसिंह, जगजीवनराम को प्रधानमन्त्री बनने की जल्दी थी। जनसंघ अपनी सदस्य संख्या और 'कैडर' के बल पर जल्दी जनता पार्टी पर कब्जा कर लेना चाहता था। 1979 में भोपाल में बाला साहब देवरस ने अपने संगठन के बीच कहा था कि ढाई

साल में भारत सरकार पर हमारा अधिकार हो जायेगा। यह वक्तव्य रिकार्ड कर लिया गया था, और पत्रों में छपा भी था। जनता पार्टी में झगड़े का मुख्य मुद्दा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ था। फिर चरणसिंह की महत्त्वाकांक्षा तथा इन्दिरा गाँधी की कूटनीति के कारण जनता पार्टी टूटी। चरणसिंह प्रधानमन्त्री तो हो गये किन्तु इन्दिरा कांग्रेस ने समर्थन वापस ले लिया, तो उन्हें इस्तीफा देना पड़ा। उसके बाद 1980 के चुनावों की घोषणा हो गयी।

डॉ. मिश्र—परसाईजी, वर्तमान राजनैतिक परिदृश्य के भीतर मौजूद दिशा-हीनता अब पुनः किस ओर इंगित कर रही है? आन्ध्र और कर्नाटक के चुनाव-परिणाम तथा आसाम और पंजाब की घटनाएँ क्या यह प्रमाणित नहीं करतीं कि जन-असन्तोष के बीच पुनः वही ताकतें सक्रिय हो रही हैं, जो विकास की लोक-तान्त्रिक प्रक्रिया में रोड़ा बनना चाहती हैं और इन्दिरा कांग्रेस द्वारा पूंजीवादी विकास के दौरान, उत्पन्न अन्तर्विरोधों को पुनः अराजक एवं दक्षिणपन्थी नतीजों की ओर ले जाना चाहती हैं?

परसाई—मिश्रजी, इस बीच 1980 के बाद एक साल में यह धारणा पूरी तरह टूट गयी कि सत्ता केवल इन्दिरा गाँधी के मार्फत प्राप्त होती है। यह अहसास कांग्रेसमैन को भी हुआ और दूसरे दलों को भी। इन्दिरा गाँधी का राजनैतिक एकाधिकार खत्म हो गया। पार्टी पर भी उनका अंकुश ढीला हो गया। राजनैतिक बेईमानी कांग्रेस में बहुत अधिक आ गयी। भजनलाल इसके उदाहरण हैं, जो पूरी जनता पार्टी लेकर कांग्रेस में आ गये और मुख्यमन्त्री बने रहे। विधायकों की खरीद अब आम और खुली बात हो गयी है। यानी राजनैतिक अनैतिकता के प्रति कोई घृणा नहीं रह गयी है। आन्ध्र और कर्नाटक में कांग्रेस (इन्दिरा) की हार का कारण जनता का विश्वास उठ जाना है। यह विश्वास इसलिए उठा कि आन्ध्र में तो कोई स्थिर सरकार नहीं रही। कर्नाटक में भ्रष्ट सरकार रही। जिन बीससूत्रीय कार्यक्रमों का ढिंढोरा पीटा जाता है, वे लागू नहीं हुए क्योंकि कांग्रेस की सरकारें और पार्टी-मशीनरी खुद उनके विरुद्ध है। ये सभी तत्त्व सामन्तवाद-पूंजीवाद समर्थक हैं। समाजवादी कार्यक्रम लागू नहीं किये गये, जनता को राहत नहीं मिली। भ्रष्टाचार बेहद बढ़ा तो स्वाभाविक है कि सत्ता-पार्टी का जनाधार लुप्त हो गया। इसके साथ ही क्षेत्रीय आकांक्षाएँ प्रबल हुईं। लोगों ने यह सोचा कि क्षेत्रीय पार्टी अधिक जवाबदार होगी तो अपने क्षेत्र के लिए ईमानदारी से काम करेगी। आन्ध्र में रामाराव की सफलता का यह रहस्य है। वे फिल्म ऐक्टर होने के कारण नहीं जीते हैं।

अब दो बातें सामने हैं। एक तो यह कि क्षेत्रीय दल को सत्ता में लाओ, जिससे क्षेत्र का विकास हो। यह आन्ध्र में हुआ, तमिलनाडु में पहले से है। दूसरी बात यह हुई कि कुछ क्षेत्रों के लोगों ने सोचा कि इस वक्त दबाव, धमकी और आतंक से सरकार को दबाकर विशेष लाभ प्राप्त कर लो। पंजाब का अकाली आन्दोलन इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। असम की समस्या दूसरी है। असमियों की महत्त्वाकांक्षा

और अधिकार-भावना जागी है, यह सही है, पर वहाँ प्रदेश के विकास के लिए केन्द्र अधिक कार्य करे, यह माँग न उठकर यह माँग उठी कि विदेशियों को बाहर निकालो। यह विदेशी कौन हैं ? ये बंगला देश के मुसलमान हैं जिन्हें असमी बड़े भूमिपति, चाय बागान के मालिक, जंगल ठेकेदार, उद्योगपति सस्ते मजदूरों के रूप में खुद लाये। ये तीस-चालीस साल से असम में हैं। अब यह मानवीय समस्या हो गयी है। उन लाखों लोगों को कहाँ फेंक दिया जाये ? वहाँ विदेशी शक्ति और विदेशी पैसा काम कर रहा है, यह सही है। विपक्षी दल, विशेषकर भारतीय जनता पार्टी समझौता नहीं होने दे रही। अब यह स्पष्ट हो गया है कि इस आन्दोलन पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कब्जा हो गया है और ये असली मुसलमानों के भी विरुद्ध हैं। पिछले महीनों के सामूहिक नर-संहार के बाद छात्र यूनियन के मुसलमान नेताओं की समझ में यह आया कि यह तो हिन्दू साम्प्रदायिक फासिस्टी आन्दोलन है। इसे समझकर वे अलग हो गये हैं और आन्दोलन में फूट पड़ गयी है। शायद अब ये आन्दोलनकारी आम जनता से अलग पड़ जायें, तब असम में शान्ति हो।

पंजाब में अकाली दल का जनाधार बहुत कमजोर है। वह बड़े भूमिपतियों और ठेकेदारों द्वारा समर्थित दल है। इस वर्ग के अपने स्वार्थ हैं। एक तो वे चण्डीगढ़ चाहते हैं, दूसरे नदियों के पानी का अधिक हिस्सा चाहते हैं, और राजस्थान और हरियाणा का कुछ भाग भी चाहते हैं। यही नहीं, तथाकथित खालिस्तान के नक्शे में तो उत्तर प्रदेश का भी कुछ हिस्सा है। यह आन्दोलन उग्रवादियों के हाथ में चला गया है। लोंगोवाल और बादल अतिवादी नहीं हैं और न उग्रपन्थी हैं, पर उनकी मुश्किल यह है कि उन्मादी, हिंसक, हथियारबन्द सिख युवकों का नेतृत्व सन्त जरनैलसिंह भिण्डरावाला के हाथ में है, जो हठी और तर्कहीन है। समझौते के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा यही उग्रवादी तत्व हैं। पंजाब में अभी साम्प्रदायिकता फैली नहीं है। पर यदि फैल गयी तो उसका असर पूरे देश में होगा। यह शक सही हो सकता है कि इस अकाली आन्दोलन को विदेशी शक्तियाँ, विशेषकर अमेरिका का समर्थन हो।

अब वही शक्तियाँ जो 1977 में इकट्ठी हुई थीं, फिर एक होने की कोशिश में हैं, पर पुराने अनुभवों के कारण ये दल एक-दूसरे से चौकन्ने हैं और परस्पर विश्वास नहीं करते। भारतीय जनता पार्टी ने राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक मोर्चे का नारा दिया है। इस मोर्चे से साम्यवादी दलों और मुस्लिम लीग को दूर रखा गया है। भारतीय जनता पार्टी का डबल रोल है। जहाँ उसकी स्थिति अच्छी है जैसे मध्यप्रदेश और राजस्थान में, वहाँ वह अकेले लड़कर सरकार बनाना चाहेगी। दूसरी जगह ताल-मेल बिठा सीटें प्राप्त करेगी। अकेले राष्ट्रीय विकल्प बनने का सपना उसने त्याग दिया है। इधर चन्द्रशेखर भी जनता पार्टी के छाते के नीचे संयुक्त मोर्चा बनाना चाहते हैं। उन्होंने भारतीय जनता पार्टी से भी कहा है कि आर. एस. एस. को छोड़कर मिल जाओ। यह हो नहीं सकता, क्योंकि भारतीय जनता पार्टी संघ का राजनैतिक मोर्चा है। इस समय धुँधलका छाया हुआ है। चन्द्रशेखर समाजवाद और क्रान्ति

की बात करते हैं, किन्तु गठजोड़ करना चाहते हैं--भारतीय जनता पार्टी से, जिसका उद्देश्य इससे ठीक उलटा है। लगता ऐसा है कि एक सिद्धान्तहीन संयुक्त मोर्चा फिर बनेगा, जिसकी न विचारधारा होगी, और न कोई कार्यक्रम होगा। इसका उद्देश्य केवल सत्ता प्राप्ति होगा। 1974 जैसी सम्पूर्ण क्रान्ति-जैसे आन्दोलन की सम्भावना अब नहीं दिखती।

डॉ. मिश्र--परसाईजी, तथाकथित लोकतान्त्रिक दलों की एकता का नारा क्या यह प्रमाणित नहीं करता कि इनके बीच आवश्यक विचारधारात्मक भूमिका का कोई महत्त्व नहीं है और यह पुनः उस सम्भ्रममूलक भटकाव को और अधिक घनीभूत करने की दक्षिणपन्थी चेष्टा है, जिसका उपयोग अन्ततः कांग्रेस (इ) के भीतर की अवसरवादी सत्ताधिकारी शक्तियों को और अधिक दिशाहीन सत्ता राजनीति का मौका देगा?

परसाई--मिश्रजी, जहाँ तक सिद्धान्त और विचारधारा का सवाल है, यह केवल तीन भारतीय पार्टियों के पास है। कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया, सी. पी. एम. और भारतीय जनता पार्टी। कम्युनिस्ट पार्टियों की विचारधारा सर्वविदित है। भारतीय जनता पार्टी अपने गांधीवादी और समाजवादी मुखौटे के बावजूद हिन्दू फासिस्ट संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का राजनैतिक मोर्चा है, जिसका उद्देश्य फासिस्ट हिन्दू राष्ट्र की स्थापना है। मैं भारतीय जनता पार्टी को लोकतान्त्रिक दल मानता ही नहीं। बाकी बचे लोकदल, जनता पार्टी, कांग्रेस (जे) --ये दल और तत्व अतिसामन्ती पूंजीवादी हितों की रक्षा करते हैं। इनमें जो भूत-पूर्व समाजवादी हैं, वे परिस्थिति की मजबूरी और अपने विचारों की उलझन और हताशा के कारण जाने-अनजाने समाजवाद-विरोधी ताकतों का साथ दे रहे हैं। एक विशेष बात ध्यान में रखने की यह है कि देश पर अमेरिकी दबाव बहुत बढ़ रहा है। विशेषकर सातवें गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन के बाद से। प्रधानमन्त्री ने स्पष्ट कहा है कि अमेरिका हमें कर्ज नहीं मिलने दे रहा है।

यह बात सही है कि सी. आई. ए. इस देश में साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय संघर्ष आदि पैदा कर रही है, और अराजकता की स्थिति लाना चाहती है। देश की विघटनकारी दक्षिणपन्थी ताकतें जाने-अनजाने इसमें अपने राजनैतिक हितों के कारण सहायता पहुँचा रही हैं। यह सहायता परस्पर है, इस बात के पक्के सबूत हैं, जिनमें सबसे ताजा भारत में भूतपूर्व अमेरिकी राजदूत प्रो. गैलब्रेथ की स्वीकारोक्ति है कि मैंने कुछ दलों और व्यक्तियों को सी. आई. ए. के कहने से पैसा बाँटा। अमेरिका इन्दिरा सरकार की विदेश नीति में परिवर्तन कराने में अब समर्थ नहीं है, इसलिए निश्चित चाहेगा कि ये दक्षिणपन्थी ताकतें सत्ता में आ जायें। जब जनता पार्टी नाम से इनकी सरकार थी, तब इन्होंने गुप्त रूप से मोशे दयान को बुलाया ही था। उनने कभी वियतनाम में अमेरिकी सैनिक हस्तक्षेप की निन्दा नहीं की। उनने चिली, फिलिस्तीनियों और कम्पूचिया के बारे में कुछ नहीं कहा। यहाँ तक कि अमेरिका पाकिस्तान को इतने हथियार दे रहा है, इसकी भी आलोचना ये नहीं करते। इनमें

डॉ. सुब्रह्मण्यम स्वामी-जैसे राजनीतिज्ञ हैं, जो यहाँ तक कह चुके हैं कि भारत पाकिस्तान को एक पहाड़ी फौजी डिवीजन तैयार करके दे, जिससे वह अफगानिस्तान से निपट सके। स्पष्ट है, यदि ये दल सत्ता में आये और इनका बस चला, तो ये भारत की गुटनिरपेक्ष नीति को त्यागकर इस देश को इस क्षेत्र में अमेरिका की सैनिक व्यूह-रचना का हिस्सा बना देंगे।

क्षेत्रीय दल मुख्य रूप से अपने क्षेत्र की समस्याओं में उलझे हैं, और केन्द्र से अधिक-से-अधिक लाभ लेना चाहते हैं। इस समय भारतीय जनता पार्टी इस कोशिश में है कि उनके नेतृत्व में तथाकथित लोकतान्त्रिक मोर्चा बने और वह उस पर हावी हो जाय। इसी प्रकार की इच्छा जनता पार्टी की भी है।

यदि इन्दिरा गाँधी की सत्ता दिलाने की ताकत कम हुई, तो सम्भव है कि बड़ी संख्या में कांग्रेस (इ) के लोग इन दक्षिणपन्थियों के साथ चले आयें। लगभग आधे कांग्रेसियों को इन्दिरा गाँधी की नीतियों में विश्वास नहीं है। वे सत्ता-प्राप्ति के लिए कांग्रेस (इ) में पड़े हुए हैं। दूसरी जगह सत्ता-प्राप्ति पक्की हो, तो वे वहाँ चले जायेंगे। इनकी कोई प्रतिबद्धता नहीं है।

डॉ. मिश्र—परसाईजी, इस स्थिति में वामपन्थी जनवादी एकता की सम्भावनाओं का कौन-सा रूप सम्भावित है? क्या कम्युनिस्ट और दूसरे लोकतान्त्रिक जनवादियों के बीच राजनीतिक एकता का आधार दिखलायी देता है?

परसाई—मिश्रजी, वास्तव में वामपन्थी लोकतान्त्रिक मोर्चे की शुरुआत 1967 के तत्काल बाद हो जानी चाहिए थी, जब कांग्रेस की 'मोनोपली' पहली बार टूटी थी। इसके लिए सबसे जरूरी यह है कि दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों में मुख्य मुद्दों पर समझौता और सहयोग तथा उद्देश्य निश्चित किये जायें। यह तो स्पष्ट ही है कि कम्युनिस्ट पार्टियाँ कोई वर्गसंघर्ष कराने की स्थिति में नहीं हैं। उन्हें संसदीय रास्ते से ही जाना होगा, और साथ ही श्रमिकों, किसानों, छात्रों आदि को शिक्षित और संगठित करते जाना होगा। वामपन्थी लोकतान्त्रिक मोर्चे की सरकार ने अच्युत मेनन के नेतृत्व में जो काम किया उसकी सब प्रशंसा करते हैं। केरल का यह प्रयोग एक नमूना हो सकता है। अभी बहुगुणा, शरद पवार और गुजरात के अदानी की पार्टियाँ मिलकर एक हो गयी हैं। इनका विश्वास लोकतान्त्रिक समाजवाद में है। चन्द्रजीत यादव की जनवादी पार्टी भी है। इन पार्टियों से कम्युनिस्ट पार्टियों का समझौता हो सकता है। इसी तरह का समझौता क्षेत्रीय पार्टियों से हो सकता है। यदि चन्द्रशेखर के नेतृत्ववाला जनता पार्टी का एक हिस्सा समझ से काम ले तो वह भी इस लोकतान्त्रिक वामपन्थी मोर्चे में शामिल हो सकता है। इस तरह एक ताकतवर वामपन्थी लोकतान्त्रिक मोर्चा एक विकल्प के रूप में आ सकता है, परन्तु इसमें कठिनाइयाँ बहुत हैं। सबसे बड़ी कठिनाई मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के रुख की है। दूसरी कठिनाई चन्द्रशेखर तथा पुराने समाजवादियों के कम्युनिस्ट विरोधी नजरिये की है।

डॉ. मिश्र—परसाईजी, इस सम्पूर्ण विश्लेषण से स्पष्ट है कि भारतीय

राजनीति का यह अस्थिर दौर है। इसके बीच साहित्यकारों की क्या भूमिका हो सकती है? आखिर रचनात्मक प्रतिबद्धता का कोई सुनिश्चित स्वरूप तो होना ही चाहिए? यह प्रतिबद्धता क्या होगी?

परसाई—मिश्रजी, कोई लेखक अराजनैतिक नहीं हो सकता, लेकिन लेखक का माध्यम राजनीतिज्ञ से अलग होता है। लेखक का माध्यम जोड़-तोड़ का नहीं है। सम्वेदना और ज्ञान का होता है, और वह सीधे अपने समाज को सम्बोधित करता है। लेखन का उद्देश्य हर लेखक का होता है। वह चाहे सस्ता मनोरंजन करके पैसा कमाना ही क्यों न हो। जो लेखक, लेखक के कर्म को आदर्शीकृत करते हैं, और रूमानी बनाते हैं, वे भ्रमजाल रचते हैं। लेखक का कर्म ठोस और वास्तविक है। लेखक, जैसा माना जाता है, भोला प्राणी नहीं है। सन् 51-'52 में अज्ञेय और धर्मवीर भारती के नेतृत्व में जो 'परिमल' संस्था बनी और इनकी दूसरी गतिविधियाँ चलीं वे राजनीति-प्रेरित थीं। ये लोग जवाहरलाल नेहरू की समाजवादी देशों से मित्रता की विदेश नीति तथा पहली और दूसरी योजना में सार्वजनिक उद्योग क्षेत्र के विस्तार के विरोधी थे। इनमें अधिकतर की आस्था डॉ. लोहिया के प्रति थी। इन्हें पूंजीवादी प्रेस का समर्थन भी था, और अभी तक है। ये लोग साम्यवाद-विरोधी राजनीति करते रहे हैं, और प्रगतिशील लेखन पर इन्होंने लगातार हमले किये हैं, जो अभी भी जारी है। ये लोग कोई फूल-पत्ती, बादल और बच्चे की मासूम रचना करनेवाले लोग नहीं हैं। ये गहरी दक्षिणपन्थी राजनीति के साहित्यिक और बौद्धिक आधुनिकतावादी पैरोकार हैं। इनकी आधुनिकता केवल पश्चिमी यूरोप और अमेरिका की आधुनिकता है। ये समाजवादी देशों को आधुनिक क्यों नहीं मानते, जो मानसिकता, विज्ञान और तकनीक में पीछे नहीं, आगे हैं।

लेकिन इसके साथ ही, '52-'53 से ही प्रगतिशील लेखकों का बड़ा तबका भी उठा। इनकी प्रतिबद्धता स्पष्ट है। ये साम्राज्यवाद, पूंजीवाद-विरोधी हैं। शोषित वर्ग के प्रति इनकी सहानुभूति है, और शोषण की मौजूदा व्यवस्था को बदलना इनका लक्ष्य है। ये दो खेमे बिल्कुल साफ हैं। प्रतिबद्धता से कोई बचाव नहीं है। मार्क्सवादी चिन्तन से प्रेरित प्रगतिशील लेखकों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समझ दूसरे लोगों से बहुत बेहतर और बहुत सही है। शोषित वर्ग के प्रति इनकी गहरी सम्वेदना है। जीवन-यथार्थ के ये बहुत नजदीक हैं, और उसे समझते भी हैं। इनका जीवन-संघर्ष का चित्रण वास्तविक और प्रभावी है। निश्चित रूप से इनकी रचनाओं का राजनीतिक उद्देश्य है, क्योंकि कोई भी व्यापक क्रान्ति गैर-राजनीतिक नहीं होती। हम सब लोग अपने अनुभव से जानते हैं कि प्रगतिशील लेखकों का यथार्थवादी लेखन ही पाठकों में अधिक लोकप्रिय और स्वीकृत हुआ है। इसका कारण है कि सामान्य मनुष्य इस साहित्य में अपने जीवन-संघर्षों का विश्वसनीय प्रतिबिम्ब देखता है। उसकी समस्त आशा, आकांक्षा, निराशा, क्रोध और परिवर्तन की इच्छा इस साहित्य में चित्रित होती है।

डॉ० मिश्र—परसाईजी, वर्तमान स्थिति में लेखक का दायित्व क्या है? इसे

आप और अधिक स्पष्ट करें। वर्तमान परिदृश्य जनचेतना के विशिष्ट आग्रह से परिपूर्ण है ?

परसाई—देखिए मिश्रजी, एक बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि आम पाठक का बौद्धिक स्तर इन दिनों बहुत बढ़ा है। उसकी समझ बढ़ी है। हो सकता है, वह समझ में लेखक से आगे बढ़ गया हो। इस बात को ध्यान में रखकर हमें लेखन करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि वह भ्रम अब टूट जाना चाहिए कि साहित्य का प्रभाव छोटे-से मध्यम वर्ग पर ही पड़ता है। मैंने देखा है कि छोटे-छोटे कस्बों के अर्धशिक्षित लोगों में भी चेतना है, और वे साहित्य को गम्भीरता से लेते हैं तथा समझते हैं। आपका भी अनुभव है कि मध्यप्रदेश में हमने जो पोस्टर कविताएँ चिपकाने का अभियान चलाया है, उससे कितना अधिक लोक-शिक्षण हो रहा है। इन कविताओं के शब्द लोगों को मन्त्रों की तरह याद हो गये हैं। लेखक का सबसे बड़ा कर्त्तव्य इस समय लोक-शिक्षण ही है। इस काम को न विश्वविद्यालय करते हैं, न कॉलेज और न राजनीतिक दल। निश्चित ही यह शिक्षण सीधा उपदेश न होकर साहित्यिक होगा। दक्षिणपन्थी ताकतें इस समय पुनरुत्थानवाद को उभारने में लगी हैं। अपने कल्पित स्वर्णिम अतीत की स्मृति से आधुनिक बोध और जीवन-पद्धति को वे रोकना चाहती हैं। दूसरे यही ताकतें मनुष्य को भाग्यवादी बनाने की कोशिश में हैं। जितने धार्मिक प्रवचन, अनुष्ठान, भजन, कीर्तन, यज्ञ इस समय हो रहे हैं, उतने पहले कभी नहीं हुए। ऐसा एक योजना से हो रहा है। जैसा मार्क्स ने कहा है—धर्म भ्रमात्मक सुख देता है, जबकि मनुष्य को वास्तविक सुख चाहिए जो सामाजिक परिवर्तन से प्राप्त होता है। शोषक वर्ग आम आदमी को भ्रमात्मक सुख में उलझाकर उसे वास्तविक सुख के लिए संघर्ष करने से रोकता है। लेखक को इस पुनरुत्थानवाद और भाग्यवाद से संघर्ष करना चाहिए और इस सम्बन्ध में जनता को शिक्षित करना चाहिए।

दूसरे, दक्षिणपन्थियों का बड़ा हथियार साम्प्रदायिकता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों के साम्प्रदायिक नेता पूंजीवाद-सामन्तवाद समर्थक हैं, और अमेरिका के पक्षकार हैं। चाहे जमाइते इस्लामी का नेता हो, चाहे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का --दोनों समाजवाद और लोकतन्त्र विरोधी हैं। इसलिए अपनी रचना से विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों को इस षड्यन्त्र से परिचित कराना चाहिए कि धर्म या वर्ण या सम्प्रदाय के आधार पर नहीं, वर्ग के आधार पर संघर्ष करने से उनका कल्याण होगा। इसलिए वे एक हो जायें, लड़ें नहीं। बड़ी संख्या में प्रतिबद्ध लेखक विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में पढ़ाते हैं। उन्हें छात्रों को सही शिक्षा देनी चाहिए। उनका राजनैतिक शिक्षण करना चाहिए और उनकी समझ को प्रगतिशील बनाना चाहिए। हमारे लेखक इस काम में अभी तक विशेष रुचि लेते दिखायी नहीं देते। उन्हें अब गम्भीरता से इस काम को लेना चाहिए।

लेखकों को श्रमिकों, किसानों, खेत-मजदूरों से भी सम्पर्क कायम करना चाहिए। उनके बीच जाना चाहिए। इससे लेखक को उनका जीवन-यथार्थ समझ में

आयेगा, और इनका सही शिक्षण होगा। अब वह समय भी आ गया है कि राजनैतिक दलों के नेताओं और श्रमिक नेताओं से लेखक सीधी और साफ-साफ बात करे। वे गलतियाँ करते हैं, लेकिन उन्हें बतानेवाला कोई नहीं है। जैसे मजदूरों से केवल आर्थिक लड़ाई लड़वाते हैं, उनका राजनैतिक शिक्षण नहीं करते और न उन्हें यह अहसास दिलाते हैं कि वही सच्ची क्रान्तिकारी शक्ति हैं। लेखकों को यह बात स्पष्ट करनी चाहिए, जिससे ये नेता अपने को सुधारें। वर्ग-एकजुटता के नाते प्रबुद्ध लेखक का यह अधिकार है।

'देशबन्धु' (जबलपुर एवं रायपुर) में परसाईजी पाठकों के प्रश्नों के उत्तर देते हैं। स्तम्भ का नाम है—'पूछिए परसाई से'। ज्यादातर प्रश्न छोटे कस्बों के लोग करते हैं। पहले अधिकतर हल्के इश्किया और फिल्मी प्रश्न पूछे जाते थे। धीरे-धीरे परसाईजी ने लोगों को गम्भीर सामाजिक-राजनैतिक प्रश्नों की ओर प्रवृत्त किया। दायरा अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। इन उत्तरों से सहज ही जन-शिक्षा हो रही है। यही इस स्तम्भ की उपयोगिता है।

—सम्पादक-मण्डल

पूछिए परसाई से

महात्मा गाँधी ईसा की तरह 'गाड्स यूनफ' बनना चाहते थे

भिलाई से अरविन्द गोस्वामी

प्रश्न—खाड़ी के देशों में इतनी लड़ाई क्यों चलती रहती है?

☐ खाड़ी के देशों में तेल है। वे बहुत धनवान हैं। पर शिक्षा, संस्कृति, राजनीति में पिछड़े हुए हैं। ये देश अमेरिका और यूरोप के औद्योगिक देशों के हाथों में खेलते हैं। तेल की खरीद और बिक्री की स्पर्धा है। इन्हें यूरोप और अमेरिका अपने तेल-स्वार्थ के लिए लड़वाते हैं।

रायपुर से प्रकाश

प्रश्न—एक जैन उद्योगपति को 'जैन शुद्ध वनस्पति' में गाय की चर्बी मिलाकर बेचने के कारण रासुका में गिरफ्तार किया गया है। आपकी प्रतिक्रिया?

☐ जैन समाज को और उनके धर्म-गुरुओं को, इन जैनों को जाति और धर्म से निकाल देना चाहिए। किसी जैन मुनि ने अभी तक इस कर्म की निन्दा नहीं की। पैसेवाला धर्म भी खरीद सकता है। सिर्फ एक इस कम्पनी का मामला नहीं है। यह तो पकड़ा गयी। सैकड़ों कम्पनियाँ देश में हैं, जो सूअर या गाय की चर्बी का उपयोग करती हैं। होटलें चर्बी का इस्तेमाल करती हैं। धन का लोभ ऐसा है कि मनुष्य की चर्बी ज्यादा अच्छी होती हो, तो ये पूंजीवादी मनुष्य के कसाई-घर गुप्त रूप से खोल दें। पण्डित नेहरू ने 1948 में घोषणा की थी—मुनाफाखोर को बिजली के खम्भे से लटका दिया जायेगा। पर हर बिजली के खम्भे के पास एक मुनाफाखोर फूलता-फलता है, वह लटकाया नहीं जाता। पूरी व्यवस्था पर बेईमानों का कब्जा है। ये बेईमान एक-दूसरे की रक्षा करते हैं। कौन किसे पकड़े और सजा दिलवाये? जनता का गुस्सा जब सीमा से बाहर हो जायेगा, तब जरूर वह मनुष्य-विरोधियों को बिजली के खम्भे से लटकायेगी। अभी तो मेरा ऐसा विश्वास है, कि बहुत करके ये जैन कम्पनीवाले बेदाग छूट जायेंगे। असल में हुकूमत, पुलिस, शासनतन्त्र और न्यायालय सब इन्हीं लोगों के हैं।

रायपुर से ज्ञानेश्वर पाटिल

प्रश्न—भारतीय अदालतों में गीता व कुरान की कसम दिलायी जाती है, क्या विदेशों में भी ऐसी कोई व्यवस्था है?

☐ गीता और कुरान की कसम तो अब अदालतों में नहीं खिलायी जाती पर ईश्वर के नाम से कसम खिलायी जाती है—इसलिए कि आस्तिक झूठ नहीं

बोलेगा। ईसाई देशों में भी ईश्वर की कसम खिलायी जाती है और इस्लामी देशों में भी। समाजवादी देशों में ऐसी कसम नहीं खिलायी जाती पर ऐसी कसम से कुछ नहीं होता। अधिकतर लोग कसम खाकर झूठ बोलते हैं।

बालोद से कमलकान्त साहू

प्रश्न—प्रतिभाएं प्रकृति-प्रदत्त उपहार हैं या गढ़ी जा सकती हैं?

☐ वैज्ञानिक टामस एल्वाएडीसन ने कहा है—जीनियस इज वन परसेन्ट इन्स्पिरेशन एण्ड नाइन्टी नाइन परसेन्ट पर्सपिरेशन। यानी प्रतिभा एक प्रतिशत प्रेरणा होती है और निन्नानवे प्रतिशत मेहनत। प्रतिभा प्राकृतिक भी होती है, मगर उसे अनुभव, प्रयोग और अध्ययन से विकसित करना होता है।

कांकेर से सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव

प्रश्न—वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में उच्च तथा निम्न जातियों के मध्य महत्त्व की क्या स्थिति है?

☐ भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था है, अछूत प्रथा है। अछूत प्रथा दुनिया की किसी सभ्यता में नहीं रही। प्राचीन ग्रीस में दास थे। मगर ये दास दिन-भर गन्दी-से-गन्दी सेवा और कई तरह के शारीरिक कार्य करके भी मालिक के साथ रात को भोजन करते थे। अपने समाज में कट्टर ब्राह्मण कायस्थ के घर भी भोजन नहीं करता। फिर हर वर्ण में जातियाँ और उपजातियाँ हैं। कई तरह के ब्राह्मण हैं। इनमें आपस में विवाह-सम्बन्ध नहीं होते। शूद्रों में भी छुआछूत है।

प्राचीन काल में शारीरिक श्रम करनेवाले को हीन माना गया। निम्न प्रकार के श्रम करनेवाले को तो अछूत बना दिया। अभी भी जाति-भेद है, अछूत प्रथा है। राजनीतिवाले चाहे किसी पार्टी के हों, इन नीची जातियों के वोट चाहते हैं, इन्हीं वोटों से जीतते हैं। इन्हें सवर्णों से अलग रखना और इनके इकट्ठे वोट प्राप्त करना राजनेताओं का षड्यन्त्र है। इन पर अत्याचार कराके फिर इनकी रक्षा का जिम्मा लेकर इनके वोट प्राप्त किये जाते हैं।

ऊँची जातियों में भी राजनैतिक उद्देश्य से जाति-भेद और जाति-एकता रखे जाते हैं। कान्यकुब्जवाद और कायस्थवाद तो मशहूर हैं। जाति के नाम पर वोट दिये जाते हैं। चरणसिंह की सारी राजनीति का आधार जाट हैं। जगजीवनराम हरिजनों के आधार पर हैं। जाति की राजनीति में काफी भूमिका है।

मगर वर्ण-भेद नहीं, वर्ग-भेद प्रमुख है। नीची जाति का आदमी धनी हो जाय तो वह ऊँची जातियों में सम्बन्ध रखता है। जगजीवनराम चमार हैं, पर ब्राह्मण स्वार्थ के लिए उनके चरण छूते थे, जब वे मन्त्री थे। फिर कार्य के उत्पादन के साधन से वर्ण बदलता है। हाथ के औजारों से जूते बनानेवाला और मरम्मत करनेवाला परम्परागत चमार होता है। उसका लड़का आई. टी. आई. में लेदर टेक्नालॉजी सीखकर बाटा शू कम्पनी में नौकरी करता है, तो कारीगर, टेक्नीशियन हो जाता है। वह चमार नहीं रहता। वह ऊँची जाति के लोगों में शामिल हो जाता है।

भिलाई से रमेशकुमार

प्रश्न—क्या यह सम्भव है कि भारत पहले से भी अधिक दासता में बँध जाये ?

☐ यह कतई सम्भव नहीं है। कोई दूसरा देश यहाँ अब साम्राज्य स्थापित नहीं कर सकता। पर अमेरिका के आधिपत्यवाले अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों के जाल में जरूर हम फँसते चले जा रहे हैं। इसका प्रभाव पड़ रहा है। फिर एक नया सांस्कृतिक साम्राज्यवाद भारत में पनप रहा है। अमेरिका हथियारों की सप्लाई करके तथा सैनिक अड्डे बनाकर भी अर्द्धविकसित देशों पर हावी होता है। भारत सैनिक सामग्री सब देशों से खरीदता है। अधिक सैनिक सामग्री रूस से खरीदता है। इसके साथ ही सुरक्षा सामग्री की अपनी उत्पादन क्षमता भी लगातार बढ़ा रहा है।

पहले की दासता—साम्राज्यवाद—दूसरे प्रकार का था। जैसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद सैन्यबल से पिछड़े देश पर कब्जा करता था, वहाँ का शासन अपने हाथ में ले लेता था। उस देश का शोषण करता था। पर दूसरे महायुद्ध के बाद जब यूरोप का साम्राज्य खत्म हुआ, तो उसकी जगह ले ली, अमेरिकी नवसाम्राज्यवाद ने। अमरीका नवस्वतन्त्र देशों में कठपुतली सरकारें स्थापित करता है। कर्ज, सैनिक सामग्री, तकनीक आदि से उसे अपने ऊपर निर्भर रखता है। इसके लिए अमेरिका लोकतन्त्र का नाश करके वहाँ तानाशाही बिठाता है। तानाशाह को लोकसमर्थन नहीं होता, इसलिए वह पूरी तरह अमरीका पर निर्भर रहता है।

मुझे भारत में ऐसी सम्भावना नहीं दिखती।

मगर एक असम्भव सम्भव हो जाय—यानी भारतीय जनता पार्टी की सरकार दिल्ली में बन जाय तब क्या होगा, कह नहीं सकते।

रायपुर से दिनेशकुमार

प्रश्न—कर्नल गद्दाफी ने एक किताब लिखी है, यह किस तरह की चीज है ?

☐ लीबिया के नेता कर्नल गद्दाफी असाधारण आदमी हैं। वे न राष्ट्रपति हैं, न प्रधानमन्त्री। वे लीबियाई क्रान्ति के नेता के नाम से शासन करते हैं। युवा हैं, किसी फिल्मी हीरो की तरह खूबसूरत हैं। वे अमेरिकी साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी हैं। मगर अफ्रीका और अरब जगत में उनका रोल अटपटा होता है। कभी वे पी. एल. ओ. का पूर्ण समर्थन करते हैं, कभी विरोध करते हैं। वे अपने को समाजवादी कहते हैं। लीबिया तेल के कारण बहुत धनी है।

गद्दाफी ने माओत्से-तुंग की 'लाल किताब' की तरह एक हरी किताब लिखी है। इसमें अपने राजनैतिक विचार समझाये हैं और लीबिया के विकास की रूपरेखा भी है। इस पुस्तिका को मैंने पढ़ा नहीं है। इसके बारे में टिप्पणियाँ पढ़ी हैं। ऐसा मालूम होता है कि गद्दाफी मार्क्स और मोहम्मद को एक साथ मानकर चल रहे हैं।

महासमुंद से पी. आर. चौहान

प्रश्न—गाँधीजी के ब्रह्मचर्य प्रयोग के बारे में आपका क्या कहना है ?

☐ गाँधीजी ने 4 बेटों के बाप होने के बाद लगभग जवानी की दोपहर में,

ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। उन्होंने पाँच व्रत लिये थे—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य के बारे में वैज्ञानिकों का कहना है कि यह अप्राकृतिक तथा अवैज्ञानिक है तथा इससे कुण्ठाएँ तथा मानसिक विकृतियाँ पैदा होती हैं। पर भारत में प्राचीन काल से ब्रह्मचर्य को शक्ति का साधक माना गया है। ईसाई धर्म में भी पादरियों और साध्वियों (नन्स) के विवाह न करने की व्यवस्था है। पर आमतौर पर ब्रह्मचर्य धारण किये पादरी और नन्स क्रूर होते हैं। मिशन स्कूलों में पढ़ानेवाली 'नन्स' सेडिस्ट (दूसरे को दुख देकर स्वयं सुख-बोध करना) होती हैं। ये बच्चों के कान खींचती, चिकोटी लेतीं, तथा क्रूर व्यवहार करती हैं। यह काम के दमन के कारण है। कुछ पादरी समलैंगिक सम्बन्ध रखते हैं।

गाँधीजी ने ब्रह्मचर्य का प्रयोग अपने अन्तिम दिनों में किया। यों ऐसा पहले भी होता था कि आधी रात को उनके शरीर में कँपकँपी होती थी। आश्रमवासी तब उनके हाथ-पाँव की मालिश करते थे, तब वे शान्त होकर सोते थे। मनोवैज्ञानिक इसे एक काम-क्रिया मानते हैं। नोआखाली में 1946 में गाँधीजी हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव के लिए यात्रा कर रहे थे। साथ में सुशीला नायर, मनु गाँधी तथा दूसरे आश्रमवासी थे। नोआखाली में उन्होंने सोचा, मेरे तप में कमी है। मेरा ब्रह्मचर्य शायद पूरा नहीं है। मैं ब्रह्मचर्य का प्रयोग करूँगा। यह प्रयोग कैसा हुआ, यह सबसे पहले पुस्तक-रूप में लिखा उनके साथ यात्रा कर रहे प्रो. बोस ने। उनकी पुस्तक है—गाँधीज़ एक्सपेरीमेंट्स विथ ब्रह्मचर्य। प्रयोग यों था—उन्होंने पहले सुशीला नायर से कहा कि हम दोनों एक ही बिस्तर में सोयेंगे। यों तब गाँधीजी की उम्र 75 साल से आगे थी। सुशीला नायर तो बहाना बनाकर किसी और जगह काम करने चली गयी। तब गाँधीजी ने मनु गाँधी को राजी किया। दोनों एक ही बिस्तर में सोते थे। सुबह गाँधीजी सोचते थे कि मुझे रात को कैसा लगा और मनु से पूछते थे। प्रो. बोस इससे असहमत थे। उन्होंने विरोध किया तो गाँधीजी ने उनकी छुट्टी कर दी। प्रयोग चलता रहा। गाँधीजी ने नेहरू, पटेल, कृपलानी आदि नेताओं को पत्र लिखे कि मैं यह प्रयोग कर रहा हूँ। सबसे मजे का जवाब कृपलानी ने दिया—आप तो महात्मा हैं। पर ज़रा सोचिए, आपकी देखादेखी छुटभैये, ब्रह्मचर्य का प्रयोग करने लगें तो क्या होगा? गाँधीजी ने हरिजन में लेख भी लिखा। प्रो. बोस ने अपनी पुस्तक में यह सब विवरण दिया है और सवाल किया है कि मनोवैज्ञानिक इसका समाधान सोचें। गाँधी कहते थे—मैं ईसामसीह की तरह गाड्स यूनफ (ईश्वरीय नपुंसक) होना चाहता हूँ। प्यारेलाल, विजय तेन्डुलकर, वेद मेहता वगैरह ने भी गाँधीजी की जीवनी में ब्रह्मचर्य के इस प्रयोग का विवरण दिया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जीवन-भर काम का दमन करने की यह प्रतिक्रिया थी। उन्हें रात को कँपकँपी आना और मालिश के बाद शान्त होना भी, काम-सन्तोष था। वे जीवन की अन्तिम रात तक यह प्रयोग करते रहे।

9 अक्टूबर, 1983

पण्डितों को पटाइए

नन्दिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—जिया ने सन् '85 में चुनाव कराने की घोषणा की है, उनकी यह आदत कब तक बरकरार रहेगी ?

☐ पाकिस्तान में इस समय लोकतन्त्र की बहाली के लिए जन-आन्दोलन चल रहा है, जिसे जिया कुचल नहीं पा रहे हैं। वे ढीले पड़े हैं। वे जल्दी चुनाव कराने और प्रस्तावित संविधान में परिवर्तन करने को राजी हैं। हालत खस्ता है। जनता के नेता कहते हैं कि पहले राष्ट्रपति पद से हटो और चुनाव कमीशन को पाकिस्तान के मूल संविधान के अनुसार चुनाव कराने दो। आन्दोलन जोर पर है। अमेरिकी प्रेस और रेडियो आन्दोलन और उसके दमन के समाचार ज्यादा दे रहे हैं। शायद अमेरिका जिया की जगह दूसरे जनरल को बिठाने की तैयारी में हो। पर अब जनरल राष्ट्रपति के दमन से काम चलेगा नहीं। किसी रूप में लोकतन्त्र से कम जनता स्वीकार नहीं करेगी।

भिलाई नगर से सरजू धमगेश्वर

प्रश्न—श्री अटलबिहारी वाजपेयी द्वारा पूरे म. प्र. में आग लगा देने की बात कहना क्या उनके-जैसे वरिष्ठ नेता के लिए शोभनीय है ?

☐ अटलबिहारी शब्द-वीर हैं। उनकी नेतागिरी बोलने की क्षमता पर टिकी है। जब कैलाश जोशी ग्वालियर में जयविलास पैलेस में विजयाराजे सिन्धिया की सम्पत्ति के लिए अनशन पर बैठे थे, तब अटलबिहारी ने कहा था—यदि कैलाश जोशी को कुछ हो गया—(याने वे मर गये) तो मध्यप्रदेश में आग लग जायेगी। कैलाश जोशी ने बड़ी नासमझी की जो संघ के नेताओं के बहकावे में आकर पारिवारिक सम्पत्ति के विवाद में बीच में पड़कर अनशन पर बैठ गये—खासकर जब कई मामले अदालत में हैं। कैलाश जोशी सीधे और नरम माने जाते हैं। वे दीनदयाल उपाध्याय की तरह हैं। इसीलिए कट्टर संघी नेता उन्हें पसन्द नहीं करते। 1977 में उन्हें बहुत तंग करके उनसे मुख्यमंत्री का पद इन्हीं ने छुड़वाया था। कैलाश जोशी को समझ होती तो तभी जनसंघ छोड़ देते। पर वे आये हैं शाखा से। संघ के खुर्राट नेता कैलाश जोशी को सीधा समझकर उन्हें चने के झाड़ पर चढ़ा देते हैं। वे सहानुभूति नहीं, उपहास पा रहे थे। लोग उन पर हँस रहे थे। अपनी गलती उन्हें चौथे दिन समझ में आ गयी थी। और वे किसी बहाने उपवास छोड़ना चाहते थे। उन्होंने शीतलासहाय से कहा था कि मुख्यमन्त्री से कुछ भी लिखवा लाओ जिससे मैं मुसम्बी का रस पी लूँ। पर मुख्यमन्त्री भी खिलाड़ी हैं। वे दुर्गति कराना चाहते थे। अगर भारतीय जनता पार्टी के खुर्राट संघी नेताओं को लगता कि कैलाश जोशी के मरने से पार्टी-लाभ होगा तो वे उन्हें मर जाने देते। कैलाश जोशी समझ गये थे कि मेरे नेता मुझे मर जाने देंगे। इसीलिए

उन्होंने खुद ग्लूकोस और रस पी लिया।

अटलबिहारी वाजपेयी का प्रदेश में आग लगाने का बयान बचकाना है। माधवराव साफ कहता है—मेरे परिवार की सम्पत्ति को भारतीय जनता पार्टी हड़पना चाहती है। सम्पत्ति हड़पने के लिए अटलबिहारी प्रदेश में आग लगाना चाहते हैं। तो फिर स्वयंसेवकों से कहें कि पैसा लेकर मकान खाली कराने और मकान पर कब्जा कराने का प्रोग्राम चलायें। लाखों रुपये मिल जायेंगे।

प्रदेश में आग लगाने कौन देता? लोग क्या मूर्ख हैं? प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी की हालत बहुत खराब है। नकारात्मक वोट पाना समर्थन नहीं होता है। अगर यह पार्टी उपद्रव, तोड़फोड़, दंगे, अराजकता की कोशिश करती तो लोग विरोध करते। शासन भी उपद्रवियों को कुचल देता।

नंदिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—थाईलैण्ड की राजधानी बैंकाक में 'विश्व पंजाबी सम्मेलन' का औचित्य?

□ दक्षिण एशिया में पंजाबी बहुत हैं। खासकर सिख। बर्मा, न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया में बहुत पंजाबी हैं। खासकर सिख। ये धन्धे, खेती, ठेकेदारी, डेरी फार्मिंग करते हैं। ये बहुत धनवान हैं—पंजाब के पंजाबियों से ज्यादा। इसलिए वे बैंकाक में पंजाबी सम्मेलन कर रहे हैं। आप कहेंगे—अमृतसर में तो उन्मादी सन्त भिण्डरावाला फौज लिये बैठे हैं। उनके कारण कोई सन्तुलन-समझदारी की बात हो नहीं सकती। फिर अगर विदेशों में बसे इन सिखों को 'खालिस्तान' की माँग पर प्रस्ताव करना है तो यह भारत में नहीं कर सकते। अकाली नेताओं ने घोषणा कर दी है, हमें 'खालिस्तान' की माँग से कोई मतलब नहीं है।

भिलाई से नलिन पटेल

प्रश्न—फूल हो, पदक हो या बिल्ला, लोग उसे दिल के करीब क्यों लगाते हैं?

□ दिल के करीब जानबूझकर नहीं लगाते। सीने पर लगाते हैं। यह जगह खाली है। हाथों से काम करना पड़ता है। पाँवों से चलना पड़ता है। गर्दन से लेकर कमर तक का हिस्सा सपाट और बेकाम है। तो खाली जगह में फूल या बिल्ला लगा लेते हैं। वैसे तो नाक और कान में भी आभूषण पहने जाते हैं।

दुर्ग से देवेन सोलंकी

प्रश्न—मैं समझता हूँ कि प्रउत एक अलगाववादी आन्दोलन है, आपका क्या खयाल है?

□ 'प्रउत', प्राउटिस्ट आन्दोलन, जिसके प्रधान प्रभातरंजन सरकार हैं, जो 'आनन्दमूर्ति' कहलाते हैं, एक रहस्यात्मक आन्दोलन है। प्रभातरंजन के बारे में चमत्कारिक किस्से हैं। उनमें अलौकिक शक्ति होने का प्रचार किया जाता है। इन आनन्दमूर्ति के बारे में जो भी मिल सका मैंने पढ़ा और जाना है। उनकी पत्नी का इण्टरव्यू पढ़ा है जिसमें पत्नी ने उन्हें क्रूर और समलैंगिक बताया है। इस

आन्दोलन से भागे लोगों ने भी बहुत-सी बातें बतायी हैं। आनन्दमूर्ति के आनन्द-मार्ग में तन्त्र, मन्त्र, शवसाधना, नरबलि, शाक्त-साधन सब हैं। इसके आश्रमों में नरमुण्ड पाये गये हैं। कई आनन्दमार्गियों पर हत्या के मुकदमे चले हैं। प्रभात-रंजन भी जेल में रहे हैं। मुझे यह उन्मादी फासिस्टी आन्दोलन समझ में आता है। यह भी मालूम होता है कि यह सी. आई. ए. द्वारा समर्थित आन्दोलन है। वैसे इनकी घोषणाएँ और सिद्धान्त आकर्षक हैं। ये आदर्श मानवीय व्यवस्था की घोषणा करते हैं। ऐसी घोषणाएँ हर मानव-विरोधी फासिस्ट संगठन करता है, पर इनके पक्के उद्देश्य होते हैं—लोकतन्त्र और समाजवाद का विरोध।

कोरबा से रमेश साहू

प्रश्न—अमेरिका के अगले राष्ट्रपति चुनाव के लिए स्व. मार्टिन लूथर किंग के एक काले सहयोगी का नाम, उम्मीदवारी की चर्चा में है। क्या एक काले उम्मीदवार के अमेरिकी राष्ट्रपति बनने की गुंजाइश है?

☐ अमेरिकी राष्ट्रपति का चुनाव यदि मार्टिन लूथर किंग का अनुयायी लड़ रहा है तो यह प्रतीकात्मक है—यानी इस अधिकार का दावा करता है कि काला आदमी भी राष्ट्रपति हो सकता है। पर वह जीतेगा नहीं। अमेरिका में रंगभेद बहुत है। महान नीग्रो गायक पाल राब्सन जब गायन कार्यक्रम देता था, तो गोरे लोग भीतर हॉल में बैठकर नहीं सुनते थे। वे हजारों की तादाद में बाहर खड़े हुए उसे सुनते थे। अन्ततः पाल राब्सन ने घोषणा कर दी कि मैं सफेदपोशों में नहीं गाऊँगा। मैं सिर्फ मजदूरों के लिए उनकी बस्तियों में गाऊँगा। अभी कुछ समय पहले अमेरिकी राष्ट्रपति ने एण्ड्रू यंग नामक नीग्रो को राष्ट्रसंघ में प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया। स्वभावतः उसकी सहानुभूति अफ्रीकी देशों और फिलिस्तीनियों से होगी। वह फिलिस्तीनी नेताओं से मिलता रहा। अफ्रीकी नेताओं से मिलता रहा। यह सब अमेरिकी प्रशासन को पसन्द नहीं आया, अन्ततः यंग को उस पद से हटना पड़ा। अमेरिका यूरोप से गये हुए गोरे लोगों का देश है। वहाँ के मूल निवासी रेड इण्डियनों को इन लोगों ने मार डाला या गुलाम बना लिया। फिर अफ्रीका से जहाजों में भरकर लाखों गुलाम खरीदे। ऐसा गोरा साम्राज्यवादी देश किसी काले को राष्ट्रपति नहीं बनायेगा। मगर काले लोगों को अधिकारपूर्वक चुनाव लड़ना चाहिए।

रायपुर से अनुपमदास

प्रश्न—भाकपा और माकपा दोनों वामपन्थी हैं, फिर एक होकर चलने में क्या रुकावट है?

☐ भई, आप दोनों पार्टियों के मुख पत्र 'न्यूएज' और 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' नियमित पढ़ा करिए। इसके सिवा 1945 से लेकर अब तक के, पहले संयुक्त सी. पी. आई. तथा बाद में दोनों अलग पार्टियों के दस्तावेज भी पढ़िए। प्रस्ताव पढ़िए। तब आप समझेंगे। इस कालम के द्वारा मैं आपको नहीं समझा सकता। आपका प्रश्न एक छोटी-मोटी किताब की माँग करता है।

रायपुर से बी. प्रकाश शर्मा

प्रश्न—एक विख्यात ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की है कि पाकिस्तान भारत में लिया जायेगा, पाकिस्तान की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह सम्भव लगता है?

☐ पाकिस्तान की वर्तमान स्थिति को देखते हुए कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मैं यह 17 अगस्त, 1983 को लिख रहा हूँ, जब वहाँ फौजी तानाशाही के खिलाफ आन्दोलन चल रहा है। ज्योतिषीजी की भविष्यवाणी ठीक नहीं है। अन्दाज यह है कि पाकिस्तान के और टुकड़े होंगे। बांग्ला देश बनने से लोग बड़ी उम्मीद कर रहे थे। पर वहाँ भी तानाशाही है और इस्लामिक राष्ट्र हो गया है। हमने शेख मुजीब से बड़ी आशा बाँधी थी। पर फौज ने उन्हें मार डाला। बंगला देश से हमारे सम्बन्ध खास अच्छे नहीं रहेंगे। वह अमेरिका गुट में जा रहा है। आगे कभी तीनों देशों के नेता समझें तो एक 'कनफेडरेशन', 'महासंघ', बन सकता है।

कु. अ. ब. स.

प्रश्न—मैं अपनी निजी जिन्दगी से सम्बन्धित एक प्रश्न आपसे पूछना चाहती हूँ। मैं अपने एक रिश्ते के भाई से शादी करना चाहती हूँ। विदेशों में तथा भारत के कुछ धर्मों में इसकी इजाजत है। जब सारी समाज-व्यवस्था धर्मनिरपेक्ष होती जा रही है तो फिर हिन्दुओं में ऐसा क्यों नहीं हो सकता?

☐ समाज की तत्कालीन हालत और सुविधा के अनुसार कई शताब्दी पहले विवाह के नियम बने थे। इनका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध इतिहास और समाजशास्त्र से है। आर्यों में एक गोत्र में विवाह वर्जित है। दूर के भी रिश्ते के भाई-बहिन में शादी वर्जित है। ये नियम तब बने जब समाज खेती और पशुपालन की स्टेज में थे। छोटे-छोटे समूहों में लोग रहते थे। आवागमन के साधन थे नहीं। अब मद्रास में रहनेवाला दिल्लीवाले से विवाह करता है। अदालत में विवाह होता है। समाज का रूप बदल गया। इसलिए गोत्र का बन्धन बहुत ढीला हो गया। दूर के रिश्ते के भाई-बहिन में शादी अभी भी स्वीकार नहीं की जाती। पर मैंने दो ऐसी शादियाँ होती देखी हैं। और दोनों में पण्डितों ने ही प्राचीन शास्त्रों से प्रमाण देकर शादी को उचित ठहराया। दक्षिण भारत में मामा-भांजी की शादी होती है। मुसलमानों में मौसेरे भाई-बहिन, चचेरे भाई-बहिन में शादी होती है। जब अरब में विवाह के नियम बने थे तब कबीले थे। कबीलों में लड़ाइयाँ होती थीं। इसलिए दूर का लड़का और लड़की खोजना सम्भव ही नहीं था।

यदि आप परम्परागत रीति से विवाह करना चाहती हैं तो दो रास्ते हैं—किन्हीं प्रतिष्ठित 'पण्डितों को पटाइए'। वे शास्त्र-प्रमाण इस शादी के पक्ष में जरूर दे देंगे। शास्त्रों में सारी गुंजाइशें हैं। मैंने बताया ही है कि दो शादियाँ दूर के भाई-बहिन में मेरे सामने पण्डितों ने ही करायीं और अखबारों में शास्त्रों के प्रमाण भी छपवा दिये। या आप अदालत में शादी कीजिए।

2 अक्टूबर, 1983

राजनैतिक घराने के एहसान से बच्चन को लाभ हुए हैं

भोपाल पटनम से एस. के. माँझी

प्रश्न—देश की भू. पू. प्रधानमन्त्री को भी चुनाव में दो-दो जगह से क्यूं खड़ा होना पड़ता है ? क्या पराजय के डर से ?

☐ जिसे पक्का जीतना है, वह यही करता है। इन्दिरा गाँधी दो क्षेत्रों से चुनाव फार्म भरती हैं। अगर एक जगह फार्म किसी तकनीकी कारण से नामंजूर हो गया तो दूसरी जगह से तो उम्मीदवार रहेंगी ही। दोनों जगह से जीत गयीं तो एक सीट छोड़ देंगी। चुनाव में जीतना किसी का भी निश्चित नहीं होता।

रायपुर से अपूर्व शर्मा

प्रश्न—गाँधी सारी जिन्दगी बकरी का दूध पीते रहे, लेकिन गाँधीवादी केवल गौ-हत्या के विरोधी हैं, बकरी में उन्हें प्राण नहीं दिखते क्या ?

☐ आप ठीक कहते हैं। बकरी-रक्षा-आन्दोलन और बकरा-रक्षक-आन्दोलन चलाना चाहिए। गाय हजारों सालों से आर्यों के लिए विशेष श्रद्धा की पात्र रही है। उसे माता कहते हैं। मगर यह गौमाता अगर आँगन में रखे गेहूँ को खाने लगे तो उसे हिन्दू डण्डे मारेगा—माता को। गाय को आर्यों ने पहले पाला। जंगली गाय पहले उनके वश में आयी। भैंस को बड़ी मुश्किल से बाद में पाला गया। गाय का दूध पीते हैं। उसके बेटे बैल हल खींचते हैं। चमड़े से जूते बनते हैं। गाय का मूत्र 'डिसइन्फेक्टेण्ट' होता है। गाय सीधी होती है। आक्रामक नहीं होती, इसलिए गाय के प्रति यह भावना है। पर गौ-रक्षा आन्दोलन चाहे कांग्रेसियों का हो चाहे संघियों का—एक स्टण्ट है। जनसंघ ने तो काफी साल गौमाता के नाम से ही राजनीति की। अन्ततः गौ-रक्षक सिर्फ विनोबा भावे बचे।

रायपुर से अतुल श्रीवास्तव

प्रश्न—राजधानी दिल्ली के रेस्तराओं में हिन्दुस्तानियों को शराब नहीं मिलती, विदेशियों को ही दी जाती है। ऐसा क्यों ? या भारत के और शहरों में ऐसा क्यों नहीं ?

☐ मुझे भी सरकार का यह तर्क समझ में नहीं आता। एक बात है कि विदेशियों को विशेष सुविधा दी जाय। दूसरी बात यह है कि यूरोप-अमेरिका के लोग शराब का इस्तेमाल भोजन की तरह करते हैं। यह उनकी दैनिक जरूरत है। भारतीय ज्यादा पीकर रेस्तराओं में हुल्लड़ न करें, अपराध न करें, इसलिए भारतीयों के लिए रोक लगायी होगी। दिल्ली देश की राजधानी है न। मगर नशाबन्दी इस तरह के कानून से और पुलिस से कभी सफल नहीं होगी। जहाँ नशाबन्दी लागू है, वहाँ सब तरह की शराब बिकती है। हाथ-भट्ठियाँ बेहिसाब होती हैं। आपको वहाँ पुलिसवाला ही शराब दिला देगा। नशा पूरी तरह तो कभी खत्म नहीं होगा। उसे कम किया जा सकता है। पर उसके दूसरे तरीके हैं।

भिलाई से प्रदीप मिश्रा

प्रश्न—वनस्पति घी में गाय की चर्बी मिलाने के मामले सामने आ रहे हैं। क्या आप वनस्पति घी खाते हैं ?

☐ मिलावट इतनी है कि हम किस चीज में क्या खा रहे हैं, इसका ठिकाना नहीं। गाय की चर्बी का पता तो अब दिल्ली के एक 'अहिंसा परमो धर्मः' वाले जैन की कम्पनी के छापे में लगा है। पर पता नहीं कब से लोग गाय और सूअर की चर्बी खा रहे हैं। मैं अपने बारे में बता भी दूं, तो आपका क्या फायदा ?

राजनाँदगाँव से सिद्धार्थ कुमार गजभिए

प्रश्न—श्रीमती तेजी बच्चन फरमाती हैं कि अमिताभ अगर राजनीति में जायेगा तो मरने के बाद भी उनकी आत्मा कभी चैन नहीं पायेगी। क्या सचमुच राजनीति इतनी गन्दी है ?

☐ तेजीजी राजनीति को इतनी गन्दी समझती होंगी। उनकी समझ सीमित है। वे यह क्यों भूल जाती हैं कि बच्चनजी को विदेश विभाग में जो ऊँची नौकरी मिली और फिर वे 12 साल राज्यसभा के सदस्य रहे, सो इस कारण कि बच्चन परिवार के गहरे सम्बन्ध राजनैतिक परिवार, नेहरू-परिवार से रहे। तेजी इन्दिराजी के दरबार में बैठती रही हैं और अमिताभ राजीव का दोस्त है। राजनैतिक घराने के अहसान से तो तेजी, बच्चनजी, अमिताभ बड़े हुए हैं। मगर तेजी राजनीति को गन्दी चीज समझती हैं। उनसे कहा जाय कि यदि यही उनका विश्वास है तो वे अखबार में यह बयान भी दे दें कि इन्दिरा गाँधी के मरने बाद उनकी आत्मा चैन नहीं पायगी क्योंकि वे राजनीति में हैं। तेजी यह खतरा नहीं उठायेंगी। असल में अमिताभ राजनीति में चल नहीं सके। रामाराव भी नहीं चला पा रहे हैं। तेजी चाहती हैं कि बेटा फिल्म में रहे और घर में दौलत भरती जाय।

बड़े आदमियों की बीवियाँ और मशहूर आदमियों की माँएँ ऐसे फालतू बयान देती ह। रहती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर एलिजाबेथ टेलर की माँ के बयान को कोई गम्भीरता से नहीं लेगा।

ग्राम बैहामुड़ा से अश्वनी कुमार पटेल

प्रश्न—खेल-मैदान पर जो विपुल धनराशि खर्च की जा रही है, वही अगर खेतों को हरा-भरा करने पर व्यय की जाय तो क्या देश की लकीरें नहीं बदलेंगी ?

☐ खेल भी आदमी की जरूरत है। खेल पर खर्च जरूरी है। आदमी सिर्फ रोटी से नहीं जीता। यह जरूर है, खेलों पर व्यर्थ बहुत-सा खर्च नहीं होना चाहिए। कौन-से खेतों को हरा-भरा रखना चाहते हैं आप ? जो बड़े भूमिपति हैं, उनके पास ट्रैक्टर हैं, बीज हैं, सिचाई के लिए पम्प है, खाद है। इनके खेत हरे-भरे हैं। रहे 90 फीसदी छोटे किसान। उनके खेत तभी हरे-भरे हो सकते हैं जब ये सहकारी खेती करें। बड़े सहकारी फार्म मैंने रूस में देखे हैं। उनके पास अब साधन हैं। सहकारी हरे-भरे हैं। हर किसान सम्पन्न है। फार्म का अपना थियेटर भी होता है। जवाहरलाल नेहरू ने सहकारी खेती की व्यवस्था लागू करने की

बहुत कोशिश की, पर कांग्रेस पार्टी में ही इसका विरोध हुआ, क्योंकि कांग्रेस पूंजीवाद समर्थक है। दूसरी सामन्तवादी पूंजीवादी पार्टियों और गुटों ने भी विरोध किया। छोटे किसानों को बहकाया गया कि सहकारी खेती में जमीन तेरे हाथ से निकल जायेगी।

खेल-कूद पर खर्च का स्टण्ट पूंजीवादी समर्थक पार्टियाँ उठाती हैं। सवाल मूल यह है—क्या सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में आप पूर्ण परिवर्तन करना चाहते हैं? कर सकते हैं? परिवर्तन हुआ तो दुर्गति बढ़ती जायेगी। छोटा किसान खेत-मजदूर होता जायेगा और बड़ा भूमिपति बढ़ता जायेगा।

खरसिया से हन्नू ठाकुर

प्रश्न—भारत में हिन्दी पत्रकारिता, अंग्रेजी पत्रकारिता जितनी प्रोफेशनल नहीं हो पायी, ऐसा क्यों?

☐ हिन्दी पत्रकारिता भी अब प्रोफेशनल काफी हो गयी है। अँगरेजी पत्र आमतौर पर औद्योगिक घराने निकालते हैं या शृंखलाबद्ध पत्र प्रकाशक। अँगरेजी पत्र राष्ट्रीय पत्र होते हैं। जिसका कारण लागत, प्रसार की मशीनरी, योग्य स्टाफ, बड़े विज्ञापन और बेहतर समाचार सेवा है। यह सब खर्चीला काम है। मगर हिन्दी में राष्ट्रीय दैनिक शायद कोई नहीं। क्षेत्रीय पत्र ही हैं या अधिक से अधिक प्रादेशिक। पर ये पत्र ज्यादा विश्वसनीय हैं, इनमें से कुछ का स्तर अँगरेजी पत्रों से कम नहीं है। ये अपने स्टाफ का वेतन भी अच्छा देते हैं। पत्रकारों के सेवा सम्बन्धी कानूनों तथा अभी पालेकर अवार्ड से पत्रकारों को सुरक्षा और स्थायित्व भी मिला है।

हिन्दी में पूरी तरह 'प्रोफेशनल' तो वे पर्चे हैं, जो 10-15 दिनों में एक बार सौ प्रतियाँ निकालते हैं और जिनसे 'ब्लैकमेल' किया जाता है।

धमतरी से जगदीश शर्मा

प्रश्न—प्रेस से श्रीमती गाँधी का व्यवहार आपको कैसा लगता है?

☐ प्रेस से इन्दिराजी खुश नहीं हैं। वे प्रेस से अधिक जिम्मेदारी की अपेक्षा करती हैं। वे विघटनकारी पत्रकारिता के भी खिलाफ हैं। व्यापारिक घरानों के कब्जों में जो प्रेस है उससे उन्हें शिकायत ज्यादा है। व्यापारिक घरानों के बढ़ने में इन्दिराजी की नीतियाँ सहायक ही हैं। पूंजीवाद घट नहीं रहा, बढ़ रहा है। पर इन अखबारों के मालिक रूस-विरोधी हैं। इसलिए अखबारों के द्वारा भ्रम और झूठ फैलाकर विदेशनीति बदलना चाहते हैं।

ताजा उदाहरण देता हूँ।

एक पूंजीपति के अखबार में इन्दिरा और जयवर्द्धन की फोन पर हुई बातचीत का एक अंश इस तरह छपा है—

जयवर्द्धने—देयर दी हैण्ड ऑफ सोवियत रशा इन दीज़ रायट्स।

इन्दिरा—मे बी।

जयवर्द्धने—डोंट से मे बी। से देयर इज रशन हैण्ड।

यह बिल्कुल झूठ है। इन्दिराजी 'मे बी' कह ही नहीं सकतीं। वे जानती हैं इसमें दूसरी शक्ति का हाथ है। पर उक्त अखबार ने यह झूठी रिपोर्ट रूस से भारत के सम्बन्ध बिगाड़ने के लिए छापी। यह बदमाशी इन्दिराजी को नापसन्द है।

यों उन्हें अपनी सरकार की कोई आलोचना भी पसन्द नहीं है।

दुर्ग से राजेन्द्र दत्ता

प्रश्न—ऐसी खबर है कि एन. टी. आर. हिन्दी सीखकर तथा हिन्दीभाषी क्षेत्रों में अपनी बाकी फिल्में रिलीज करके अगले चुनाव में अपने को इन्दिरा के विकल्प के रूप में पेश करनेवाले हैं···

☐ यह एक विचित्र बात है और चिन्ता की भी कि दक्षिण भारत में फिल्मी हीरो राजनेता हो रहे हैं। कर्नाटक में एक फिल्मी हीरो हैं—राजकुमार। वे भी नेता हो गये हैं। हिन्दी-विरोधी आन्दोलन का नेतृत्व राजकुमार कर रहे थे तथा सधे हुए घिसे नेता तथा बुद्धिजीवी उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। हिन्दी-विरोधी आन्दोलन का विरोध सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टी तथा कुछ प्रगतिशील लेखकों, बुद्धिजीवियों ने किया था।

रामाराव फिल्मी भगवान बनकर फिल्मों के द्वारा मध्य उत्तर-पूर्व और पश्चिम भारत में राजनीति नहीं कर सकते। आन्ध्र में ही उनका पानी काफी उतर चुका है। सरकारी कर्मचारियों की हड़ताल में इन 'भगवान' की काफी दुर्गति हुई। फिल्मी ग्लैमर और बात है, जिन्दगी और राजनीति का ठोस यथार्थ बिल्कुल दूसरी बात—

'ये सियासत की उलझनें हैं मेरी जान तेरी जुल्फों के पेचो-खम नहीं हैं।'

रायपुर से हरबंसलाल

प्रश्न—राजनीतिक फिल्मों को सेंसर बोर्ड प्रतिबन्धित कर देता है, जागरूक फिल्मकारों को अदालत भागना पड़ता है। क्या समाज के वरिष्ठ नागरिक, लेखक, पत्रकार आदि सरकार से एक सामूहिक अपील नहीं कर सकते ?

☐ राजनैतिक फिल्मों पर सेंसर की कैंची ज्यादा चलती है, यह सही है। सरकार इस मामले में 'छुईमुई' है। अब्बास की फिल्म 'नक्सलवादी' को सेंसर ने बहुत काटा।

सेंसर की इस नीति के खिलाफ लेखकों, कलाकारों ने काफी विरोध किया। इसी कारण अब काफी छूट भी मिली है।

11 सितम्बर, 1983

वरना राजकपूर जिन्दगी-भर एक्स्ट्रा रहते

रायपुर से अजय मालवीय

प्रश्न—मनुष्यों में जातिवाद और भेदभाव कैसे पैदा हुआ ?

☐ मनुष्य-जाति में कई तरह की नस्लें हैं, इनमें भेद है। यह स्वाभाविक है। पर नस्ल के कारण किसी का दमन अन्याय है। फिर भौगोलिक कारणों से मनुष्यों में भेद है। ठण्डे क्षेत्र का आदमी गोरा तथा भूमध्य रेखा के आसपास का आदमी साँवला या काला होता है।

जातिवाद काम के हिसाब से कम-ज्यादा सब समाजों में रहा है। पर सबसे कठोर जातिवाद हिन्दू समाज में है। हर पुरानी सभ्यता में दास-प्रथा रही है पर अछूत प्रथा सिर्फ भारत में है। यहाँ पर वर्ण सामाजिक विधान बनानेवालों ने बनाये—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शूद्र अछूत है। तर्क यह दिया जाता है कि वर्ण कार्य-विभाजन के आधार पर बने। कभी शायद यह कारण हो। पर शारीरिक श्रम करनेवाले शूद्रों को अछूत बनाया। उन्हें पाँव के जूते माना गया। उन्हें ज्ञान से वंचित किया गया। उनका शोषण हुआ। जिस समाज में शारीरिक श्रम को नीचा कर्म माना जाता है उस समाज का पतन होता है। हमारी दुर्गति हुई है और हो रही है। इन वर्णों के सिवा जातियाँ और उपजातियाँ हैं। ब्राह्मणों की सौ उपजातियाँ होंगी। इनमें आपस में विवाह-सम्बन्ध नहीं होते। सीमित संख्या में परिवारों में लड़की के लिए पति खोजा जाने लगा, तो पति वह चीज हो गया, जिसकी बाजार में कमी है। तो बाजार के नियम से मुनाफाखोरी होने लगी। यही दहेज है। अगर वर्ण और जातियाँ टूट जायें तो एक लड़की के लिए दो मुहल्लों में विभिन्न जातियों के दस वर मिल जायेंगे। तो दहेज भी नहीं लगेगा, क्योंकि खले बाजार में माल बहुत है।

इसी तरह इससे गम्भीर भेद, वर्ग-भेद है। पूंजीवादी समाज में दो वर्ग होते हैं—सर्वहारा और पूंजीवादी। समाजवाद में जातिगत और वर्गगत भेद मिटते हैं। कार्ल मार्क्स ने लिखा है—समाजवाद व्यवस्था में जो आदमी सुबह सड़क पर झाड़ू लगायेगा, वह शाम को दर्शनशास्त्र पर बात भी करेगा।

रायपुर से रमेशकुमार पंजवानी

प्रश्न—आपने लिखा है कि मैगसेसे पुरस्कार अमेरिकापरस्तों को दिया जाता है। ऐसे कौन-कौन से पुरस्कार हैं जो सोवियतपरस्तों को दिये जाते हैं ?

☐ 'सोवियतपरस्तों' को दिया जानेवाला पुरस्कार मैं कोई नहीं जानता। सोवियत रूस एक पुरस्कार देता है—सोवियतलैण्ड नेहरू पुरस्कार। यह केवल भारतीयों के लिए है। यह अच्छी कलाकृति, पुस्तक, कविता पर अथवा शान्ति के लिए काम करने पर दिया जाता है। दूसरा है—लेनिन शान्ति पुरस्कार। यह अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार है। यह विश्वशान्ति के लिए कार्य करनेवाले व्यक्ति को

दिया जाता है। या उस व्यक्ति को दिया जाता है, जिसकी रचना, कार्य या आविष्कार से मानव-जाति का कल्याण होता है। ये पुरस्कार साम्प्रदायिक दंगा करानेवालों को तो दिये नहीं जायेंगे। सन्त भिण्डरावाला को भी नहीं दिये जायेंगे। असमं में नरसंहार की योजना बनानेवाले नेताओं को भी नहीं दिये जायेंगे। तो जिन्हें दिये जाते हैं उन्हें आप सोवियतपरस्त कहेंगे। मगर एक उदाहरण देता हूँ। विष्णु प्रभाकर को उनकी कृति 'आवारा मसीहा' पर जो शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय की जीवनी है, सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार मिला। पर विष्णु प्रभाकर शुद्ध गाँधीवादी हैं।

सिल्हाटी से हरीशकुमार वैष्णव

प्रश्न—सोवियत फिल्म समारोहों में राजकपूर की अश्लील फिल्म 'सत्यं शिवं सुन्दरम' दिखायी जाती है, हाल ही में नयी दिल्ली में भारत सोवियत सहयोग की रजत जयन्ती समारोह में अमिताभ शामिल थे, उनकी बहुत घटिया फिल्म 'मुकद्दर का सिकन्दर' दिखायी गयी। क्या रूसी अपनी नीतियाँ, विचारधारा छोड़ बैठे हैं?

☐ 'सत्यं शिवं सुन्दरम' अत्यन्त भद्दी, मूर्खतापूर्ण, अर्थहीन घटिया फिल्म है। पर रूस में राजकपूर की अभिनेता के रूप में बहुत प्रतिष्ठा है। यह प्रतिष्ठा 'आवारा' से बनी थी। फिर बढ़ी। फिर राजकपूर के 'सोर्स' हैं, तो इस घटिया फिल्म को घुसेड़ दिया। मगर राजकपूर को अभी भी समझ नहीं आयी, इसकी दाद दीजिए। अमिताभ राजीव गाँधी के दोस्त हैं। वे फिल्म समारोह के अधिकारियों के सिर पर कोई भी कचरा डाल सकते हैं। अधिकारी डरते हैं।

मगर इसे छोड़िए। इस पर ध्यान दीजिए कि ऐसी फिल्में मर चुकीं। उनके दिन गये। अब ठोस सामाजिक यथार्थवाली, अर्थवती, सुरुचिपूर्ण फिल्में बनती और चलती हैं। मृणालसेन, श्याम बेनेगल, उत्पलदत्त, आदि प्रबुद्ध और प्रतिबद्ध निर्देशक हैं। ये विचारों से यथार्थवादी और वामपन्थी हैं। वह अपढ़ डायरेक्टर और बन्दर एक्टर का जमाना गया। राजकपूर अपने दम पर राजकपूर नहीं बने, वे ख्वाजा अहमद अब्बास-जैसे बुद्धिजीवी मार्क्सवादी के सहारे राजकपूर बने। वरना राजकपूर जिन्दगी-भर 'एक्सट्रा' बने रहते। उचक्के का रोल करते रहते।

करगीरोड से राजेश त्रिवेदी

प्रश्न—भारतीय कार्टूनिस्ट विदेशियों के बड़े विकृत कार्टून बनाते हैं। हाल ही में अबू ने जयवर्द्धन को ड्रेकुला बनाया था। फिर विदेशी कार्टूनिस्टों को भारतीय नेताओं के विरुद्ध पूर्वाग्रही क्यों कहा जाता है?

☐ जयवर्द्धन ने एक योजना के अन्तर्गत अमेरिकी कूटनीति के तहत, तमिलों का संहार कराया। लंका के दंगे आकस्मिक नहीं थे, योजनाबद्ध थे। ऐसे जयवर्द्धन को अबू अब्राहम ने 'ड्रेकुला' बनाया तो कुछ गलत नहीं किया। विदेशी कार्टूनिस्टों से आपका मतलब पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के कार्टूनिस्टों से है। ये कार्टूनिस्ट भारतीय नेताओं का मजाक उड़ाते हैं, तो कोई एतराज की बात नहीं है। इनका पूर्वाग्रह यह है कि ये अभी भी भारत को चश्मे से देखते हैं। ये भारत को

जानना नहीं चाहते। अपने अज्ञान में ये भारत का वही रूप जानते हैं जो अँगरेज साम्राज्यवादियों ने बदनाम करने के लिए फैला रखा था। पश्चिम के कुछ अखबार स्वतन्त्र भी हैं, मगर ज्यादातर पूंजीवाद-साम्राज्यवाद समर्थक। ये भारत की शान्ति, गुटनिरपेक्षता, समाजवादी खेमे से मित्रता की नीति को नापसन्द करते हैं। इसलिए दुराग्रह से ग्रस्त होकर ये हमारे नेताओं को चित्रित करते हैं।

पर भारतीय कार्टूनिस्ट भी तो इन नेताओं का मजाक उड़ाते हैं। यह कोरा मजाक नहीं होता, राजनैतिक अर्थपूर्ण व्यंग्य होता है। व्यंग्य लेखक भी भारतीय नेताओं का विद्रूप पेश करते हैं। भारतीय नेताओं का जितना विद्रूप मैंने बनाया है उतना यूरोप-अमेरिका के सारे कार्टूनिस्टों ने मिलकर नहीं बनाया।

रायपुर से एस. के.

प्रश्न—गाँधी का परिवार गोडसे के परिवार से सम्बन्ध क्यों रखे हुए है? गोपाल गोडसे के दत्तकपुत्र का कहना है कि गाँधी के पोते उनके (नाथूराम के) घर आ चुके हैं, जहाँ आज भी गोडसे की पूजा होती है, और वे गाँधीजी के घर जा चुके हैं...

☐ जरूरी नहीं है कि गाँधीजी के विचार, उनके पोते और परपोते भी मानें। अगर आपकी बात सही है तो यही कहना चाहिए कि गाँधीजी के पोते अपने पितामह के हत्यारे को माफ कर चुके। दूसरी बात यह है कि पोतों को राजनैतिक समझ न हो। पर यह बात मेरी भी समझ में नहीं आती कि गाँधीजी के पोतों को गोडसे परिवार से ही अच्छे सम्बन्ध बनाने की क्यों जरूरत पड़ी।

मुंगेली से भागचन्द आर्य

प्रश्न—भाजपा और लोकदल मिलकर कब तक चलेंगे?

☐ जब तक चरणसिंह को आगामी प्रधानमन्त्री माना जायेगा।

18 सितम्बर, 1983

यह पोप की चालाकी है

शहडोल से सूरज प्रसाद

प्रश्न—आज की राजनीतिक स्थितियों को देखते हुए अगले आम चुनाव में आपको किस दल की सरकार दिखती है?

☐ दक्षिणपन्थी दल इस समय घोर गैर-जिम्मेदारी का बर्ताव कर रहे हैं। लगता है दक्षिणपन्थी नेता ज्ञान, विवेक, नैतिक दायित्व सब खो चुके हैं। लगता

है, होश भी खो चुके। एक व्यक्ति इन्दिरा गाँधी को हटाना उद्देश्य, विचारधारा, सिद्धान्त मानना मूर्खता है। 'गैर-कांग्रेसवाद, 1967 में डॉ. लोहिया ने चलाया था। अन्धों की तरह उसी पर ये नेता चल रहे हैं। इनमें एकता भी नहीं है, क्योंकि हर एक को प्रधानमन्त्री होने की इच्छा है।

मुझे शंका है, निराशा में ये दल चन्द्रशेखर को दूसरा जयप्रकाश नारायण बनाकर कहीं दूसरी सम्पूर्ण क्रान्ति न शुरू कर दें। ये दक्षिणपन्थी दल मिलकर भी देश का शासन नहीं कर सकते। कम्युनिस्ट पार्टियाँ जिम्मेदार और विचारवान हैं। उनमें 10 योग्य प्रधानमन्त्री निकल सकते हैं। पर निकट भविष्य में कम्युनिस्ट सरकार बनने की सम्भावना नहीं है। अगर हालत ऐसी ही रही तो 1985 में सरकार कांग्रेस की ही बनेगी।

रायपुर से प्रकाश अग्रवाल

प्रश्न—पिछले कुछ वर्षों से घिसी हुई जीन्स पहनने का फैशन चल पड़ा है, लोग अच्छे कपड़े क्यों नहीं पहनते ?

☐ अमेरिका में आवारा लड़के घिसी हुई जीन्स पहनने लगे होंगे। उसी की नकल इस देश के लड़के कर रहे होंगे। ये गरीब घरों के लड़के नहीं होंगे। अच्छे खाते-पीते घरों के होंगे।

साल्हे से भोलाराम नेताम

प्रश्न—कलियुग में धन और धर्म में से किसकी विजय हो रही है ?

☐ युग का यह बँटवारा गलत है। कोई सतयुग-जैसा नहीं था। और न यह कोई कलियुग है। मनुष्य निरन्तर विकास करता गया है। इस समय दुनिया के एक हिस्से में पूंजीवादी युग चल रहा है, एक हिस्से में समाजवादी युग और तीसरे हिस्से में गरीबों का विकासशील युग। पूंजीवाद में धन की सत्ता है। समाजवाद में मानवता की प्रतिष्ठा है, तीसरा हिस्सा संघर्ष करते-करते अन्ततः समाजवादी हो जायेगा। जहाँ तक धर्म का सवाल है वह कर्मकाण्ड और ढोंग है, जिसके डर से शोषण किया जाता है।

कोरबा से मृगनयनी

प्रश्न—आजकल राजनेता असन्तुष्ट रहने के बाद भी महीनों, बरसों पद से चिपके रहते हैं और जब मजबूरी में पद छोड़ना है तो ढेरों सिद्धान्तों की बात करते हैं। क्या इनके इस दोगलेपन की सामाजिक निन्दा नहीं हो सकती ?

☐ इन नेताओं के दोगलेपन की खूब निन्दा होती है—अखबारों में, सभाओं में, साहित्य में, बातचीत में। पर इन पर कोई असर नहीं होता। चिकित्सा विज्ञान में इसे 'इम्युनिटी' कहते हैं। यानी आदमी में रोग निरोध की शक्ति होना। बीमारियों की रोक के लिए इन्जेक्शन लगाये जाते हैं।

इन लोगों ने बेशर्मी के इन्जेक्शन लगवा लिये हैं, जिससे शर्म के रोगाणु इन पर असर नहीं करते।

जगदलपुर से सनत श्रीवास्तव

प्रश्न--युवक कांग्रेस का एक प्रतिनिधिमण्डल चीन गया है। कांग्रेस की जैसी नीतियाँ, आचरण हैं, उनके रहते क्या एक कम्युनिस्ट देश की यात्रा इनके लिए लाभदायी होगी ?

☐ चीन की युवा संगठन समिति ने युवक कांग्रेस के प्रतिनिधिमंडल को बुलाया है। कम्युनिस्ट देश जाने में कांग्रेसी को क्या डर लगता है। चीन से भारत सरकार और जनता सम्बन्ध सुधारना चाहते हैं। ये सम्बन्ध क्या दूर-दूर रहने से अच्छे होंगे ? कम्युनिस्ट देश रूस भी है जिससे हमारी मैत्री-सन्धि है। कई तरह की सहायता हम रूससे लेते हैं। कई कांग्रेसी मन्त्री रूस जाते रहते हैं। घोर कम्युनिस्ट-विरोधी अटलबिहारी वाजपेयी भी रूस और चीन हो आये हैं, पर वे बीमार नहीं पड़े।

बसना से शरद कुमार वर्मा

प्रश्न—हाल ही में एक फिल्म 'बाजार' में एक शायर का चरित्र दिखाया गया है। वह जिसके पैसे की दारू पीता है उसे ही गाली बकता है। क्या आजकल साहित्यकारों का एक बड़ा वर्ग ऐसा ही खोखला नहीं हो गया ?

☐ 'बाजार' वाले शायर की तरह आपने कितने साहित्यकार देखे हैं ? आप छत्तीसगढ़ के साहित्यकारों से मिले होंगे। क्या वे ऐसे ही दारू पीकर गाली बकते हैं। इस अखबार के सम्पादक भी बहुत अच्छे कवि हैं। उनसे मिलिए। देखिए, वे कैसे हैं। साहित्यकारों का बड़ा वर्ग ठोस है। कुछ साहित्यकार होंगे जो गैर-जिम्मेदार हैं, समाज के प्रति कोई दायित्व नहीं मानते, आत्मकेन्द्रित हैं। ये जरूर खोखले हैं। फिल्मों में झूठ और मूर्खताएँ भी तो होती हैं।

कांकेर से सुनील यादव, सतीश यादव

प्रश्न—जब गरीब आदमी शराब पीता है तो लोग उसे शराबी कहते हैं, लेकिन अमीर के लिए शराब 'शौक' की चीज होती है। ऐसा क्यों ?

☐ यह एक विकृत सामाजिक मान्यता है, जो ऊँचे वर्ग ने ही फैलायी है। शराब पीना कोई जरूरी नहीं है। बहुत लोग नहीं पीते। मगर पीना भी कोई गुनाह नहीं है।

बड़ा आदमी पीकर बंगले के भीतर ऊधम करता है। गरीब आदमी पीकर सड़क पर ऊधम करता है। पीते दोनों हैं। मगर बदनाम गरीब होता है।

खैरागढ़ से अतुल कुमार

प्रश्न--बड़े-बड़े बँगलों में तख्ती लगा होना 'कुत्तों से सावधान' क्या भारतीय अतिथि परम्परा के विरुद्ध नहीं ?

☐ भई इसमें अतिथि का भला ही है। तख्ती सावधान कर देती है कि बँगलों में भयानक कुत्ते हैं। इसलिए बचकर आओ। या फाटक पर से चिल्लाकर मकान-मालिक को बुलाओ। कुत्ते रक्षा के लिए रखे जाते हैं।

पर कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें कुत्ते पालने की जरूरत नहीं है। वे खुद ही अलसे-

शियन होते हैं। किसी तख्ती को देखकर ऐसा लगता है कि बँगलों में रहनेवाले कुत्ते हैं। उनसे सावधान रहना चाहिए।

नन्दिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—मनुष्य को एक-दूसरे की निन्दा करने में क्या मिलता है?

☐ जिस मनुष्य में हीनता की भावना होती है, वह दूसरे की निन्दा करके उसे हीन सिद्ध करके अपनी हीनता से छुटकारा पाने की कोशिश करता है। निन्दा ओछी प्रवृत्ति है। यह आत्मा की बीमारी है। परनिन्दा में बहुत लोगों को बड़ा रस मिलता है। दूसरे बुरे हैं, हीन हैं, यह अनुभव कर वे अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। निन्दक नीच और कायर होता है। वह आदमी के सामने वे बातें कहने का साहस नहीं करता, जो पीठ-पीछे कहता है। कुछ ऐसे क्षुद्र होते हैं कि उनके पास निन्दा के सिवा कोई विषय नहीं होता। निन्दा निन्दक का नुकसान करती है। एक लेखक हैं, वे भगवान की स्तुति की तरह नियम से मेरी घण्टों निन्दा करते हैं। इतने मनोयोग से साहित्य नहीं लिखते। इसलिए निन्दा में पारंगत हो गये हैं, मगर साहित्य में घटिया रह गये। वे भीतर से खोखले हो गये हैं।

दुर्ग से दिलीप थावाईत

प्रश्न—धर्म, श्रमिक वर्ग के सदा खिलाफ रहा, पोप ने पोलैण्ड में श्रमिकों के पक्ष में बयान कैसे दिये?

☐ पोलैण्ड में कैथलिक धर्म का बहुत प्रभाव है। वर्तमान पोप भी पोलैण्डवासी हैं। पोलैण्ड के निवासियों ने क्रान्ति के द्वारा साम्यवाद की स्थापना नहीं की थी। दूसरे महायुद्ध में पोलैण्ड के एक भाग में जर्मन फौज थी और दूसरे भाग में रूसी फौज। नाजियों की हार के बाद पोलैण्ड में साम्यवादी सरकार बनी। पर क्रान्ति की प्रक्रिया से न गुजरने के कारण जनता की शिक्षा-दीक्षा नहीं हुई।

फिर पोलैण्ड की अर्थव्यवस्था ठीक ढंग से विकसित नहीं हुई। पोलैण्ड पर बहुत विदेशी कर्ज हो गया।

पोलैण्ड में रोटी और गोश्त की भी कमी हो गयी। तब लेक वलेसा के नेतृत्व में मजदूरों का तीव्र आन्दोलन हुआ। यह आन्दोलन साम्यवादी सरकार के विरुद्ध था, इसलिए पश्चिम के पूँजीवादी देशों ने इसे खूब प्रोत्साहन दिया। तब पोलैण्ड में फौजी सरकार बनी। पर इस सरकार ने एक भी गोली नहीं चलायी। अर्थव्यवस्था सुधारी। मजदूरों से बातचीत की। अब मार्शल ला उठा लिया गया है और हालत अच्छी है।

पोप घोर साम्यवाद-विरोधी हैं। उन्होंने मजदूरों के पक्ष में भाषण इसलिए दिया कि वे साम्यवाद से लड़ें। यह पोप की श्रमिकों के प्रति सहानुभूति नहीं है, चालाकी है। क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग के पोप कट्टर विरोधी हैं।

कांकेर से विजयकुमार यादव

प्रश्न—द्रौपदी अपने बहादुर पतियों के साथ रहते हुए भी हमेशा दुर्दशा का शिकार क्यों हुई?

☐ एक कारण तो यह है कि उसके पतियों को अच्छा जुआ खेलना नहीं आता था। वे वीर की अपेक्षा उस्ताद जुआड़ी होते तो द्रौपदी सुखी रहती।

ऐतिहासिक कारण है—कुरु और पाण्डु का एक कुलराज्य था। उसका बँटवारा हुआ। महाभारत काल में सामन्तवाद विकसित होते-होते पूर्णता को पहुँच रहा था। इसमें 'डाइनेस्टी' सत्ता चल गयी थी। राजा के बेटे का राज होगा, पूरे कुल का नहीं। इसलिए पाण्डवों का राज्य दुर्योधन ने जुआ से छीना। राज्य प्राप्त करने के बाद में पाण्डवों ने कौरवों से युद्ध किया। अति प्राचीन काल में गोत्र और कुल के व्यक्ति को मारना वर्जित था। अर्जुन की यही झिझक थी। पर कृष्ण जानते थे कि कुल राज्य का युग बीत गया। इसलिए उन्होंने महाभारत के परिवार के लोगों को परस्पर मरवाया। भाई ने चचेरे भाई को मारा, मामा को मारा, गुरु को मारा। सामन्ती संघर्षों के कारण द्रौपदी दुखी रही।

7 सितम्बर, 1983

मन्त्रियों के मरने पर छुट्टी हास्यास्पद

दुर्ग से विजय किशोर तिवारी

प्रश्न—गाय को गौमाता कहा जाता है लेकिन उतना ही अच्छा दूध देनेवाली भैंस को हिकारत की नजर से देखा जाता है, ऐसा क्यों?

☐ प्राचीन आर्यों के बन्धन में पहले गाय ही आयी, वह भी बड़ी मुश्किल से। उन्होंने उसका दूध पिया। बच्चा माँ का दूध पीता है। इसलिए जिसका दूध पिया उसे माँ कहने लगे। भैंस बहुत बाद में नियन्त्रण में आयी। वह ज्यादा ताकतवर और आक्रामक थी। उसका दूध भी पीने लगे। मगर माँ गाय को ही मानते रहे। अगर आर्य भैंस पहले पाल लेते तो भैंस माँ कहलाती।

मगर इस माँ—गाय—ने कितने दंगे करवाये हैं। असंख्य आदमी मरवाये हैं। अभी भी गाय के दंगे होते जाते हैं। गाय को माँ मानने से साँड पिता हो गया और गौभक्तों में साँडपन और उसी की अक्ल आ गयी।

सहसपुर लोहारा से सुनील श्रीवास्तव

प्रश्न—पहले फिल्म समाप्त होने पर पर्दे पर झण्डा दिखाया जाता था, राष्ट्रगीत भी होता था, अब क्यों नहीं होता? क्या अब राष्ट्रभक्ति अप्रासंगिक हो गयी या भारतीय सचमुच बड़े गैर-जिम्मेदार हैं?

☐ मुझे 1947 से याद है। सिनेमा के पर्दे पर राष्ट्रध्वज दिखाया जाता था और राष्ट्रगीत होता था। शुरू-शुरू में लोग अनुशासित नहीं थे। कुछ खड़े नहीं होते थे, कुछ बतियाते थे। पर धीरे-धीरे अनुशासन आ गया था। फिल्म के पर्दे पर

राष्ट्रध्वज दिखाना तथा राष्ट्रगीत सुनाना--नयी स्वाधीनता के अति उत्साह का प्रदर्शन था। सारे देशों में राष्ट्रध्वज राजकीय या सार्वजनिक इमारतों पर लहराता है। राष्ट्रगीत केवल राजकीय कार्यक्रम के अवसर पर गाया जाता है। विशिष्ट आयोजनों में भी यह होता है। सिनेमा में यह बन्द हो गया, सो ठीक हुआ।

पाटन से राजेन्द्रकुमार वर्मा

प्रश्न—क्या हमारे देश में भी जापान की तरह काम के घण्टों के बाद प्रतीकात्मक हड़ताल नहीं की जा सकती? भारत में तो हर ऐरे-गैरे के मरने पर भी छुट्टियाँ बढ़ती ही जा रही हैं···।

☐ जापान का ट्रेड यूनियन आन्दोलन दूसरे प्रकार का है। वहाँ की ट्रेड यूनियनें क्रान्ति में विश्वास नहीं करतीं। उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था पूरी तरह अपना ली है। मगर यह भी सही है कि बहुत सारे उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में यानी सरकारी हैं। वहाँ ट्रेड यूनियनों के दो उद्देश्य हैं—राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाना और मजदूरों के हितों की रक्षा करना। इसीलिए काम के घण्टों में पूरा काम करके जापान के मजदूर माँगों के लिए प्रतीकात्मक प्रदर्शन करते हैं। जापान में मजदूरों की काम के प्रति निष्ठा है, जो भारत में नहीं है। पर जापान में मजदूरों की आर्थिक हालत भारत के मजदूरों से बहुत बेहतर है। वहाँ के मालिक भी समझदारी से काम लेते हैं और मजदूरों को उचित सुविधाएँ देते हैं। समझौते की एक विधि उन्होंने बना ली है।

पर भारत में जब तक मजदूर काम ठप्प न कर दें, मालिक और मैनेजमेण्ट ध्यान ही नहीं देते। इसलिए यहाँ हड़तालें काम के घण्टों में होती हैं। यह सही है कि सार्वजनिक उद्योग क्षेत्र के मजदूर—जो उनका अपना है--ईमान से काम नहीं करते।

आपकी दूसरी बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ। हमारे देश में बड़े, मझोले, छोटे, पीढ़ी दर पीढ़ी नेता के मरने पर छुट्टी हो जाती है—'शोक' में। शोक किसी-किसी की मृत्यु पर ही होता है—जैसे जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु पर। दूसरे छुटभैयों या बड़े भैयों के मरने पर दफ्तर, कॉलेज, स्कूल में तालियाँ बजती हैं कि आज छुट्टी हो गयी। इससे नेताओं की उम्र घटती है। अपने शहर के खास नेता को कर्मचारी और छात्र इस आशा से देखते हैं कि ये मरेंगे तो छुट्टी होगी। इतने लोगों की आत्मा की इच्छा से वे जल्दी मर जाते हैं।

ये छुट्टियाँ नहीं होनी चाहिए। इनसे काम का बहुत नुकसान होता है। साल में एक दिन तय कर लें, जिस दिन मरनेवालों की लिस्ट छाप दी जाय, पढ़ दी जाए और छुट्टी हो जाय। जिन मन्त्रियों के भ्रष्टाचार की रिपोर्ट रोज अखबारों में छपती है, उनके मरने पर उनके 'शोक' में छुट्टी हो—कैसी हास्यास्पद बात है।

रायपुर से अनिता गुप्ता

प्रश्न—ऐसी चर्चा है कि श्रीमती गाँधी को इस वर्ष का नोबल शान्ति पुरस्कार दिलाने की कोशिश की जा रही है। क्या वे इसकी हकदार हैं?

□ इन्दिरा गाँधी शान्ति के लिए नोबल पुरस्कार के योग्य तो हैं। समाजवादी देशों में तथा गुटनिरपेक्ष देशों के साथ मिलकर उन्होंने लगातार कई सालों से शान्ति के लिए काम किया है। नेहरू की नीति को आगे बढ़ाया है। पर उन्हें स्वीडिश अकादमी शान्ति पुरस्कार नहीं देगी। यह अकादमी पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के दबाव में है। अमेरिकी गुट इन्दिरा सरकार की विदेश नीति से बहुत नाराज है। इन्दिराजी खुलकर अमेरिकी 'नवसाम्राज्यवाद' के खिलाफ हैं। वे पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका की शोषण की नीति की कटु आलोचक हैं। वे सोवियत रूस की शान्ति तथा स्वाधीनता की नीतियों के समर्थक हैं। इसलिए इन्दिरा गाँधी को शान्ति का पुरस्कार नहीं दिया जायेगा। सिर्फ हथियारों की भाषा बोलनेवाले और दुनिया-भर में आणविक अस्त्रों को बिछाये राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन को शायद शान्ति पुरस्कार दिया जाय।

नन्दिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—जॉर्ज फर्नांडिज कहते हैं कि भारत में भी साझा सरकार चल सकती है। उनका इशारा किस तरफ है?

□ साझा सरकार यानी 'कोलीशन गवर्नमेण्ट'। हाँ, चल सकती है। फ्रान्स में इस समय समाजवादियों और साम्यवादियों की साझा सरकार है। साझा सरकार वहाँ चलती है जहाँ सिर्फ दो प्रमुख पार्टियाँ हों—जैसे ब्रिटेन, फ्रांस में। इन पार्टियों का निश्चित कार्यक्रम होता है। सिद्धान्त होते हैं। साझे में दोनों को स्वीकार कर कार्यक्रम चलते हैं। पर भारत में 15-20 पार्टियाँ हैं। इनमें 15 तो सिर्फ नेता हैं। जगजीवनराम की कांग्रेस (जे) है। इसके सदस्य कितने हैं? कोई सदस्य नहीं है। भारत में साझा सरकार बनेगी तो उसमें बड़ी हिस्सेदार इन्दिरा कांग्रेस होगी। क्या जॉर्ज यह स्वीकार करेंगे? भारत में एक पार्टी की सरकार अगर नहीं बनी तो फिर 1977 में बनी 'जनता पार्टी सरकार' जैसी ही बनेगी। अविश्वास के प्रस्ताव के विरोध में जनता पार्टी के पक्ष में सबसे अच्छा भाषण लोकसभा में जॉर्ज फर्नांडिज ने ही दिया था। इस भाषण में जनता पार्टी को सक्षम, श्रेष्ठ, कर्मशील, ईमानदार और आदर्श पार्टी जॉर्ज ने सिद्ध किया था। मगर इसी अपनी आदर्श जनता पार्टी को जॉर्ज ने चौबीस घण्टे बाद छोड़ दिया और चरणसिंह से मिलकर पार्टी हीं तोड़ दी। इस राजनैतिक ईमानदारी के कारण छत्तीसगढ़ के लोग जॉर्ज से पूछें? आखिर चौबीस घण्टों में ऐसा क्या रहस्यात्मक चमत्कार हो गया था कि जॉर्ज एकदम बदल गये।

जॉर्ज जैसे लोगों के साथ प्रतिष्ठित राजनैतिक दलों की साझा सरकार तो क्या, जेबकतरों की साझा सरकार भी नहीं चल सकती!

रायगढ़ से विनोदकुमार गुप्ता

प्रश्न—पति के हजार अवगुण पत्नी अपने में समेट लेती है लेकिन पत्नी का एक भी अवगुण पति बर्दाश्त नहीं कर पाता। ऐसा क्यों ?

☐ आपको अनुभव और करना चाहिए। मैंने ऐसे कई पति देखे हैं जो पत्नियों के बहुत अवगुण सहते हैं। पत्नी से पिटते तक हैं पर परिवार नहीं तोड़ते। मैंने ऐसे पति देखे हैं जो पत्नी के प्रेमी को अपने घर ले जाते हैं, उसे खिलाते-पिलाते हैं। ये पति पौरुष में कम नहीं होते। वे चाहते हैं, पत्नी अपने प्रेमी को मेरे साथ स्नेहपूर्वक बैठकर खाते-पीते देखकर प्रसन्न हो। इससे परिवार में प्रसन्नता रहे। मनुष्य स्वभाव और भावना बहुत जटिल होते हैं। कर्कश पत्नियों को पति निभा लेते हैं।

पर आपका यह मत सही है कि पति अपने को श्रेष्ठ मानकर, पत्नी का पालक मानकर, उसे सेविका समझकर उसके अवगुण कम बर्दाश्त करता है। इस मामले में स्त्री बहुत अधिक सहनशील होती है।

18 सितम्बर, 1983

ऋषि ज्यादा पी गये होंगे

नवापारा राजिम से तेजा जैन गदिया

प्रश्न—दुनिया का ठुकराया, प्यार का मारा इन्सान अन्त में थककर शराब का सहारा क्यों लेता है ?

☐ शराब स्नायुतन्त्र को शक्ति देती है। चेतना को दबाती है। साहस देती है। इसलिए दुखी आदमी कुछ समय के लिए दुख भूल जाता है। स्नायु की दृढ़ता और साहस के लिए आदिकाल से मादक द्रव्य का सेवन किया जाता है। सामवेद पढ़िए। उसमें 64 श्लोक 'सोमरस' की प्रशंसा और स्तुति में हैं। सोम-रस मदिरा होता था। ऋषियों ने ऐसी बातें कही हैं—हे सोम, तू मेरी स्नायु में प्रवेश कर उसे दृढ़ बना। मुझे इतनी शक्ति दे कि मैं पृथ्वी को हथेलियों से मसल दूं।

इससे लगता है, ऋषि कुछ ज्यादा पी गये होंगे।

डोंगरगाँव से रोहिणी कुमार वैष्णव

प्रश्न—क्या आप भूत-प्रेतों पर विश्वास करते हैं ?

☐ भूत-प्रेत नहीं होते ! जो नहीं है, उस पर विश्वास क्यों करूँ ? मैं आप

पर विश्वास करता हूँ, जो है। किसी ने आज तक दुनिया में कहीं भी एक भी भूत पकड़कर विज्ञान की प्रयोगशाला में पेश नहीं किया, जिससे वैज्ञानिक उसका परीक्षण कर सकें। आपका विश्वास हो तो एक भूत पकड़कर रायपुर के मेडिकल कॉलेज को दे दीजिए।

भिलाई से बी. के. बैनर्जी

प्रश्न—'न्यूडिस्ट कैम्प' के पीछे किस तरह की मानसिकता काम करती है?

☐ आप शायद पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका के 'न्यूडिस्ट कैम्पों' की बात कर रहे हैं। पश्चिमी सभ्यता सम्पन्नता की फूहड़ता से मस्त है। जीवन-मूल्यों का बहुत पतन हुआ है। जब मुनाफे के, शोषण के आपसी व्यवहार में, रिश्तों में नंगापन आ गया है, तो कपड़े उतारने में क्या हर्ज है। वहाँ नंगापन सभ्यता की विकृति की प्रतिक्रिया है।

पर सबसे प्राचीन 'न्यूडिस्ट-क्लब' तो भारत में है। नागा साधुओं की जमात आपने देखी होगी। नंगे जैन मुनि भी देखे होंगे। ये जगत को मिथ्या, सारहीन मानकर कपड़े का आवरण भी त्याग देते हैं। नंगई में भारतीय किसी से कम नहीं हैं।

रायपुर से अनुराग श्रीवास्तव

प्रश्न—मोरारजी को सी. आई. ए. एजेन्ट कहते हैं पर जो लोग हल्ला मचा रहे हैं वे पदच्युत इन्दिरा पर मोयनिहन द्वारा आरोप लगाये जाते समय कहाँ थे?

☐ जब इन्दिराजी और कांग्रेस पर सी. आई. ए. से पैसा लेने के आरोप मोयनिहन ने लगाया था, तब हल्ला कांग्रेसवालों को मचाना था। पर वे हार के घाव चाट रहे थे। दूसरा कारण था मोयनिहन ने लिखा था कि यह पैसा केरल में नम्बूदरीपाद की कम्युनिस्ट सरकार को गिराने के लिए दिया गया था। दक्षिण-पन्थियों की नजर में यह पवित्र कार्य था और सी. आई. ए. का धन भगवान का प्रसाद था। साम्यवाद के विरोध में इन्दिराजी, अटलबिहारी, चरणसिंह, मधु दण्डवते, मोरारजी, सब भाई-भाई हैं। 1958 में इन्दिराजी ने बहुत धाँधली, अनैतिकता, असंवैधानिकता से कम्युनिस्ट सरकार गिरायी थी। पण्डित नेहरू इससे क्षुब्ध थे।

बिलासपुर से आकाश शर्मा

प्रश्न—आपके खयाल से फाँसी देनी चाहिए या नही?

☐ मेरे विचार से फाँसी नहीं देनी चाहिए। सज़ा चार तरह की होती है—अपराध रोकनेवाली सजा, उदाहरण के लिए सज़ा, सुधारने के लिए सज़ा और बदले की सज़ा। फाँसी की सज़ा बदले की सज़ा है। असभ्य समाज में यह न्याय हजारों साल पहले था—ए टूथ फार ए टूथ एण्ड एन आई फार एन आई। इतनी फाँसियाँ होती हैं, मगर हत्याएँ रुकती नहीं। याने फाँसी का अपराध रोकनेवाला या उदाहरण देनेवाला उद्देश्य पूरा नहीं होता। आवेश और साजिशवाली योजना-

बद्ध हत्याओं में कानून फर्क करता है। फाँसी देने से अपराधी मर जाता है। अगर वह आदतन अपराधी है तो इससे और अपराध वह नहीं कर सकेगा। अगर आवेश में हत्या की है—जैसे पत्नी को दूसरे पुरुष से सम्भोग करते देखे—तो वह आदतन अपराधी नहीं है। वह स्त्री की यौन-पवित्रता की परम्परागत भावना के वशीभूत हत्या करता है। जो आदतन अपराधी नहीं है, उसे फाँसी की सजा कतई नहीं देनी चाहिए। अब जैसे करतारसिंह और उजागरसिंह, जिन्होंने पैसे लेकर विद्या जैन की हत्या की। यह इनका धन्धा है। बाहर रहे तो पैसे लेकर और हत्या करेंगे। इन्हें लम्बी सजा देकर जीवन-भर जेल में रखना चाहिए। ये वहीं स्वाभाविक मौत मरें। एक सवाल और है। जिसे मारा उसे कितनी देर पीड़ा हुई। कनपटी में गोली मारी जाय तो कुछ क्षण दर्द होता है। पर फाँसी के इन्तजार में और फन्दे पर लटकने में यातना का समय बहुत लम्बा होता है। फाँसी बर्बर है। पश्चिम के देशों में 'इलैक्ट्रिक चेअर' या पोटेशियम साइनाइड की गैस से एक क्षण में जान ले ली जाती है। हम भी ऐसा कर सकते हैं।

रायपुर से एस. के.

प्रश्न—मीनू मसानी, लाइलाज मरीजों को स्वैच्छिक मृत्यु का हक देने के लिए आन्दोलन चला रहे हैं, क्या ऐसा होना चाहिए ?

□ इस तरह से 'मर्सीकिलिंग' का आन्दोलन यूरोप में बहुत पहले से चल रहा है। कुछ घटनाएँ भी हुई हैं, जब मरीज की यातना देखकर नर्स या डाक्टर ने उसे इंजेक्शन देकर मार डाला। मनुष्य में जिजीविषा सबसे प्रबल भावना होती है। पर कभी-कभी जब मनुष्य क्षण-क्षण मृत्यु-पीड़ा भोगता हुआ, शरीर से जीवित रहता है, तब वह उस चेतना को समाप्त कर देना चाहता है जिससे पीड़ा की अनुभूति होती है। वह आत्महत्या कर लेता है। कैंसर के मरीज बिजली के तार पर हाथ रखकर मरने की कोशिश करते पाये गये हैं।

पर स्वैच्छिक मृत्यु और दयावश हत्या में कई प्रश्न उठते हैं— नैतिक और संवैधानिक। कौन तय करेगा कि रोगी निश्चित मर जायेगा। यदि डाक्टरों पर यह निर्णय छोड़ दिया जाये तो स्वस्थ हो सकनेवाले आदमी की हत्या भी होने लगेगी। मरीज क्या लिखकर देगा कि मैं मार डाला जाऊँ? उसके यह लिख देने पर भी क्या कानून के मुताबिक वह मारा जा सकेगा? हरिविष्णु कामथ ने तो संविधान सभा में प्रस्ताव रखा था कि आत्महत्या को मनुष्य का बुनियादी अधिकार माना जाय। यह मामला विवादास्पद है। मैं नहीं सोचता कि संविधान कभी ऐसी व्यवस्था करेगा।

बाल्कोनगर से हरीराम चौरसिया 'मुन्ना'

प्रश्न—असम में नरमेध का जिम्मेदार आप किसे मानते हैं, आज की गन्दी राजनीति को या किसी और को ?

□ असम के नरसंहार का मुख्य कारण अमानवीय राजनीति है। जो लाखों बांग्लादेशी सस्ते मजदूरों के रूप में असम के ठेकेदारों और जमींदारों ने खुद बुलाये

थे, वे समुद्र में नहीं फेंके जा सकते। यह मानवी समस्या है। असम का आन्दोलन दक्षिणपन्थी राजनैतिक दलों और सी. आई. ए. का है। विशेषकर भारतीय जनता पार्टी याने आर. एस. एस. का। अपार पैसा आन्दोलनकारियों को मिलता रहा है। यह कहाँ से आता है? यह सी. आई. ए. का पैसा है। गौहाटी में, बैंकाक के एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की शाखा है। इससे विदेशी धन आता है। यह सब सी. आई. ए. की योजना से हो रहा है, जिससे देश के कई टुकड़े करना है। अखिल असम छात्र यूनियन पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कब्जा रहा है, यह बात अब खुल गयी है। इसीलिए इस संगठन के दो हिस्से हो गये हैं। पिछले नेल्ली के नरसंहार के कुछ दिन पहले अटलबिहारी वाजपेयी असम में उत्तेजक भाषण दे आये थे। उनके शब्द थे—इतने विदेशी आकर पंजाब में घुस जाते तो पंजाबी उनके टुकड़े-टुकड़े कर देते। इसका मतलब है कि असमी भी बांग्लादेश से आये लोगों के टुकड़े कर दें। इससे अधिक सबूत क्या चाहिए। नरसंहार की योजना संघ ने बनायी थी और हमला कराया था। हमने बेरूत हत्याकाण्ड की खूब निन्दा की। पर अपना मुँह कितना काला है।

खुर्सीपार से अमृत पाल

प्रश्न—आपको देशबन्धु दैनिक पत्र का एहसानमन्द होना चाहिए, क्योंकि रविवार के अंक को रंगीन करके उन्होंने आपका मुँह काला होने से बचा लिया।

☐ आपकी जानकारी के लिए बता दूं कि मेरा चेहरा बहुत गोरा है। फोटो से काला नहीं होता। कर्मों से होता है। मेरा मुँह काला करने या होने की इच्छावाले बहुत लोगों के मुँह काले हो चुके हैं। आप अपने मुँह की सावधानी रखिए।

चकरभाटा कैम्प से डी. आर. नारवानी

प्रश्न—मेरी महबूबा हमेशा चाँद-सितारे तोड़कर ला देने की बात कहती है। मैं क्या करूँ?

☐ आपकी महबूबा बहुत बेवकूफ है। और आप उससे ज्यादा बेवकूफ हैं जो ऐसी बेवकूफ से मुहब्बत करते हैं। मुझे चाँद-सितारे ला दो—यह जब महबूबा कहती है तब उसका मतलब आसमान के चाँद-सितारों से नहीं होता। उसका मतलब होता है कि मेरी ख्वाहिश पूरी कर दो। कुछ साड़ी-वाड़ी, टाप्स, पर्स वगैरह चाहती होगी वह। तो ला दीजिए।

27 अगस्त, 1983

बचपन से ही मिलावट की शिक्षा

नन्दिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—इन्दिराजी फरमाती हैं—यदि भुट्टो हिम्मत दिखाते तो आज जीवित होते। उन्होंने कौन-सी कायरता दिखायी थी ?

☐ इन्दिराजी का यह रिमार्क मैंने नहीं पढ़ा। इन्दिराजी ने इतना जरूर कहा है कि अगर भुट्टो भारत से अच्छे सम्बन्ध कर लेते तो न मारे जाते। उनका मतलब है, भारत लोकतान्त्रिक मित्र देश पाकिस्तान की मदद करता, फौज भी भेज सकता था, जिससे वहाँ सैनिक तानाशाही कायम न होती। भारत भुट्टो और उनकी सरकार के पक्ष में विश्व जनमत भी बनाता।

हिम्मत दिखाने से भुट्टो जीवित रहते। शायद इन्दिराजी का मतलब यह है कि भुट्टो सीधे जनता के बीच जाते, उसका विश्वास प्राप्त करते और बिना गड़-बड़ के चुनाव करवाते। इसके विपरीत भुट्टो फौजी अफसरों से घिरे रहते थे। खुफिया फौज भी थी। वे सबसे अधिक विश्वास जनरल जिया-उल-हक का ही करते थे। भुट्टो की मौत उसी दिन शुरू हो गयी जब उन्होंने चुनावों में बेईमानी कराके जीत हासिल की।

जगदलपुर से दीपक पण्ड्या 'स्वतन्त्र'

प्रश्न—वर्तमान में भारत को कृषि-प्रधान देश कहना उचित होगा या कुर्सी-प्रधान ?

☐ दोनों ही बातें ठीक हैं। कुर्सी-प्रेमियों का कृषि-प्रधान देश है भारत।

डोंगरगढ़ से हरिजन्दर पोल्ले

प्रश्न—मेनका गाँधी के रायपुर आगमन पर आपने उनका भाषण पढ़ा होगा। आपको कैसा लगा एवं उनके भविष्य के बारे में आपका खयाल ?

☐ मेनका गाँधी पर ध्यान देना मैं जरूरी नहीं समझता। राजनीति में वे कुछ नहीं हैं। वे प्रधानमन्त्री की विरोधी बहू हैं, जवान हैं, खूबसूरत हैं। इसलिए लोग उन्हें देखने आते हैं। विचार से वे शून्य हैं। उनका जो महत्त्व है, उसे अँगरेजी में कहते हैं 'Nuisance value' यानी झंझट की चीज। वे प्रधानमन्त्री के लिए असुविधा पैदा कर सकती हैं। एक बार वे भारत यात्रा कर लें, लोग उन्हें देख लें तो उनकी पार्टी भी खत्म हो जायेगी और वे शून्य हो जायेंगी।

रायपुर से सेनापति खन्ना

प्रश्न—एक माँ आठ बच्चों का पालन पूरे त्याग एवं तपस्या के साथ कर सकती है। किन्तु वे ही आठ बच्चे बड़े होकर अपनी एक माँ का पालन नहीं कर सकते। क्यों ?

☐ ऐसे कितने बच्चे देखे हैं जो बड़े होकर माँ का पालन नहीं करते ? यह आम बात नहीं है। आम बेटे माँ का पालन करते हैं। कई हजार में एक बेटा ऐसा

होता होगा, जो माँ का पालन न करता हो। इसका कारण है—स्वार्थ और बहू का ओछा स्वार्थी स्वभाव।

छतौना जरहागाँव से राजेशकुमार अग्रवाल

प्रश्न—धर्म क्या है? आज धर्म का जो स्वरूप है, सही है? जैसे आज वर्ग विशेष का धर्म मुसलमान है।

☐ आपको सामान्य बातें पहले जान लेनी चाहिए। मुसलमान वर्ग नहीं, सम्प्रदाय है। धर्म का नाम इस्लाम है। मनुष्य और समाज के सम्बन्ध, मनुष्य का नैतिक आचरण, न्याय, समाज-व्यवस्था आदि के नियम कोई महापुरुष बना देता है। इसमें ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति और उसकी उपासना-पद्धति भी होती है। ऐसा पैगम्बर, मुहम्मद ने किया, और इस धर्म को 'इस्लाम' कहा। मगर बौद्ध और जैन धर्म में ईश्वर नहीं है। धर्म की कई व्यवस्थाएँ हैं। कोई एक निश्चित व्यवस्था नहीं है। कार्ल मार्क्स का कहना है कि धर्म, पीड़ित आत्मा का आत्माहीन व्यवस्था में आर्त्तनाद है और प्रतिरोध भी। धर्म सुख का भ्रम पैदा करता है, जिससे मनुष्य उस वास्तविक सुख के लिए संघर्ष नहीं करेगा जो सामाजिक परिवर्तन से मिलता है। धर्म जनसमाज के लिए अफीम है।

तिल्दा से जे. पी. रमन्ना

प्रश्न—क्या हमारी सरकार समाजवाद की आड़ में पूंजीवाद को प्रश्रय नहीं दे रही है?

☐ सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश चन्द्रचूड़ ने कुछ महीने पहले कहा था—भारत के वर्तमान संविधान से समाजवाद नहीं आ सकता। यह कथन ही काफी है वास्तविकता समझने के लिए। इन्दिराजी ने 1975 में संविधान में संशोधन करके देश के नाम में तो समाजवाद जोड़ दिया—सावरिन सोशलिस्ट रिपब्लिक ऑफ इण्डिया। मगर बढ़ रहा है—पूंजीवाद। कुछ चीजों के राष्ट्रीयकरण और सार्वजनिक उद्योग क्षेत्र में कुछ बुनियादी उद्योग खोलने से समाजवाद नहीं आता। बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने से भी समाजवाद आना जरूरी नहीं है। इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने भी बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया था। पर मुसोलिनी तो फासिस्ट था। बैंकों से हमारे देश में अभी भी एकाधिकार (मोनापली) घरानों को बढ़ावा मिलता है। सार्वजनिक क्षेत्र में बुनियादी इस्पात उद्योग तो खोल दिया, पर इस इस्पात से सामान बनानेवाले उद्योग प्राइवेट हाथों में हैं। समाजवाद इस तरह नहीं आ रहा। पूँजीवाद बढ़ रहा है।

चारामा से विप्लव डे

प्रश्न—प्रेमिका की शादी जब अपने किसी अभिन्न दोस्त से हो जाये, तब क्या करना चाहिए?

☐ यह तो सौभाग्य की बात है कि प्रेमिका की शादी अपने घनिष्ठ मित्र से हो जाय। इससे मित्रता और पक्की होनी चाहिए।

अकलतरा से राधूलाल मंगलानी

प्रश्न—आपने साहित्यकार के रूप में कई देशों की यात्राएँ की होंगी। भारतवर्ष से भ्रष्टाचार का प्रतिशत कहाँ कितना अधिक है ?

☐ भ्रष्टाचार हमारे जमाने में पूंजीवाद सामन्तवाद का नतीजा है। पूंजीं-वादी व्यवस्था में भ्रष्टाचार है। जापान के तो एक प्रधानमन्त्री ने अमेरिका की लाकडीह कम्पनी से करोड़ों डालर घूस खा ली थी। समाजवादी देशों में भ्रष्टा-चार नहीं है या इक्का-दुक्का है, क्योंकि एक तो भ्रष्टाचार के अवसर नहीं हैं, दूसरे जन्म से मृत्यु तक सामाजिक सुरक्षा है, तीसरे वहाँ बचपन से सदाचार और विचारधारा सिखायी जाती है। अपने यहाँ गणित के ऐसे प्रश्न पढ़ाये जाते हैं— एक ने 4 रुपया लिटर की दर से 10 लिटर दूध खरीदा। उसमें दो लिटर पानी मिलाया और सारा दूध सवा चार रुपया लिटर के भाव से बेचा। बताओ उसे कितना मुनाफा हुआ ? हम बचपन में ही मिलावट सिखा देते हैं। भारत में पूंजी-वादी सामन्तवादी व्यवस्था है। भ्रष्टाचार में हमारा नम्बर काफी ऊपर है।

रायपुर से खेमचन्द दुर्घा

प्रश्न—आपके ऊटपटांग उत्तरों से हम बोर हो गये हैं। हमें क्या करना चाहिए ?

☐ मेरी हालत भी आपकी तरह खराब है। मैं भी ऊटपटाँग सवालों का जवाब देते-देते बोर हो गया हूं। अभी तक का सबसे ऊटपटाँग सवाल आपने ही किया है। आप इस कालम को मत पढ़ा कीजिए। आप तो बच गये। पर मैं नहीं बच सकता। ऊटपटाँग सवाल पूछे ही जायेंगे और जवाब देना मेरी मजबूरी है।

डोंगरगढ़ से कँवलजीत भाटिया

प्रश्न—अगर बात आँखों-ही-आँखों तक रहे तो उसे आगे किस तरह बढ़ाना चाहिए ?

☐ अगर आपको इतना ही नहीं आता तो आँखें मिलाने की झंझट में क्यों पड़े। बात आँखों-ही-आँखों में नहीं रहती। रास्ता आगे अपने आप सूझ जाता है।

दुर्ग से शकील अहमद खान

प्रश्न—दुनिया में सबसे पहले ताकतवर लोग ही अच्छा जीवन जीते थे, उसके बाद बुद्धिमान व्यक्ति के जीवन का स्तर अच्छा होता था तथा अब पैसेवालों का जीवन-स्तर ऊँचा है। आगे आनेवाली पीढ़ी के लोगों की क्या स्थिति रहेगी ?

☐ आपकी धारणा गलत है। दुनिया के इतिहास में ऐसा नहीं हुआ कि कभी पहलवानों का युग रहा हो, फिर बुद्धिमानों का और फिर धनियों का। इतिहास में समाज-व्यवस्थाएँ बदलती रही हैं, जिनके आन्तरिक नियमों से सुखी और दुखी आदमी रहे हैं। जीवन-स्तर उस वर्ग का ऊँचा होता है, जिसके हाथ में राजनैतिक-आर्थिक सत्ता हो। आदिम-अवस्था का साम्यवाद था, तो सबका जीवन-स्तर बराबर था। जो होता था, सबका सामूहिक होता था। फिर बड़े भूमिपति और

दास हुए। भूमिपति का जीवन-स्तर ऊँचा होता था। दास का बहुत नीचा। फिर अर्द्ध सामन्तवाद, फिर सामन्तवाद आया, जिसमें सामन्ती वर्ग का जीवन-स्तर ऊँचा रहा। इस समय औद्योगिक पूँजीवाद दुनिया के एक-तिहाई भाग में है। एक-तिहाई भाग में समाजवाद। एक-तिहाई भाग में अर्द्ध सामन्तवाद और व्यापारिक पूँजीवाद। समाजवादी व्यवस्था में जीवन-स्तर में समानता है। बाकी में एक वर्ग सुखी है। आगे दुनिया-भर में समाजवाद होगा और जीवन-स्तर लगभग समान होगा।

दिल्ली राजहरा से उमाशंकर अग्रवाल 'राज'

प्रश्न—गत दिनों 'देशबन्धु' में आपने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि 'भारतीय संस्कृति मुर्दा पूजक नहीं है', जबकि मूर्तिपूजक अवश्य है। मुर्दा तो कभी जीवित था यह अकाट्य सत्य है, किन्तु पत्थर की मूर्ति तो न कभी जिन्दा थी न मुर्दा होगी। ऐसी स्थिति में मुर्दा पूजना या पत्थर पूजना मेरे खयाल से कोई फर्क नहीं रखता। आपके विचार जानने की उत्सुकता है। कृपया समाधान दें।

☐ मेरा मतलब था कि भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन की गरिमा है। मानव-आत्मा की एकता की भावना है। जिजीविषा प्रधान है। जीवन मिथ्या और व्यर्थ है, यह तथ्य एक विकृति है जो बाद में आया। मूर्तिपूजा तो एक कर्मकाण्ड है, धार्मिक आडम्बर है। मूर्ति चाहे पत्थर की हो चाहे सोने की, उसके पूजने से कोई लाभ नहीं है। धर्म संस्कृति का एक प्रमुख तत्व है, पर विकृतियाँ भी धर्म से ही आती हैं।

भिलाई (खुर्सीपार) से आशफाक अहमद मन्सूरी

प्रश्न—मुसीबतों का सामना करने के लिए इन्सान को क्या करना चाहिए?

☐ मुसीबतों में हिम्मत रखना चाहिए, दिमागी सन्तुलन बनाये रखना चाहिए। फिर उन मुसीबतों से लड़कर उन्हें परास्त कर देना चाहिए।

दुर्ग से कु. अर्चना बक्सी

प्रश्न—दुनिया में सबसे बड़ा आदमी कौन है? क्या सबसे अधिक पैसेवाला सबसे बड़ा आदमी है?

☐ अर्चनाजी, दुनिया के सबसे बड़े आदमी को मैं नहीं जानता। सबसे बड़ा आदमी हर क्षेत्र में अलग-अलग होता है। कोई साहित्य में, कोई विज्ञान में, कोई कला में। पैसेवालों में भी कोई सबसे बड़ा पैसेवाला होगा। पर आपको यह जानने से फायदा क्या है?

बेमेतरा से रमेश

प्रश्न—मेरी पान की दूकान है। मेरी आदत बहुत कम बोलने की है। शायद इसीलिए दूकानदारी में असफल हूँ। कृपया सफलता का राज और उधारी वसूल करने का उपाय बतायें।

☐ भई रमेशजी, मैं 20 साल तक रोज एक-दो घण्टे बस-स्टेशन की पान की दूकानवाले मेरे दोस्त रूपराम पहलवान के पास बैठा हूँ। वे अखबार पढ़ते हैं,

रेडियो सुनते हैं। देश-विदेश की खबरें जानते हैं, और उन पर खूब बात करते हैं। गड़बड़ करनेवाले ग्राहक को तारे दिखाने को भी कह देते हैं। वे तो बहुत लोकप्रिय हैं। दिन-भर 2-4 आदमी पान लेने खड़े रहते हैं। आप भी ऐसा कीजिए, दीन-दुनिया की खबर रखिए। उन पर बात कीजिए। क्रिकेट चल रहा हो तो रेडियो पर कमेण्ट्री लगा दीजिए। उधारी वसूलने का क्या गुर बताऊँ। मैं खुद उधारी खाये बैठा हूँ। किसी की उधारी कैसे उकारी जाय, यह नहीं बता सकता। हां, आप उधार देना बन्द कर दीजिए।

31 जुलाई, 1983

सवर्णों को प्रायश्चित करना ही पड़ेगा

चकरभाटा से डी. आर. नागवानी

प्रश्न--सच बोलने पर सजा कब मिलती है ?

☐ सज़ा इस बात पर निर्भर है कि आप सच बोले तो क्या बोले और उसमें किसका नुकसान हुआ।

बागबहरा से अमरजीतसिंह छाबड़ा

प्रश्न—दुल्हन शादी के वक्त लाल कपड़े ही क्यों पहनती है ?

☐ लाल रंग प्रेम का, रूमा। का, उल्लास का रंग है। नीला शान्ति का रंग है। भगवा निर्वेद का रंग है। मनःस्थितियों के अनुकूल रंग होते हैं।

रायगढ़ से शरदकुमार स्वर्णकार

प्रश्न—आप प्रश्नों के उत्तर देने की रिश्वत कितनी लेते हैं ?

☐ प्रश्नों के उत्तर देना कोई सरकारी ठेका दिलाना नहीं है, जिसकी रिश्वत मिले।

डोंगरगढ़ से महेन्दर बन्नौआना

प्रश्न—मनुष्य को दूसरे का धन और अपनी अक्ल अधिक क्यों दिखती है ?

☐ मनुष्य में कई मूर्खताएँ होती हैं, उनमें से एक यह है। इसका कारण—दूसरे से ईर्ष्या और अपना अभिमान।

रायपुर से ईश्वर शर्मा

प्रश्न—प्रेम एक से होता, स्नेह हर किसी से। लेकिन प्रेम हर किसी से क्यों नहीं होता ?

☐ प्रेम सिर्फ एक से नहीं होता। एक से अधिक से भी होता है। प्रेम की

भावना जटिल है। इसमें रूप, गुण, रुचि, प्रकृति, परस्पर हित सब आते हैं। फिर जैविक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। ये हर एक के सम्बन्ध में नहीं होतीं। किसी-किसी के सन्दर्भ में होती हैं। एक लव्ह होता है—प्रेम। एक 'इनफेचुएशन' होता है—यानी किसी का उन्मादी प्रभाव। यह उतर जाता है। 'लव्ह', प्रेम टिकाऊ होता है। पर यह भी ढीला पड़ता है मगर क्योंकि शादी हो गयी है, बाल-बच्चे हैं, इसलिए निभाये जाते हैं। पचास फीसदी पति और पत्नी तलाक देने की इच्छा रखते हैं पर मजबूरियों और जिम्मेदारियों के कारण नहीं देते। सबसे बड़ी मजबूरी बच्चे होते हैं। प्रेम की गैररूमानी प्रक्रिया यह है—किसी व्यक्ति के सन्दर्भ में शरीर की कुछ ग्रंथियाँ एक रस निसृत करती हैं, जिससे सेक्स-भावना जागती है और उस व्यक्ति से भावनात्मक लगाव होता है।

रायपुर से गंगा यादव

प्रश्न—इंग्लैण्ड में पूंजीवादी सरकार पुनः चुन ली गयी। क्रान्ति व व्यवस्था बदलने की प्रक्रिया इंग्लैण्ड-जैसे औद्योगिक देश में कई वर्ष पीछे हो गयी है, क्यों? जबकि जनता पिस रही है, पूंजीवादी व्यवस्था की विकृतियों का घृणित रूप नजर आ रहा है, फिर थैचर को समर्थन?

□ ब्रिटेन में क्रान्ति की परिस्थितियाँ पैदा नहीं हुईं, जबकि मार्क्स के अनुसार वहीं पहले सर्वहारा की क्रान्ति होनी थी। इसके कई कारण हैं। इन्हें फिलहाल छोड़ें। फिर कभी बतायेंगे। आपने थैचर की जीत के बारे में पूछा है। पहले यह समझ लें कि लेबर पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी की तरह क्रान्तिकारी पार्टी नहीं है। उसके कुछ वामपन्थी सिद्धान्त और कार्यक्रम हैं। वह एक सुधारवादी पार्टी है। साम्राज्यवाद विरोधी है। पर वह सर्वहारा की तानाशाही नहीं मानती। उसका संसदीय लोकतन्त्र में विश्वास है। राजा और रानी भी वह मानती है। लेबर पार्टी में फूट पड़ गयी है। एक हिस्से ने अलग होकर 'सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी' बना ली है। इस तरह लेबर वोट बँट गये। फिर यह ध्यान में रखिए कि अंग्रेज के दिमाग से साम्राज्यवाद अभी गया नहीं है। अब ब्रिटिश साम्राज्य के हजारों मील दूर एक छोटा-सा फाकलैण्ड द्वीप है। इसने पिछले साल स्वतन्त्र होने की कोशिश की थी, तो मार्गरेट थैचर ने समुद्री बेड़ा भेजकर उन्हें कुचल दिया। इसमें जितने लोग मरे उतनी फाकलैण्ड की आबादी नहीं है। पर इससे अंग्रेजमन प्रसन्न हुआ—थैचर 'आयरन लेडी' है। उसने अंग्रेजी साम्राज्य बचा लिया। फिर लेबर पार्टी के घोषणापत्र में दो बातें थीं—(1) हम ब्रिटेन को यूरोपीय आर्थिक समुदाय से बाहर निकाल लेंगे। (2) हम नयी नाटो मिसाइलें नहीं लगायेंगे। बात यह है कि यूरोप के देशों ने जब आर्थिक समुदाय बनाया था तब उससे कुछ साल ब्रिटेन को बाहर रखा था। ब्रिटेन आवेदन लेकर 5-6 साल खड़ा रहा, पर फ्रान्स-जर्मनी कहते रहे कि तुम यूरोप में नहीं हो। तुम एक द्वीप हो। मुश्किल से ब्रिटेन को प्रवेश मिला। अब अंग्रेज यूरोपीय आर्थिक समुदाय से बाहर निकलते डरता है। ब्रिटेन में नयी मिसाइलों के खिलाफ जनआन्दोलन

बहुत है, पर कंज़रवेटिव पार्टी ने लोगों के मन में असुरक्षा की भावना भी भरी। सबसे बड़ा कारण यह है कि लेबर पार्टी ने कोई जन-आन्दोलन नहीं किये, श्रमिक संघर्ष नहीं किये। यह पार्टी ढीली हो गयी। फूट और ढीलेपन से लेबर हारी।

कांकेर (बस्तर) से सैय्यद आसिफ अली 'आशिक'

प्रश्न—यदि प्रेमिका बेवफाई करने लगे तो क्या करना चाहिए ?

☐ प्रेमिका बेवफाई करने लगे तो उसके दूसरे प्रेमी की सेवा कीजिए और अपने लिए दूसरी खोज लीजिए।

अम्बिकापुर से कुलदीप

प्रश्न—जनता सुविधाभोगी होती जा रही है और पूंजीवादी दलों से जुड़ती जा रही है। यहाँ तक कि सर्वहारा वर्ग को लगातार लालच देकर खरीदा और बरगलाया जा रहा है। ऐसे में सुविधाहीन साम्यवादी दल अपने मकसद, याने समाज को बदलने में कब सफल हो पायेगा ?

☐ आप ठीक कहते हैं कि सर्वहारा को लालच से बरगलाया जाता है। पूंजीवाद की यह तरकीब है कि वह मजदूरों को कुछ सुविधाएं देता है, अपनी लूट में से कुछ पैसा खर्च करके वेतन-भत्ता बढ़ा देता है। 30-40 साल पहले ट्रेड यूनियन नेता बोलता था—मजदूर भूखा है। मजदूर नंगा है। अब औद्योगिक मजदूर न भूखा है, न नंगा है। उस पर पुराने नारे असर नहीं करते। सबसे ख़राब हालत गाँव के सर्वहारा की है। साम्यवादियों को, औद्योगिक मजदूरों को राज़-नैतिक शिक्षण देना होगा और उनकी मानसिकता बनानी पड़ेगी कि वह राजसत्ता और अर्थसत्ता पर कब्जा करे। साथ ही गाँव के सर्वहारा को संगठित करके जुझारू बनाना होगा। समाज को बदलने में सफलता कब मिलेगी, यह भविष्यवाणी कोई नहीं कर सकता। कभी-कभी ऐतिहासिक शक्तियाँ बहुत जल्दी क्रान्ति की परि-स्थितियाँ निर्मित कर देती हैं।

दुर्ग से दिनेशकुमार सोनी

प्रश्न—मेहनत और भाग्य पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है ?

☐ भाग्य कुछ नहीं है। यह झूठा विश्वास है। सार्थक श्रम पर विश्वास किया जा सकता है। विवेकपूर्वक तय किया हुआ सार्थक श्रम लाभ देता है। आप दिन-भर झाड़ पर चढ़ें-उतरें और शाम को पसीने से लथपथ होकर कहें—श्रम से कोई फायदा नहीं हुआ। भाग्य में नहीं था। वास्तविकता यह है कि आपने श्रम विवेक से नहीं चुना और निरर्थक श्रम किया।

छरछेद (कसडोल) से दीवानचन्द वाधवानी

प्रश्न—आज हर क्षेत्र में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी समाज नारी को अबला क्यों समझता है ?

☐ जो स्त्री कलेक्टर है या पुलिस इन्स्पेक्टर है, उसे कौन अबला समझता है। उसके सामने पुरुष खुद 'अबल' होकर हाथ जोड़ते हैं। साधारण घर-गृहस्थी

की नारी को भी अब अबला नहीं कहा जाता। स्त्री की कुछ जैविक और स्वभाव-गत कमजोरियाँ हैं, क्योंकि बच्चा वही पैदा करती है, पुरुष नहीं। इन्हीं कमजोरियों के कारण और उसकी असुरक्षा की भावना तथा आर्थिक निर्भरता के कारण उसे युगों से 'अबला' कहकर उसका शोषण किया गया। अब हालात बदल रहे हैं।

चकरभाटा से दुलाराम नारवानी

प्रश्न—सावन के अन्धे को हरा, तो फागुन के अन्धे को क्या दिखायी देगा?

☐ फागुन के अन्धे को हुल्लड़-ही-हुल्लड़ दिखायी देगा। 'सावन के अन्धे को हरा-ही-हरा सूझता है'—यह एक कहावत है। इसका मतलब है कि जिस आदमी ने अच्छे दिन देखे हैं अगर वह विवेकहीन है, तो बुरे दिनों में भी उसे अच्छे दिन दिखते हैं—यानि वह वैसी ही समझ और व्यवहार रखता है।

भिलाई नगर से सतीशकुमार पाण्डेय

प्रश्न—क्या आरक्षण के बीज वोटों की लहलहाती फसल काटने के लिए नहीं बोये जाते? क्या आरक्षण हम सवर्णों को अपनी ही जमीन से काटने की साजिश नहीं है?

☐ सवर्णों ने कई शताब्दी शूद्रों पर जो अत्याचार किये, उन्हें अछूत रखा, अपढ़ रखा, उन्हें कुत्ते और सुअर माना—इन पीढ़ियों के पाप का प्रायश्चित कौन करेगा? सवर्णों को प्रायश्चित करना ही पड़ेगा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक कविता में कहा है—मेरे देशवासियो, तुमने अपने ही भाइयों पर इतने अत्याचार किये हैं कि तुम्हें इसका फल भोगना पड़ेगा। आरक्षण न वोट पाने के लिए है, न सवर्णों को उखाड़ने के लिए। यह हमारी भूल से ही पिछड़ गये लोगों को थोड़ी सुविधा और सुरक्षा और अवसर देने के लिए है। आगे चलकर आरक्षण खत्म हो जायेगा। मैं मानता हूँ कि आरक्षण की प्रक्रिया में बहुत-सी खामियाँ हैं। मगर मूलरूप से आरक्षण सही है। पर इसके लिए आप क्या कहेंगे कि ऊँची जाति के लोग चमार या भंगी बनकर नौकरी पाने की कोशिश करते हैं।

तखतपुर से जगमोहनसिंह ठाकुर

प्रश्न—क्रान्ति के लिए संगठन, संगठन के लिए पैसे, लेकिन सभी आर्थिक साधन पूंजीपतियों के हाथों में। फिर क्रान्ति सफलीभूत कैसे होगी?

☐ क्रान्ति की परिस्थितियाँ पैदा होती हैं। यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। तब क्रान्तिकारी संगठन इन परिस्थितियों का उपयोग क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए करता है। इसके लिए पूंजीवादी के पैसे की जरूरत नहीं होती। वैसे पूंजीवादियों के कई प्रकार हैं। एक मोटा भेद है—निम्न पूंजीवादी और एकाधिकार पूंजीवादी। क्रान्तिकारी संगठन को पैसा मजदूरों, किसानों, मध्यमवर्गियों और निम्न पूंजी-पतियों से मिल जाता है। क्रान्ति के लिए निर्णायक संघर्ष में तो बैंक और खजाने और शस्त्रागार लूट लिये जाते हैं। संगठन के लिए पैसे उसी संगठन के सदस्य जुटाते हैं।

दुर्ग से आनन्द श्रीवास्तव

प्रश्न—संसार में दहाई की प्रणाली का आरम्भ क्यों किया गया था ?

☐ हिसाब में, गणितीय प्रक्रिया में, संख्या दस गुना करने के लिए दहाई की पद्धति खोजी गयी। आप यह तो जानते ही हैं कि बहुत प्राचीन काल में भारतीय गणितशास्त्रियों ने 'शून्य' (जीरो) की खोज की थी। दुनिया ने भारत से ही शून्य सीखा। शून्य कुछ नहीं है, पर अंक के आगे लगाने से अंक दस गुना होता है। अरबों-खरबों की गणना और अन्तरिक्ष की दूरियों की गणना, विज्ञानों में गणना, इसी दहाई से सम्भव होती है।

10 जुलाई, 1983

रजनीश 'शाला' को 'साला' कहते हैं

रायपुर से जगदीश हबलानी

प्रश्न—आप आचार्य रजनीश व महेश योगी के ही शहर के हैं, उनसे आपने कुछ नहीं सीखा ?

☐ हाँ, यह विवादास्पद गौरव मुझे है कि मैं रजनीश और महेश योगी के नगर का हूँ। हम तीनों इसी भूमि के रत्न हैं। महेश योगी से मिला कभी नहीं। उनकी पुस्तक अंग्रेजी में भावातीत ध्यान पर जरूर पढ़ ली है। उसमें कुछ खास नहीं। महेश योगी के पास न दर्शन है न भाषा। महेश योगी मशहूर दर्शन या ध्यान-पद्धति के कारण नहीं हैं—'महेश योगी आर्थिक साम्राज्य' के कारण हैं। इसके बारे में कई तरह की बातें हैं, विवाद और आरोप हैं।

रजनीश 'तब से' मेरे सम्पर्क में थे जब वे यहाँ बी. ए. के छात्र थे। बहुत मेधावी थे। वाद-विवाद प्रतियोगिता में मैंने उन्हें दो बार पहला इनाम दिया। उनमें दो दोष हैं—एक तो उनका स्वर नाक से निकलता है, दूसरे वे 'श' का उच्चारण नहीं कर सकते। ने 'शक्कर' को 'सक्कर', 'शाला' को 'साला' और 'शेम' को 'सेम' बोलते हैं। मैंने उनसे कई बार कहा कि तुम ये दोष सुधारो। कम से कम 'श' का उच्चारण सीखो। पर वे अभी तक वैसे ही बोलते हैं। रजनीश की कुछ किताबें भी मैंने पढ़ी हैं। अधिकतर भाग दूसरों की चोरी है। वे बहुत पढ़े हैं, इसलिए यहाँ-वहाँ से बहुत-सा चुराकर अपनी विशिष्ट आकर्षक भाषाशैली में पेश करते हैं। वे मनुष्य की वर्जनाओं को हटाते हैं, इससे सम्पंन्न, खुशहाल स्त्री-पुरुष स्वच्छन्दता से भोग करते हैं। भारतीय दर्शन, पश्चिमी दर्शन व योग-

शास्त्र, तन्त्रविद्या से उन्होंने सीखा है। वे घोर समाजवाद-विरोधी हैं। वे सम्पन्न अपढ़ स्वेच्छाचारियों के 'भगवान' हैं। मैंने उनकी सारी तरकीबें, हथकण्डे, कर्म, कुकर्म, झटके कई साल देखे हैं। बताइए, मैं उनसे क्या सीखता? वे अगर ईमानदार हों तो मुझे अपना गुरु मानना चाहिए। मैंने उन्हें सिखाया है।

राइट टाउन, जबलपुर से विनोद तिवारी

प्रश्न—कार्ल मार्क्स ने धर्म को जनता के लिए अफीम क्यों कहा है?

☐ लोग कार्ल मार्क्स का बस यही अफीम वाला वाक्य ले उड़े हैं। कार्ल मार्क्स ने धर्म के बारे में यह भी कहा है—

'धर्म मनुष्य की वेदना और प्रतिरोध की अभिव्यक्ति है। धर्म मनुष्य को 'भ्रमात्मक' सुख देता है, वास्तविक सुख नहीं, जो सामाजिक परिवर्तन से आता है। इसलिए वे परिस्थितियाँ बदलना जरूरी हैं जिनमें मनुष्य भ्रमात्मक सुख में भूला रहता है। धर्म इसीलिए जनता के लिए अफीम है।'

अब आप देखिए—घर में खाने को नहीं है, तनखा कम, महँगाई बहुत, शोषण अलग। मगर 2-3 घण्टे कीर्तन, भजन, धर्मकथा सुनकर सुखी हैं। यह भ्रमात्मक सुख है। वास्तविक सुख जीवन की हालत में सुधार से आता है जिसके लिए आदमी को संघर्ष करना चाहिए। शोषक वर्ग आदमी को धर्म के भ्रमपूर्ण सुख से उलझाये रखता है, ताकि वह वास्तविक सुख के लिए संघर्ष न करे। इससे शोषकों के हितों की हानि होती है। आप देखते हैं, सारे धार्मिक अनुष्ठान मुनाफाखोर, कालाबाजारी, जमाखोर, शोषक कराते हैं। ये आम आदमी को निष्क्रिय और मूर्ख बनाते हैं।

भिलाई से एम. के. शुक्ला

प्रश्न—हमारी माननीय प्रधानमन्त्री ने 36 मुस्लिम राष्ट्राध्यक्षों को लिखित सफाई भेजकर कहा है कि असम में केवल मुसलमानों की ही नहीं बल्कि सभी धर्म के लोगों की हत्या हुई है। क्या इस सफाई का यह मतलब नहीं कि श्रीमती गाँधी इस सर्वप्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में अन्य राष्ट्रों को हस्तक्षेप हेतु आमन्त्रित कर रही हैं?

☐ आपका कहना सही है कि हमें अरब देशों को कैफियत देने की जरूरत नहीं है। दूसरे देश हमारे आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप भी नहीं कर सकते। ब्रिटिश संसद में एक प्रस्ताव था जिसमें मानव अत्याचारों के लिए चिली और भारत की साथ-साथ निन्दा थी। चिली में लोकतन्त्र को नष्ट करके जनरल पिनोशे ने सी. आई. ए. के सहयोग से अत्यन्त क्रूर फौजी तानाशाही कायम की है। चिली के साथ लोकतन्त्री भारत को रखना अंग्रेज राजनेताओं की नासमझी और बुरे इरादों को प्रकट करता है। हमें यह मानना चाहिए कि असम में 40 फीसदी मुसलमान ही मारे गये हैं, पर इन्हें सरकार ने नहीं मारा। हिन्दू भी मरे हैं और कबीलेवाले आदिवासी भी। अरब देशों में पाकिस्तान यह प्रचार कर रहा है कि भारत में मुसलमानों का संहार हो रहा है। अरब देश हमारे मित्र हैं। भारत

उनका राजनैतिक समर्थन करता है। फिर हमारे उमसे आर्थिक व्यापारिक सम्बन्ध हैं। हम उनसे तेल लेते हैं। इसलिए ही गलतफहमी मिटाने के लिए प्रधानमन्त्री ने वह बयान दिया। इससे किसी देश को हमारे आन्तरिक मामलों में दखल देने का अधिकार तो नहीं मिलता। पर ज्यादा उचित यह होता कि सही बातों की जानकारी हमारे दूतावास देते।

बिलासपुर से कुमारी कविता चिचोलकर

प्रश्न—'आम आदमी' शब्द आजकल बहुत इस्तेमाल हो रहा है, क्या आपने इसे देखा है ?

☐ 'आम आदमी' राजनेता भी कहते हैं और लेखक भी। पर इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। जिन्हें मैं देखता हूँ वे अगर आदमी हैं, तो मैं आम आदमी देखता हूँ। यह शब्द अँगरेजी के मुहावरे 'कामन मैन' का भारतीय अनुवाद है। कामन मैन वह जो विशेष न हो। उद्योगपति, बड़ा व्यापारी, ओहदेदार, बड़ा नेता, महान लेखक, पूंजीवादी, सम्पत्तिवान न हो—वह कामन मैन। यानी मध्यवर्गीय नौकरीपेशा, छोटे दूकानदार, मजदूर, अध्यापक, कारीगर आदि। यही आम आदमी हैं।

रायपुर से अनिल हरदवानी

प्रश्न—दुनिया में इन्सान को जीने के लिए खाना चाहिए या खाने के लिए जीना ?

☐ यह तो आदमी अपने विवेक से तय करे। उसे अगर सूअर की तरह जीना है—उद्देश्यहीन, तो खाये और जिये और एक दिन मर जाये या मार डाला जाये। जीने के लिए खाना आवश्यक है। पर अगर केवल बढ़िया खाना ही जीने का ध्येय मान लिया जाय, तो आदमी होने का कष्ट क्यों उठाया ? बिल्ली भी चोरी करके घरों से पकवान खा लेती है।

नन्दिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—क्या विनोबा भावे जीवित रहते हुए 'भारत-रत्न' पाने के काबिल न थे ?

☐ 'भारत-रत्न' पाने के काबिल कौन है यह केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल, शासकीय और गैर-शासकीय सिफारिशों के आधार पर तय करता है। कहा जाता है, 'जिसे पिया चाहे वह सुहागन'। विनोबा को नेहरू और इन्दिरा दोनों चाहते थे। वे एक तरह से 'सरकारी सन्त' ही थे। आशीर्वाद जयप्रकाश को भी दे देते थे। असल में विनोबा अर्थहीन, सन्दर्भहीन हो गये थे। अँगरेजी में कहें तो 'इररेलेवेंट' हो गये थे। 'भारत-रत्न' हो भी जाते तो क्या होता ?

कांकेर से हमीरसिंह

प्रश्न—गाँधीजी हिंसा के विरोधी थे फिर भी लाठी लेकर क्यों चलते थे ?

☐ गाँधीजी लाठी सहारे के लिए रखते थे, किसी को पीटने के लिए नहीं। गाँधीजी हिंसा-अहिंसा के मामले में कूटनीति और हानि-लाभ से तय करते थे कि

भारतीय जनता हिंसात्मक आन्दोलन से स्वराज प्राप्त नहीं कर सकती। जनता की एक हिंसात्मक कार्रवाई के बदले में अंग्रेज सरकार सौ गुनी हिंसक कार्रवाई करके आन्दोलन को कुचल देती। वह विश्व के सामने और ब्रिटिश संसद के सामने इस हिंसात्मक कार्रवाई को उचित भी सिद्ध कर देती। मगर यह गाँधीजी की समझ और कूटनीति थी कि उन्होंने अहिंसात्मक आन्दोलन चलाये। इस कारण अंग्रेज सरकार ज्यादा हिंसा कर नहीं सकती थी। ब्रिटिश संसद में ही इसकी कड़ी आलोचना होती।

पर एक बात देखिए। 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भारतीयों ने काफी हिंसा की। पर उस हिंसा की गाँधीजी ने निन्दा नहीं की।

मुंगेली से अशोक गोलछा

प्रश्न—भारत में लोग बात-बात पर भगवान कसम, माँ कसम'''ऐसी कसमें खाते रहते हैं। इनका क्या महत्त्व है? क्या विदेशों में भी ऐसी प्रथा है?

□ कसम विश्वास दिलाने के लिए खायी जाती है। भगवान की कसम मैंने चोरी नहीं की। माँ की कसम खाकर कहता हूँ कि मैंने उस लड़की को नहीं छेड़ा। यह एक प्रकार का नैतिक—धार्मिक बन्धन है सच बोलने के लिए। मगर अदालत में भगवान के नाम से सच बोलने की शपथ देकर आदमी झूठ बोलता है। यह कसम खाने की प्रथा दुनिया भर में है। यूरोप में कहते हैं—बाई गॉड, आई एम इनोसेंट। बाई जीस्ट, आई एम स्पीकिंग नो लाई।

22 मई, 1983

बच्चों की बातों का क्या जवाब

छतौना से राजेश अग्रवाल

प्रश्न—आधुनिक नारी के शरीर की तरह आधुनिक कविताओं से भी अलंकार लुप्त होता जा रहा है। इसका क्या कारण है? क्या यह स्थिति सन्तोषप्रद है?

□ आभूषणों से लदी और तरह-तरह से सजी सुन्दरी—यह मध्ययुगीन सौन्दर्य-बोध था। वह चला गया। युग के सारे मूल्य बदलते हैं। अब सादा स्त्री अच्छी लगती है। जिस कविता में अलंकार होते थे वह बनावटी होती थी, उसमें सजावट थी। अब दृष्टि यथार्थवादी है। इसलिए बिना अलंकार के आम शब्दों में जीवनयथार्थ को वास्तविक अनुभूति से शक्तिशाली, प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करे—वह कविता अच्छी होती है। मनुष्य यथार्थ का सामना करना चाहता है।

बिहारी का एक दोहा लीजिए—

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँपास।
प्रतिदिन पूनों ही रहत आनन ओप उजास॥

अर्थ है कि उस घर में ऐसी सुन्दरी रहती है कि उसके मुख की आभा से आसपास हमेशा पूर्णिमा की चाँदनी छायी रहती है। इसलिए आसपास के लोग पत्रा (पंचांग) देखकर ही तिथि जानते हैं। यह अतिशयोक्ति अलंकार है। बिहारी महान कवि माने जाते थे। पर आज कोई कवि ऐसा लिखे तो उसे बेवकूफ कहा जायेगा। अलंकारहीन व्यक्तित्व और काव्य सन्तोषप्रद है।

रायपुर से मनोजकुमार धनगर

प्रश्न—श्रीमती मेनका गाँधी के वक्तव्य 'श्रीमती इन्दिरा गाँधी काला जादू जानती हैं' पर आपकी प्रतिक्रिया?

□ मेनका की बचकानी बात है यह। बच्चों की तोतली फालतू बातों पर कोई प्रौढ़ क्यों प्रतिक्रिया करे। मेरा खयाल है, सास-बहू दोनों पीला जादू जानती हैं—पीले सोने का जादू।

अनूपपुर से विजेन्द्र सोनी कल्प

प्रश्न—धर्म से कम्युनिस्ट का कितना सम्बन्ध होता है?

□ कम्युनिस्ट धर्म को अवाम के लिए अफीम मानता है। कम्युनिस्ट का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

भाटापारा से राजेश अग्रवाल 'हँसमुख'

प्रश्न—भारत जब स्वयं अपनी आवश्यकता पूर्ति हेतु विकसित राष्ट्रों से रुपये उधार लेता है तो फिर नेपाल व लंका-जैसे अविकसित देशों को ऋण क्यों देता है?

□ अर्थव्यवस्था अब अन्तर्राष्ट्रीय हो गयी है। भारत विश्व बैंक से, अन्तर-राष्ट्रीय मुद्राकोष से, एशियाई विकास बैंक से तथा धनी देशों से कर्ज और सहायता लेता है। मगर छोटे-छोटे एशिया और अफ्रीका के गरीब देशों को सहायता भी देता है। भारत पड़ोसियों से अच्छे सम्बन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव बनाना चाहता है। रूस भी अमेरिका से गेहूँ खरीदता है और भारत को अपना गेहूँ देता है। पश्चिम के देश रूस से गैस लेनेवाले हैं, जिसकी पाइप लाइन आधी बन चुकी है।

रायगढ़ से मनजीतसिंह 'अम्बर'

प्रश्न—फाँसी पर लटकते समय मियाँ भुट्टो ने क्या सोचा होगा?

□ भुट्टो ने सोचा होगा—मैं पाखण्डी न होता, जनता से छल नहीं करता, अहंकार नहीं करता, हिंसा की राजनीति न करता, फौज और गुप्तचर विभाग पर निर्भर न होता, चुनावों में बेईमानी से नहीं जीतता, इतना भारत-विरोधी न होता तो मेरी यह दुर्गति नहीं होती।

औंरी से मोरध्वज चन्द्राकर

प्रश्न—क्या विशाल प्रजातान्त्रिक देश भारत में सैनिक शासन लागू किया जा सकता है? यदि हाँ तो क्या इससे भ्रष्टाचार व अन्य समस्याओं में कमी आ

सकती है?

☐ भारत में फौजी शासन कभी नहीं हो सकता। एक तो यहाँ लोकतन्त्र की जड़ें गहरी हैं। फिर यह महाद्वीप के बराबर विशाल देश है। यहाँ का आदमी उदार है। भारत में थलसेना, वायुसेना, जलसेना के अलग-अलग कमाण्ड हैं। तीनों सेनाओं के कमाण्डर-इन-चीफ राष्ट्रपति होते हैं, जो निर्वाचित होते हैं। हमारी सेना पूरी तरह निर्वाचित लोकतान्त्रिक राजसत्ता के अधीन है। सेना में कोई राजनैतिक महत्वाकांक्षा अभी तक दिखायी नहीं दी। सिर्फ जनरल थिमैया ने कुछ महत्वाकांक्षा का इशारा दिया था पर सुरक्षा मन्त्री कृष्णामेनन ने उनका अफसरों का गुट तोड़ दिया और थिमैया को दबा दिया। एक बार फील्ड मार्शल मानेकशा से पत्रकारों ने यह सवाल पूछा—मानेकशा ने जवाब दिया था—कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं। ऐसी बेवकूफी कोई फौजी अफसर कभी नहीं करेगा। वास्तव में हमारे यहाँ लोकतान्त्रिक पद्धति टूट नहीं रही है। क्षेत्रवाद, चुनावी उलटफेर, केन्द्र और राज्यों के मतभेद से यह मत समझिए कि लोकतन्त्र कमजोर हो रहा है। यह जरूर खतरनाक बात है कि सँकरी समझ और ओछे उद्देश्योंवाले दक्षिणपन्थी दलों ने नये थलसेनाध्यक्ष की नियुक्ति को दलगत राजनीति में लपेटा। यह गैर-जिम्मेदारी की बात है।

दुर्ग से योगेन्द्रकुमार देवांगन

प्रश्न—हनुमान राम के भक्त थे, राम शिव की पूजा किया करते थे तो क्या हमें राम-हनुमान को छोड़कर डायरेक्ट शिव की पूजा करनी चाहिए?

☐ मैं तो राम, हनुमान और शिव को कवि और भक्तों की कल्पना से निर्मित मानता हूँ। शिव आर्यों के नहीं, द्रविड़ों के देवता थे। वे राम से प्राचीन हैं। द्रविड़ों और आर्यों में पहले घोर संघर्ष हुआ। राम-रावण संघर्ष आर्य-अनार्य संघर्ष है। दक्षिण के लोग राम को आक्रामक साम्राज्यवादी मानते हैं। शिव और राम के भक्तों में भी सिर-फुटौवल हुई। शैवों और वैष्णवों में काफी संघर्ष हुआ है। तुलसीदास भी इससे परेशान हुए। तब समन्वय कराया गया। कवियों और भक्तों ने कथाएँ बनायीं जिनमें राम और शिव मित्र देवता हैं। भस्मासुर से विष्णु ने शिव की रक्षा की। और तुलसीदास ने लिखा कि लंका पर हमले के पहले राम ने शिव का अनुष्ठान किया। शिवलिंग की स्थापना की। इसमें पुरोहित के रूप में रावण को बुलाया। रावण आया। उसने अनुष्ठान कराया—हालाँकि अनुष्ठान रावण की पराजय के लिए किया गया था। हमारे लोग तो भूत-प्रेत की पूजा करते हैं। आप शिव की पूजा कीजिए।

14 अगस्त, 1983

अरुण शौरी कौन बड़े भरोसे के हैं

परासिया से अशोक मुखर्जी

प्रश्न—जापानियों की काम के प्रति निष्ठा जगविदित है, बौद्ध धर्म भी वहाँ प्रचलित है, फिर भी ऐसे धीर-गम्भीर समाज में हिंसा बुरी तरह हावी क्यों हो गयी ?

☐ जापानियों की कई विशेषताएँ हैं। वे बहुत मेहनती और निष्ठावान होते हैं। उनका जापानी होने का गौरव अन्धाभिमान की हद तक है। वे अपने को सूर्योदय के देश के निवासी मानते हैं। जातिगत और नस्लगत महानता की भावना उनमें हिटलर के समय के जर्मनों की तरह है। उनमें राजभक्ति इस युग में भी अटूट है। पूर्व में वे सबसे आधुनिक और उन्नत हैं। इतिहास में जापानी, हमलावर और दुस्साहसिक रहे हैं। चीन पर उनका 1934 का हमला सबसे बड़ा था। दूसरे महायुद्ध में जापानी सेना बर्मा तक आ गयी थी और कलकत्ता पर भी जापानी बम गिर चुके थे। जापानी सौन्दर्य-प्रेमी हैं। वे पूर्व में सबसे अधिक पुष्प-प्रेमी हैं। अपने अन्धे उन्मादी राष्ट्रवाद और राजभक्ति में जापानी अपने पेट में छुरा घुसेड़कर मर जाते हैं। इसे 'हाराकिरी' कहते हैं। एक महान लेखक ने कुछ साल पहले इसलिए 'हाराकिरी' कर ली थी कि जापान का गौरव कम हो गया था। जापान में पूंजीवादी व्यवस्था है। पूंजीवाद की सारी बुराइयाँ उस समाज में हैं। अन्ध राष्ट्रवाद, अन्ध राजभक्ति, आक्रामक चरित्र, फासिस्टी प्रवृत्ति तथा पूंजीवादी पद्धति ने जापानियों में हिंसा की प्रवृत्ति पैदा की है। पर ऐसा नहीं है कि जापान के शहरों और गाँवों में मार-काट ही मची रहती है। बौद्ध होने से क्या होता है। धर्म ने दुनिया के किसी समाज को दयालु, मानवीय और सदाचारी नहीं बनाया। हर धर्म में हिंसा और क्रूरता ही आयी। ईसा ने कितनी दया, प्रेम का उपदेश दिया। पर ईसाई साम्राज्यवादी और पूंजीवादी कितने क्रूर हैं। कई वैष्णव किस कदर मनुष्य का खून चूसते हैं। धर्म अन्ततः समाज की शोषक शक्तियों का साथ देने लगता है और तब हिंसा ही धर्म बन जाती है। फिर धार्मिक समुदायों में आन्तरिक विकृतियाँ आ जाती हैं। भारत में अपने परवर्ती काल में बौद्धों का धर्म-संघ विभाजित हो गया था। बौद्ध हिंसक, क्रूर, कर्मकाण्डी और दुराचारी हो गये थे।

बागबाहरा से अखिलेश चन्द्राकर

प्रश्न—सरकार 1 करोड़ के इनामवाली लाटरी टिकिटें बेचकर 3-4 करोड़ इकट्ठे करती है, फिर 50 लाख टैक्स काटकर एक आदमी को 50 लाख का इनाम देती है, क्या इससे समाज का कुछ भला होता है ?

☐ लाटरी जुआ है। सरकारों को लाटरी नहीं चलाना चाहिए। लाटरी से आदमी भाग्यवादी होता है। सरकार का उद्देश्य पैसा कमाना ही है। सट्टा के

'फिगर' पर पैसा लगाने और लाटरी का टिकिट खरीदने में कोई फर्क नहीं है। यह हो रहा है कि कुछ लोग अचानक लखपति हो रहे हैं।

रायपुर से समीर गुप्ता

प्रश्न—असम-हत्याकाण्ड की दर्दनाक तस्वीरें प्रकाशित करने पर प्रेस कौंसिल ने 'इण्डिया टुडे' के प्रति नाराजगी जाहिर की है। क्या आप भी इसे सनसनीखेज पत्रकारिता मानते हैं ?

☐ आप ध्यान से दुबारा इण्डिया टुडे की वह रिपोर्ट और फोटोग्राफ देखें। वे उत्तेजक हैं। उनसे नफरत और फैलती है। वीभत्सता का ऐसा प्रचार तथ्य के नाम पर, गलत है। बारी-बारी से देखिए और समझिए—ये चित्र एक विशेष उद्देश्य से छापे गये हैं। यह उद्देश्य है हिन्दू साम्प्रदायिकता को और अधिक आक्रामक बनाना। 'इण्डिया टुडे' के इरादे वही हैं, जो देश के विघटन करानेवालों के हैं। 'इण्डिया टुडे' की इस खतरनाक राजनीति को समझिए।

भिलाई नगर से मनोजकुमार

प्रश्न—'व्हेन रोम वाज़ बर्निंग…' यह बात किस सन्दर्भ की है ?

☐ रोम का एक राजा था नीरो। वह क्रूर और गैरजिम्मेदार था। उसे प्रजा के दुख की कोई परवाह नहीं थी। एक बार रोम में भयानक आग लगी। नीरो इससे परेशान नहीं हुआ। वह अपने महल में बैठा हुआ बाँसुरी बजा रहा था। तभी से यह कहावत चल निकली—व्हेन रोम वाज़ बर्निंग, नीरो वाज प्लेइंग फ्लूट। जब अकाल पड़ा हो, लोग भूखे मर रहे हों और मन्त्री बँगलों में ऐश कर रहे हों या स्वागत में मालाएँ पहिन रहे हों तब कहा जाता है—व्हेन रोम वाज़ बर्निंग…

बालाघाट से हरेन्द्र तिवारी

प्रश्न—क्या आपको ऐसा लगता है कि इलाहाबाद हाईकोर्ट में इन्दिरा के हार जाने के बाद से भारतीय प्रेस बहुत सक्रिय बना रहा है, शायद पत्रकारिता की सीमाओं से बाहर निकालकर भी…

☐ इलाहाबाद हाईकोर्ट से इन्दिराजी के हारने और उच्चतम न्यायालय से जीतने के बाद से प्रेस के आचरण में फर्क आया था। 'सम्पूर्ण' क्रान्ति की तैयारी में सहयोगी प्रेस ने झूठ, नफरत, हिंसा, सनसनी खूब फैलायी। फिर आपातकाल में प्रेस दब्बू हो गया। तब वीर जनसंघियों का 'युगधर्म' किसी कांग्रेसी अखबार से ज्यादा इन्दिराजी के गुणगान करता था। फिर सबसे ज्यादा प्रेस का पतन जनता पार्टी के शासन काल में हुआ। पत्रकारिता की सारी आचरण संहिता भंग हो गयी। झूठ, दुष्प्रचार, चरित्र हनन खूब किया। इसी के आसपास शुरू हुई 'इन-वेस्टिगेटिव जर्नलिज्म'(खोजी पत्रकारिता)। इसमें अरुण शौरी बहुत मशहूर हुए। पर इसमें पत्रकार को कुछ खोज नहीं करनी पड़ती। विरोधी गुट सब पोलें लाकर दे देता है। अरुण शौरी को अन्तुले के बारे में सारी जानकारी कांग्रेस के विरोधी गुट से मिल गयी और वे हीरो हो गये। उन्हें 'मेगसेसे' पुरस्कार मिल गया, जो

उस नेता या पत्रकार को मिलता है, जो अमेरिका समर्थक हो, साम्यवाद-विरोधी हो, इन्दिरा सरकार को तंग करनेवाला हो। अमेरिकी गुट को इन्दिरा गाँधी की विदेशनीति पसन्द नहीं है। अरुण शौरी की सारी रिपोर्टिंग इन्दिरा सरकार को बदनाम करनेवाली हुई है। अरुण शौरी की असम हत्याकाण्ड के बारे में रिपोर्ट पढ़िए। उन्होंने आर. एस. एस. और भारतीय जनता पार्टी को साफ बचा लिया, जबकि हत्याकाण्ड के लिए यही जिम्मेदार हैं। इस सबसे आप समझ लीजिए कि 'तीस मार खाँ' पत्रकार अरुण शौरी किस गुट की राजनीति कर रहे हैं। वे किन शक्तियों की खिदमत में हैं। उनकी स्वतन्त्र पत्रकारिता कितनी झूठी है। वे प्रतिक्रियावादी, हितों के 'साधक' पत्रकार हैं जो अपनी वास्तविकता और दिखावटी साहस से 'हीरो' हो गये हैं।

खोजी पत्रकारिता में अब चल रहे हैं अपराध कथा, व्यभिचार कथा, चरित्र-हनन, सनसनी, बदनामी, हिंसाकथा, क्रूरकथा। खोजी पत्रकार यह खोज करने का कष्ट गवारा करें—विदेशी धन से 'भारत कल्याण' करनेवाले व्यक्ति और संस्थाएँ, गाँधी पीस फाउण्डेशन-जैसी देशी संस्थाओं के सहयोग से गाँवों के जो कल्याण कार्यक्रम चलाते हैं, उनका रहस्य और उद्देश्य क्या है? कष्ट करके पत्रकार इन क्षेत्रों में कुछ समय रहकर इस खतरनाक 'कल्याण'-कार्यक्रम का पर्दाफाश करें।

डोंगरगढ़ से एच. एच. मिश्रा

प्रश्न—कश्मीर चुनाव पर अरुण शौरी ने अपनी टिप्पणी में कहा है कि दोनों समाचार एजेन्सियों व सभी बड़े अखबारों की रिपोर्टिंग, तोड़-मरोड़कर, दुर्भावनापूर्वक की हुई थी। इस पर आपका क्या कहना है?

☐ अरुण शौरी कहाँ के ईमानदार हैं? उनकी असम के नरसंहार पर रिपोर्ट आपने पढ़ी है? उन्होंने आर. एस. एस. को, भारतीय जनता पार्टी को साफ बचा लिया, जबकि सब जानते हैं कि नरसंहार में इन्हीं की भूमिका थी। तथ्यपरक तो अरुण शौरी भी नहीं होते।

कश्मीर की सही स्थिति की जानकारी कुछ प्रमुख पत्रों से मिलती है। ये पत्र हैं—मेनस्ट्रीम, पेट्रियट, लिंक, न्यूएज, जनयुग। अधिकतर दूसरे अखबारों ने पक्ष लिया है।

पद्मपुर उड़ीसा से सुनील सिन्हा

प्रश्न—जब असम से विद्रोहियों को हटाने की बात असमवासी करते हैं, उड़ीसा से हमारे ही देशवासी मारवाड़ियों को भगाया जाता है, तो क्या श्रीलंका में तमिलों के खिलाफ आन्दोलन सही नहीं है?

☐ असम में जो बांग्लादेशी 30-35 सालों से आते रहे हैं उनमें अधिकतर असम के भूमिपतियों, ठेकेदारों, उद्योगपतियों द्वारा सस्ते मजदूर के रूप में लाये गये हैं। ये असमी हो चुके। ये भारत-विजय को नहीं आये थे। पेट भरने आये थे। इनका शोषण हुआ। और अब ये 'विदेशी' हो गये। इनकी सामूहिक हत्या होती

है। एक सन् तक आये बांग्लादेशियों को भारतीय नागरिकता मिल जानी चाहिए। बाकी को बांग्ला देश वापस लेगा नहीं। इन्हें समुद्र में नहीं फेंका जा सकता। यह एक मानवीय समस्या है। उड़ीसा में मारवाड़ियों के खिलाफ जो हमला हुआ है उसके कारण आर्थिक हैं। उड़िया व्यवसायी अपनी स्पर्धा में मारवाड़ी व्यवसायी नहीं चाहते। मुनाफाखोरी, कालाबाजारी में उड़िया और मारवाड़ी बराबर हैं। इस तरह एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश के लोगों को भगाना खतरनाक सिलसिला है। मारवाड़ियों को अपने तौर-तरीकों में भी सुधार करना चाहिए।

तमिल लोग शताब्दियों से श्रीलंका में बसे हैं। ये बड़े-बड़े व्यापारी और उद्योगपति हैं। साधारण मेहनतकश, तमिल भी हैं। धनी व्यापारी, उद्योगपति तमिलियों से मूल सिंहलियों की आर्थिक स्पर्धा है। यह झगड़ा जाति और भाषा का ही नहीं है, आर्थिक और राजनैतिक कारण भी हैं। तमिलियों में वामपन्थी बहुत हैं। श्रीलंका सरकार ने अधिकतर तमिलियों को नागरिकता नहीं दी है। दूसरी तरफ तमिल लोग अलग तमिल, स्वतन्त्र राज्य की माँग कर रहे हैं। सिंहली सरकार, जनता और फौज द्वारा तमिलियों पर हमला सरासर फासिस्टी कार्रवाई है। तमिलियों को भी अलग राज्य की माँग छोड़ देनी चाहिए। श्रीलंका सरकार को इन्हें नागरिकता प्रदान कर वहीं बसा लेना चाहिए। इस तमिल सिंहली संघर्ष का एक पहलू अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है। श्रीलंका की जयवर्द्धन सरकार लगभग अमेरिकी गुट में चली गयी है। श्रीलंका ने अमेरिकी समुद्री बेड़े के सैनिकों के 'रेस्ट एण्ड रिक्रियेशन' (मनोरंजन) के लिए स्थान भी दे दिया है। अमेरिका ने रूस की घेराबन्दी में लंका को अड्डा बना लिया है। घेराबन्दी भारत की भी है। तमिलों पर अत्याचार के द्वारा जयवर्द्धन सरकार भारतीयों की भावना को भड़काकर भारत सरकार से ऐसी कार्रवाई करवाना चाहती थी, जिससे अमेरिकी हस्तक्षेप हो सके। पर हमारी संसद की समझदारी तथा प्रधानमन्त्री की दृढ़ता तथा सूझबूझ के कारण यह नहीं हुआ। जयवर्द्धन तो रूस पर आरोप लगा रहे हैं। यह झूठ और बदमाशी है। वास्तव में इस काण्ड में अमेरिकी हाथ है।

28 अगस्त, 1983

भुट्टो के प्रति आम नफरत थी

केशकाल से मो. कासम मेमन

प्रश्न—पाकिस्तान की आन्तरिक अशान्ति को भारत सरकार द्वारा नैतिक समर्थन देना, उसके घरेलू मामले में दखलन्दाजी नहीं है ?

☐ पाकिस्तान में जो लोकतन्त्र के लिए संघर्ष चल रहा है उसकी सम्भावना के बारे में भारत सरकार की जानकारी सही नहीं थी। पहले दौर में यह समझा गया कि आन्दोलन बहुत विकट रूप ले लेगा। तो विदेशमन्त्री नरसिंहाराव ने आन्दोलन को खुला समर्थन दे दिया। शाम को कांग्रेस संसदीय पार्टी की मीटिंग में इन्दिराजी ने लगभग ऐसी ही समर्थन की घोषणा दी। पर दूसरे दिन ही यह समझ में आ गया कि आन्दोलन सिर्फ सिन्ध तक सीमित है। भुट्टो सिन्ध के थे। सिन्ध के एक ही हिस्से में यह आन्दोलन है—यानि भुट्टो के निवास क्षेत्र में। थोड़ा आन्दोलन पश्चिमोत्तर प्रान्त में है। वास्तव में भुट्टो के प्रति पाकिस्तान में आमतौर पर नफरत ही थी। वे झूठे, अत्याचारी, अनैतिक राजनेता थे। उन्हें 'हीरो' बनाकर पाकिस्तान में जन आन्दोलन नहीं चल सकता। भुट्टो ने पाकिस्तान तुड़वाया, जिससे बांग्ला देश बना। भुट्टो नीच से नीच कर्म करके भी सत्ता में रहना चाहते थे। दूसरी बात यह है कि पाकिस्तान पर शुरू से ही पंजाबी राजनेता कब्जा रखना चाहते हैं। सारे फौजी तानाशाह पंजाबी। फौज की कमान पंजाबी अफसरों के हाथ। एक सिन्धी भुट्टो इसलिए सत्ता पर चढ़ गया था कि वह बहुत बुद्धिमान, चतुर कूटनीतिज्ञ, कपटी और षड्यन्त्रकारी था। उस सिन्धी को पंजाबी जनरलों ने खत्म क दिया। पंजाबी तानाशाह हो गया। पंजाब में खेती खूब है। उद्योग-व्यापार लगभग नहीं। सिन्ध में उद्योग और व्यापार है। सिन्ध धनवान है। उसका शोषण पंजाबी करते रहना चाहते हैं। तो पंजाब में लोकतन्त्र के लिए कोई आन्दोलन नहीं है। इसी वक्त समझौता की बात चलने लगी। आन्दोलन की कमजोरी दिखने लगी। तब तीसरे दिन इन्दिराजी ने बयान बदला, जिसमें कहा गया कि पड़ोसी देश की घटनाओं पर हमें चिन्ता है, इसका असर हमारे देश पर पड़ता है। यह भी कहा कि खान अब्दुल गफ्फार खाँ जैसे 92 साल के बुजुर्ग बीमार नेता को जेल में नहीं रखना चाहिए। इन्दिराजी ने बात यों बनायी कि मेरा कल का बयान प्रेस में गलत छपा है। इस तरह पाकिस्तान के अन्दरूनी मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं हुआ।

पर अगर आन्दोलन बढ़ता, उग्र होता, सारे पाकिस्तान में फैलता और शक्तिशाली जन आन्दोलन हो जाता तो भारत उसे और भी स्पष्ट रूप से समर्थन और प्रोत्साहन देता। हम वहाँ लोकतन्त्र चाहते हैं। यह हमारे हित में है। इसके लिए भारत सरकार बहाने पैदा करके और तरह से भी हस्तक्षेप कर सकती थी। अब पाकिस्तान में कुछ हुआ तो यही होगा कि या तो समझौता होगा या जनरल जिया

की जगह दूसरा जनरल बैठ जायेगा। पर आगे कुछ सालों में पाकिस्तान के तीन टुकड़े होंगे।

जगदलपुर से मनोहर साहू

प्रश्न—कहा जाता है कि हर सफल पुरुष के पीछे एक महिला होती है। फिराक के पीछे कौन था ?

☐ फिराक के व्यक्तिगत जीवन के बारे में न पूछें तो अच्छा है। प्रचलित मान्य मूल्यों के हिसाब से उनका व्यक्तिगत जीवन अच्छा नहीं था। वे अपनी पत्नी से जीवन-भर नफरत करते रहे। वे शराबी थे। उनके सम्बन्ध स्त्रियों और खूबसूरत लड़कों से थे। इस तरह का चरित्र दुनिया में कई महान लेखकों का रहा है। मोपांसा भी चरित्रहीन थे। जोश मलीहाबादी कोई संयमी नहीं थे। फिराक साहब ने अपने चरित्र के दोषों को छिपाया नहीं। खुलकर बताया। कहा। साफ-साफ लिख भी दिया। फिराक के भीतर सौन्दर्य और प्रेम की भावना बहुत तीव्र थी। इसके साथ ही अभिव्यक्ति का उद्यम आवेग 'निराला' की तरह था। उनकी आत्मा में बहुत ऊष्मा और ऊर्जा थी। इसलिए वे महान शायर थे। इसी से हमें मतलब है। वे खुद कह गये हैं कि एकाध कोई स्त्री थी जिससे उनका आत्मिक सम्बन्ध था, बाकी सबसे केवल शारीरिक। प्रणय—उनकी खास भावना थी। उदासी बहुत थी। उनमें प्रगतिशील क्रान्तिकारी तत्व भी थे। गरज कि—

काट दिये, जिन्दगी के दिन ऐ दोस्त
वो तेरी याद में हो, या तुझे भुलाने में।

आपके प्रश्न ने मुझे याद दिला दिया। मेरी मुलाकात उनसे 1970 में हुई। उन्होंने मेरी काफी रचनाएँ पढ़ी थीं, पहले मुलाकात भी हो चुकी थी। वे अपने भाई के घर थे। ब्लड प्रेशर बढ़ा था। तबीयत खराब थी। बोले—अब मैं मौत के नजदीक पहुँच चुका हूँ। मैंने कहा—मौत पर आपका एक शेर है। सुनाता हूँ—

किसी के बज्मे तरब में हयात बँटती थी
उम्मीदवारों में मौत भी नजर आयी।

फिर मैंने इन्हें 'ताज' भोपाली का शेर सुनाया—

गमे जमाना जिसे आप मौत कहते हैं
हमें वो मौत न मिलती तो मर गये होते।

फिराक साहब ने 'ताज' भोपाली की बहुत तारीफ की। बोले—मियाँ तुम नहीं जानते, यह 'ताज' बहुत बड़ा शायर है।

फिराक साहब की जिन्दगी में अराजकता थी। पर काव्य में कठोर अनुशासन था।

डोंगरगढ़ से महेश कुमार

प्रश्न—गाँधी अपने जीवन में अमेरिका समर्थक थे या सोवियत समर्थक ?

☐ गाँधीजी के जमाने में 'शीत युद्ध' नहीं चला था। अमेरिका दूसरे महायुद्ध के पहले तक राष्ट्रों की स्वाधीनता का समर्थक तथा साम्राज्यवाद-विरोधी

था। कई अमेरिकी नेता तथा आम जनता भी भारत की स्वाधीनता की लड़ाई का समर्थन करते थे। तब दुनिया में अँगरेजी साम्राज्य का बोल-बाला था। अमेरिका अलग अनजाना महाद्वीप था, जो पैसा कमा रहा था। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका साम्राज्यवादी हुआ। तो गाँधीजी अमेरिका सहयोग से प्रसन्न ही थे। भारत की स्वाधीनता का समर्थन लेनिन और स्टालिन ने भी किया। गाँधीजी ने साम्यवाद विरोधी एक शब्द भी नहीं कहा। उन्होंने 1917 की रूसी समाजवादी क्रान्ति की प्रशंसा की। लेनिन के वे प्रशंसक थे। गाँधीजी एक मानवतावादी नेता थे। उन्होंने तो हिटलर को भी एक उपदेशात्मक पत्र लिखा था। उन्होंने यहूदियों से कहा था कि तुम नाजियों के अत्याचारों का सामना अहिंसा से करो। गाँधीजी राजनीति, अर्थनीति में नैतिकता को विशेष महत्त्व देते थे। वे अमेरिका और रूस दोनों के प्रति सद्भावना रखते थे।

रायगढ़ से मनजीत सिंह 'अम्बर'

प्रश्न—क्या भारतीय बच्चों को 'सेक्स-शिक्षा' दी जानी चाहिए, ताकि इस विषय का हौवा खत्म हो सके?

☐ एक उम्र के बाद भारतीय बच्चों को सेक्स-शिक्षा देना चाहिए। किशोरावस्था आने लगे तब यह शिक्षा शुरू हो जानी चाहिए। पर भारतीय समाज वर्जनाओं का शिकार है। यहाँ इस पर लोग आन्दोलन कर बैठेंगे। राजनैतिक पार्टियाँ इसका उपयोग करेंगी। फिर सेक्स-शिक्षा बहुत नाजुक मामला है। इसके लिए विशेष तरीके अपनाने पड़ते हैं। शिक्षण करनेवाले भी योग्य होने चाहिए। वरना सेक्स-शिक्षा कामोत्तेजना का कारण बन जायेगी। स्कूली उम्र में ही बच्चे सेक्स-सम्बन्ध करने लगेंगे। पश्चिमी देशों में तो समाज ने इसे मान लिया है कि स्कूल की 30-40 फीसदी लड़कियाँ गर्भवती हो जाती हैं। भारत में यौन-पवित्रता को बहुत महत्त्व दिया जाता है। यहाँ सेक्स-शिक्षा दी गयी तो बहुत सावधानी बरतनी होगी।

अपने देश में ब्रह्मचर्य को बड़ा धर्म मानते हैं। यह अवैज्ञानिक है। भ्रम है। जैविक विज्ञान के अनुसार गलत है। ब्रह्मचारी एक तो वास्तविक नहीं होते। वे अप्राकृतिक सेक्स क्रियाएँ छिपकर करते हैं। जो वास्तव में ब्रह्मचारी रहते हैं वे क्रूर, सनकी, जिद्दी और अमानवीय हो जाते हैं। सामान्य सेक्स जीवन हर मनुष्य का होना चाहिए।

भिलाई नगर से अशोक धवले

प्रश्न—मदर इण्डिया के सम्पादक व भूतपूर्व जनसंघी सांसद बाबूराव पटेल ने कहा था कि साम्यवाद से किसान अपने ही खेत में बैल और दूकानदार अपनी ही दूकान में नौकर बन जायेगा, आपकी प्रतिक्रिया?

☐ बाबूराव तो साम्यवाद को समझते नहीं थे या समझकर गलतबयानी करते थे। यह बात आम जनसंघी कहते हैं, क्योंकि वे साम्यवाद-विरोधी हैं। इससे तर्क करना व्यर्थ है। जब सामूहिक खेती की बात उठी थी तब न केवल जनसंघियों

ने बल्कि बहुत से कांग्रेसियों ने भी यही कहा था कि किसान की जमीन छूट जायेगी। वह अपनी ही जमीन पर मजदूर हो जायेगा। ये लोग बड़े भूमिपति और व्यापारी के शोषण की परम्परा को जीवित रखना चाहते हैं। इसलिए ऐसा कहते हैं। साम्यवादी व्यवस्था वैज्ञानिक, मानवतावादी और समता पर आधारित है। पूंजीवादी, सामन्तवाद के समर्थक उसके बारे में इसी तरह की बातें उड़ाते हैं। पहले तो यहाँ तक प्रचार करते थे कि रूस में बच्चे सरकार के होते हैं, माँ-बाप के नहीं। वहाँ कोई किसी का न पति होता न कोई किसी की पत्नी। आप सोचिए कि जो समाज ऐसा होगा, वह सिर्फ 60-65 सालों में उन्नति के उस शिखर पर पहुंच जायेगा, जहाँ रूस है।

रायपुर से अलाउद्दीन

प्रश्न—अब कृत्रिम हृदय लगने लगे हैं तो कोमल मन या कविहृदय-जैसी बातें कहना-लिखना गलत न होगा? क्या कृत्रिम हृदयधारी लेखक के लिखने में फर्क आने लगेगा?

☐ आप गलत समझ रहे हैं। हृदय खून पम्प करने की मशीन है। भावना उसमें नहीं उठती। अनुभव मस्तिष्क (ब्रेन) तक जाते हैं। मस्तिष्क अनुभव का विश्लेषण और अर्थ करता है। इससे चेतना बनती है। इसी से आवेग, संवेग, भावना बनती है। कृत्रिम हृदय से चेतना पर कोई प्रभाव नहीं होगा। हाँ, यदि कृत्रिम हृदय ठीक से खून मस्तिष्क तक न पहुँचा सका तो जरूर गड़बड़ होगी। सिर्फ कोमल मन में कविता नहीं होती। इसकी प्रक्रिया जटिल है।

25 अक्टूबर, 1983

पहले एक लड़की भगाइए फिर.........

राजिम से भोलाप्रसाद मालवीय

प्रश्न—बेटी के पैदा होने पर कहा जाता है, घर में लक्ष्मी आ गई, तब बेटे के पैदा होने पर विष्णु आयेंगे क्यों नहीं कहा जाता? क्या लक्ष्मी ही वन्दनीय है?

☐ मुहावरे युगों के जातीय अनुभव से बनते हैं और व्यक्ति की जबान पर आ जाते हैं। युग बदलता है, तो मुहावरा बना रहता है पर अर्थ बदल जाता है। कभी लड़की की शादी में दहेज नहीं लगता होगा, तब कहा जाता होगा—घर में लक्ष्मी आ गई। अब लड़की का पैदा होना माँ-बाप को चिन्ता देता है। अब बेचारी लड़की घर से दहेज के रूप में लक्ष्मी बाहर निकालनेवाली हो गयी। लड़की

माता-पिता, भाई-बहिन की जितनी सेवा करती है उतनी लड़का नहीं करता। इसलिए लड़की अच्छी मानी जाती है। लड़के का क्या ठिकाना? आवारा हो गये और रोज पुलिस घर में आने लगी तो विष्णु के माँ-बाप की दुर्गति हो जायेगी।

रायगढ़ से सुरेशकुमार दुबे

प्रश्न—आपका फोटो दो रंगों में छपता है। क्या आपकी जिन्दगी भी 'डबल' है?

☐ मेरे चित्र पर से दो रंगों में कलाकार ने दूसरा मेरा चित्र बनाया है। यह व्यक्तित्व उभारने के लिए किया गया है। दुहरी जिन्दगी किसी की होगी तो क्या वह दुरंगा चित्र बनवाकर अपनी पोल खोलेगा?

सूरजपुर से पी. के. घोष

प्रश्न—नेतागिरी की पहली सीढ़ी?

☐ नेतागिरी की पहली सीढ़ी नहीं होती। आप कभी नेता नहीं होंगे, क्योंकि आप पहली सीढ़ी खोज रहे हैं। नेतागिरी पर छलाँग लगाकर पहुँचना पड़ता है। संजय ने कौन-सी सीढ़ी चढ़ी थी? और राजीव कौन-सी सीढ़ी से चढ़े? आप 'लिफ्ट' खोजिए।

रायपुर से कुमार बुल्हानी

प्रश्न—प्रेम का रोग लगा हमको, इसकी दवा अजी हो तो कहो···?

☐ अचरज है आपकी समझ को कि आप प्रेम जैसी पवित्र, उदात्त भावना को रोग कहते हैं। आप बड़े भाग्यवान हैं। इस रोग की दवा मत खोजिए। रोग का मजा लीजिए। हाँ, प्रेमिका के पिता, भाई या पति से सावधान रहिए। उसका दूसरा प्रेमी हो तो उससे भी सावधान रहिए। ये इलाज के लिए मार-पीट कर बैठते हैं। मेरी सलाह है—आप उससे फौरन शादी कर डालिए। रोग और रोगी दोनों खत्म हो जायेंगे।

खरसिया से सुनील सुल्तानिया

प्रश्न—जिद्दी व्यक्ति का कोई इलाज···?

☐ जिद्दी व्यक्ति में अक्सर विटामिन बी की कमी होती है। इसी कमी से वह जिद्दी हो जाता है। मोहम्मद अली जिन्ना के शरीर में भी विटामिन बी की कमी थी, इसी कारण वह पाकिस्तान बनवाने की जिद पर अड़ गये थे। पर उनके मरने के बाद यह तथ्य उनके डाक्टर ने बताया। अगर पहले मालूम हो जाता तो महात्मा गाँधी किसी तरह जिन्ना को विटामिन बी खिला देते या इन्जेक्शन दिलवा देते। लार्ड माउण्टबेटन भी जिन्ना को बार-बार विटामिन बी दिला पाते। शायद जिन्ना पाकिस्तान की जिद छोड़ देते।

बिलासपुर से दयाराम राठौर

प्रश्न—जब लोहा लोहे को काटता है तो पाप पाप को क्यों नहीं काट सकता···?

☐ आप लोहे और पाप को एक ही प्रकृति का मानते हैं क्या? अगर

मानते हैं तो एक लड़की को भगाइए। यह एक पाप हो गया। अब कीजिए, यानी उससे बलात्कार कीजिए। अब पाप से पाप कट गया और आप पुण्यवान हो गये। मगर आप पुण्यवान को 6 साल की जेल होगी। पिटेंगे सो अलग। ऐसे खतरनाक सवाल मत पूछा करिए।

धमतरी से शिवदत्त उपाध्याय

प्रश्न—श्रीमती गाँधी की उपमा आप किससे करना चाहेंगे?

☐ इन्दिरा गाँधी किण्डरगार्डन की हेडमास्टरनी हैं।

डोंगरगढ़ से हरीश लक्केधार

प्रश्न—यदि प्रेमिका रकीब को घास डालने लगे तो कोई उपाय···?

☐ आप उस रकीब को देखकर खुश होइए। उसे खिलाइए-पिलाइए। वह आपकी प्रेमिका के करीब है। उसमें प्रेमिका की तस्वीर देखिए। उसे स्नेह दीजिए। वह आपको प्रेमिका की याद दिलाता है। कृष्ण ने ऊधौ को ब्रज भेजा था कि कृष्ण के विरह में डूबी गोपियों को निर्मोही करके योग सिखायें। पर गोपियों ने कहा—

ऊधौ, आज हमहु बड़भागी
जिन अँखियन तुम श्याम विलोके
ते अँखियाँ हम लागीं।···

ऊधौ, हम बड़ी भाग्यशाली हैं। जिन आँखों से तुमने श्याम को देखा, उन आँखों को हमने आज देखा।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की 'रकीब' एक नज्म है। कहीं मिल जाय तो पढ़िए।

बेमेतरा से मो. अनवर बीबा

प्रश्न—फैशन युग में तरक्की का कोई नुस्खा बतायेंगे।

☐ यह फैशन युग नहीं है। आपने गलत नाम दिया है। यह आधुनिक युग है। आप किस क्षेत्र में तरक्की करना चाहते हैं, यह बतायें तो मैं नुस्खा बताऊँ। आप करोड़पति सेठ बनना चाहते हों और मैं आपको किसान आन्दोलन में काम करने के लिए सलाह दे दूं, तो आप दुकान पर नहीं, जेल में होंगे। वैसा दो नम्बरी दुकान पर बैठने से अच्छा है, जनआन्दोलन में जेल में बन्द होना।

कुम्हारी से रामकुमार सोनी

प्रश्न—खादी की लँगोटी लगाकर बापू ने हमें आजादी सौंपी, किन्तु अब खद्दरधारियों पर विश्वास क्यों लुट गया?

☐ आजादी गाँधीजी की लँगोटी के कारण नहीं मिली। गाँधीजी के संगठन, नेतृत्व, आन्दोलन और विलक्षण बुद्धि के साथ भारतीय जनता ने संघर्ष करके आजादी प्राप्त की। खादी पहनना ईमानदारी या विश्वसनीयता नहीं लाता। सत्ता पाकर खादीधारी भ्रष्ट, गैर-जिम्मेदार, स्वार्थी हो गये, इसलिए विश्वास लुट गया।

अमिताभ-जैसे प्रधानमन्त्री बन गये तो ?

महासमुन्द से हरमीतसिंह चावला

प्रश्न—विवेकानन्दजी ने कहा था कि 'दुःख एक प्रकार से छूत का रोग है।' तो क्या दुखियों के पास नहीं जाना चाहिए ?

☐ मुझे पता नहीं है कि विवेकानन्दजी ने किस सन्दर्भ में कहा था। सन्दर्भ से कटकर वाक्य का सही अर्थ समझने में नहीं आता। यह निश्चित है कि विवेकानन्द का यह प्रयोजन कतई नहीं था कि दुखी आदमी के पास मत जाओ, क्योंकि तुम्हें भी दुख लग जायेगा। विवेकानन्द तो गरीबों की सेवा करने के लिए कहते थे। विवेकानन्द कई मामलों में क्रान्तिकारी विचार रखते थे। वे कहते थे—अपनी गरीबी और दासता से मुक्त होने के बजाय मेरे देशवासी भगवान की प्रार्थना करते हैं। यह ढकोसला है। यूरोप में उन्होंने भाषणों में कहा—भारतवासी भूखे हैं। उन्हें रोटी चाहिए। आप उन्हें अनाज नहीं भेजते, पादरी भेजते हैं। विवेकानन्द साफ कहते थे, जब तक गरीब के दुःख पर मुखापेक्षिता, दासता, हीनता से मुक्त नहीं होते, तुम्हारी ईश्वरभक्ति और अध्यात्म सब व्यर्थ है। चावलाजी, दुखी के पास जरूर जाइए। दुःख के कोई रोगाणु (बैक्टीरिया) नहीं होते। दूसरे का दुख दूर करेंगे, तो आपकी ही बीमारी मिटेगी।

दुर्ग से आनन्द श्रीवास्तव

प्रश्न—क्या किसी प्रकार हमारे देश से भ्रष्टाचार समाप्त हो सकता है ?

☐ भ्रष्टाचार न उपदेश से समाप्त होगा न इतने भ्रष्टाचार-विरोधी विभागों से, न कानून से, न नेताओं के भाषणों से, न गाँधीजी के नाम से, न न्यायालयों से। भ्रष्टाचार इस व्यवस्था में निहित है। इसमें छीन-झपट की संस्कृति पनपती है। एक्यूजिटिव काम्पर। इस संस्कृति में जिसे जहाँ मौका मिलता है, छीन-झपट लेता है। इस व्यवस्था को बदले बिना भ्रष्टाचार नहीं मिटेगा। शान्तिपूर्वक हो, चाहे हिंसा से हो, समाजवादी क्रान्ति किये बिना भ्रष्टाचार नहीं मिटेगा। सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन होगा, तब मनुष्य की मानसिकता बदलेगी, स्वस्थ्य जीवन-मूल्य पैदा होंगे। अभी तो बिना कमाये काला धन भगवान का बाप हो गया है। भगवान का डर भी नहीं रहा, क्योंकि भगवान के बाप को तिजोड़ी में रखे हैं।

महासमुन्द से लोकनाथ साहू

प्रश्न—भगवान को याद करते समय मनुष्य आसमान की ओर ही क्यों देखता है ?

☐ सभी धर्मों में यह विश्वास है कि भगवान बहुत ऊपर आसमान में कहीं रहता है। वहीं कहीं स्वर्ग और नर्क है। पर रूस और अमेरिका के अन्तरिक्ष यात्री बहुत ऊपर तक पूरे अन्तरिक्ष में घूम आये हैं, देख आये हैं—न कहीं भगवान

का राज मिला न भगवान, न स्वर्ग न नर्क। पर धार्मिक विश्वास की जड़ें गहरी होती हैं। लोग मानते हैं कि भगवान अन्तरिक्ष में कहीं है।

बसना से ए. के. सबलोक

प्रश्न—हर बसन्त के बाद पतझड़ क्यों आता है ?

☐ ऋतुओं का क्रम है यह—प्रकृति का। पतझड़ में बूढ़े पीले पत्ते झड़ जाते हैं और फिर उनकी जगह नये पत्ते आते हैं। हमें प्रकृति से सीखना चाहिए। पुरानी, पीली, बीमार सामाजिक व्यवस्था का अब पतझड़ हो जाना चाहिए, जिससे ताजा हरे पत्तों की व्यवस्था आ सके।

खुर्सीपार भिलाई से गोविन्दराम अग्रवाल

प्रश्न—'पीते हैं आँसू खाते हैं ग़म, आप ही बतायें क्या करें हम ?'

☐ आप जो कर रहे हैं काफी कर रहे हैं। आँसू पीते जाते हैं, ग़म खाते जाते हैं, तो अच्छी बात है। आपने यह नहीं बताया कि आपको आँसू क्यों आते हैं। कोई सामाजिक कारण है, आर्थिक कारण है या इश्क़िया आँसू हैं। रोग ही आपने छिपा लिया तो इलाज क्या बताऊँ ?

दुर्ग से अशोककुमार साहू

प्रश्न—यदि आप नास्तिक हैं, तो फिर आपने अपने नाम से ईश्वर के नाम 'हरि' और 'शंकर' क्यों नहीं हटाये ?

☐ अस्ति और नास्ति के बारे में सवाल मुझसे हर हफ्ते पूछे जाते हैं। लोगों को अपनी कम, भगवान की बड़ी चिन्ता है। भारतीय दर्शन में भौतिकवादी निरीश्वरवादी दर्शन की बड़ी पुष्ट परम्परा है। बृहस्पति से लेकर चार्वाक, कपिल, कणाद आदि ऋषि निरीश्वरवादी थे। चार्वाक ने पदार्थवादी 'लोकापत' धर्म चलाया। कपिल मुनि ने सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष है, ईश्वर नहीं है; बुद्ध ने ईश्वर पर विचार करना व्यर्थ माना। महावीर निरीश्वरवादी । अनेकान्तवाद में ईश्वर की सत्ता नहीं है। मगर अच्छा आदमी कौन था ? निरीश्वरवादी बुद्ध, या खुदा में विश्वास करनेवाला हत्यारा नादिरशाह ? जितने दो नम्बरी और चार-सौ बीस वाले हैं सब नियम से भगवान के मन्दिर जाते हैं। नाम तो रखा होगा किसी पुरोहित और मेरे पिता ने। उसे बदलकर क्या मिस्टर स्टोन या गोल्ड वाटर या फाक्स रख लूं। इन नामों से लोग ईसाई समझेंगे। तमिलनाडु में एक विकट नेता हो गये हैं रामस्वामी नाइकर 'पेरियार'। द्रविड़ मुनेत्र कडगम और अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कडगम उन्हीं की प्रेरणा से चली। वे तार्किक थे। नास्तिक थे। सर्वहारा की क्रान्ति चाहते थे। वे ब्राह्मण विरोधी थे। वर्णव्यवस्था विरोधी थे। वे रामायण और मनुस्मृतियों को चौराहों पर जलवाते थे। वे रामचन्द्र को आक्रमणकारी मानते थे। राम के खिलाफ नारे लगवाते थे। पर नाम रहा—रामस्वामी।

रायपुर से रूपचन्द पंजवानी

प्रश्न—इन्सान यदि हर तरह से निराश हो जाये तो उसे क्या करना चाहिए ?

☐ मेरी सलाह है कि इन्सान को हर तरह से निराश कभी नहीं होना

चाहिए। आत्मशक्ति और कर्म से कुछ आशा जरूर जगाये रखना चाहिए। पूर्ण निराशा की कामना भी भयावह है।

अनूपपुर से विजेन्द्र सोनी

प्रश्न—ईश्वर का अस्तित्व यदि नहीं है तो हमारे चेतन-अचेतन मन को कौन प्रेरित करता है?

☐ चेतन, अचेतन मन का ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तु जगत का प्रक्षेपण प्रभाव, इन्द्रियबोध तथा अन्य प्रकार से मस्तिष्क पर पड़ता है। मस्तिष्क (ब्रेन) एक पदार्थ है। विभिन्न जीवधारियों के मस्तिष्क का वजन भी वैज्ञानिक ने कर लिया है। इस प्रक्रिया से चेतना बनती है। फिर चेतना और वस्तुजगत का द्वन्द्व होता है, जिससे अनुभव होते हैं और निष्कर्ष निकलते हैं। इनमें से अधिकांश अनुभव अवचेतन में चले जाते हैं और नींद में जब चेतन निष्क्रिय होता है, अव-चेतन के अनुभव ऊपर आते हैं और सपने दिखते हैं। नशे में भी चेतन दबता है और अवचेतन ऊपर आता है, इसलिए आदमी वह बोलने लगता है जो सामान्य स्थिति में नहीं बोलता। व्यक्तिगत चेतना से मनुष्य की अस्मिता तय नहीं होती बल्कि व्यक्ति की सामाजिक अस्मिता से उसकी चेतना बनती है—कार्ल मार्क्स। इसमें ईश्वर का कहीं हस्तक्षेप नहीं है। यही शारीरिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।

जगदलपुर से घनश्याम माहेश्वरी

प्रश्न—अगर अमिताभ बच्चन को प्रधानमन्त्री और दिलीपकुमार को राष्ट्र-पति बना दिया जाय तो क्या होगा?

☐ दिलीपकुमार राष्ट्रपति हो सकते हैं, क्योंकि यह शोभा का पद है। दिलीपकुमार यह 'रोल' कर लेंगे। पर अमिताभ बच्चन प्रधानमन्त्री कैसे हो सकते हैं। उनमें कूटनीति, राजनैतिक समझ है क्या? इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र जानते हैं क्या? अन्तर्राष्ट्रीय मामले क्या वे समझते हैं? अमिताभ जैसे प्रधानमन्त्री हो गये तो देश का कबाड़ा हो जायेगा।

डोंगरगढ़ से कँवलजीत सिंह भाटिया

प्रश्न—यदि प्यार में लड़की का भाव बढ़ने लगे तो लड़के को क्या करना चाहिए?

☐ प्यार में लड़की का भाव बढ़ने लगे तो अगर आपकी हैसियत है तो बढ़ा भाव दीजिए। हैसियत नहीं है तो कोई सस्ती देखिए।

नवापारा राजिम से पुरुषोत्तम तेजानी

प्रश्न—प्रश्नकर्ता के बौद्धिक स्तर का अन्दाज आप कैसे लगा लेते हैं?

☐ प्रश्नकर्ता के बौद्धिक स्तर का पता मैं कैसे लगा लेता हूँ, यह तो मेरी समझ की बात है। इतना जरूर है कि स्तर का पता मैं लगा लेता हूँ। इसलिए सोच-समझकर प्रश्न करना चाहिए। वरना समझ की पोल खुल जायेगी।

रायपुर से भीमसेन खन्ना

प्रश्न—माँ कहती है—बेटा, दुनिया में अगर जीना है तो इन्सानियत से जियो। पर मैं आपसे पूछता हूँ कि आज आम इन्सानियत की कीमत इतनी घट क्यों गयी?

☐ आपकी माँ ठीक कहती हैं। इन्सानियत की कीमत उतनी नहीं घटी जितनी आप समझते हैं। कीमत है। एक भी सच्चा इन्सान रहे तो बड़ी बात है। मगर इन्सानियत की कीमत नहीं है, यह सोचकर आप-जैसे लोग इन्सानियत छोड़ते रहें तो वह गायब ही हो जायेगी।

गुरुर से अनिल साहू

प्रश्न—सेंसर सरकार की जरूरत है कि जनता की?

☐ सेंसर जनता की जरूरत है। जनता अपनी यह जरूरत सरकार के माध्यम से पूरी करती है।

बिलासपुर से प्रकाश पालीवाल

प्रश्न—अमृता प्रीतम और शिवानी में कौन बेहतर खिलाड़ी हैं?

☐ अमृता प्रीतम शिवानी से बहुत बेहतर लिखती हैं। अमृता प्रीतम की सबसे खराब रचना उनकी आत्मकथा है—'रसीदी टिकिट।'

24 जुलाई, 1983

हक लड़कर लेना चाहिए

भिलाई से छोटेलाल दुबे

प्रश्न—कर्म करके हमें फल की इच्छा करनी चाहिए या नहीं?

☐ गीता में कृष्ण ने कहा है कि कर्म करो और फल की इच्छा मत करो। निष्काम कर्म करो। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो सलाह सही है। कर्म का अपेक्षित फल नहीं मिला तो निराशा और कुण्ठा पैदा होगी। इसलिए फल की इच्छा मत करो। फल मिले या न मिले, कर्म किये जाओ। स्वार्थ निरपेक्ष योगी के लिए यह ठीक है। पर दिन-भर जो मजदूर काम करता है वह शाम को मजदूरी की इच्छा करे या न करे? मजदूरी उसे न मिले तो वह और उसके बाल-बच्चे भूखे रह जायेंगे। कारखाने का मालिक फाटक पर गीता का यह उपदेश लिखवा दे—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्, तो मजे में मजदूरों का शोषण कर सकता है। कर्म के फल पर मनुष्य का अधिकार है, यह अधिकार उसे लड़कर भी लेना चाहिए।

वैसे मन की यह वृत्ति अच्छी है कि भई कर्म कर रहे हैं। अब जो भी फल हो।

दुर्ग से दिनेशकुमार सोनी

प्रश्न—समाचारपत्रवाले समाचारपत्र की लोकप्रियता के लिए, प्रश्न पूछनेवाले प्रायः नाम छपवाने के लिए आपसे प्रश्न पूछते हैं। आप किस उद्देश्य से इस स्तम्भ में भाग लेते हैं ?

□ मैं नाम छपवाने के लिए तो यह कालम लिखता नहीं। मेरा नाम और फोटो बहुत छपते हैं। इतने सवालों में से कुछ सवाल अच्छे होते हैं, जिनमें सामाजिक-राजनैतिक प्रश्न उठाये जाते हैं। इनका जवाब मैं बहुत ध्यान से देता हूँ। इन जवाबों से लोक-शिक्षण होता है, जो कोई राजनैतिक पार्टी नहीं कर रही है। मोटी-मोटी किताबें पढ़ना कठिन है। मैं अगर 8-10 वाक्यों में बुनियादी बता समझा सकता हूँ और एक प्रगतिशील दृष्टि दे सकता हूँ तो मैं समझता हूँ कि यह कालम सार्थक है। बाकी इश्किया और फिल्मी सवाल तो मनोरंजन के लिए हैं।

डोंगरगढ़ से हरजिन्दर एस. पोल्ले

प्रश्न—'जिसकी रचना इतनी सुन्दर वो कितना सुन्दर होगा' ? क्या आप भी सुन्दर हैं ?

□ हरजिन्दरजी, कोई स्त्री यह सवाल पूछती तो मन से जवाब देता। आपको जवाब देने से क्या फायदा ? मेरा फोटो आप देखते ही हैं। पर कुरूप लोग भी बहुत सुन्दर लिखते हैं—बर्नार्ड शॉ, ताल्सताय, सामरसेट मॉम बहुत कुरूप थे। लिखने का रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है।

रायपुर से अनिल हरद्वानी

प्रश्न—पैसे का सही उपयोग क्या होता है ?

□ पैसे का सही उपयोग है—उसे सही काम में खर्च करना।

कुम्हारी से रामकुमार

प्रश्न—बुरे कामों के प्रायश्चित के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए ?

□ बुरे कामों के दो प्रायश्चित हैं—(1) जिनका उन बुरे कामों से नुकसान हुआ है उनका नुकसान पूरा करना और (2) आगे बुरा काम छोड़ देना।

बलौदा बाजार से राजेश खन्ना

प्रश्न—लोग अपने से बड़ों को हमेशा आप कहकर सम्बोधित करते हैं, परन्तु भगवान जो सबसे बड़ा है, उसे तुम या तू क्यों कहते हैं ?

□ अत्यन्त निकटता में आदरसूचक सम्बोधन का प्रयोग नहीं किया जाता। जब भक्त भगवान को 'तू' कहते हैं तब वे उससे अत्यन्त निकटता महसूस करते हैं।

भिलाई नगर से शामुएल

प्रश्न—पाप क्या है ? पाप की परिभाषा क्या है ?

□ पाप की कोई निश्चित व्याख्या नहीं है। धर्म पाप की जो व्याख्या करते हैं वह पुरोहित व शोषक वर्ग के हितों की रक्षा के लिए होती है। इसी तरह वर्ग-

हित से पुण्य की व्याख्या की गयी है। धर्म में तो हरिजन यदि ब्राह्मण को छू ले तो यह भी पाप माना गया है। इस पाप के लिए कोड़े मारने का दण्ड विधान है। फिर नर्क में अलग दण्ड की व्यवस्था की कल्पना है। असल में धार्मिक नजरिये से कर्म को देखना ही नहीं चाहिए। पाप और पुण्य शब्द व्यर्थ हैं। तुलसीदास ने सीधी-सी बात कह दी है—परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई। दूसरे का भला करने से बड़ा धर्म नहीं है और दूसरों को पीड़ा देने से बड़ा अधर्म नहीं है। जटिल समाज में सुकर्म और कुकर्म की व्याख्या वृहत मानव-हित और अहित से होती है। जैसे सबसे बड़ा पाप किसी भी प्रकार का शोषण है।

जगदलपुर से दीपक पण्ड्या

प्रश्न—प्रसिद्ध लेखक मुंशी प्रेमचन्दजी के प्रति आपके वैचारिक दृष्टिकोण क्या हैं? क्या वे रवीन्द्रनाथ टैगोर के बाद नोबल पुरस्कार के सही हकदार थे?

☐ रवीन्द्रनाथ ठाकुर भारत के महानतम कवियों में थे। पर वे प्रेमचन्द की तरह यथार्थवादी और सामाजिक चेतनासम्पन्न नहीं थे। प्रेमचन्द एक महान कथाकार थे। पर 'गोदान' पर उन्हें नोबल पुरस्कार नहीं मिल सकता था। एक तो विश्व साहित्य के परिप्रेक्ष्य में 'गोदान' बहुत ऊँचा नहीं जाता। दूसरे नोबल पुरस्कार देनेवाली स्वीडिश अकादमी के निर्णय पश्चिमी पूंजीवादी राजनीति से प्रभावित होते हैं। 'गोदान' सामन्तवाद और पूंजीवाद के खिलाफ है और इसमें वामपन्थी विचारधारा है। शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय को जरूर 'चरित्रहीन' और 'श्रीकान्त' पर नोबल पुरस्कार मिल सकता था।

रायपुर से मंशाराम साहू

प्रश्न—शादी के बाद पुत्र का प्यार माता-पिता के प्रति कम क्यों हो जाता है?

☐ यह आम बात नहीं है कि पुत्र का प्रेम शादी के बाद माता-पिता से कम हो जाता है। प्रेम रहता है। पर पत्नी से दूसरे प्रकार का सम्बन्ध रहता है जो आगे पूरे जीवन चलनेवाला है, जिससे सन्तति भी होगी। पत्नी से सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण 'सेक्स' का तत्व रहता है। महात्मा गाँधी ने आत्मकथा में बहुत ग्लानि से लिखा है कि जब मेरे पिता मर रहे थे तब मैं पत्नी को पकड़कर किसी कमरे में सम्भोग कर रहा था। पत्नी के प्रति अधिक लगाव होना स्वाभाविक है।

दुर्ग से सेवाराम रतनानी

प्रश्न—नास्तिक ईश्वर को किस आधार पर अस्तित्वहीन मानता है? यदि ईश्वर नहीं है तो विरोध किसका?

☐ नास्तिक ईश्वर के अस्तित्व के कोई प्रमाण नहीं पाता। वह सृष्टि की उत्पत्ति और विकास, जीवन-मरण आदि ईश्वर के कारण नहीं मानता। वह प्रकृति के द्वन्द्व तथा प्रकृति और मनुष्य चेतना के द्वन्द्व को मानता है। नास्तिक का कोई जरूरी नहीं है कि वह जो नहीं है, उसका विरोध करे। वह उस 'आइडिया' का विरोध करता है, जिसे वह असत्य मानता है।

अकलतुरा से तोलाराम वाधवा

प्रश्न—लोग उपवास क्यों रखते हैं ? उपवास रखना ईश्वर की उपासना है या इसका और भी कोई महत्त्व है ?

☐ उपवास आत्मसंयम के लिए रखा जाता है। इस्लाम में भी एक महीने के जो रोजे होते हैं, वे आत्मसंयम के लिए होते हैं। हर धर्म में यह माना जाता है कि उपवास से देवता प्रसन्न होते हैं। वास्तव में कभी-कभी उपवास स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है। पर स्वेच्छा से आदमी उपवास करेगा नहीं, इसलिए प्राचीन धर्माचार्यों ने उसका सम्बन्ध धर्म और देवता से जोड़ दिया, जिससे आदमी उपवास करने को बाध्य हो।

डोंगरगढ़ से हरजिन्दर एस. पोल्ले

प्रश्न—देश का भविष्य इन्दिरा गाँधी के हाथ में है और आपके हाथ में ?

☐ देश का भविष्य न इन्दिरा गाँधी के हाथ में है न मेरे हाथ में।

नन्दिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—क्या जिया-उल-हक़ आधुनिक शस्त्रों का उपयोग भारत के विरुद्ध कर सकते हैं ?

☐ यह सम्भावना बहुत कम है कि जनरल जिया भारत से युद्ध छेड़ेंगे। जब तक पाकिस्तान में आन्तरिक स्थिति बहुत खराब न हो जाय या जब तक अमेरिका का बहुत दबाव न पड़े, वे भारत से युद्ध करने की बेवकूफी नहीं करेंगे। भारत खुद युद्ध की पहल करे तो अलग बात है। यह खयाल गलत है कि भारत के लोग और शासक साधु-सन्त हैं। हम भी कुटिलता में किसी से कम नहीं हैं। पाकिस्तान का एक लक्ष्य अफगानिस्तान है, जहाँ साम्यवादी सरकार है। पर वहाँ रूस है। सीधे रूस से वह लड़ नहीं सकता। तो या तो यह हथियार पड़े-पड़े बेकार हो जायेंगे या उपयोग होगा तो भारत के ही खिलाफ होगा, युद्ध चाहे हम छेड़ें या पाकिस्तान।

नन्दिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—चन्द्रशेखरजी ने अब गाँधीजी के समान वस्त्र धारण करने का निर्णय लिया है। ऐसी नौटंकी करने का क्या उद्देश्य है ? क्या वे गाँधीजी के समान आचरण कर पायेंगे ?

☐ चन्द्रशेखर सबसे ऊँचे दर्जे की राजनीति कर रहे हैं। देश की दरिद्रता के लिए कन्याकुमारी से दिल्ली तक पैदल चलने की जरूरत नहीं थी। उनके पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाँवों में ही दरिद्रता देख लेते। इन लोगों के पास कोई क्रान्तिकारी कार्यक्रम नहीं है, न कोई संगठन है। नाटक है और भीड़ है, जो हर नेता के नाटक में होती है। बात चन्द्रशेखर क्रान्ति की करते हैं। मगर इस संविधान के रहते समाजवाद नहीं आ सकता। संसदीय लोकतन्त्र चलेगा और सरकारें बदलेंगी। आगे चलकर विपक्षी दक्षिणपन्थी दलों का मोर्चा बनेगा आगामी चुनाव के लिए। इस वक्त चन्द्रशेखर को गाँधी बनना जरूरी है। इससे उनकी सौदा

करने की ताकत बढ़ेगी। भावुक होने, हाय-हाय करने, दरिद्रों पर रोने से क्या सामाजिक परिवर्तन होते हैं। इन्दिरा कांग्रेस अगर हारी तो घोर दक्षिणपन्थी सरकार बनेगी, जिसका झुकाव अमेरिका की तरफ होगा और जो पूंजीवाद को और ज्यादा बढ़ावा देगी। वामपन्थियों का दमन करेगी। ये दरिद्रता घटायेंगे नहीं, बढ़ायेंगे।

भाटापारा से बचकानल

प्रश्न—भगवान के भरोसे कब तक जिया जा सकता है?

☐ भगवान के भरोसे तो एक पल भी नहीं जिया जा सकता। आदमी अपने कर्म से जीता है।

14 सितम्बर, 1983

स्त्री का चेहरा छोड़कर चप्पल क्यों देखते हैं?

तखतपुर से ए. एस. डी. खान

प्रश्न—कोई मुझे धन्यवाद देता है तो मैं उसे चप्पल खाने-जैसा महसूस करता हूँ···आप क्या समझते हैं?

☐ मैं यह समझता हूँ कि आपको सामाजिक शिष्टाचार सीखना चाहिए। सुसंस्कृत आदमी 'धन्यवाद' का बुरा नहीं मानता। अगर आपको कुछ अच्छा करने पर 'धन्यवाद'-पान चप्पल खाने-जैसा लगता है तो बुरे काम करके धिक्कार पाकर सुखी होइए।

रायपुर से अनुराग कुमार

प्रश्न—एक कत्ल की सज़ा फाँसी और 25-50 कत्ल की सज़ा मुख्यमन्त्री द्वारा सम्मान···आपका क्या विचार है?

☐ आपका मतलब डाकुओं के समारोहपूर्वक आत्मसमर्पण से है। डाकुओं का आत्मसमर्पण केवल एक कारण से न्यायोचित माना जा सकता है कि वे स्वतन्त्र रहकर और हत्याएँ न करें और डाके न डालें। आगे अपराध न करें, इसलिए आत्मसमर्पण तो ठीक है। पर आत्मसमर्पण से अपराधी 'हीरो' या 'हीरोइन' बने, उसके साथ रियायत की जाय, उसे प्रतिष्ठा मिल जाय, यह गलत है। अपराधी को सज़ा हर हालत में मिलनी चाहिए। यह जो मलखान और फूलन के समर्पण के विवरण रंगीन चित्रों के साथ रंगीन पत्रिकाओं में छपते रहे हैं, यह गलत है। इन डाकुओं ने इसलिए समर्पण किया कि या तो ये ऊब गये थे या 1-2 दिनों में

मार डाले जाते। मुझे जानकारी मिली है कि 1-2 दिनों में पुलिस इन्हें मार डालती, अगर ये समर्पण न करते।

राजनाँदगाँव से राजकुमार वासाटे

प्रश्न—नारी को अबला मानकर व्यवहार करें या तबला ?

☐ नारी को अबला या तबला समझें ? यह प्रश्न तो आप अपनी पूज्या माताजी या बहिन से पूछिए। पर आपके प्रश्न से आप मुझे ढोल मालूम होते हैं।

राजनाँदगाँव से प्रकाश देवांगन

प्रश्न—चेतावनी देने के बाद भी कोई चरित्रहीन स्त्री न माने तो उसका पति क्या करे ? हत्या या तलाक ?

☐ हत्या तो कतई नहीं करनी चाहिए। कानूनन तलाक ले लेना चाहिए। सभ्य समाज में यही सही रास्ता है।

बालाघाट से एस. के. मेश्राम

प्रश्न क्या स्वर्ग में भी एस. टी., एस. सी. के लिए आरक्षण व्यवस्था होगी ?

☐ स्वर्ग और नरक नहीं है। यह साधारण मनुष्य का शोषण करने के लिए कल्पना है। हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म सबमें स्वर्ग और नर्क की कल्पना है। और आप यह जानकर शायद चौंकेंगे कि इस्लाम और ईसाई धर्म में भी परलोक की कल्पना में 'वैतरणी' है। धर्म के अनुसार जो पौराणिक कल्पना है स्वर्ग की, वह भी लगभग समान है। जो-जो चीजें इस जीवन में वर्जित, अनैतिक और पाप मानी जाती हैं सब स्वर्ग में भोगने के लिए मिलती हैं। औरतें मिलती हैं। मदिरा मिलती है। सारे भोग मिलते हैं। व्यभिचार कीजिए, मदिरा पीजिए। पानी नहीं, अमृत पीजिए। बारह महीने फलनेवाले फल खाइए।

और काम ? काम कुछ नहीं। नौकरी ? कोई नौकरी नहीं। निठल्ले, आलसी आदमियों का संसार है यह, कल्पना का स्वर्गलोक है।

जहाँ आदमी को कोई काम ही न करना हो, दिन-पर-दिन, साल-दर-साल, बेकार बिताने पड़ें वह स्वर्ग क्या, नर्क हुआ। वहाँ रिजर्वेशन किसलिए होगा ?

डोंगरगढ़ से बलजिन्दर

प्रश्न—महिलाएँ चप्पल घसीटकर क्यों चलती हैं ?

☐ मैंने तो महिलाओं को चप्पल घसीटकर चलते नहीं देखा। आपने देखा होगा। आप स्त्री के मुख-मण्डल का सौन्दर्य छोड़कर उसकी चप्पलें क्यों देखते हैं ?

जबलपुर से जितेन्द्र कुमार जैन

प्रश्न—आपको तो उत्तर देने के पैसे मिलते हैं, हमें प्रश्न पूछने के पैसे नहीं मिल सकते क्या ?

☐ प्रश्नों के उत्तर देने के लिए मुझे क्या मिलता है, यह सम्पादक और मैं जानते हैं। आपका पेमेण्ट यह है कि आपका प्रश्न और उसका उत्तर छपते हैं, जिससे दस आदमियों में आपका नाम पहुँचता होगा।

जगदलपुर से अरविन्द त्रिपाठी

प्रश्न—वेश्याएँ बारात देखकर क्या सोचती होंगी ?

☐ लम्बे समय तक पेशा करते-करते वेश्या की भावनाएँ कुण्ठित हो जाती हैं। कुछ की मानवी भावनाएँ जीवित रहती हैं। वे दयालु और सहानुभूतिपूर्ण होती हैं। वे प्राकृतिक पारिवारिक सम्बन्धों की कद्र भी करती हैं। वे बारात देखकर दुखी होती होंगी कि हमारी जिन्दगी कैसी हो गयी है। वेश्याएँ वर-वधू को आशीर्वाद देती होंगी। अपनी हालत पर पछताती होंगी।

जगदलपुर से अरविन्द त्रिपाठी

प्रश्न—मुसीबत का 'म', हैरानी का 'ह', बर्बादी का 'ब' और तबाही का 'त' जोड़कर मुहब्बत बना है, क्या यह सही है ?

☐ मुहब्बत में न मुसीबत है न हैरानी न बर्बादी न तबाही। जो सम्बन्ध परिवार और समाज को स्वीकार न हो उसी में ये परेशानियाँ होती हैं। वरना मुहब्बत है तो शादी कर लीजिए। शादी नहीं कर सकते, और मुहब्बत चलाना चाहते हैं तो उसमें भी समाज, उत्तेजना आदि का सुख है। मुहब्बत में क्या होगा, वह इस सम्बन्ध में मान्य सामाजिक नैतिक मूल्यों पर निर्भर है। अगर आपमें इन मूल्यों को तोड़ने का साहस है तो तोड़ डालिए। प्रश्न पूछने से बेहतर है—कुछ करके बताइए जो अखबार में सनसनीखेज छपे।

डोंगरगढ़ से के. एस. भाटिया

प्रश्न—लड़की अगर पहला तोहफा लौटा दे तो लड़के को अगला कदम क्या उठाना चाहिए ?

☐ पहला तोहफा लौटाने पर दूसरा तोहफा पेश करना चाहिए। हर प्राणी की मादा पहले 'नहीं' कहती है। दूसरा लौटा दे तो तीसरा तोहफा पेश कीजिए। तीसरा भी लौटा दे तो यह सिलसिला बन्द, क्योंकि वह कहीं चप्पल का तोहफा न देने लगे।

भारतीय संस्कृति शव-पूजक नहीं है

छरछेद (कसडोल) से परमेश्वरलाल वाधवानी

प्रश्न—अगर प्रेमिका के घर शहनाई बज रही हो तो असफल प्रेमी को क्या करना चाहिए ?

☐ अगर प्रेमिका के घर शहनाई बज रही हो तो असफल प्रेमी का कर्त्तव्य है कि वह भेंट में साड़ी तथा टॉप्स लेकर जाय और प्रेमिका को भेंट करके उसके

चरण छू ले।

जगदलपुर (बस्तर) से राजेश, निलेष एवं रवीन्द्र

प्रश्न—भारत में आदमी के मरने के पश्चात् ही उसकी योग्यता क्यों जाहिर होती है?

☐ यह गलत धारणा है। भारतवासी संस्कृति से मुर्दा पूजनेवाले नहीं हैं। ऊँचे दर्जे की योग्यता को जीवन-काल में भी माना जाता है। कितने वैज्ञानिक कवि-लेखक हैं, जिनकी योग्यता का सम्मान उनके जीवन-काल में ही मिलता है। कोई-कोई व्यक्ति ही होते हैं, जिन्हें मरने के बाद मान्यता प्राप्त होती है। इसके कई कारण हैं—जैसे उनके नये विचारों को लोग जल्दी ग्रहण नहीं कर पाते, उन्हें उनकी कीमत करनेवाले योग्य आदमी नहीं मिलते, दूसरे लोग द्वेष के कारण उनके महत्त्व को दबा देते हैं। कुछ लेखक ऐसे हैं जिनकी महान रचना उसके मरने के बाद प्रकाश में आती है। भारतवासी अपने बारे में जो अच्छी-बुरी गलत धारणाएँ बनाते हैं, उसमें एक धारणा आपकी है।

रायपुर से अनिल हरद्वानी

प्रश्न—दोस्ती में सच्चाई कब झलकती है?

☐ दोस्ती में सच्चाई की परीक्षा तब होती है जब एक दोस्त को ऊँची नौकरी, सम्मान, यश या सम्पत्ति मिल जाय और उसका दोस्त इससे खुश हो। ऐसे बहुत दोस्त बननेवाले मिलेंगे, जो दोस्त की उन्नत्ति से भीतर-ही-भीतर द्वेष करते हैं और दुखी होते हैं। मुसीबत से ज्यादा सही परीक्षा दोस्ती की दोस्त की उन्नति में होती है। मुसीबत में तो दुश्मन भी सहायता कर देते हैं। सच्चा दोस्त वह, जो दोस्त की उन्नति में खुश हो।

रायगढ़ से अनिलकुमार रतेरिया

प्रश्न—अगर भारत सरकार पंजाब समस्या का उचित हल निकालने हेतु आपको स.प दे तो आप उसे कैसे सुलझायेंगे?

☐ अकाली अल्पमत में हैं मगर अपनी सरकार बनाना चाहते हैं। धर्मयुद्ध के पीछे यह दबी हुई इच्छा है। दूसरे अकाली नेता हठी हैं। वे फैसला नहीं चाहते, अपनी बात मनवाना चाहते हैं। तीसरे समझदार नर्म अकली नेता उग्रवादी सन्त जरनैलसिंह भिण्डरावाले से दबते हैं, क्योंकि हथियारबन्द उन्मादी सिख युवकों के कमाण्डर वही हैं। और भिंडरावाला से बात दुनिया का कोई तर्कशास्त्री नहीं कर सकता। वे लगभग अपढ़ हैं। उनका तर्क देखिए जब ब्राह्मण के जनेऊ की लम्बाई पर रोक नहीं है तो सिख की कृपाण की लम्बाई पर रोक क्यों है। बताइए, ऐसे आदमी से क्या वह आदमी बात कर सकता है, जो पागल नहीं है। मैं इस झंझट में नहीं पड़ूंगा।

रायपुर से बी. आर. रात्रे

प्रश्न—भारतीय महिलाएँ अपने पति का नाम लेने से क्यों कतराती हैं? पति पत्नी का नाम ले सकते हैं किन्तु पत्नी पति का नाम क्यों नहीं ले सकतीं?

□ बहुत पुरानी प्रथा चली आ रही है कि पत्नी पति का नाम नहीं लेती। 'हमारे वे' कहती हैं। पुराने खयालात के परिवारों की बात छोड़िए, बहुत आधुनिक परिवारों में भी पत्नी पति का नाम नहीं लेती। मगर मैं देख रहा हूँ, शिक्षित वर्ग में यह संकोच खत्म होता जा रहा है। बहुत स्त्रियाँ यह नहीं कहतीं कि उनसे पूछकर बताऊँगी। वह कहती हैं—मिस्टर तिवारी से पूछकर बताऊँगी। कुछ स्त्रियाँ इससे भी आगे बढ़ गयी हैं। वे पति का सीधा पहला नाम लेती हैं—रमेश दिनेश, प्रकाश।

पैरी (सिकोसा) से पन्ना सोनबोइर

प्रश्न—आपकी दृष्टि में राजनीति से लगाव रखना अच्छा है या बुरा?

□ लगाव से क्या मतलब? हर आदमी को राजनीति जाननी चाहिए। और सही राजनीति में शामिल होना चाहिए। कोई आदमी गैर-राजनीतिक नहीं हो सकता। रही सक्रिय राजनीति में काम करने और सत्ता—राजनीति की बात —तो यह अपनी-अपनी हैसियत और महत्त्वाकांक्षा पर निर्भर है। एक जनपक्षीय राजनीति भी होती है जिसमें किसी पद और लाभ की इच्छा के बिना के भले के लिए संघर्ष किया जाता है। यह न्याय और खतरे की राजनीति है, मगर इसके बिना कोई सामाजिक परिवर्तन नहीं होता।

कांकेर से विजय कुमार यादव

प्रश्न—लोगों को न्याय दिलवाने के लिए वकील की जरूरत क्यों पड़ी? क्या पहले भी कोई वकील हुआ करता था?

□ वकील की परम्परा बहुत पुरानी है। शायद वैदिक युग में भी वकील होता होगा। सुकरात ने अपने बचाव के लिए कोई वकील नहीं किया, क्योंकि उसे झूठ बोलकर बचना नहीं था। उसने अदालत से साफ कहा—मैं जिसे सत्य मानता हूँ उसका प्रचार करता हूँ। सत्य का प्रचार मानव अधिकार है। अगर यह अदालत इसे अपराध मानती है तो मैं सज़ा भोगने के लिए तैयार हूँ। वकील कानून जानता है, मुवक्किल को सही सलाह दे सकता है, उसके पक्ष के समर्थन में तर्क दे सकता है; विपक्षी के तर्कों को काट सकता है। इसलिए वकील की जरूरत है। मगर वकील को सच और झूठ, न्याय और अन्याय से कोई मतलब नहीं होता।

राजनाँदगाँव से कु. पूजा वर्मा

प्रश्न—त्याग और सेवा भाव-जैसे महान आदर्शोंवाले देश भारत में आज हर आदमी सब भूल, पैसे का दीवाना हुआ जा रहा है। क्या भविष्य में त्याग और सेवा-जैसे शब्द भुला दिए जायेंगे?

□ हम भारतीयों ने बहुत-से भ्रम पाल रखे हैं—जैसे यही कि त्याग और सेवा-जैसे आदर्श हमारी बपौती हों। त्याग और सेवा हर जाति के आदर्श रहे हैं। मगर व्यवहार सामाजिक व्यवस्था के अनुसार होता है। पूंजीवादी व्यवस्था में पैसा सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए आपको लोग पैसे के पीछे पागल

नजर आते हैं। पर त्याग और सेवा पूरी तरह मरे नहीं हैं। मरेंगे भी नहीं क्योंकि आगे तो समाजवादी व्यवस्था आयेगी।

नयापारा राजिम से वीरेन्द्रसिंह राजपूत

प्रश्न—मिस्टर हरिशंकर परसाईजी, ये मेरा आपके नाम 50वाँ पत्र है जिसमें आपने एक भी शामिल नहीं किया। अगर आप सभी 'देशबन्धु' पत्रिका के पत्र शामिल नहीं कर सकते तो मेरे खयाल से आप उम्र के हिसाब से घर में पलँग पर दिन गुजारें तो ठीक रहेगा।

☐ राजपूत साहब, आप कहते हैं कि यह आपका 50वाँ पत्र है। मगर इसमें भी आपने कोई सवाल नहीं पूछा। मैं जवाब किसका दूं। आपने 50 सवाल नहीं पूछे होंगे। कोई पूछे भी होंगे तो जवाब के लायक नहीं होंगे। आगे अच्छे सवाल पूछकर देखिए।

19 जून, 1983

'जिगर' की शराब छूटी तो शायरी भी

नन्दिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—श्रीमती थैचर और श्रीमती इन्दिरा गाँधी दोनों में से आप किसे अधिक चतुर समझते हैं?

☐ ब्रिटेन एक सम्पन्न पूंजीवादी औद्योगिक देश है, जिसकी संसदीय लोकतन्त्र की लगभग पाँच सौ साल पुरानी परम्परा है। वह छोटा-सा देश है। अन्तर्विरोध बहुत कम है। वहाँ की समस्या मन्दी और बेकारी है। भारत सत्तर करोड़ का विकासशील देश है। आजाद हुए कुल 37 साल हुए हैं। संसदीय लोकतन्त्र की उम्र कुल 32 वर्ष है। बेहद गरीबी है। कई प्रकार के अन्तर्विरोध हैं। ऐसे देश की प्रधानमन्त्री श्रीमती थैचर से ज्यादा चतुर होगी ही। व्यक्तिगत रूप से भी इन्दिरा गाँधी थैचर से ज्यादा पढ़ी-लिखी, मजबूत और चतुर हैं। विचारों में दोनों परस्पर विरोधी हैं। थैचर ने हजारों मील दूर छोटे-से फाकलैण्ड द्वीप में फौज भेजकर बहुत बड़ी नादानी की। उन्हें अभी भी समझ में नहीं आता कि ब्रिटिश साम्राज्य खत्म हो गया।

खोला अभनपुर से सुरेन्द्र बजाज 'भावना'

प्रश्न—भू. पू. प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी पर 'सी. आई. ए. एजेण्ट' होने का आरोप लगाया गया है, जबकि आपको 'रूसी एजेण्ट' कहा जाता है। इन दोनों पर

आपके विचार ?

☐ मोरारजी भाई पर जो आरोप सी. आई. ए. एजेण्ट होने का लगाया गया है तो उन्होंने अदालत में मानहानि का दावा किया है। इस पर हम कुछ नहीं कह सकते।

मैं नहीं जानता कि मुझे के. जी. बी. एजेण्ट कहा जाता है। मुझे तो आज तक रूस से एक भी पैसा नहीं मिला। बात यह है इस देश में कि जो बुद्धिजीवी रूढ़ि मुक्त हो, क्रान्तिकारी विचार रखता हो, समाजवाद में विश्वास हो, उसे 'रूसी एजेण्ट' कह दिया जाता है। गोया हम अपनी बुद्धि और विवेक से नहीं लिखते। विदेशी एजेण्ट सम्पन्न होते हैं। मेरे पास झोंपड़ी भी नहीं है और न धन। आपने मेरे ऊपर रूसी एजेण्ट होने का आरोप 'देशबन्धु' में प्रकाशित कराया है। मैं आप पर अदालत में मानहानि का 5 लाख का दावा करूँगा—यदि आपने 15 दिनों में माफी नहीं माँगी।

बेमेतरा से अनवर बीबा

प्रश्न—तकदीर और तदबीर में क्या अन्तर है ?

☐ तकदीर निकम्मेपन, अन्धविश्वास और बेवकूफी का नाम है। तकदीर कुछ नहीं होती। जो घटता है उसमें कार्य-कारण सम्बन्ध होते हैं। तदबीर जरूर काम की चीज है। तदबीर से काम लो तो सफलता मिलती है।

दुर्ग से दिनेशकुमार सोनी

प्रश्न —इन्दिरा गाँधी के बाद भारतीय राजनीति का स्वरूप क्या होगा ?

☐ इन्दिराजी के बाद देश की राजनीति का क्या स्वरूप होगा, इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। यह परिस्थितियों पर निर्भर होगा।

चिखलकसा से सुरेश गुणधर

प्रश्न—क्या कभी हिन्दी सारे देश में अपनायी जा सकेगी ?

☐ हिन्दी सारे देश में अभी भी बोली जाती है। सम्पर्क भाषा भी हिन्दी है। प्रदेशों में क्षेत्रीय भाषाएँ चलती हैं। हिन्दीवालों का यह आग्रह नहीं होना चाहिए कि क्षेत्रीय भाषाओं का स्थान भी हिन्दी से लें। क्षेत्रीय भाषाएँ हिन्दी से कम विकसित नहीं हैं—कुछ भाषाएं हिन्दी से ज्यादा विकसित हैं। लेकिन सबसे बड़ा क्षेत्र हिन्दीभाषी है। महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक, केरल में हिन्दी खूब पढ़ी, समझी और बोली जाती है। मगर कुछ सालों से देश की प्रवृत्ति यह बढ़ रही है कि लोग अंग्रेजों के जाने के बाद ज्यादा अंग्रेज हो रहे हैं। किण्डरगार्टन स्टेज से ही शहरों में अंग्रेजी पढ़ाई जाने लगी है। मानसिक रूप से गुलामी अभी है। हिन्दी का विरोधी यह अंग्रेजी प्रेम ही है।

रायपुर से राजेश रहाटगाँवकर

प्रश्न—आप इतने लोगों की समस्याओं का समाधान करते हैं, इसलिए मैं आपको उपहार देना चाहता हूँ। बताइए क्या दूँ ?

☐ आप कुछ मत दीजिए मुझे। मेरी किताबों का सेट खरीद लीजिए।

रायपुर से मनोजकुमार

प्रश्न—स्त्री हमेशा पुरुष को शक की निगाहों से देखती है, किन्तु पुरुष शक करने से क्यों वंचित रह जाता है ?

☐ शक स्त्री-पुरुष दोनों करते हैं। पुरुष स्त्री पर ज्यादा शक करता है, क्योंकि उसमें एकाधिकार की भावना होती है। स्त्री पुरुष पर शक अपनी सुरक्षा के लिए करती है।

रायपुर से निरंजन कुमार पठासे

प्रश्न—जालिम शराब क्या चीज है ?

"ऐ मोहतसिव न फेंक अरे मोहतसिव न फेंक। जालिम ! शराब है ये, जालिम शराब है।"

☐ यह शेर जिगर मुरादाबादी का है। 'मोहतसिव' इस्लामी व्यवस्था के मुताबिक एक शासकीय अधिकारी होता है जो लोगों को शरीयत के खिलाफ बोलने व गलत काम करने से रोकता है। इसे पुलिस और मजिस्ट्रेट दोनों के अधिकार होते हैं। 'मोहतसिव' वहीं सजा भी देता था। मुफ्ती काजी भी मोहतसिव होते हैं। पर उर्दू शायरी की परम्परा में 'मोहतसिव' सिर्फ शराब पीने से रोकनेवाला माना गया है—आबकारी दरोगा। यह पवित्रतावादी होता है। जिगर ने यह शेर कब कहा ? हमारे भोपाल के मित्र मथुरा बाबू बताते हैं कि जिगर साहब प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेता शाकिर अली खाँ के पास आकर रहते थे। जिगर साहब शराब बहुत पीते थे—यानी चौबीस घण्टे। बाद में उन्होंने शराब बिल्कुल छोड़ दी, मगर फिर शायरी भी छूट गयी। शाकिर साहब उनसे कहते थे कि पिओ पर हिसाब से पिया करो। एक दिन शाकिर साहब ने जिगर साहब के गिलास में भरी शराब फेंक दी। तब जिगर ने यह शेर वहीं कहा। पहली पंक्ति में 'मोहतसिव' शराब फेंकनेवाले को कहा है। दूसरी में उसे 'जालिम' कहा है, पर अन्त में शराब को भी 'जालिम' कहा है।

जौक का भी शेर है—

> दरवाजा मैंकदे का न कर बन्द मोहतसिव
> जालिम खुदा से डर कि देरु तौबाबाज़ है।

—यानि जालिम मोहतसिव, शराबखाने का दरवाजा बन्द मत कर। अरे खुदा ने 'तौबा' का (छोड़ने का) दरवाजा बन्द नहीं किया है। आज नहीं तो कल तौबा कर लेंगे। यह छूट खुदा ने दे रखी है और तू अभी दरवाजा बन्द कर रहा है। अरे जालिम, खुदा से तो डर।

पेन्ड्रारोड से भास्कर चौधरी, पल्लवी चौधरी

प्रश्न—मार्क्स के इस कथन को उपयुक्त मिसाल देकर समझाएं—"नैतिकता और न्याय के ऐसे सरल नियम बनाने हैं जिनसे व्यक्ति के निजी सम्बन्ध नियन्त्रित हों और वे ही नियम राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों के सन्दर्भ में भी सर्वोपरि माने जाएँ।" (व्यक्ति के निजी सम्बन्धों को नियन्त्रित करनेवाले नियम

किस प्रकार राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों के सन्दर्भ में लागू होंगे एवं सर्वोपरि माने जायेंगे) ?'

□ मार्क्स का यह कथन बहुत स्पष्ट है। जनराज्य (बूर्जुआ लोकतन्त्र नहीं) राष्ट्र की नैतिकता और न्याय-चेतना वही होगी जो सामान्य जनों की है। बूर्जुआ राज्य में वर्ग नैतिकता और वर्ग न्याय संहिता होती है। पर ऐसी नैतिकता और न्याय संहिता पूंजीवादी राष्ट्रों के बीच नहीं चल सकती। वह पूंजीवादी और समाजवादी राष्ट्रों के बीच भी नहीं चल सकती। यह समाजवादी राष्ट्रों के बीच चल सकती है।

रायपुर से.सेनापति

प्रश्न—आप अगर करोड़पति हो गये तो क्या यह स्तम्भ बन्द कर देंगे ?

□ मैं करोड़पति हो ही नहीं सकता। एक करोड़ की लाटरी कोई है नहीं। मेरा धन्धा है लिखने का। इसमें हजारपति भी मुश्किल से होता है। वैसे पैसा नहीं होने से लिखता हूँ—यह सोचना गलत है।

3 जुलाई, 1983

सारे जहाँ से अच्छा एम. पी. हमारा

बस्तर से निलेष पारेख

प्रश्न—कर्म प्रधान है अथवा धर्म ?

□ धर्म की कोई सही व्याख्या आज तक कोई नहीं दे सका। जिसे धर्म मानते हैं वह झूठा कर्मकाण्ड है। दुर्गा को माँ मानते हैं और उसी माँ के सामने उसके बच्चे बकरे को काटते हैं। ठग लोग गला घोंटकर, आदमी को मारकर उसका धन छीन लेना धर्म मानते थे। वे पूरी धार्मिक भावना से यह काम करते थे। पिण्डारियों के मन्दिर होते थे, और वे प्रार्थना करके डाका डालते थे। सेठ पहले मन्दिर जाता है, फिर घी में चर्बी और शक्कर में रेत मिलाता है।

धर्म का जन्म अज्ञान और डर से हुआ—आदिम मनुष्य के प्रकृति और जगत के बारे में अज्ञान और डर से। फिर धर्म संस्थागत हुआ। राजसत्ता के साथ मिला। शोषण का जरिया बना। पाखण्डों का जाल रचकर आम आदमी के शोषण में धर्म ने सहायता की।

वैसे धर्म विभिन्न स्थितियों में विभिन्न रोल करता है। जैसे ईरान में जालिम शाह और अमेरिकी प्रभाव को निकालने में इस्लाम ने क्रान्तिकारी रोल किया।

पर अब वही धर्म लोकतान्त्रिक और प्रगतिशील ताकतों को नष्ट कर रहा है। कर्म प्रधान है, धर्म नहीं। सत्कर्म ही धर्म है। तुलसीदास ने बहुत सरल परिभाषा धर्म की दे दी है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

जगदलपुर से राजेश गुप्ता

प्रश्न—उम्र का ज्ञान से कहाँ तक सम्बन्ध है?

☐ उम्र के बढ़ते मनुष्य जो नये-नये अनुभव करता है उनका सही अर्थ खोजे तो उसका ज्ञान बढ़ता जाता है। उम्र के बढ़ते आदमी अध्ययन भी करता जाय, तो ज्ञान बढ़ता जाता है। पर जो अनुभव से कुछ नहीं सीखता; उसकी उम्र चाहे, 5 साल हो चाहे 50 साल, वह ठूंठ का ठूंठ रहेगा। ज्ञान, अनुभव, उस पर चिन्तन और अध्ययन से आता है।

नन्दिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—आपको भारत का सबसे अच्छा प्रदेश कौन-सा लगता है? और क्यों?

☐ मुझे तो सबसे अच्छा प्रदेश मध्यप्रदेश ही लगता है। कारण—यहीं पैदा हुआ, यहीं रहा, यहीं के अनुकूल हो गया। बँगले के सामने के झाड़ पर घोंसले में बैठी चिड़िया भी गाती है—सारे जहाँ से अच्छा यह घोंसला हमारा। वह बँगले को घटिया समझती है। जहाँ मन रम जाय, वहीं स्वर्ग है। इस प्रदेश की प्रतिष्ठा भी है। पुलिस इतनी दयालु है, डाकू यहीं समर्पण करना चाहते हैं। पुलिस की इस दयालुता का शुभ परिणाम यह है कि भरी दोपहरी किसी के घर में गुण्डा घुस सकता है। रोडवेज की बसें सबसे अच्छी हैं। ग्वालियर, आगरा बस स्टेशन पर 5-6 प्रदेशों की बसें होती हैं। मैंने यात्रियों को कहते सुना है—अरे, लाल डब्बे में मत बैठना। उसका कोई ठिकाना नहीं है। लाल डब्बा यानी म. प्र. रोडवेज की बस। मध्यप्रदेश के महेश योगी हैं, रजनीश हैं, ठग शिरोमणि नटवरलाल और सीताराम सोनी यहीं के हैं। श्रीमान पण्ढरीराव कदन्त मध्यप्रदेश के हैं, जिन्होंने विधानसभा अध्यक्ष को जूता मारा था। जगन्नाथ मिश्र से भी श्रेष्ठ सकलेचाजी यहीं के हैं। सबसे अच्छी बात यह है कि इस प्रदेश के निवासियों का कोई अलग चरित्र, पहचान, आइडेंटिन्टी नहीं है। इस प्रदेश का किसी से झगड़ा भी नहीं है। यह आदमी मध्यप्रदेशी है—ऐसा कोई नहीं कह सकता। यानी हम विश्व नागरिक हैं।

चिखलकसा से सुरेश गुणधर

प्रश्न—प्राचीन भारत के बारे में कहा जाता था कि 'जहाँ डाल-डाल पर सोने की चिड़िया करती है बसेरा', वर्तमान भारत के बारे में आपके विचार?

☐ प्राचीन भारत में डाल-डाल पर सोने की चिड़िया नहीं होती थी। न दूध-दही की नदियाँ बहती थीं। ये सब कल्पनाएँ प्राचीनतावादी आधुनिकता विरोधी ढपोरशंखों ने फैला रखी हैं। प्राचीन युग में कोई स्वर्ण युग नहीं था। बहुत प्राचीन काल में उत्पादन के साधन ही क्या थे? औजार ही क्या थे? इनके हिसाब

से मनुष्य का जीवन कैसा था । आबादी कम थी । गायें पाले थे । थोड़ी खेती कर लेते थे । फल मिल ही जाते थे । तो दूध पी लिया, दही खा लिया, उसका अन्न और मांस मदिरा के साथ खा लिया और झोंपड़ी में सो गये । यही डाल-डाल पर सोने की चिड़िया हुई । दूध-दही की नदियाँ ऐसे ही बहीं । आगे उत्पादन के साधन बढ़े, औजार बने । तरह-तरह की चीजें बनने लगीं, सभ्यता विकसित हुई । इस उन्नति को पुराणपन्थी कलियुग कहते हैं ।

रायगढ़ से अनिल खोरिया

प्रश्न—आपने अपने सारगर्भित उत्तरों से लोगों की अनेक समस्याओं का समाधान किया, अब हम पाठकों का भी आपके प्रति फर्ज है । कृपया अपनी समस्या बतायें ?

□ मैं नहीं जानता कि मैंने पाठकों की कोई समस्या हल की है । आप कहते हैं तो मान लेता हूँ । मेरी व्यक्तिगत कोई समस्या नहीं है, जिसका हल चाहूँ । एकाध बात है । गालिब के शब्दों में—

कोई सूरत नजर नहीं आती कोई तदबीर बर नहीं आती ।
आगे आती थी हाले-दिल पै हँसी अब किसी बात पर नहीं आती ।

मतलब कि क्वाँरा हूँ । देखिए कुछ भला हो सके तो ।

दुर्ग से दिनेशकुमार सोनी

प्रश्न—इन्दिरा गाँधी के बाद भारतीय राजनीति का स्वरूप क्या होगा ?

□ इन्दिरा गाँधी जब नहीं रहेंगी तब भारतीय राजनीति का स्वरूप तय हो जायेगा । राजनीति का स्वरूप जनता तय करती है; हम, आप या नेता नहीं । किसे यह जानकारी थी कि पण्डित नेहरू के बाद की राजनीति का स्वरूप यह होगा कि इन्दिरा गाँधी इतनी मजबूती के साथ व्यक्ति-केन्द्रित राजनीति करके 1965 से अब 1983 तक शासन करती रहेंगी। राजनीति का स्वरूप तत्कालीन परिस्थितियों और ऐतिहासिक शक्तियों से तय होता है। कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती ।

खुर्सीपार भिलाई से ही प्रसाद राय

प्रश्न—जिसकी आँखें सही-सलामत हैं वह तो स्वप्न देखता ही है, किन्तु जिसे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है, अर्थात नेत्रहीन व्यक्ति स्वप्न कैसे देख लेता है ?

□ आप नहीं जानते स्वप्न क्या होता है । स्वप्न इन आँखों से नहीं देखा जाता, जो आपकी नाक के आसपास लगी हैं । नींद में चेतन मन निष्क्रिय हो जाता है। उपचेतन और अवचेतन मन में अनुभवों और कल्पनाओं का अपार भण्डार है। उपचेतन मन नींद में सक्रिय होता है और तरह-तरह की स्मृतियाँ, अनुभव, कल्पनाएँ जागती हैं। इनसे उपचेतन मन में नये-नये अनुभवों और कल्पनाओं की रचना होती है । इन पर चेतन मन का प्रभाव भी पड़ता है । डरे हुए और चिन्तित रहनेवाले आदमी को भयकारक सपने आते हैं । ये दिखते हैं, पर हमारी बाहरी आँखों से नहीं । पर जो जन्म से अन्धा है और दृश्य जगत का जिसे अनुभव नहीं

है, उसकी दूसरी ज्ञानेन्द्रियां इस कमी को पूरा करती हैं। वह भी सपने देखता है।

अकलतरा से श्रीनिवास लावनियां

प्रश्न—हर आस्तिक अपने तथाकथित भगवान के होने के कई उदाहरण और प्रमाणं देते हैं। आप नास्तिक हैं। आपकी नास्तिकता का आधार क्या है? क्या आप इसका कोई ठोस प्रमाण या कारण दे सकते हैं?

☐ प्रमाण उसका दिया जाता है जिसका अस्तित्व सिद्ध करना है। जो अस्तित्वहीन है उसकी अस्तित्वहीनता का प्रमाण कोई कैसे दे सकता है। प्रमाण की जरूरत भी क्या है। जहाँ तक आस्तिकों के प्रमाण का सवाल है वे भ्रम होते हैं। मैं भगवान के बारे में वेद की एक ऋचा के कुछ शब्द देता हूँ—

सम्भवतः 'वह' है
सम्भवतः 'वह' नहीं है
वह है और नहीं के बीच में है
सम्भवतः 'वही' जानता है
और शायद 'वह' भी नहीं जानता।
यह व्याख्या है तथाकथित भगवान की वेद में।

झलप से राधेश्याम ध्रुव

प्रश्न—भारतीय इतिहास के पन्नों में रजिया सुल्ताना एक निपुण, तीव्रबुद्धि, सफल मुगल शासिका मानी जाती रही है। किन्तु उसकी किस कमजोरी ने उसके सद्गुणों को क्षीण कर दिया?

☐ रजिया 'सुल्ताना' नहीं, 'सुल्तान' कहलाती थी। वह मुगल नहीं, तुर्क थी। वे लोग तुर्की से आये थे। रजिया तीक्ष्णबुद्धि, वीर, दृढ़ शासनकर्त्री थी। पर उसके परिवार में विद्रोह था। वह भाइयों को हटाकर सत्तारूढ़ हुई थी। उसकी एक और कमजोरी थी। वहं एबीसीनियन गुलाम याकूत से मुहब्बत करती थी। इससे उसकी बदनामी हुई। पर वह निरंकुश थी। शत्रुओं से वह घिरी थी। पटियाला के पास वह मार डाली गयी।

जबलपुर से सरफराज मंसूरी

प्रश्न—खैय्याम का क्या अर्थ है?

☐ आप शायद उमर खैय्याम के बारे में पूछ रहे हैं। उसका पूरा नाम था—अबुलफतह उमर बिन इब्राहीम। परिवार का उपनाम था—खैय्यामी। खैय्यामी तम्बू बनाने और बेचनेवाले को कहते हैं। यानी उसका खानदानी पेशा तम्बू बनाने का था। उमर खैय्याम अपने जमाने का श्रेष्ठ दार्शनिक था। वह सूफी था। वह कई तरह का ज्ञानी था। वह गणितशास्त्री था, ज्योतिष का विद्वान था, इस्लाम तथा इस्लामी कानून का व्याख्याकार था, इतिहासकार था, जीवनी लेखक था, चिकित्सा वैज्ञानिक था। उसकी कई किताबें हैं, जिनमें उसने अपना उपनाम 'खैय्यामी' दिया। पर वह दुनिया-भर में मशहूर है, अपनी रुबाइयों के लिए—'रुबाइयात उमर खैय्याम'। इन रुबाइयों के संग्रह में उसने अपना उपनाम 'खैय्याम'

दिया। अँगरेज कवि फिजराल्ड ने जब इन रुबाइयों का अँगरेजी अनुवाद किया तब दुनिया ने जाना कि वह कितना महान कवि था। इन रुबाइयों का अनुवाद विश्व की प्रमुख भाषाओं में हो गया है। हिन्दी में सबसे अच्छा अनुवाद जबलपुर के श्रेष्ठ कवि स्वर्गीय केशव पाठक ने किया। बच्चन ने 'मधुशाला' इन्हीं रुबाइयों की नकल में लिखी। लोग समझते हैं, उमर खैय्याम कोई शराबी था। बार का नाम 'उमर खैय्याम' रखते हैं। पर वह शराबी नहीं था।

नन्दिनी नगर से राजेन्द्र सोनबोइर

प्रश्न—जिया-उल-हक़ 'गाँधी' के मुकाबले फिलम जिन्ना बनाना चाहते हैं। क्या गाँधीजी से जिन्ना की तुलना की जा सकती है?

☐ गाँधीजी से तुलना तो इतिहास के किसी नेता की नहीं की जा सकती और आगे भी शायद ऐसा कोई नेता दुनिया में न हो। जिन्ना का न कोई आदर्श था, न सिद्धान्त। उनकी नजर बहुत सीमित थी। आपको शायद पता न हो कि जिन्ना ने कानून की किताबों के सिवा कुछ नहीं पढ़ा था। महान शायर डॉ. मोहम्मद इकबाल दर्शनशास्त्री भी थे। वे खोज में थे ऐसी व्यवस्था की जिसमें मनुष्य की बराबरी हो, न्याय हो, शोषण न हो, मनुष्य की गरिमा हो। इकबाल विचारों से समाजवादी थे। उन्हें ईमानदारी से यह बोध हुआ कि न्यायपूर्ण मानवी व्यवस्था तो इस्लाम में है। यह सही है कि अपने जन्म के बाद 70 साल तक इस्लामी व्यवस्था लोकतान्त्रिक और समतावादी थी। बाद में सामन्तवादी हो गयी, जिसका नतीजा आप जिया-उल-हक़ और खौमेनी देख रहे हैं। इकबाल उदार थे। वे किसी दूसरे धर्म से नफरत नहीं करते थे। बस यह मानते थे कि मानव जाति के लिए इस्लामी व्यवस्था सबसे अच्छी है। तो 'पाकिस्तान' का विचार तो इकबाल का था। जिन्ना भी हिन्दुओं से नफरत नहीं करता था। वास्तव में पंजाब के बड़े मुसलमानों, जमींदारों और उत्तर प्रदेश के मुस्लिम रईसों को सामन्तवादी-पूंजीवादी शोषण के लिए अलग राज्य चाहिए था। जिन्ना का उपयोग किया गया।

रायपुर से अनिल हरद्वानी

प्रश्न—भारत में ही भगवानों का जन्म क्यों हुआ? अन्य देशों में क्यों नहीं?

☐ यह प्रश्न आप किसी ऐसे भक्त से पूछिए, जिसका विश्वास भगवान और अवतारवाद में हो। जिसकी आप भगवान के रूप में कामना करते हैं, उसकी कामना तो हर जाति ने की है। अगर सारे भगवानों का जन्म भारत में हुआ तो चीन इस देश पर कैसे चढ़ बैठा? चीन में ज्यादा जोरदार भगवान पैदा हुए होंगे। यानी कम्युनिस्ट भगवान ज्यादा प्रतापी होता है। फिर आपके इन भगवानों से ज्यादा जोरदार भगवानों का जन्म इंग्लैण्ड में हुआ होगा। तभी तो अंगरेज जाति हम पर और आपके भगवानों पर राज करती रही। आपके भगवान के अवतार के 'सुदर्शन चक्र' से असंख्य गुना मारक तो रूस और अमेरिका के परमाणु मिसाइलें और राकेट हैं।

12 जून, 1983

☐ ☐ ☐

हरिशंकर परसाई

जन्मः 22 अगस्त, 1924। जन्मस्थानः जमानी नामक गाँव, जिला होशंगाबाद (मध्यप्रदेश)। मध्यवित्त परिवार। दो भाई, दो बहिनें। स्वयं अविवाहित। परिवार में बहन, भानजे और भानजी।

मैट्रिक नहीं हुए थे कि माँ की मृत्यु हो गयी और लकड़ी के कोयले की ठेकेदारी करते पिता को असाध्य बीमारी। फलस्वरूप गहन आर्थिक अभावों के बीच पारिवारिक जिम्मेदारियाँ। यहीं से वास्तविक जीवन संघर्ष, जिसने ताकत भी दी और दुनियावी शिक्षा भी। फिर भी आगे पढ़े। नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम. ए.। फिर 'डिप्लोमा इन टीचिंग।'

18 वर्ष की आयु में जंगल विभाग, नाकू (इटारसी के पास) में नौकरी, फिर 6 महीने खण्डवा में अध्यापन। दो वर्ष (1941-43) जबलपुर के स्पेन्स ट्रेनिंग कालेज में शिक्षण कार्य का अध्ययन। 1943 से वहीं के माडल हाई स्कूल में अध्यापन। 1952 में इस्तीफा। 1953 से 1957 तक प्राइवेट स्कूलों में पढ़ाया और फिर नौकरी को अन्तिम रूप से नमस्कार। तब से लगातार स्वतन्त्र लेखन के भरोसे।

1956 में जबलपुर से 'वसुधा' नामक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन-सम्पादन। घाटे के बावजूद 1958 तक चलायी।

अपने महत्त्वपूर्ण साहित्यिक अवदान के लिए जबलपुर विश्वविद्यालय से डी. लिट. की मानद उपाधि। कई अन्य पुरस्कारों के अतिरिक्त 1982 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित। विश्व शान्ति सम्मेलन (1962) में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के एक सदस्य के नाते सोवियत रूस की यात्रा।

प्रकाशित पुस्तकें: हँसते हैं रोते हैं; भूत के पाँव पीछे; तब की बात और थी; जैसे उनके दिन फिरे; सदाचार का तावीज; पगडण्डियों का जमाना; रानी नागफनी की कहानी; वैष्णव की फिसलन; शिकायत मुझे भी है; अपनी-अपनी बीमारी; ठिठुरता हुआ गणतन्त्र; निठल्ले की डायरी; मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ (संकलित); बोलती रेखाएँ; एक लड़की पाँच दीवाने; तिरछी रेखाएँ; और अन्त में; तट की खोज; माटी कहे कुम्हार से; पाखण्ड का अध्यात्म; सुनो भई साधो; तथा विकलांग श्रद्धा का दौर।

रचनाओं के फुटकर अनुवाद लगभग सभी भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी में। मलयालम में सर्वाधिक—4 पुस्तकें।

परसाई रचनावली

खण्डानुक्रम

1

लघु कथात्मक व्यंग्य रचनाएँ

2

रानी नागफनी की कहानी (उपन्यास), तट की खोज (दीर्घकथा), कहानियाँ, लघु कथाएँ

3

ललित, विचारपरक तथा पत्रात्मक निबन्ध

4

राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य को लक्षित व्यंग्य निबन्ध

5

'सुनो भई साधो' तथा 'यह माजरा क्या है' (स्तम्भ लेखन)

6

प्रारंभिक लेख, कहानियाँ, निबन्ध, पुस्तकों की भूमिकाएँ, सम्पादकीय आलेख, साक्षात्कार, व्याख्यान तथा 'रिटायर्ड भगवान की कथा' (उपन्यासांश) आदि

राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली पटना